इकाई 1 राजनीति को समझना

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 परिचय

1.2 राजनीति एक व्यवहारिक गतिविधि के रूप में

1.2.1 राजनीति : नपा तुला वर्णन कठिन

1.2.2 राजनीति की प्रकृति

1.2.3 राजनीति : मानव स्थिति का अनिवार्य लक्षण

1.3 राजनीति क्या है?

1.4 राज्य क्या है?

1.4.1 राज्य : राजनीतिक संस्थाओं/सामाजिक संदर्भ के आधार पर विभिन्नता

1.4.2 रैल्फ मिलिबैंड के राज्य संबंधी विचार

1.5 राजनीति एक पेशे के रूप में

1.6 शक्ति का वैधानिक प्रयोग

1.6.1 वैधता संबंधी मैक्स वैबर के विचार

1.6.2 वैधता : राजनीति विज्ञान का केन्द्रीय विषय

1.6.3 'अवैधता' की प्रक्रिया

1.6.4 दक्षतापूर्ण सहमति

1.6.5 राज्य मशीनरी के कर्मचारी : अभिजात्य वर्ग

1.7 सारांश

1.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.0 उद्देश्य

स्नातक स्तर के राजनीति सिद्धांत के नवीन पाठ्यक्रम के अंतर्गत प्रथम खंण्ड के इस परिचयात्मक इकाई में हम आपको राजनीति के बुनियादी अर्थ के बारे में बतायेंगे और इस प्रकार आप राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु की मौलिकता के बारे में जान पायेंगे। इस इकाई के पढ़ने के बाद आप :

- राजनीति क्या है, इसकी व्याख्या कर पायेंगे;
- राज्य के अर्थ को समझ पायेंगे;
- शक्ति की अवधारणा का वर्णन और व्याख्या कर सकेंगे; और
- वैधता और अवैधता को जान सकेंगे।

1.1 परिचय

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य 'राजनीतिक' की अवधारणा को समझना है। राजनीति का सार एक ऐसी व्यवस्था लाने की खोज है, जिसे व्यक्ति अच्छा मानता है। 'राजनीति' शब्द ग्रीक शब्द एक ऐसी पोलिस (Polis) से बना है, जिसका अर्थ नगर और राज्य दोनों है।

प्राचीन यूनान के अंतर्गत राजनीति नये ढंग से सोचना, अनुभव करना था और इन सब से परे, व्यक्ति के साथ सम्बंध स्थापित करना था। नागरिक के रूप में वे सभी समान थे, यद्यपि नागरिक अपने धन, बुद्धि इत्यादि के संबंध में अलग-अलग थे। यह राजनीतिक की अवधारणा है, जो नागरिकों को विवेकशील बनाती है। राजनीति गतिविधि है, विशेषकर इस नयी वस्तु के लिए जिसे नागरिक कहा जाता है। राजनीति का विज्ञान संभव है, क्योंकि राजनीति अपने आप एक नियमित प्रणाली का अनुसरण करती है, यद्यपि यह मानव प्रकृति की दया पर निर्भर है, जिससे यह उत्पन्न होती है।

यूनानी राजनीति विज्ञान ने संविधानों का अध्ययन किया और मानव स्वभाव और राजनीतिक संघों के संबंधों का सामान्यीकरण किया। शायद इसका सबसे शक्तिशाली तत्व *'पुनरावृत्ति चक्र का सिद्धांत'* था। राजतंत्र निरंकुशतंत्र में बदल जाता है, निरंकुशतंत्र को कुलीनतंत्र के द्वारा उखाड़ फेंका जाता है, जो अल्पतंत्र में जनसंख्या को शोषण करने के लिए परिणत होता है, जिसे प्रजातंत्र के द्वारा हटा दिया जाता है, जो असहनीय अस्थिर भीड़ के शासन में परिवर्त्तित होता है; जहाँ कुछ शक्तिशाली नेता आपने आप को राजा की तरह स्थापित करते हैं और चक्र पुनः शुरू होता है। अरस्तु का विचार है कि प्रजातंत्र का कुछ अंश संतुलित संविधान के सबसे अच्छे प्रकार के लिए आवश्यक होता है, जिसे वे राजनीति (Polity) के नाम से पुकारते हैं। उन्होने अनेक संविधानों का अध्ययन किया और वह विशेषकर राजनीतिक परिवर्त्तन की मशीनरी में अभिरुचि रखते थे। वे सोचते थे कि क्रांति सदैव समानता के लिए कुछ माँगो से उत्पन्न होती है।

प्राचीन रोम राजनीति का सर्वोत्तम उदाहरण है जहां राजनीति पद पर आसीन व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक ऐसी गतिविधि थी जो शक्ति प्रयोग को स्पष्ट सीमित करती है। जब रोम वासियों ने शक्ति के बारे में सोचा, उन्होंने एक प्रमुख विभिन्नता को स्वीकार करने के क्रम में दो शब्दों का प्रयोग किया।

1.2 राजनीति एक व्यवहारिक गतिविधि के रूप में

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

राजनीति की एक व्यवहारिक गतिविधि मानव संभावनाओं के संगठन पर संघर्ष है। ऐसे में यह शक्ति से संबंधित है; यह कहा जाता है कि यह सामाजिक एजेंटों, ऐजेन्सियों और संस्थाओं के पर्यावरण, सामाजिक और शारीरिक, को व्यवस्थित या रूपांतरण करने के सामर्थ्य के बारे में होती है। यह उन संसाधनों से संबंधित है, जो इसकी क्षमता को प्रभावित करते हैं और उन शक्तियों के बारे में है जो इसके प्रयोग को आकार देते हैं। इसके अनुसार, राजनीति एक आवरण होता है जिसे निजी और सार्वजनिक जीवन में बाँटते हुए यह सभी समूहों, संस्थाओं और समाजों में पाया जाता है। इसकी उन सभी संबंधों, संस्थाओं और ढांचों में अभिव्यक्ति होती है, जो समाजों के जीवन के उत्पादन और पुनः उत्पादन से संबंधित होते हैं। राजनीति हमारे जीवन के सभी पहलूओं की रचना और उनके लिए शर्त निर्धारित करती है और यह सामूहिक समस्याओं के विकास, और उनके निराकरण के तरीकों का केन्द्र है।

1.2.1 राजनीति : नपा तुला वर्णन कठिन

राजनीति की संक्षिप्त परिभाषा – उन चीज़ों के अनुकूल जिन्हें हम अनायास राजनीतिक कहकर पुकारते हैं – संभव नहीं है। राजनीति विभिन्न प्रयोगों और अर्थच्छायाओं का एक पद हैं। शायद, हम इस छोटे कथन के सबसे नजदीक पहुँच सकते हैं, जो इस प्रकार हैः राजनीति वह गतिविधि है, जिसके द्वारा समूह उनके सदस्यों के बीच भिन्नता में सामंजस्य बैठाने के प्रयास के माध्यम से अनिवार्य सामूहिक निर्णयों तक पहुँचते हैं। इस परिभाषा में प्रमुख बिन्दु हैं।

1.2.2 राजनीति की प्रकृति

राजनीति एक सामूहिक गतिविधि है, यह उन लोगों को शामिल करती है, जो सामान्य सदस्यता या कम से कम एक समान भाग्य का सहयोगी होना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रॉबिनसन क्रूसो राजनीति का अभ्यास नहीं कर सकते थे।

राजनीति विचारों की प्रारंभिक विविधता को स्वीकार करती है, यदि यह लक्ष्य से सम्बंधित नहीं होती है तब कम से कम साधनों से। यदि हम सभी पूरे समय सहमत हो तो, राजनीति फिजूल होगी।

राजनीति वाद-विवाद और अनुनय के माध्यम से ऐसे मतभेदों में सामंजस्य स्थापित करती है। अतः संचार राजनीति का केन्द्र बिन्दु होता है। राजनीतिक निर्णय समूह के लिए प्राधिकृत नीति हो जाते हैं, जिन्हें यदि आवश्यक हो तो बल प्रयोग द्वारा लागू किया जाता है। राजनीति का मुश्किल से वर्चस्व हो, यदि निर्णय हिंसा के द्वारा लिये जाये लेकिन बल या इसकी धमकी सामूहिक निर्णय लेने की प्रक्रिया सुनिश्चित करती है।

राजनीति की आवश्यकता मानव जीवन के सामूहिक आचरण से उत्पन्न होती है। हम समूह में रहते हैं जिसे संसाधनों की भागीदारी, अन्य समूहों से संबंध और भविष्य की योजना के बारें में सामूहिक निर्णय लेने होते हैं। परिवार की बहस कि छुट्टी कहाँ बितायें, देश को युद्ध के लिए निर्णय लेना है, विश्व को प्रदूषण से हुई क्षति को सीमित करना है – सभी उदाहरण समूह निर्णय के हैं, जो उसके सभी सदस्यों को प्रभावित करते हैं। सामाजिक प्राणी होने के नाते राजनीति हमारे भाग्य का एक भाग है, हमारे पास इसका अभ्यास करने के सिवा कोई विकल्प नही हैं।

1.2.3 राजनीति : मानव स्थिति का अनिवार्य लक्षण

MAADHYAM IAS

यद्यपि 'राजनीति' शब्द का अक्सर एक निराशावादी (Cynical) रूप में प्रयोग होता है, सार्वजनिक अभिरुचि के अंतर्गत निजी लाभ के कारण, राजनीति वास्तव में मानवीय स्थिति की विशेषता है। यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने तर्क दिया था कि 'मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक प्राणी है'। इसके अनुसार उनका अर्थ मात्र यह नहीं था कि राजनीति अपरिहार्य है, बल्कि यह एक अनिवार्य मानवीय गतिविधि है, राजनीतिक कार्यकलाप की वह विशेषता है, जो हमें दूसरी उपजातियों से पूरी तरह अलग करते है। अरस्तु के अनुसार लोग सिर्फ राजनीतिक समुदाय में भागीदारी के माध्यम से ही अपनी सच्ची तर्कशीलता और सद्गुणी स्वभाव को अभिव्यक्त कर सकते हैं।

समूह के सदस्य बिरले ही सहमत होते हैं, कम से कम प्रारम्भ में, क्या कार्य करना है पर। यदि लक्ष्यों पर समझौता भी होता है, तो साधनों पर फिर भी झगड़ा हो सकता है। फिर भी निर्णय होना चाहिए, एक तरीके से या दूसरे से और एक बार निर्णय होने पर यह समूह के सारे सदस्यों को प्रतिबद्ध करेगा। इस प्रकार राजनीति उन विधियों को समाहित करती है, जो विचारों को अभिव्यक्त किये जाने की अनुमति देती हैं और तब पूरे निर्णय को संयुक्त किया जाता है। जैसा कि शिवली बताते हैं, ''राजनीतिक कार्य को सामान्य समस्या का सबसे सामान्य समाधान को बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से ढूंढ निकालना या कम से कम तर्क पूर्ण सामान्य समाधान के तरीके के रूप में समझा जा सकता है''। दूसरे शब्दों में, राजनीति सार्वजनिक विकल्पों को समाहित करती है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) व्यवहारिक गतिविधि के रूप में राजनीति क्या है?

....

....

....

....

2) राजनीति की आवश्यक प्रकृति की चर्चा करें।

....

....

....

....

1.3 राजनीति क्या है?

प्रत्येक व्यक्ति के पास राजनीति शब्द के अर्थ के बारे में कुछ विचार होता है; कुछ लोगों के लिए यह प्रश्न बिल्कुल फिजूल है। 'राजनीति' वह है, जो व्यक्ति समाचार पत्रों में पढ़ता है या टेलीविज़न पर देखता है। यह राजनीतिज्ञों, विशेष रूप से राजनीतिक दलों के नेताओं की गतिविधियों से संबंधित है। राजनीति क्या है? राजनीति की प्रकृति को क्या निर्धारित करता है? यदि कोई राजनीतिज्ञों की गतिविधियों की अभिव्यक्ति की परिभाषा से शुरू करता है, तो कोई कह सकता है कि राजनीति का संबंध शक्ति के लिए उनके संघर्ष में राजनीतिक वैमनस्यता से है। यह निश्चित परिभाषा होगी, जिससे सर्वाधिक लोग सहमत होंगे। संभव्यता, इस पर भी सहमति होगी कि राजनीति अंतराष्ट्रीय स्तर पर राज्यों के बीच के संबंध को सूचित करती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

'राजनीति शक्ति और इसे कैसे वितरित किया जाता है से संबंधित हैं । लेकिन शक्ति शून्य में तैरती हुई कोई मूर्त्त सत्ता नहीं है। यह मानव में समाहित होती है। शक्ति एक प्रकार का संबंध होता है, जहां एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की आज्ञा को मानता है, चाहे वह मानना चाहती हो या नहीं। इस प्रकार की जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसे नेतृत्व, आधिपत्य और अधीन की कोटि में, वर्गीकृत किया जाता है। मैक्स वैबर ने 1918 का अपना प्रसिद्ध भाषण, 'राजनीति एक पेशे के रूप में' यह प्रस्ताव करते हुए प्रारंभ किया कि राजनीति पूरी तरह से विस्तृत होती है और किसी भी प्रकार की स्वतंत्र नेतृत्व वाली गधिविधि को समाहित करती है। संदर्भ चाहे जो हो, ऐसी 'नेतृत्व' जहां भी निहित होता है, वहाँ राजनीति होती है। हमारे शब्दों, में राजनीति उस किसी भी परिस्थिति को शामिल करेगी, जहाँ शक्ति संबंधों का अस्तित्व होता है, उदाहरणार्थ, जहाँ लोग बधित या दबे हुए हो, अथवा किसी प्रकार के प्राधिकार के अधीन हों। यह उन परिस्थितियों को भी समाहित करेगी जहां व्यक्ति संरचनाओं या संस्थाओं के एक सैट द्वारा दबाये जायें।

ऐसी विस्तृत परिभाषा का यह गुण है कि यह दर्शाया जा सकता है कि राजनीति आवश्यक रूप से सरकार की बात नहीं है, ना ही पूरी तरह से राजनीतिज्ञों की गतिविधियों से संबंधित है। राजनीति उन सभी संदर्भों में स्थित होती है, जहाँ सत्ता संरचना और नेतृत्व प्राप्त करने या इसे बनाये रखने के लिए सत्ता संघर्ष हो। इस अर्थ में कोई श्रमिक संघों या 'विश्वविद्यालय की राजनीति' के बारे में बातें कर सकता है। कोई 'यौन राजनीति', पुरूषों का महिलाओं के ऊपर आधिपत्य या इस संबंध को परिवर्त्तन करने के अर्थ में चर्चा कर सकता है। वर्तमान समय में शक्ति के संदर्भ में नस्लीय राजनीति के बारे में अधिक

विवाद है। संकुचित अर्थ में प्रत्येक कार्य राजनीति होता है, जो हमारे जीवन को प्रभावित करती है, उन संस्थाओं के माध्यम से जो राजसत्ता का प्रयोग तथा नियंत्रण करते हैं तथा जिन उद्देश्यों के लिए वे नियंत्रण का प्रयोग करती हैं। उपर्युक्त उधृत भाषण में वैबर ने सामान्य नेतृत्व के संबंध में राजनीति की बहुत विस्तृत परिभाषा प्रारम्भिक रूप से देने के बाद, बहुत सीमित परिभाषा दी : उन्होंने लिखा कि 'हम राजनीति से समझना चाहते हैं, एक राजनीतिक संघ का नेतृत्व या इसको प्रभावित करना, इसलिए आज एक राज्य का'। इस परिप्रेक्ष्य में, राज्य केन्द्रीय राजनीतिक संघ है। एक राजनीतिक प्रश्न वह है, जो राज्य से संबंधित है, किस उद्देश्य के लिए शक्ति का इस्तेमाल किया जाता है और इसका परिणाम क्या होता है और इसी प्रकार के अन्य।

1.4 राज्य क्या है?

यहाँ एक नया मुद्दा उभर कर आता है कि राज्य क्या है? इस प्रश्न का किसी प्रकार से उत्तर देना आसान नहीं है, नहीं इस पर कोई सहमति है कि उत्तर क्या होना चाहिए। यह सर्वप्रथम अवश्य सूचित किया जाना चाहिए कि राज्य के विभिन्न रूप होते हैं, जो प्रमुख तौर पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ग्रीक नगर-राज्य आधुनिक राष्ट्र-राज्य से साफ तौर पर अलग है, जिसका फ्रांसिसी क्रांति के वक्त से विश्व राजनीति पर आधिपत्य रहा है। समकालीन उदारवादी, प्रजातांत्रिक राज्य, जिसका अस्तित्व ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप में है, यह हिटलर या मुसोलनी के फासीवादी राज्य से अलग है। यह राज्य के उस रूप से भी भिन्न है, जिसका अस्तित्व भूतपूर्व यू.एस.एस.आर. और पूर्वी यूरोप में था। राजनीति के अध्ययन का प्रमुख भाग और निश्चित रूप से इस पुस्तक का अभिन्न अंग, इन पदों का क्या अर्थ है, उनकी व्याख्या है। इसका उद्देश्य एक रूप दूसरे से भिन्न कैसे है, इस को दिखाना है और यह भी कि ऐसे अंतर का क्या महत्त्व है।

1.4.1 राज्य : राजनीतिक संस्थाओं/सामाजिक संदर्भ के आधार पर विभिन्नता

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

राज्य अपनी राजनीतिक संस्थाओं की तरह सामाजिक संदर्भ, जिसके अंतर्गत वे अवस्थित हैं और जिन्हें वे सुव्यवस्थित करने की कोशिश करते हैं, में भिन्न हैं। इसलिए, जबकि उदारवादी प्रजातांत्रिक राज्य प्रतिनिधि संस्थाओं जैसे संसद और स्वतन्त्र न्यायपालिका के द्वारा निर्धारित किया जाता है, नेता फासीवादी राज्य को नियंत्रित करता है। सामाजिक संदर्भ के संबंध में महत्त्वपूर्ण भेद पश्चिमी और सोवियत प्रणालियों के बीच है, पहला ऐसे समाज में समाहित है, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सिद्धांतों के आधार पर संगठित है, जबकि दूसरे मामले में समाज के उत्पादन संसाधनों पर स्वामित्व और नियंत्रण राज्य द्वारा किया जाता है। अतः प्रत्येक मामले में, राज्य, विभिन्न रूप से संगठित, बहुत भिन्न प्रकार के सामाजिक ढांचे में कार्य करता है, और यह राज्य की प्रकृति और उद्देश्यों को बहुत हद तक प्रभावित करता है और जिनको कि यह पूरा करता है।

राज्य के विभिन्न रूप होते हैं, लेकिन जो भी रूप किसी व्यक्ति के दिमाग में रहे, राज्य एक अखंड़ित इकाई नहीं है। जैसे कि राज्य सरकार' नहीं है। यह विभिन्न तत्त्वों का संयुक्त रूप है, जिसका कि सरकार केवल एक तत्व है। पश्चिमी उदारवादी, प्रजातांत्रिक राज्य, में जो सरकार बनाते हैं वे वास्तव में राज्य शक्ति के साथ हैं। वे राज्य के नाम पर बोलते हैं और राज्य शक्ति के लीवर को नियंत्रण करने के क्रम में पद ग्रहण करते हैं।

फिर भी भाषा का परिवर्त्तन करने के लिए, राज्य के घर में अनेक निवास स्थान हैं और सरकार उनमें से एक को ग्रहण करती है।

1.4.2 रैल्फ मिलिबैंड के राज्य संबंधी विचार

अपनी पुस्तक 'पूंजीवादी समाज में राज्य' (The State in Capitalist Society) में रैल्फ मिलिबैंड उन विभिन्न तत्त्वों का पंजीयन करते हैं, जो एक साथ मिलकर राज्य का निर्माण करते हैं। पहला, परंतु किसी भी शर्त पर राज्य उपकरण का एकमात्र तत्त्व सरकार होती है। दूसरा प्रशासनिक तत्त्व, सिविल सेवा या नौकरशाही होता है। यह प्रशासनिक कार्यपालिका, उदारवादी - प्रजातांत्रिक प्रणालियों में, निष्पक्ष मानी जाती है तथा जो सत्ता में होते हैं, उन राजनीतिज्ञों के आदेश का पालन करती है। वास्तव में, फिर भी नौकरशाही, का अपना प्राधिकार हो सकता है और वह इसका प्रयोग कर सकती है। तृतीय, मिलिबैंड की सूची में है मिलिटरी और पुलिस आदेश-परिपालन या राज्य का दमनकारी अंग; चतुर्थ, न्यायपालिका आती है। किसी भी संवैधानिक व्यवस्था में, न्यायपालिका सरकारी शक्ति रखने वालों से स्वतंत्र मानी जाती है। यह उन पर नियंत्रण का कार्य करती है। पाँचवां उप-केन्द्र या स्थानीय स्वशासन इकाइयाँ आते हैं। कुछ संघात्मक प्रणालियों में, ये इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार से काफी सीमा तक स्वतंत्रत हैं, शक्ति के अपने क्षेत्र का नियंत्रण करती हुयी, जहाँ सरकार संवैधानिक रूप से हस्तक्षेप से अलग रखी जाती है। केन्द्रीय और स्थानीय सरकार के बीच का संबंध एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मुद्दा बन गया है। जैसा कि हाल में ब्रिटिश राजनीति में ग्रेटर लंदन कॉन्सिल और महानगर काउन्टियों को हटाने, स्थानीय सरकार को वित्त प्रदान संबंधी वाद-विवाद, कीमत निर्धारण और अन्य के ऊपर विवाद देखने को मिले हैं। छटा और अंततः, ब्रिटिश प्रणाली में प्रतिनिधि सभायें और संसद को सूची को शामिल किया जा सकता है। कोई राजनीतिक दलों की भी चर्चा कर सकता है, यद्यपि वे कम से कम उदारवादी प्रजातंत्र में, सामान्यतयाः राज्य मशीनरी के भाग नहीं होते हैं। वे प्रतिनिधि सभा में अपनी प्रत्यक्ष भूमिका निभाते हैं और वहाँ कम से कम, अंशतः सरकार और विरोधी पक्ष के बीच प्रतिस्पर्धात्मक मुकाबले को संवादित किया जाता है।

बोध प्रश्न 2

MAADHYAM IAS

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) आप राजनीति शब्द से क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) रैल्फ मिलिबैंड के राज्य संबंधी विचारों का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

1.5 राजनीति एक पेशे के रूप में

यह बिन्दु हमें वैबर और उनके पहले से ही उद्धृत भाषण, 'राजनीति एक पेशे के रूप में' की ओर ले जाता है। यह वाद-विवाद करने के बाद कि राजनीति केन्द्रीय राजनीतिक संघ, राज्य से सम्बंधित है वैबर ने आगे कहा कि राज्य को, उसके कार्यों या उद्देश्यों के संदर्भ में नहीं परिभाषित किया जा सकता है। कोई कार्य ऐसा नहीं था, जो विशेष रूप से राज्य की व्याख्या करे, अंततः राज्य को निश्चित साधनों के संदर्भ में परिभाषित करने की आवश्यकता थी और ये साधन, आखिरकार, शारीरिक शक्ति थे। वैबर ने लिखा कि 'राज्य एक मानवीय समुदाय होता है, जो दिए गए क्षेत्र में शारीरिक बल के वैध प्रयोग के एकाधिकार का सफलतापूर्वक दावा करता है'।

यहाँ तीन खास तत्त्वों को मिलाया गया हैः एक दिए गया प्रदेश या भौगोलिक क्षेत्र, जिसको कि राज्य नियंत्रित करता है; अपने नियंत्रण को संचालित करने के लिए शारीरिक बल का प्रयोग और तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण, ऐसे बल के वैध प्रयोग का एकाधिकार है। इस वैधता को अधिकतर लोगों के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि सभी के द्वारा नहीं। वैबर ने निष्कर्ष निकाला कि उनके अनुसार राजनीति का अर्थ 'सत्ता में भागीदारी के लिए प्रयास करना या राज्यों के अन्तर्गत सत्ता के विभाजन या राज्य के अंतर्गत समूहों के बीच राजनीति को प्रभावित करने का प्रयास करना' है।

इसका भी उल्लेख था कि प्रत्येक राज्य का एक विशेष सामाजिक संदर्भ के अंतर्गत अस्तित्व होता है। राजनीति का अध्ययन प्रमुख रूप से राज्य और समाज के संबंध पर आधारित होता है। राजनीति के राज्य-केन्द्रित परिप्रेक्ष्य का यह अर्थ यह नहीं है कि इसका अध्ययन जो समाज के विस्तृत क्षेत्र में घटित होता है उसको नज़रअन्दाज़ करे और, जैसा कि वैबर ने कहा कि यह कैसे 'सत्ता के वितरण को प्रभावित करता है'।

एक और तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती हैः यह राज्य सत्ता का लगातार विकास और केन्द्रीयकरण है। यदि कोई व्यक्ति राज्य के आधिपत्य को एक विशेषीकृत उपकरण के रूप में देखता है, तब आधुनिक काल का इतिहास अपने पैमाने और पकड़ के विस्तार के द्वारा सूचित किया जाता है। आधुनिक राज्य को कार्यों के उन्नतशील वैविध्य के लिए एक प्रगतिशील संयुक्त नौकरशाही की ज़रूरत है। इसे कड़े और अधिक मिश्रित, सशस्त्र सैनिक बलों, अधिक व्यवस्थित कल्याणकारी एजेन्सियों की ज़रूरत होती है और पहले की तुलना में, गतिविधियों की अधिक विस्तृत श्रेणी को अपनाता है। कार्य के राज्य क्षेत्र का यह विस्तार, इसका वृद्धि और विकास, उदारवादी-प्रजातांत्रिक प्रणालियों के अपने पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में और समाजवादी प्रणालियों के अपने सामूहिक आर्थिक ढाँचे, दोनों पर लागू होता है। वैबर ने ऐसे विकास को एक प्रशिक्षित, दक्ष और विवेकशील प्रभावकारी नौकरशाही के उद्भाव के रूप में देखा। बिल्कुल विभिन्न राजनीतिक और सैद्धांतिक पृष्ठभूमि वाले मार्क्स इस बिन्दु पर उनसे सहमत थे। मार्क्स ने फ्रांस में राज्य सत्ता के विकास को 'लुई बोनापार्ट के 18वीं बुमेयर' के अंतर्गत लिखा, जिसे उन्होंने आधुनिक राज्य के विशिष्ट रूप में स्वीकार किया। उन्होंने वर्णन किया कि कैसे समाजवाद अंततः राज्य को नष्ट कर देगा और समाज दमन के विशेषीकृत उपकरण के बिना अपने आप शासित होगा। वैबर का ठीक इसके विपरीत मानना था कि समाजवाद को सामूहिक अर्थव्यवस्था और समाज को संचालित करने के लिए और अधिक कर्मचारियों की ज़रूरत होगी।

MAADHYAM IAS

1.6 शक्ति का वैधानिक प्रयोग

बात यह है कि राज्य शक्ति पर निर्भर करता है, परंतु यह सिर्फ शक्ति पर ही आधारित नहीं होता है। यहाँ, शक्ति के वैधानिक प्रयोग के सिद्धांत का आगमन होता है। सामान्यतः शक्ति और इस प्रकार राज्य की शक्ति, का प्रयोग विभिन्न तरीकों से किया जा सकता है। ज़बरदस्ती शक्ति का एक रूप होती है और शायद जिसे आसानी से समझा जा सकता, लेकिन मात्र यही नहीं है। सभी शक्ति संबंधों को एक आसान ढाँचे के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। यदि एक व्याख्याता बहस और ज्ञान शक्ति के द्वारा विद्यार्थियों को अपने विचारों के निर्माण में सहायता प्रदान करता है, तो वह शक्ति के एक प्रकार का प्रयोग करता है, लेकिन यह विद्यार्थियों के इच्छा के विरुद्ध नहीं होती है। ज़्यादा मायने की बात यह है कि शक्ति के सभी प्रयोग कर्त्ता अपने शासितों को अपने शक्ति प्रयोग को सही और उचित बतातें हैं।

लोगों को सम्मत करने का औचित्यीकरण का यह प्रयास विधि सम्मत की प्रक्रिया कहलाता है। हम इस उचित या स्वीकृत शक्ति को प्राधिकार (Authority) कह सकते हैं। ऐसा हम केवल प्रतिबंधों के भय के कारण पालन की जाने वाली शक्ति से पृथक दर्शाने के लिए कह सकते हैं। लोग इस वैधानिक सत्ता या शक्ति का पालन इसलिए करते हैं क्योकि वे ऐसा करने को सही समझते हैं। वे विश्वास करते हैं, चाहे किसी भी कारण से कि सत्ताधारी प्रभुत्वपूर्ण भूमिका के अधिकारी बन जाते हैं। उनके पास वैधानिक सत्ता होती है, आदेश देने का अधिकार होता है। सत्ता के एक नवीन विश्लेषक के शब्दों में, 'वैधानिक सत्ता एक शक्ति संबंध है, जिसमें सत्ताधारी को आदेश देने का अभिस्वीकृत अधिकार होता है और सत्ता का पालन किया जाना एक अभिस्वीकृत कर्त्तव्य होता है''।

1.6.1 वैधता संबंधी मैक्स वैबर के विचार

MAADHYAM IAS

वैबर के अनुसार विधि-सम्मत तीन प्रकार के होते हैं, अर्थात्, तीन तरीकों से शक्ति के प्रयोग को उचित ठहराया जा सकता है। पहले का संबंध पारंपरिक वर्चस्व से है। इसमें शक्ति को इसलिए उचित ठहराया जाता है क्योंकि शक्तिधारी परंपरा या आदत को प्रभावित करते हैं। सत्ता सदैव उनमें या उनके परिवार में निहित रही है। दूसरा प्रकार, करिश्माई विधि सम्मत है। लोग शक्तिधारी का आदेश मानते हैं, क्योंकि वह नेता विलक्षण योग्यता का प्रदर्शन करता है। अंतिम, तीसरा प्रकार विधिक-तार्किक है। लोग कुछ विशेष व्यक्तियों का आदेश मानते हैं, जिन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित कार्यक्षेत्र में विशेष नियमों के तहत आदेश देने को प्राधिकृत किया गया है। कोई व्यक्ति कह सकता है कि प्रथम दो प्रकार वैयक्तिक प्रकृति के हैं। जबकि, विधिक-तार्किक प्रकार प्रक्रियात्मक है। इस तरह, यह राजनीतिक सत्ता की आधुनिक संकल्पना के संगत है। यह आधुनिक संकल्पना के संगत हैं। जैसा कि वैबर कहते हैं, यह आधुनिक 'राज्य के सेवक' द्वारा प्रयुक्त वर्चस्व है और उन सत्तधारियों के द्वारा भी, जो इस बात में उनके समान हैं'।

यह बात स्पष्ट है कि किसी भी प्रणाली में शक्ति प्रयोगकर्त्ता चाहते हैं कि उनकी शक्ति की वैधता को स्वीकार नहीं करने वालों पर बल प्रयोग किया जा सकता है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में, ऐसे लोग हो सकते हैं जो नियमों का पालन केवल इसलिए करते हैं, क्योंकि नियमों का पालन न करने पर दंण्ड दिया जायेगा। स्पष्ट है कि इससे राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता उस मात्रा में बढ़ जाती है, जिस मात्रा में लोग ऐच्छिक रूप से नियमों या कानूनों का पालन करते हैं, क्योकि वे संस्थापित व्यवस्था की वैधता को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार प्रदत्त जारी इस प्रकार वे उन लोगों की सत्ता को स्वीकार

करते हैं, जिन्हें नियमों के द्वारा आदेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई हैं। वास्तव में, सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं सम्मति और बल-प्रयोग के संयोजन से ही कायम है।

1.6.2 वैधता : राजनीति विज्ञान का केन्द्रीय विषय

इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए जी. राइट मिल्स कहते हैं, कि वैधता के विचार को राजनीति शास्त्र की प्रमुख संकल्पनाओं में सम्मिलित किया गया है। राजनीति के अध्ययन का संबंध प्रमुख उन विधियों से हैं जिनके द्वारा सत्ताधारी अपनी सत्ता को उचित ठहराते हैं और इनमें भी कि वह कहाँ तक इसमें सफल होते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि लोग विद्यमान राजनीतिक व्यवस्था को कहाँ तक वैध मानते हैं और इस प्रकार राजनीतिक संरचना का आधार सम्मति पर कितना है, वनिस्पत बल प्रयोग के।

सत्ता के उन वास्तविक औचित्यों को सुनिश्चित करना भी महत्त्वपूर्ण है, जिनको कि प्रस्तुत किया जाता है; अर्थात, वे विधियाँ जिनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को वैध बताया जाता है। जैसा कि विशिष्ट वर्गवाद सिद्धांतशास्त्री मॉस्का कहते हैं, यह किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का 'राजनीतिक मंत्र' है। वैधता का प्रश्न तब और भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जब राजनीतिक व्यवस्थाओं के स्थायित्व और परिवर्तन की बात आती है। यह सच है कि राजनीतिक प्रणालियाँ उन परिस्थितियों में भी संचालित हो सकती हैं, जहाँ जनसंख्या का एक बड़ा भाग प्रणाली की वैधता को मानना छोड़ दे। हाल के वर्षों में दक्षिणी अफ्रीका का उदाहरण दिया जा सकता है; उसी तरह पोलैंड जहाँ यह प्रतीत होता था कि ज़ारूज़ेल्सिकि (Jaruzelski) काल की उल्लेखनीय लोकप्रिय तत्त्वों की आँखों में थोड़ी ही वैधता थी। बात यह है कि ऐसी परिस्थिति में शासन-काल को पूरी तरह से शक्ति पर भरोसा करना पड़ता है। तब यह अपने आप को अधिक अनिश्चित स्थिति में, आघात योग्य और आकस्मिक घटनाओं के प्रभावों की जकड़ में पाता है। यह प्रणाली कुछ समय के लिए रह सकती है, परंतु जब यह सहमति के बजाय बल पर अधिक आधारित होती है, तब क्रांतिकारी परिवर्त्तन के लिए एक शर्त अपने आप को उपस्थित करती है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

1.6.3 'अवैधता' की प्रक्रिया

उपरोक्त यह दर्शाता है कि क्यों किसी भी क्रांति से पहले एक ऐसा दौर आता है जब किसी प्रणाली के प्रमुख विचारों की निरंतर आलोचना होती है। इसे 'अवैधता' की प्रक्रिया कह सकते हैं, जिसके अंतगर्त विचार; जो शक्ति की विद्यमान संरचना को उचित ठहराते हैं, उनकी आलोचना की जाती है। फ्रांस के प्राचीन शासन-काल के पतन के बहुत पहले दैवी अधिकार (Divine Right) और कुलीनतंत्र की विचारधाराओं की दार्शनिकों और निष्पेक्ष राज्य के आलोचकों के द्वारा खिल्ली उड़ाई गयी तथा अस्वीकार किया गया था। अवैधता के ऐसे आन्दोलन ने पुरानी व्यवस्था के आधार को कमजोर किया था। इसने इसके क्रांतिकारी परिवर्तन का रास्ता प्रशस्त किया।

आधुनिक समय में एक उदाहरण वाइमार गणतंत्र (Weimar Republic) का है, जब जर्मन जनसंख्या के बड़े भाग ने प्रजातांत्रिक शासन काल में विश्वास खो दिया था और साम्यवादी विकल्प के भय से हिटलर की राष्ट्रीय-साम्यवादी पार्टी को अपना समर्थन दिया। परिणामस्वरूप बिना अधिक संघर्ष के गणतंत्र का पतन हुआ। समान कारणों का पूरे यूरोपीय मध्यदेश में समान प्रभाव हुआ। अनेक उदारवादी प्रजातंत्रों की पश्चिमी प्रणालियों को उखाड़ फेंका गया तथा उनकी जगह इटली, स्पेन, ऑस्ट्रिया और हंगरी में फासीवादी या अर्द्ध-फासीवादी सत्तात्मक प्रणालियों ने ले ली थी। सामान्य अर्थ में निष्कर्ष यह अवश्य होना चाहिए कि

कोई भी प्रणाली अपनी स्थिरता को खो देती है, जब प्रजा की आँखों में उसकी 'वैघता' खत्म हो जाती है।

अंततः, यह अवश्य मालूम होना चाहिए कि सामान्य समय में भी वैधता और अवैधता किसी भी राजनीतिक प्रणाली की स्थायी विशेषता हैं। वैधता की प्रक्रिया को विद्यमान व्यवस्था की वैधता के लिए उपलब्ध अनेक चैनलों के माध्यम से अधिक या कम सूक्ष्म रास्तों से संचालित किया जाता है। विधि सम्मत विचारों को शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्थाओं से समाहित किया जाता है, सामाजिक अंतःक्रिया के विभिन्न रूपों के माध्यम से संकलित और विशेष रूप से प्रेस, दूरदर्शन और अन्य मीडिया के प्रभाव के माध्यम से प्रचार प्रसार किया जाता है। विचार, जिन्हें कि स्वीकार किया जाता है या जिन्हें प्रणाली की सीमाओं के अंतर्गत माना जाता है, लगभग सभी पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों पर दबाव डालते हैं। कार्य जो इन सीमाओं से परे होते हैं, उन्हें अवैध माना जाता है। अनाकर्षक बनने से कई राजनीतिक विकल्प बंद हो जाते हैं।

1.6.4 दक्षतापूर्ण सहमति

खतरनाक विचार उठे ही नहीं, इसके लिए कई प्रभावकारी विधियाँ उपलब्ध हैं। विचारों को स्रोत पर रोका जा सकता है, स्रोत चेतन और अवचेतन मस्तिष्क भी हो सकता है। शक्ति का एक प्रमुख आयाम लोगों की चेतना को प्रभावित करने तथा ढालने की क्षमता होता है, जिससे कि वे वैकल्पिक संभावनाओं के बारे में बिना कभी जाने राज्य के विद्यमान मामलों को स्वीकार करेंगे। तब सहमति दक्षतापूर्ण सहमति बन जाती है। एक खास सीमा तक हम सभी विद्यमान 'जनमत' से प्रभावित होते हैं। वहाँ से एक चढ़ाव पैमाना उस स्थिति तक पहुँचाता है, जहाँ मस्तिष्कों को ढ़ालना, क्रिया कौशल (Manipulation), राज्य का जाना बुझा उद्देश्य बन जाता है ताकि एक समान और लोकप्रिय मानसिकता पैदा हो। ऐसा नाज़ी जर्मनी में गोयबेल्स की प्रचार मशीन का उद्देश्य था और यह अभी भी किसी सर्वसत्तावादी शासन काल का उद्देश्य है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

क्रियाकौशल 'शक्ति शक्तिहीन के लिए अज्ञात' है जैसा कि सी. राईट मिल्स इसे मानते हैं। पीटर वॉर्सले बताते हैं कि 'यंत्र रचना जिसके द्वारा चेतना को कुशलता से नियंत्रित किया जाता है, आज के समाज में उसका महत्त्व बढ़ रहा है'। मार्क्सवादी भाषा में, ऐसी दक्षतापूर्ण सहमति अंततः 'गलत चेतना' को जन्म देगी। इसके विरुद्ध यह तर्क दिया गया कि जहाँ लोग, जैसा कि उदारवादी. प्रजातांत्रिक प्रणाली में चुनने और अभिव्यक्त करने में स्वतन्त्र होते हैं, चेतना को नियंत्रित करना संभव नहीं होता है। क्रिया कौशल केवल वहीं उपस्थित हो सकता है। जहाँ कि स्वतंत्र चयन का प्रावधान नहीं होता है जैसा कि एक-दलीय व्यवस्था में। यह भी तर्क दिया जाता है कि जहाँ कही भी लोग चुनने के लिए स्वतंत्र होते हैं, लेकिन वास्तव में विद्यमान व्यवस्था के विकल्प को नहीं चुनते हैं, उदाहरण के लिए क्रांतिकारी परिवर्त्तन के प्रति प्रतिबद्ध दलों का समर्थन करके – यह मानना सुरक्षित है कि समाज की विद्यमान संरचना विस्तृत रूप से जो लोग चाहते हैं, वही है। यह इस निष्कर्ष पर पहुँचाएगा कि राजनीतिक चुनाव और इस चुनाव को अभिव्यक्त करने के सामर्थ्य के महत्त्व को कम आँका नहीं जा सकता है। तथापि, 'लोग जो चाहते हैं' कुछ हद तक विभिन्न कारकों द्वारा निर्धारित किया जाता है। चयन शून्य में संभव नहीं होता है। संक्षेप में, चयन अपने आप वैधता की प्रक्रिया के प्रभाव से पूरी तरह स्वतंत्र नहीं माना जा सकता है।

1.6.5 राज्य मशीनरी के कर्मचारी अभिजात्य वर्ग

संक्षिप्त सर्वेक्षण में हमने जिन राजनीतिक समस्याओं पर चर्चा की है, कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे उभरते हैं जोकि आगे की चर्चा में पुनः उभरेंगे। वे मुख्यतः इस वास्तविकता से निकलते हैं

कि राज्य शक्ति की संरचना की जाती है या उसे तोड़ा जाता है, विभिन्न और विशिष्ट भागों में ये हम पहले ही कह चुके है कि विभिन्न भागों के विशिष्ट संबंधों को राजनीतिक प्रणाली के द्वारा निर्धारित किया जाता है, जिसके अंतर्गत वे कार्य करते हैं। जैसे कि, एक साम्यवादी राज्य की आन्तरिक संरचना आगे का प्रश्न इन भागों के कर्मचारियों को शामिल करती हैं। राज्य पूरी तरह से मशीन नहीं है; यद्यपि 'राज्य की मशीनरी' मुहावरे का प्रयोग किया जा सकता है। राज्य लोगों द्वारा संचालित संस्थाओं का एक सेट है, जिसके कर्मचारियों के विचार और बुनियादी प्रवृत्तियाँ उनकी उत्पत्ति और सामाजिक पर्यावरण द्वारा काफी हद तक प्रभावित होते हैं। राज्य के सम्भ्रांत कौन हैं, यह राजनीति के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। जे.ए.सी. गाफिथ ने 'द पॉलिटिक्स ऑफ द ज्यूडीशियरी' नामक पुस्तक में 'राज्य के सम्भ्रांत' पद को हाल ही के एक वर्तमान अध्ययन के माध्यम से स्पष्ट किया है। यह दर्शाता है कि ब्रिटेन में सामान्यतः पाँच पूर्ण कालिक पेशेवर न्यायाधीशों में से चार अभिजात्य वर्ग से होते हैं। यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि जब 'राजनीतिक मामलों के बारे में न्यायिक राय' पर चर्चा करते हुए, ग्रीमिथ 'इन मामलों में दृष्टिकोण की एक उल्लेखनीय निरंतरता पाते हैं जोकि राजनीतिक राय को एक सीमांत रेंज में केंद्रित होती है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोणों से, इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिए जायेंगे कि राज्य के सम्भ्रान्त का स्वभाव और संगठन है। सम्भ्रांतवादी सिद्धांत इस कारक को सबसे अधिक महत्व देते हैं। उनके परिप्रेक्ष्य में, राजनीतिक प्रणाली के स्वभाव को इसके अभिजात्य वर्ग अल्पसंख्यक का शासन, के विश्लेषण के द्वारा सबसे अच्छी तरह से समझा जा सकता है, जो राज्य के उपकरण पर नियंत्रण रखता है। इस परिप्रेक्ष्य में, लगभग प्रत्येक चीज़ नेताओं की प्रतिभा और योग्यताओं पर निर्भर करता है। नेतृत्व का निम्न स्तर भयंकर परिणामों को उत्पन्न करेगा। इस कारण से मैक्स वैबर जर्मनी राजनीतिक नेतृत्व के प्रकृति को लेकर अधिक चिंतित थे। वे सशक्त संसद के पक्षधर थे, क्योंकि वह इच्छित नेताओं के सृजन और जिम्मेदारी युक्त कार्य की क्षमता के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण प्रदान करेगा। वैकल्पिक रूप से नेतृत्व नौकरशाही के हाथ में चला जाएगा, जिसका प्रशिक्षण और जीवन शैली उन्हें सृजनात्मक नेतृत्व के लिए अनपयुक्त सामग्री बना देगा।

मार्क्सवादी सिद्धांत इस विषय के संबंध में दूसरी तरह से विचार करेंगे। वे राज्य के अभिजात्य वर्ग को कम महत्त्व प्रदान करेंगे। यह बहस होगी कि राज्य की गतिविधि के प्रयोजन और उद्देश्यों का अभिजात्य वर्ग के द्वारा कम निर्धारण किया जाता है, बल्कि जिस राज्य प्रणाली का अनुसरण करते हैं, उसके अंतर्गत सामाजिक परिप्रेक्ष्य और आर्थिक ढाँचे का अधिक प्रभाव होता है। इस चिंतन में राज्य मशीनरी के कर्मचारियों के आचरण की अपेक्षा इसकी संरचना का बहुत महत्त्व होता है। सामान्यतया 'संरचनात्मक' सिद्धांत सामाजिक संरचनाओं से निकलने वाली सरकार के सामने बाधाओं को उजागर करेंगे जिसके अंतर्गत सरकार को कार्य करना है। यद्यपि, दो प्रकार की व्याख्याएँ आवश्यक नहीं है कि एक दूसरे को काटे।

यह हमें अंतिम प्रश्न तक पहुँचाता है, जो राज्य और समाज के संबंध के विषय में है। मुहावरा, जिसका प्रयोग मार्क्स ने बोनापार्टिस्ट (Bonapartist) राज्य के लिए किया, इसकी शक्ति 'मध्य-वायु में बर्खास्त' नहीं है। सभी प्रकारों को राज्य प्रणालियों पर लागू किया जा सकता है। अनेक समस्यायें स्वतः उत्पन्न होती हैं। जैसे समाज की शक्ति संरचना कैसे राजनीतिक नेताओं को प्रभावित और बाधित करती हैं? किस सीमा तक राज्य व्यवस्था 'वैधता' को तथा प्रदान करने के लिए हस्तक्षेप करता है या वैकल्पिक रूप से, सामाजिक प्रणाली की असमानताओं को कम करता है? वास्तव में किस सीमा तक 'नागरिक समाज'

राज्य से स्वतंत्र होता है? कुछ सिद्धांतकारों के अनुसार, 'सर्वसत्तावाद' की अवधारणा का अर्थ उस परिस्थिति का ज़िक्र करना है, जहाँ समाज पूरी तरह से राज्य शक्ति से नियंत्रित किया जाता है और अतः समाज बिल्कुल स्वतंत्र नहीं होता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राजनीति एक पेशे के रूप से आप क्या समझते हैं?

2) वैधता क्या है? मैक्स वैबर के इसके संबंध में क्या विचार हैं?

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) अवैधता क्या है?

4) सहमति को कैसे दक्षतापूर्ण बनाया जाता है?

1.7 सारांश

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीति की समझ का अर्थ मानव ज़िन्दगी की आवश्यकताओं, उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को समझना है। यह मानव के राजनीतिक गतिविधियों से संबंधित होती है। राजनीति शक्ति का खेल होता है। अनेक खिलाड़ी इस खेल को एक ही वक्त खेलते हैं और एक दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं। राज्य इस पूरी गतिविधि का केन्द्रीय बिन्दु होता है। राष्ट्रीय गतिविधियों में यह राज्य के अधीन होता है और अंतरराष्ट्रीय गतिविधियों में यह राज्यों के अधीन होता है। राज्य शक्ति के वैध प्रयोग के लिए अधिकृत होता है। प्राधिकार शासन करने का अधिकार होता है। प्राधिकार शक्ति की अपेक्षा वृद्ध सिद्धांत होता है। परिस्थिति की परख का अर्थ राजनीति की समझ होता है। यह परिस्थितिकीय घटना की उपज होती है।

1.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐलन आर.बॉल, *मॉडर्न पॉलिटिक्स एण्ड गवरमेंट*, मैकमिलन, लंदन 1988।

कार्ल जे. फ्रैडरिक, *ऐन इन्ट्रोडक्शन टू पॉलिटिक्ल थ्योरी*, हारपर एण्ड रो, न्यूयॉर्क, 1967।

डेविड हेल्ड. (55), *पॉलिटिकल थ्योरी टूडे*, पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज 1991।

लिनटन रॉबिन्स (संपा), *इंट्रोडयूसिंग पॉलिटिकल साईंस : थीक्स एण्ड कन्सैप्टस इन स्टडिंग पालिटिक्स*, लांगमैन, लंदन 1985।

नेविल जॉनसन, *द लिमिट्स ऑफ पॉलिटिकल साइंस*, क्लेरेनडॉन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1989।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 1.2
2) देखें भाग 1.2 तथा विशेष रूप से उप-भाग 1.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 1.3
2) देखें उप-भाग 1.4.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 1.5
2) देखें भाग 1.6 और उप-भाग 1.6.1 और 1.6.2
3) देखें उप-भाग 1.6.3
4) देखें उप-भाग 1.6.4

इकाई 2 राजनीति का सैद्धांतीकरण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 परिचय
2.2 ऐतिहासिक अभिगम (Approach)
2.3 समाजशास्त्रीय अभिगम
2.4 दार्शनिकीय अभिगम
2.5 एक समग्र अभिगम
2.6 राजनीति विज्ञान का स्वायत्त स्वरूप
2.7 अनुभवजन्य बनाम नियामक सिद्धांत
2.8 उत्कृष्ट कार्यों की समसामयिक प्रासंगिकता
2.9 परम्परागत राजनीतिक चिंतन की निरन्तरता
2.10 राजनीति का नया विज्ञान
2.10.1 ऐरिक वोगलिन के विचार
2.10.2 क्रिश्चियन बे के विचार
2.11 सारांश
2.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीतिक दार्शनिकीकरण/सैद्धांतीकरण के विभिन्न प्रासंगिक चिंतनों पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न के बारे में समर्थ हो जाएँगे :

- राजनीतिक घटनाक्रम के अध्ययन के लिए विभिन्न अभिगमों पर विचार-विमर्श करना;
- अनुभवजन्य और नियामक सिद्धांत के बीच अन्तर करना;
- यह जाँच करना कि राजनीति विज्ञान किस सीमा तक एक स्वायत्त विषय है;
- परम्परागत राजनीतिक चिंतन जिसमें कि क्लासिक्स समहित हैं, की प्रासंगिकता पर टिप्पणी करना; और
- राजनीति के नए विज्ञान पर विचार-विमर्श करना।

2.1 परिचय

राजनीति विज्ञान के स्वरूप और व्याप्ति (Scope) की एक सुस्पष्ट परिभाषा का प्रयास किए बिना कोई भी कह सकता है कि राजनीति और राजनीतिक घटनाक्रम का एक 'व्यापक' और 'संकीर्ण' दृष्टिकोण होता है– एक अपना ध्यान राजनीतिक क्रियाकलापों पर देता है तथा राजनीति को एक क्रिया या एक प्रकार की गतिविधि मानता है तथा दूसरा अपना प्रबल जोर राजनीतिक संरचनाओं पर देता है तथा स्वयं को विभिन्न प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं के इर्द-गिर्द पाता है। अरस्तू ने स्पष्टतः राजनीति का एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था, जब उन्होंने इसकी मात्र राज्य में ही नहीं, अपितु परिवार, निगम, परिसंघ

अथवा गिरिजाघर में तलाश की जबकि अनुवर्ती वर्षों में कुल मिलाकर राजनीति पर विचार-विमर्श इसके संकीर्ण दृष्टिकोण तक सीमित था, जिसमें राजनीति को समाज की राजनीतिक और शासन की उप-व्यवस्थाओं के रूप में समझाया गया। हम समसामयिक लेखकों जैसे कैटलिन आदि को एक बार पुनः इस संकीर्ण दृष्टिकोण से हटता हुआ तथा अपनी प्रमुख चिंता के रूप में घटनात्मक संघर्ष पर ज़ोर देते हुए पाते हैं। इस दृष्टिकोण के प्रादुर्भाव से राजनीतिक वैज्ञानिक मात्र विवरणात्मक वर्गों से और अधिक संतुष्ट नहीं हैं, यद्यपि सही विवरण अन्य चरणों के मुकाबले प्रथम आवश्यक चरण है; अपितु वे विश्लेषण की और अधिक परिशोधित और परिष्कृत तकनीकों पर विचार करना चाहेंगे। दूसरे शब्दों में वे इसे राजनीति विज्ञान में बदलना चाहेंगे जिसे राजनीतिक दर्शन अथवा राजनीतिक चिंतन अथवा राजनीतिक सिद्धांत के रूप में माना गया था। उदाहरणार्थ, कैटलिन राजनीति विज्ञान को ''किसी भी बौद्धिक आधार पर समाजशास्त्र से भिन्न नहीं मानते'' और इनका यह मत है कि समाजशास्त्रियों का '' असंख्य व्यक्तिगत कार्यों और समूहों के मध्य हज़ारों सम्बंध'' का अध्ययन ''विश्वसनीय तुलनाओं और अरस्तु और मैक्यावली की श्रेष्ठतम परम्परा के अनुरूप स्थिरांकों (Constants) के प्रेक्षण (Observation) का आधार बना''। तथापि, यह आश्चर्यजनक है कि क्या राजनीति की संकल्पना जिसमें परिवार नियंत्रण प्रणाली और पादरी प्रथा शामिल थी इतनी व्याप्त नहीं थी कि उन्हें अर्थहीन माना जाए।

2.2 ऐतिहासिक अभिगम (Approach)

राजनीति विज्ञान के प्रति परम्परागत और ऐतिहासिक अभिगम को जॉर्ज एच. सेबाइन द्वारा श्रेष्ठतम तौर पर अभिव्यक्त किया गया है। सैबाइन राजनीति विज्ञान की अपनी बड़ी व्यावहारिक परिभाषा के साथ आगे बढ़ते हैं। इनका सुझाव है कि हमें राजनीति विज्ञान में वे सभी विषय शामिल करने चाहिए जो सुप्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिकों - प्लैटो, अरस्तू, हॉब्बस, लॉक, रूसो, बेंथम, मिल, ग्रीन, हेगेल, मार्क्स और अन्यों के लेखन में प्रमुख प्रकरण रहे हैं। हम उन प्रश्नों का पता लगाने का प्रयास कर सकते हैं जो उन्होंने सत्य अथवा राजनीतिक सिद्धांतों की वैधता के बारे में उठाए हैं। राज्य में अथवा राज्य के माध्यम से प्राप्त होने वाले सामान अथवा आदर्श, स्वतंत्रता का अर्थ, मनुष्य शासन का आदेश क्यों मानते हैं, शासकीय क्रियाकलापों का दायरा, समानता का अर्थ आदि से जुड़े हुए प्रश्न कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो युगों-युगों से राजनीतिक दार्शनिकों के दिमागों पर छाए रहे हैं। इसके अतिरिक्त, हम राज्य, राज्य और समाज के बीच तथा व्यष्टि और राज्य के संबंध से जुड़े हुए प्रश्नों की एक सूची तैयार कर सकते हैं और उन पर विस्तार से चर्चा कर सकते है। यदि इन पर इन राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा पूर्णरूपेण चर्चा नहीं की गई है। परम्परावादी मीमांसकों के अनुसार, ये चर्चाएँ राजनीतिक सिद्धांत का आधार तैयार करती हैं। सेबाइन और परम्परागत लेखकों ने ऐतिहासिक अभिगम को भारी महत्व दिया है। सेबाइन के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत हमेशा ''एक पर्याप्त विशिष्ट स्थिति के हवाले'' में प्रस्तुत किया जाता है और इसीलिए हमेशा ''एक पर्याप्त विशिष्ट समय, स्थान और स्थिति'' पुर्नःरचना आवश्यक है इसे समझने के लिए ये सब इस बात का सूचक नहीं हैं कि भविष्य के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं है। महान् राजनीतिक सिद्धांत ''विद्यमान स्थिति के विश्लेषण और अन्य स्थिति के लिए सूचकत्व'', दोनों से उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार एक श्रेष्ठ राजनीतिक सिद्धांत यद्यपि यह विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम होता है, सभी आने वाली परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण होता है। यथार्थतः राजनीतिक सिद्धांत का यही विश्वस्तरीय स्वरूप है जो उसे मान्यता प्रदान कराता है।

सेबाइन के अनुसार, एक प्रकारात्मक राजनीतिक सिद्धांत में शामिल होता है (क) ''उन कार्यों की संस्थितियों के बारे में तथ्यगत विवरण जिन्होंने इसे उत्कृष्टता प्रदान की'',

MAADHYAM IAS

(ख) इन सबका विवरण ''जिन्हें मोटे तौर पर नैमित्तिक स्वरूप का कहा जा सकता है,'', और (ग) उनका विवरण जिनमें ''कुछ अवश्यमेव होते हैं अथवा भविष्य में सही अपेक्षित होते हैं''। इस प्रकार, सेबाइन के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत तीन घटकों से निर्मित होते हैं - तथ्यगत, नैमित्तिक और मूल्यांकनात्मक। सामान्यतः अति महत्त्व के राजनीतिक सिद्धांत तनावपूर्ण और विकृत अवधियों के दौरान विकसित हुए हैं। दो हज़ार पचास वर्षों से अधिक के ज्ञात इतिहास में, जब लगभग पचास वर्ष की दो अवधियाँ रही हैं पूर्णरूपेण प्रतिबंधित क्षेत्रों में राजनीतिक दर्शन सर्वाधिक फला-फूला है, 1) ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी, दूसरे और तीसरे चरण में, एथेंस में जब प्लैटो और अरस्तू ने अपनी महान् कृतियाँ रचीं और 1640 और 1690 के मध्य इंग्लैड में जब हॉब्स लॉक और अन्यों ने अपने राजनीतिक सिद्धांत इजाद किये। ये दोनों काल यूरोप के सामाजिक और बौद्धिक इतिहास में बृहद परिवर्तनों के सूचक थे। इस प्रकार, महान् राजनीतिक सिद्धांत, सेबाइन के अनुसार ''राजनीतिक और सामाजिक संकट काल के अन्तराल में गुह्य हैं''। इस प्रकार वे संकटकाल के द्वारा नहीं, अपितु उस प्रतिक्रिया द्वारा प्रकट किए जाते हैं जो विचारवेत्ताओं की सोच को प्रभावित करती है। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धांत को समझने के लिए समय, स्थान और उन परिस्थितियों को स्पष्टतः समझना आवश्यक है जिनमें इसका विकास हुआ। राजनीतिक दार्शनिक वस्तुतः अपने काल की राजनीति में भाग नहीं लेता, अपितु वह इससे प्रभावित होता है। सेबाइन के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत इस अर्थ में ''दुहरा अभिनय करते हैं'' कि यद्यपि वे विचारों की भावनात्मक दुनिया से जुड़े होते हैं, वे उन विश्वासों को भी प्रभावित करते हैं जो प्रेरक बन जाते हैं तथा ऐतिहासिक स्थितियों में नैमित्तिक घटनाओं के रूप में प्रस्तुत होते हैं। यह समझना भी आवश्यक है कि क्या एक राजनीतिक सिद्धांत सत्य है अथवा गलत, ठोस है अथवा मूर्खतापूर्ण, वैध है अथवा अविश्वसनीय। इसमें मूल्यों का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हैं। अतः यह आवश्यक है कि राजनीतिक सिद्धांत को समझने की प्रक्रिया में हम तथ्यगत, नैमित्तिक और मूल्यांकनात्मक घटकों पर भी चर्चा करने का प्रयास करें।

2.3 समाजशास्त्रीय अभिगम

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ऐतिहासिक अभिगम की सामान्यतः ऐसे अभिगम के रूप में समालोचना की जाती है जो परम्परा के प्रति अत्यधिक सनाथ है। आधुनिक लेखकों द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि यह अभिगम राजनीति के संकीर्ण दृष्टिकोण को लेकर आगे बढ़ता है और इसे राज्य के क्षेत्र तक सीमित रखता है। अनेक समसामयिक लेखकों ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को व्यापक बनाने का प्रयास किया है, जिसमें राज्य ही नहीं अपितु समाज को भी शामिल किया जा सके। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो स्पष्टतः कैटलिन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कैटलिन राजनीति को अरस्तू के संदर्भ में प्रयोग करना चाहेंगे, एक ऐसा संदर्भ जिसमें राजनीति में वे सभी क्रियाकलाप शामिल होते हैं जो समाज के संरक्षण में किए जाते हैं। कैटलिन राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्र से अभिन्न मानते हैं। उन्होंने इस अभिगम के कई गुणों की ओर ध्यान आकर्षित किया है : (1) यह विद्यार्थी को सम्पूर्ण समाज के संबंधों और इसकी संरचना के अध्ययन की अनुमति देता है, न कि समाज के एक टुकड़े का जो यूरोप के एक हिस्से में पंद्रहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के बीच कृत्रिम तौर पर गठित हुआ और अब जिसका ''आधुनिक राज्य'' के रूप में वर्णन किया जाता है। (2) यह उसके अध्ययन को समाज के एक सामान्य सिद्धांत से जोड़ता है जिसे राजनीतिवेत्ता मात्र अपने संकट काल में अनदेखा कर सकते हैं। यह ऐसा कुछ है जो सर्वाधिक आधुनिक राजनीतिवेत्ताओं द्वारा नहीं किया गया है। (3) यदि राजनीतिवेत्ता राज्य अपने विश्लेषण की इकाई के रूप में लेता है, उस स्थिति में संभव है कि वह दिन-प्रतिदिन होने वाली राजनीतिक घटनाओं से संबंधित जनजातीय और जनसामान्य ब्यौरों की ओर ध्यान न दे, जिन्हें वह तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह उन्हें समाज में हो रही घटनाओं से

न जोड़े। वर्तमान में कई राज्य हैं परन्तु उन्हें राजनीति के विश्लेषणार्थ, व्यष्टिगत इकाई के रूप में नहीं माना जा सकता। पहले उनके मूलभूतस्वरूप को समझना पड़ेगा। (4) यदि राजनीतिवेत्ता संस्थाओं के परे जाने का निर्णय लेता है और कार्यों और प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है, तो उसके लिए एक इकाई का विश्लेषण अधिक आसान होगा। कैटलिन ने राजनीति के अध्ययन के लिए प्रमुख चिन्तन के रूप में अपने पक्ष में नियंत्रणोन्मुख घटना के अध्ययन का विकल्प चुना है। नियंत्रण के कार्य से उनका तात्पर्य है ''व्यष्टियों के कार्य''। कैटलिन को राजनीति की उस परिभाषा पर कोई आपत्ति नहीं होगी जैसा वी.ओ.की. ने ''शासन के अध्ययन'' के रूप में की है बशर्ते हम ''शासन'' को नियंत्रण के पर्याय के रूप में स्वीकार करें, न कि संस्थाओं के पर्याय के रूप में, जैसा कि राष्ट्रपति अथवा मंत्रिमंडल के लिए किया जाता है। राजनीति को ''सत्ता और प्रभाव का अध्ययन'' भी पुकारा जा सकता है, यदि हम स्पष्टतः समझ पाएँ कि ''प्रभाव शासन नहीं है'', अथवा मैक्स वेबर के शब्दों में, ''सत्ता के लिए संघर्ष अथवा सत्तासीनों को प्रभावित करना'', तथा ''इस प्रकार राज्यों के बीच और राज्यों के भीतर संगठित समूहों के बीच संघर्ष को अंगीकार करना'' है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राजनीति/राजनीतिक घटना के 'व्यापक' और 'संकीर्ण' दृष्टिकोण क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) राजनीति के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय अभिगम के प्रमुख लक्षणों को बताएँ और उनका वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2.4 दार्शनिकीय अभिगम

राजनीति विज्ञान संबंधी परम्परागत और समसामयिक दृष्टिकोणों के अतिरिक्त लियो स्ट्रॉस द्वारा प्रतिपादित एक तृतीय दृष्टिकोण है जिसका दार्शनिकीय अभिगम के रूप में वर्णन किया जा सकता है। लियो स्ट्रॉस राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक दर्शन के मध्य भेद करते हैं और मानते हैं कि ये दोनों राजनीतिक चिंतन के अंग हैं। स्ट्रॉस के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत ''राजनीतिक मामलों के स्वरूप को जानने के लिए सच्चा प्रयास है''। दर्शन ''विवेक के लिए तलाश'' अथवा ''भूमंडलीय ज्ञान-संपूर्ण ज्ञान के लिए तलाश'' होने के कारण राजनीतिक दर्शन राजनीतिक मामलों के स्वरूप, और अधिकार दोनों अथवा श्रेष्ठता, राजनीतिक व्यवस्था को जानने का सच्चा प्रयास'' है। राजनीतिक चिंतन राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक दर्शन दोनों पर लागू होता है। राजनीतिक सिद्धांत और राजनीति दर्शन एक-दूसरे के समसामयिक हैं, क्योंकि आमतौर पर कहा जाता है कि ''चिंतन अथवा क्रिया अथवा कार्य को उसका मूल्यांकन किए बिना समझना असंभव है।'' स्ट्रॉस ''इतिहासवाद'' और ''सामाजिक विज्ञान प्रत्यक्षवाद'' दोनों, जिन्हें सेबाइन द्वारा प्रतिपादित किया गया था, की समालोचना करता है। कैटलिन इनका पक्ष लेता रहे हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में पूर्ववर्ती स्थिति ''राजनीति दर्शन की गंभीर विरोधी'' है।

स्ट्रॉस का विश्वास है कि मूल्य राजनीति दर्शन के अभिन्न अंग हैं और उन्हें राजनीति के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता है। सभी राजनीतिक क्रियाकलापों का लक्ष्य रक्षण अथवा परिवर्तन है जो किसी चिंतन अथवा मूल्यांकन कि क्या गलत है और क्या सही, द्वारा दिशा-निर्देशित होता है। एक राजनीतिक शास्त्री से आशा की जाती है कि उसके पास महज राय से कुछ अधिक हो। उसके पास एक ज्ञान, अच्छाई का ज्ञान – अच्छी जिंदगी और अच्छे समाज का ज्ञान . होना चाहिए। ''यदि यह प्रत्यक्षवादिता सुस्पष्ट हो, यदि मानव अच्छी जिंदगी और अच्छे समाज का ज्ञान प्राप्त करने का अपना सुस्पष्ट लक्ष्य बनाए तो राजनीति दर्शन का प्रादुर्भाव होता है।'' स्ट्रॉस लिखता है, ''राजनीतिक मामलों के स्वरूप से जुड़ी कल्पनाएँ जो राजनीतिक मामलों की सभी जानकारियों में सन्निहित हैं, मतों के स्वरूप की होती हैं। ऐसा तभी होती है जब ये कल्पनाएँ समालोचनात्मक और संसक्तात्मक विश्लेषण का प्रकरण बन जाती हैं जिससे राजनीति के दार्शनिकीय अथवा वैज्ञानिक अभिगम प्रकट होता है।'' उसके अनुसार, ''राजनीति दर्शन राजनीतिक मामलों के स्वरूप के बारे में अभिमत को राजनीतिक मामलों के स्वरूप की जानकारी द्वारा प्रतिस्थापित करना'' है, ''ऐसा प्रयास व्यवस्था को सही अर्थों में जानना चाहता'' है। व्यापक रूप में राजनीति दर्शन इसके आरंभ से ही, लगभग बिना किसी विवेचना के हाल ही में उस समय तक परिष्कृत होता रहा है जब व्यवहारवादियों ने इसकी विषय वस्तु, तरीकों और कार्यों पर विवाद उठाना आरंभ किया तथा इसकी तथाकथित संभावनाओं को चुनौती दी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.5 एक समग्र अभिगम

यदि राजनीति विज्ञान का विज्ञानवाद अथवा नैतिकवाद में गुम हो जाना अनुमत नहीं किया जाना महत्त्वपूर्ण है तो यह भी महत्वपूर्ण हैं कि राजनीतिक सिद्धांत के वैज्ञानिक और दार्शनिक पहलूओं को समझने का प्रयास करें, पर इससे पहले कि हम राजनीतिक सिद्धांत के वैज्ञानिक पहलू को समझे, हमें यह समझना चाहिए कि विज्ञान क्या है, ठीक उसी प्रकार जैसे हमें राजनीतिक सिद्धांत के दार्शनिकीय पहलू को समझने का प्रयास करने से पहले, यह समझना चाहिए कि दर्शन क्या है।

विज्ञान का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया जाता है जैसे ''उस ज्ञान अथवा अध्ययन की शाखा जो क्रमबद्ध तरीके से व्यवस्थित तथ्यों और सत्यों के निकाय से जुड़ी है तथा सामान्य नियमों के प्रचलन को दर्शाती है'', योजनाबद्ध अध्ययन द्वारा अर्जित सिद्धांतों के तथ्यों की जानकारी'', ''संगठित ज्ञान के स्कंध अथवा निकाय'' के रूप में। इस प्रकार समस्या के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक अभिगम में दो बातें अन्तर्ग्रस्त होती हैं : (क) पद्धतियों पर सामंजस्य, तथा (ख) वैज्ञानिक कार्य में मानव का प्रशिक्षण। इन दो पहलुओं को ध्यान में रखते हुए, फ्रीडरिच विज्ञान को ''क्रमबद्ध ज्ञान के निकाय जो उन पद्धतियों के प्रयोग के माध्यम से जानकारी के उस क्षेत्र में विशेषज्ञों को ज्ञात हो और प्रकार की जानकारी को प्राप्त करने के लिए संभाव्य तरीकों के रूप में स्वीकार करते हैं'' के रूप में परिभाषित करेंगे। इस प्रकार विज्ञान ''संगठित' ज्ञान है और चूँकि विभिन्न विद्ववानों द्वारा उस विज्ञान की विशेष जानकारी को एकत्रित करने में नियोजित पद्धतियों में समानता है, जो इसे तार्किक संसक्तता प्रदान करता है, वैज्ञानिक विवरणियाँ अन्य विद्ववानों द्वारा वैधीकरण के लिए सक्षम होती हैं। विज्ञान की यह परिभाषा जिसे चुनौती देना शायद ही संभव होगा, यह नहीं कहती है कि सभी प्रकार के विज्ञान के लिए एक ही प्रकार के तरीके प्रयोग किए जाएँ। वस्तुतः एक जगह प्रयुक्त तरीका दूसरी जगह लागू नहीं हो सकता है। समान्यीकरण के सरल उदाहरण को लेकर कोई भी दो विज्ञान सामान्यीकरण की अवस्था में सहमत नहीं होते जिससे उन्हें सही अर्थों में विज्ञान बनाया जा सके। जो तरीके भौतिकी और रसायन के अध्ययन में अत्यधिक सफल हैं, समान रूप से खगोल विज्ञान को लागू नहीं होंगे अपितु ऐसा अध्ययन खगोल विज्ञान की ''वैज्ञानिकता'' से अलग नहीं होता। यह तर्क दिया जा सकता है कि वे कम से कम इस अर्थ में समान हैं कि वे दोनों सुस्पष्ट प्रमात्रात्मक आँकड़े के साथ कार्य करते हैं। तथापि, विज्ञान मात्र शुद्धता की माँग नहीं करता, अपितु इसके लिए प्रासंगिक और परिणामों की पर्याप्तता अपेक्षित हैं। इतिहास विगत कुछ दशकों में अत्यधिक वैज्ञानिक बना दिया गया है। परन्तु इसके वैज्ञानिक स्वरूप के विकास का उसके प्रमात्रीकरण से कुछ लेना-देना नहीं है। यह साधनों के अधिक वैज्ञानिक अध्ययन तथा अन्य प्रकार के प्रमाण के अधिक समालोचनात्मक प्रयोग पर आधारित है, जिसके कारण इतिहास में वैज्ञानिक तरीके के प्रयोग में भारी प्रगति हुई है। फ्रीडरिच इसे और अधिक स्पष्ट करता है कि ''न तो सामान्यीकरण की अवस्था और न ही प्रमात्रीकरण की अवस्था स्वयमेव विज्ञान की प्रगति का ''निरपेक्ष'' मानदण्ड हैं, अपितु इसका हस्तगत सामग्री के संबंध में मूल्यांकन किया जाना चाहिए और तदनुसार निर्धारण भी''। वह इस अनुमोदन के साथ अरस्तू का उदाहरण देते हैं जब वह इसका ''प्रशिक्षित आदमी की पहचान'' के रूप में वर्णन करते हैं जिससे ''प्रत्येक वस्तु वर्ग में परिशुद्धता की तलाश की जा सके जहाँ तक इसे प्रजा की प्रकृति स्वीकार करे''।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राजनीति के अध्ययन के लिए दार्शनिकीय तथा समग्र अभिगमों के बीच अन्तर स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

2.6 राजनीतिक शास्त्र का स्वायत्त स्वरूप

नॉरमन जैकबसन के मतानुसार, विज्ञान अथवा दर्शन के साथ राजनीति विज्ञान की सूक्ष्म पहचान से एक अन्य प्रकार का ख़तरा प्रकट होता है, राजनीतिक सिद्धांत का जो किसी प्रकार के 'विज्ञानवाद' अथवा 'नैतिकवाद' में सिमट कर रह जाएगा। जैकबसन ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि राजनीति विज्ञान न तो विज्ञानवाद है और न ही नैतिकवाद. न पूरी तरह विज्ञान से इसकी पहचान है न ही नैतिकता से. अपितु यह उन दोनों से अलग है और अपनी निजी पहचान बनाए हुए है। वे जो राजनीति विज्ञान को विज्ञान का पूर्ण स्वरूप देना चाहते हैं तथा इस पर विज्ञान की पद्धतियों और क्रियाविधियों को लागू करने का प्रयास करते हैं, हमेशा नहीं समझ पाते हैं कि विज्ञान का क्या अर्थ है। एक क्षेत्र की जानकारी का प्रयोग करके दूसरे क्षेत्र की बेहतर जानकारी के लिए लाभ उठाने से कोई इंकार नहीं कर सकता, परन्तु इन क्षेत्रों के बीच अन्तर को समझना पड़ेगा। जैकबसन का मत है कि समसामयिक राजनीति वेत्ता राजनीति विज्ञान को राजनीति विज्ञान से इतर राजनीति विज्ञान बनाने की कोशिश कर रहे हैं। वह लिखते हैं कि ''ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीति मनोविज्ञान है, अथवा यह समाजशास्त्र है अथवा यह नैतिक दर्शन अथवा धर्मशास्त्र है''. यह कि ''यह राजनीति से अन्यथा लगभग कुछ भी है''। अन्य विधाओं में जाँच के जिन क्षेत्रों को प्रस्तुत करना है की ओर सर्वाधिक ध्यान आकर्षित करके इस पर और अधिक प्रभावी ढंग से आगे बढ़ने में कोई नुकसान नहीं है, परन्तु ऐसा मात्र उसी समय तक किया जा सकता है जब तक इससे राजनीति को बेहतर तौर पर अध्ययन में मदद मिले। यदि 'विज्ञान' को राजनीतिक सिद्धांत से अलग कर दिया जाए, तब यह मात्र एक व्यर्थ ''नीतिगत'' अवशिष्ट हो जाएगा; यदि दर्शन को इससे अलग कर दिया जाए, तब यह घटकर मात्र एक पद्धतिवत हो जाएगा। वे जो राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिक अथवा दार्शनिकीय स्वरूप पर उस सीमा तक बल देते हैं, जहाँ तक एक अथवा अन्य के साथ राजनीति विज्ञान की पहचान की जा सके, ''विज्ञानवाद' अथवा ''नैतिकवाद'' की अच्छी वकालत कर सकते हैं परन्तु के निश्चित रूप से स्वयमेव राजनीतिविज्ञान के प्रति वचनबद्धता के अर्थ में अभावग्रस्त हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.7 अनुभवजन्य बनाम नियामक सिद्धांत

जहाँ समय-समय पर राजनीति विज्ञान के विभिन्न अभिगमों की वकालत होती रही है, और उनमें से कई प्रायः साथ-साथ सह-अस्तित्व में रहे हैं, उन्हें व्यापक तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है - एक तरफ अनुभवजन्य-विश्लेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक-व्यवहारात्मक अभिगम दूसरी तरफ तथा विधिक ऐतिहासिक अथवा नियामक दार्शनिकीय अभिगम तथा इनमें से प्रत्येक अभिगम की दूसरे के साथ इस प्रबलन (Demarcation) के साथ हदबंदी (Emphasis) है कि जो मूल्यों के साथ तथ्यों अथवा तथ्यों के प्रति मूल्यों पर आरोपित है। इस सम्बन्ध में दो विरोधी स्थितियाँ उनके द्वारा उठाई गई हैं जिनका रॉबर्ट डाल द्वारा अनुभवजन्य सिद्धांतवादियों और परा-अनुभवजन्य-सिद्धांतवादियों के रूप में वर्णन किया गया है। अनुभवजन्य सिद्धांतवादी मानते हैं कि तथ्यों पर आधारित मात्र अनुभवजन्य राजनीति विज्ञान ही संभव हैं, जबकि दूसरे, परा-अनुभवजन्य सिद्धांतवादियों का मत है कि राजनीति का अध्ययन यथार्थतः वैज्ञानिक न तो हो सकता है और न ही होना चाहिए। यह विरोधाभास मुख्यतः दो प्रमुख मुद्दों के इर्द-गिर्द घूमता है :

i) क्या राजनीतिक विश्लेषण तटस्थ हो सकता है?

ii) क्या राजनीतिक विश्लेषण तटस्थ होना चाहिए?

प्रथम स्थिति में अनुभवजन्य सिद्धांतवादियों का निश्चित मत है कि क्या अनुभवजन्य प्रस्थापनाएँ सत्य हैं अथवा गलत; इस मूल्य-आधारित प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकताओं के बिना राजनीति के बारे में हमारे विश्वासों को पृथक् करना अथवा उनका परीक्षण करना संभव है। अनुभवजन्य तौर पर क्या सच है, इस बात 'सही' पर निर्णय, क्या होना चाहिए सही निर्णय से भिन्न होगा। क्या मूल्य ईश्वरेच्छा से व्युत्पन्न होते हैं अथवा प्राकृतिक नियमों से अथवा पूर्णतः प्रकृति के अधीन है, जैसा कि यथार्थवादी मानते हैं। तथ्य हम सभी के विचारार्थ हैं और अनुभवजन्य परीक्षणों के अधीन हो सकते हैं, जबकि मूल्यों का इस तरीके से परीक्षण नहीं किया जा सकता। क्या सामान्यतः अथवा किसी विशेष देश में लोकप्रिय सरकारों की स्थिरता किसी भी प्रकार से साक्षरता, बहुदलीय प्रथाओं, सानुपातिक प्रतिनिधित्व, द्वि-दलीयतंत्र पर निर्भर है, क्या यह एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों के तहत श्रेष्ठतम कार्य पर सकती है, ऐसे प्रश्न हैं जिसका इस तथ्य की ओर ध्यान दिए बिना परीक्षण किया जा सकता है कि क्या वे सही अथवा गलत राजनीतिक तंत्रों से जुड़े हुए हैं। दूसरी तरफ परा-अनुभवजन्यवादी मानते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान में कैसी भी स्थिति हो, तथ्य और मूल्य एक-दूसरे के साथ इतनी निकटता से अन्तर्ग्रथित हैं कि राजनीति के अध्ययन में कोई भी व्यापक सिद्धांत उनके अनुसार निरपवाद रूप से मात्र इस सिद्धांत में तथ्यगत विवरणियों की अनुभवजन्य वैधता के मूल्यांकनों पर आधारित नहीं होगा, अपितु उसमें उस सिद्धांत में वर्णित राजनीतिक घटनाओं, प्रक्रियाओं अथवा पृथाओं की नैतिक गुणवत्ता भी होगी। अतः परा-अनुभवजन्यवादियों के अनुसार यह विचार करना एक भ्रम है कि राजनीति का पूर्णरूपेण उद्देश्यपरक सिद्धांत हो सकता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

MAADHYAM IAS

1) राजनीति विज्ञान के स्वायत्त स्वरूप पर टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

....

2) नियामक और अनुभवजन्य राजनीतिक सिद्धांत के बीच अन्तर बताएँ।

....

....

....

....

....

....

2.8 उत्कृष्ट कार्यों (Classics) की समसामयिक प्रासंगिक

जहाँ ''व्यवहारवाद'' के प्रभावशाली वैज्ञानिक आवरण के अधीन अनुभवजन्य सिद्धांतवादी पचास में और साठवें दशकों के दौरान राजनीति विज्ञान की विधा पर नियंत्रण रखते हुए प्रतीत हुए, वहीं प्रतिष्ठित राजनीतिक दर्शन के 'प्रयोग' और 'प्रासंगिक' व्यापक रूप से पुनर्गठित होती रही और बड़ी संख्या में प्रभावशाली राजनीतिक विचारवेत्ता परम्परागत-प्रतिष्ठित राजनीतिक सिद्धांत की रक्षा और समर्थन करते रहे तथा अनुभवजन्य-विश्लेषणात्मक अभिगमों की कटुता से आलोचना करते रहे। उनकी संख्या संभव है, अधिक न हो, परन्तु वे विभिन्न देशों से सम्बन्ध रखते हैं और बड़ी संख्या में अपने विद्यार्थियों और प्रशंसकों पर अपना भारी प्रभाव रखते हैं। इस संबंध में तत्काल दिमाग को स्पर्श करने वाले नामों में माइकल ओकशॉट, हान्ना आरेण्ड, बट्रैण्ड जुनेल, लियो स्ट्रॉस, क्रिस्टियन बे और एरिक वोगेलिन के नाम आते हैं।

एक उत्कृष्ट कार्य को स्वयमेव किसी 'वर्ग' में कार्य, ''प्रथम श्रेणी के और अभिस्वीकृत बुद्धिमत्ता'' के कार्य के रूप में परिभाषित किया गया है। प्लैटो की *रिपब्लिक एंड लॉज*, अरस्तू की *एथिक्स एंड पॉलिटिक्स*, अगस्टाइन की *सिटी ऑफ गौड*, एक्विनास की *सुम्ना थियोलोजिका* में *ट्रीटाइज ऑन लॉ*, मैकियावैली की *प्रिंस एंडेडिसकोर्सेज*, हॉब्बस की *लेवियाथन*, लॉक की *सेकिण्ड ट्रीटाइज़* रूसो की *सोशल कॉण्ट्रेक्ट*, हेगेल की *फिलॉसाफी ऑफ राइट* तथा मार्क्स की *फिलॉसाफीक एंड इकॉनॉमिक मैनुस्क्रिप्टस ऑफ 1844* तथा *जरमन ऑडियोलॉजी* जैसी पुस्तकें 'उत्कृष्ट कार्य' की श्रेणी में आते हैं। बहुवचन के रूप में इस शब्द के यथार्थ प्रयोग में 'कई स्वरों के वार्तालाप', विभिन्न परिप्रेक्ष्यों के बीच उपकथन तथा कुल मिलाकर वास्तविकता का विवेचन शामिल है। जैसा कि डैंटो जर्मिनो ने इंगित किया है कि 'वार्तालाप' ''कई स्वरों का संघर्ष नहीं है, अपितु कतिपय तर्क की आधिकारिक स्थिति की प्रतिक्रिया है जिसकी केवल उन्हीं के द्वारा पहचान की जा सकती है जो उसे ध्यान से सुनते हैं।'' यह ''मानसिकता का वार्तालाप'', है जो आधुनिक समय से परे मध्ययुगीन और प्राचीन काल तक व्याप्त है तथा जिसकी गुणवत्ता उस समय अथवा स्थान से प्रभावित नहीं होती जिसमें एक विशेष राजनीतिक दार्शनिक अवस्थित था। वह सब जो आवश्यक था, यह था कि ''मानवता के इस वार्तालाप में भाग लेने वाला उस दिन के मुद्दों में प्रत्यक्ष तौर पर अन्तर्ग्रस्त था जो चाहे राजनीति में हो अथवा दर्शन में, सभी कालों के मुद्दे हैं, और इन मुद्दों पर गहन विचार अथवा चिन्तन के लिए सक्षम था तथा उस भाषा में स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता था, सभी युगों के मानवों को अपील करे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.9 परम्परागत राजनीतिक चिंतन की निरन्तरता

माइकल ऑकशॉट जिन्होंने 1951 में हैराल्ड लास्की से लंदन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स एंड पोलिटीकल साइंस में राजनीति विज्ञान का प्रमुख पद सँभाला था, की इंग्लैंड में रूढ़िवादी सोच के पुनरुत्थान के साथ पहचान की जाती है। परन्तु ऑकशॉट को मात्र रूढ़िवादी मानना गलत होगा, यद्यपि वह उस अवधि के प्रत्येक अर्थ में रूढ़िवादी थे। उनका प्रमुख योगदान पूछताछ की परम्परा के रूप में राजनीतिक सिद्धांत को बहाली तथा राजनीति विज्ञान के लिए समालोचनात्मक, सैद्धांतिक विश्लेषण की संभावना को पुनः कायम करना था। व्यवहारवादियों से भिन्न जो उस समय संयुक्त राज्य अमेरिकी में एक पहचान बनने की शुरुआत कर रहे थे जब वह लंदन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स में अपने छात्रों को अपने संभाषणों और सेमीनारों में तथा अपने प्रकाशनों के माध्यम से एक भिन्न प्रकार के सिद्धांत का विवेचन कर रहे थे। ऑकशॉट का अपना दार्शनिकीय विश्लेषण अनुभव पर आधारित था जो उस विविध-आयामन, के पुनरोद्घाटन की माँग करता है जिसे सिद्धांतवादी और

प्रत्यक्षवादी लेखकों द्वारा किए गए अनुभव के प्रति नकार दिया गया था। ऑकशॉट दर्शन और विज्ञान को मौलिक रूप से दो भिन्न प्रकार के क्रिया कलापों के रूप में मानते हैं और उनका विश्वास है कि एक के तरीकों और चिन्तकों को दूसरे को अन्तरित करने का प्रयास गलत होगा। वह लिखते हैं कि ''यह धारणा कि दर्शन को वैज्ञानिक चिंतन के तरीकों से कुछ सीखना है, पूर्णरूपेण गलत है।'' उनके अनुसार, ''दर्शन को अपना निजी हितार्थ जारी रखना चाहिए और इसे सभी असम्बद्ध हितों और विशेष रूप से व्यावहारिक हित से इसकी स्वतंत्रता को बनाए रखना चाहिए।''

ऑकशॉट मानते हैं कि राजनीति दर्शन अथवा जैसा वह कहना पसन्द करेंगे– राजनीति के बारे में दर्शनीकरण - दर्शनीकरण के विशाल अभिनय के संदर्भ में एक सीमित क्रियाकलाप है - ''अनुभव की पूर्णता की दृष्टि से अनुभव-व्यावहारिक अनुभव की किसी विशेष अवस्था को देखने'' का प्रयास। हॉब्बस लेवियाथन की अपनी भूमिका में जैसी कि वह चर्चा करते हैं, राजनीतिक जीवन के बारे में प्रतिक्रिया कई प्रकार के स्तरों पर हो सकती है और वह एक स्तर के दूसरे तक प्रवाह के लिए पर्याप्त थी, परन्तु राजनीतिक दर्शन में हमारे दिमाग में राजनीतिक क्रियाकलापों का एक विश्व तथा एक ''अन्य विश्व'' भी होता है और हमारा प्रयास ''दोनों विश्वों की संसक्तता को एक साथ'' तलाश करना है। उनके लिए ''राजनीतिक दर्शन राजनीति और अनंतता के बीच सम्बन्ध का अध्ययन'' है। ''राजनीति एक लक्ष्य को पूरा करने में सहायक है जिसे यह स्वयमेव प्राप्त नहीं कर सकती''। ऑकशॉट के लिए राजनीति दर्शन ऐसा नहीं है जो व्यवहारवादियों के लिए है, ऐसा ''प्रगतिशील'' विज्ञान है जो ठोस परिणामों का संचयन करता है और उन नतीजों पर पहुँचता है जिन पर आगे का अनुसंधान आधारित होता है। दूसरी तरफ यह निकटता से इतिहास से जुड़ा हुआ है– ''वस्तुतः एक अर्थ में यह कुछ नहीं है अपितु इतिहास है, यह उन समस्याओं का इतिहास है जिन्हें दार्शनिकों ने खोज निकाला है तथा समाधान के उस तरीके का इतिहास है जो उन्होंने प्रतिपादित किया है बजाए इसके कि यह सिद्धांतों का इतिहास है.....।''

MAADHYAM IAS

हन्नाह अरैण्ड कहीं अधिक फलदायी लेखक हैं। अत्यधिक पांडित्य के व्यक्तित्व के साथ उन्होंने राजनीतिक सिद्धांत की प्रमुख समस्याओं पर अधिकाधिक प्रकाशित किया है और एक अपवादात्मक मौलिकता वाले विचारवेत्ता के रूप में अपनी प्रतिष्ठा कायम की है। अलग-अलग मानवीय व्यक्तित्व के अनोखेपन और उत्तरदायित्व में विश्वास रखते हुए उसने सभी प्रकार के सर्वाधिकारवाद का मात्र विरोध ही नहीं किया है अपितु सामाजिक विज्ञान में व्यवहारवादी अभिगम का भी विरोध किया है, जिससे उनके अनुसार सर्वाधिकारवाद का आधार तैयार होता है। मानवीय व्यवहार में एकरूपता की अपनी तलाश में वह चेतावनी देती हैं कि यह स्वयमेव एक समान रूढ़िवादी ''मानव'' का सहयोग करेगा।

हन्नाह अरैण्ड के नाम के साथ बट्रैण्ड द जुबैनेल के नाम की शायद चर्चा की जा सकती है। दोनों मानते हैं कि राजनीति में रचनात्मक क्रियाकलाप की क्षमता है और उसे प्रशासन मृतप्राय एकरूपता में रूपांतरित नहीं किया जाना चाहिए। दोनों सर्वाधिकारवाद के प्रतिकूल हैं, जो बीसवीं शताब्दी की प्रबल घटना के रूप में आने के लिए आशंकित है और उन्होंने इसकी बौद्धिक और नैतिक मूल की जाँच करने का प्रयास किया है।

शिकागो विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर लियो स्ट्रॉस जिनकी अक्टूबर 1973 में मृत्यु हुई राजनीति दर्शन की महान् हानि थी। समसामयिक सिद्धांतवादियों में सर्वाधिक असाधारण व्यक्तित्व में से एक हैं और व्यवहारवादी अभिगम के कटु समालोचक हैं। अमेरिकी दर्शन और राजनीति पर उनका प्रभाव अति महान रहा है। शिकागो में, एक बड़ी संख्या में राजनीति के वैज्ञानिक हैं जो स्वयं को उनका शिष्य मानने में अपना विशेषाधिकार मानते हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राजनीति के उत्कृष्ट कार्यों की प्रासंगिक पर टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

....

2) माइकल ऑकेशॉट अथवा हन्नाह अरेण्ड के विचारों पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.10 राजनीति का नया विज्ञान

2.10.1 ऐरिक वोगलिन के विचार

आधुनिक राजनीतिक विचारकों में जिन्होंने राजनीतिक दर्शनीकरण की ऊँचाइयों में उड़ान भरी है, एरिक वोगलिन का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह एक फलदायी लेखक हैं, यद्यपि उनकी शैली कुछ जटिल है तथा हमेशा उनका अनुसरण करना आसान नहीं है। वह राजनीतिक सिद्धांत और राजनीति विज्ञान के बीच अंतर नहीं करते– उनके अनुसार राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ है राजनीति पर एक समालोचनात्मक प्रतिक्रिया, जिसके बिना कोई राजनीति विज्ञान नहीं हो सकता। वोगेलिन का प्रबल मत है कि हमारे पास कभी भी सैद्धांतिक विश्लेषण में पूरी तरह आगे बढ़ने के लिए सामग्री की उपलब्धता तथा बौद्धिक वातावरण की उपयुक्तता नहीं थी, जैसा कि आजकल है। वोगेलिन आधुनिक दर्शन में तंत्र निर्माण के विरुद्ध हैं और मानते हैं कि तंत्र निर्माता अस्तित्व के मौलिक अनुभव से अनजान हैं।

वोगेलिन के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांतवादी का कर्तव्य है इतिहास के माध्यम से मनुष्य के अनुभवों की जाँच करना और उनका समालोचनात्मक मूल्यांकन करना, जिससे उस प्रकाश की तलाश की जा सके जिसे वे मानव समाज में व्यवस्था के लिए सत्य की अपनी खोज में प्रयोग कर सकें. ऐसा कार्य जिसे ग्रीक दार्शनिकों और ईसाई धर्म मीमांसकों द्वारा श्रेष्ठता से पूरा किया गया था। वोगेलिन उन आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतवादियों से

तीव्रता से असहमत हैं जो राजनीतिक सिद्धांत को आवश्यक रूप से प्रणाली विज्ञान के रूप में तथा उसके कार्य को मात्र ''घटनात्मक स्तर पर हस्त-अप्रयुक्त अनुसंधान को व्यवहारात्मक अनियमितताओं के रूप में ''कारक के रूप में मानेंगे''। अपितु वह राजनीति विज्ञान को ''विद्यमान मानवीय व्यक्तित्व के सकल अनुभव पर आधारित सही क्रम वाली परीक्षणात्मक विज्ञान के रूप में मानेंगे''। वोगेलिन के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत का कार्य ''अनुभवजन्य और समालोचना के तौर पर व्यवस्था की उन समस्याओं को परिष्कृत करना है जो दार्शिनिकीय मानव विज्ञान से सत्ता मीमांसा के एक अंग के रूप में व्युत्पन्न होती है''।

2.10.2 क्रिश्चियन बे के विचार

ऐसे समय पर जब व्यवहारवादी लोकतंत्र की विशिष्टतम धारणा को अपने ''अनुप्रयुक्त'' अध्ययनों और सांख्यिकीय आँकड़ों के संग्रहण के माध्यम से युक्तियुक्त और न्यायनिर्णीत करने की कोशिश कर रहे थे, उसी समय क्रिस्टियन बे, उत्कृष्ट राजनीतिक दार्शनिकों की सर्वोत्कृष्ट परम्परा के अनुरूप, उनकी ''बुद्धिमत्ता'' पर प्रश्नचिह्न लगा रहे थे और पूछताछ की उन समस्याओं और परिप्रेक्ष्यों संबंधी कुछ मौलिक प्रश्न उठा रहे थे जो उनके द्वारा अनदेखे कर दी गई थीं। वह डेविड ईस्टन की राजनीति की परिभाषा ''वे प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा सार्वजनिक मूल्य सत्ता और प्राधिकार के माध्यम से प्रोन्नत एवं वितरित किए जाते हैं से सहमत थे'', परन्तु इस परिभाषा में मानवीय आवश्यकताओं और समस्याओं की राजनीति में सम्बद्धता के किसी प्रसंग की वास्तविक अनुपस्थिति पर उन्हें आपत्ति थी। वह लिखते हैं कि आज राजनीति विज्ञान में व्यावहारिक अनुसंधान की मात्रा ''सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर मतदान तथा अभिमतों और दृष्टिकोणों पर ध्यान देती है। परन्तु हमें इस अनुसंधान में जिस राजनीतिक क्षितिज को हम समझ पाते हैं उसे ही राजनीतिक का पूरा दायरा नहीं समझ लेना चाहिए। ऐसा बहुत कुछ है जो उस समय ध्यान से चूक जाता है जब हम समाजशास्त्रीय तकनीकों – उदाहरण के लिए राजनीतिक वचनबद्धता के अलग-अलग अर्थों – के मानक प्रकारों द्वारा तत्काल मापन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।'' वह लोकतंत्र के नियामक सिद्धांतों से व्यावहारिक आँकड़ों को अर्थपूर्ण ढंग से सम्बद्ध करने का प्रयास न करने के वर्तमान अनुसंधान में प्रचलित प्रवृत्ति के कटु आलोचक थे। इस संबंध में उन्होंने ''आश्चर्यजनक रूप से लोकतांत्रिक सिद्धांत के उपयुक्त अपने आँकड़ों को लाने के सतही प्रयास के साथ राजनीतिक व्यवहार के जोखिम भरे विश्लेषण'' का उद्धरण दिया जिसे बैरलसन, लाज़ार्सफेल्ड तथा मैकफी द्वारा उस समय किया गया था, जब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि लोकतंत्र की अमेरिकी प्रणाली ''एक राजनीतिक संगठन को चलाने के लिए कतिपय अपेक्षाओं को पूरा नहीं करती है'' और यह कि ''यह प्रायः विशिष्टता के साथ कार्य करती है''। ''राजनीति की और अधिक पर्याप्त संकल्पना के साथ'' उन्होंने लिखा था, ''यह स्पष्ट हो आएगा, मेरा विश्वास है कि जो कुछ ये और राजनीतिक व्यवहार पर पुस्तकों के कई अन्य लेखक दृष्टिपात कर रहे हैं, आँकड़ों का मात्र एक सीमित दायरा है जिसे और अधिक वैज्ञानिक जिज्ञासा द्वारा तथा उस राजनीतिक सिद्धांत के अधिक व्यापक परीक्षण द्वारा भी बुरी तरह अनुपूरित किए जाने की आवश्यकता है जिसमें आवश्यकता, विकास तथा आम जनता की भलाइ जो नाममात्र की है, जैसी संकल्पनाओं के लिए स्थान शामिल है।'' बे को एस.एम. लिप्सेट जैसे ''परम आदरणीय लेखक'' के बारे में जानकर भारी धक्का लगा जिन्होंने बड़ी खुशी के साथ दावा किया कि लोकतंत्र ''स्वयमेव प्रचलन में एक अच्छा समाज है'', अथवा यह कि ''एक स्वतंत्र समाज के आंतरिक संघर्षों का लेन-देन'' श्रेष्ठतम था जिसकी मानव पृथ्वी पर रहते हुए आशा कर सकता था। कुछ और उदाहरणों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा, ''समाजशास्त्रीय तकनीकों की उपलब्ध आयुधशाला का उपयोग करने के लिए संकल्पित इस अनुसंधान ने इस घटना को तनावयुक्त बना दिया है कि जिसकी राजनीति के और हटाने के लिए अपनी इच्छा में ये

अन्वेषक नियामक जिज्ञासा से उस कार्य को लोकतंत्र जो मानवीय इच्छाओं को स्वयमेव अंत अथवा समान अस्पष्ट धारणाओं के माध्यम के रूप में है, की अपरिपक्व धारणाओं और उसके बारे में कल्पनाओं से जोड़ते हैं''।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) एरिक वोगलिन अथवा क्रिस्टियन बे के विचारों पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

2.11 सारांश

राजनीति विज्ञान को उस सीमा तक अन्य सामाजिक विज्ञानों से विशिष्ट समझा गया था जहाँ तक यह समाज के भीतर सत्ता नियंत्रण की घटना से जुड़ा हुआ था। मैक्स वैबर ने एक संगठन अथवा परिसंघ को तभी राजनीतिक माना ''यदि और प्रशासनिक कर्मचारियों की तरफ से भौतिक बल के अनुप्रयोग और धमकी द्वारा एक प्रदत्त भू-भागीय क्षेत्र में उसकी व्यवस्था लगातार बनी रहती है''। तथापि, संस्थाओं को विश्लेषण की प्राथमिक इकाई के रूप में माना जाता रहा यद्यपि चिंतन का केन्द्र स्वयमेव संस्थाओं से हटकर सत्ता के संचयन और प्रयोग पर चला गया। रॉबसन लिखते हैं कि ''राजनीतिक वैज्ञानिक के 'चिन्तन का केन्द्र' स्पष्ट है और असंदिग्ध है, यह सत्ता को प्राप्त करने और कायम रखने के संघर्ष पर केन्द्रित है जिससे दूसरे के ऊपर सत्ता अथवा प्रभाव का प्रयोग किया जा सके अथवा उस प्रकार के प्रयोग का विरोध किया जा सके।'' और अधिक हाल ही के वर्षों में, चिन्तन का केन्द्र व्यष्टियों के बीच संबंधों तथा अन्तर्क्रियाओं के प्रतिमानों की ओर अति विशेष रूप से अंतरित हो गया है। चूँकि राजनीति अब ''एक पर्यावरण में मानवीय व्यवहार के पहलू'' के रूप में मानी जाती है। मूल्यों के आधिकारिक आबंटन के रूप में राजनीति की धारणा के व्यापक फ्रेमवर्क के भीतर इसका महत्त्व (1) विश्लेषण की इकाई के रूप में निर्णयन के साथ निर्णय करने और उसके निष्पादन से हटकर (2) नीति निर्माण जिसमें नीति घटक और राजनीतिक प्रक्रियाओं दोनों पर चर्चा होती है तथा अन्ततः (3) समाज के उद्देश्यों के निर्धारण और प्राप्ति की ओर चला गया है। द्वितीय और तृतीय पहलू के बीच प्रमुख अन्तर यह है कि द्वितीय पहलू प्रमुखतः उन राजनीतिक प्रक्रियाओं के सुस्पष्ट स्वरूप पर केन्द्रित है जो राज्य के भीतर संचालित हैं, अन्तिम पहलू उद्देश्यों और प्रयोजनवाद से सम्बद्धित है।

2.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैलानी आर., *थ्यौरीज़ एंड कॉन्सेप्ट ऑफ पॉलटिक्स : एन इंट्रोडक्शन*, मैनचैस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, मैनचैस्टर, 1993।

MAADHYAM IAS

ब्लॉण्डेल, जे., *द डिसीपिल्न ऑफ पॉलिटिक्स*, बटर-पर्थ, लंदन, 1986।

लेफ्टविच, ए., (संस्करण), *ह्वाट इज़ पॉलिटिक्स?*, ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड, 1984।

मूक, सी., *द रिटर्न ऑफ द पॉलिटीकल*, वैर्सो, लंदन, 1993।

प्लान, आर., *मॉडर्न पॉलिटीकल थॉट*, ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड, 1991।

2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 2.1

2) देखें भाग 2.2 और 2.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 2.4 और 2.5

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 2.6

2) देखें भाग 2.7

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 2.8

2) देखें भाग 2.9

बोध प्रश्न 5

1) देखें उप-भाग 2.10.1 और 2.10.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 3 राजनीतिक सिद्धांत की आवश्यकता

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 परिचय
3.2 राजनीतिक सिद्धांत व अन्य अन्तर्सम्बद्ध शब्द
3.3 राजनीतिक सिद्धांत के अनुप्रयोग
  3.3.1 राजनीतिक चिंतन के इतिहास स्वरूप
  3.3.2 विश्लेषण की तकनीक स्वरूप
  3.3.3 संकल्पनात्मक स्पष्टीकरण स्वरूप
  3.3.4 औपचारिक आदर्श-निर्माण स्वरूप
  3.3.5 सैद्धांतिक राजनीति-विज्ञान स्वरूप
3.4 मुख्य सैद्धान्तिक संकल्पनाओं का महत्त्व
3.5 क्या राजनीतिक सिद्धांत अपना अस्तित्व खो चुका है?
3.6 राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान
3.7 ताज़ा घटनाक्रम
3.8 सारांश
3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यह इकाई स्वयं को राजनीति सिद्धांत हेतु आवश्यकता से जोड़ती है। इसको पढ़ने के बाद आप इस लायक होंगे कि :

- राजनीतिक सिद्धांत व अन्य इसी प्रकार के शब्दों में भेद कर सकें;
- राजनीतिक सिद्धांत के विभिन्न अनुप्रयोगों पर चर्चा करें, नामतः राजनीतिक चिन्तन के इतिहास स्वरूप, विश्लेषण की एक तकनीक के रूप में, आदि और;
- जाँच कर सकें कि राजनीतिक सिद्धांत ने कहीं अपना अस्तित्व ही तो नहीं खो दिया।

3.1 परिचय

राजनीतिक सिद्धांत राजनीति-विज्ञान में एक मुख्य मर्म क्षेत्र है। ऐसा अभी हाल ही में हुआ है कि यह एक शैक्षिक चिंतन के रूप में उभरा है। पहले वे लोग जो इस उद्यम में लगे थे, स्वयं को दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक के रूप में प्रस्तुत करते थे। प्राचीन यूनान से लेकर आज तक राजनीतिक सिद्धांत का इतिहास राजनीति-विज्ञान के बुनियादी और शाश्वत् विचारों से भरा पड़ा रहा है। राजनीति-विज्ञान शब्द का प्रथम आधुनिक प्रयोग चार्ल्स-लूई द सैकॉन्दा मौन्तस्क्यू (1689-1755), ऐडम स्मिथ (1723-90), ऐडम फर्ग्यूसन (1723-1816) तथा डैविड ह्यूम (1711-76) की पुस्तकों में हुआ, जहाँ इसका मतलब था 'कानून-निर्माता का विज्ञान'।

उस बौद्धिक परम्परा को निर्दिष्ट करने में व्यवहार करने के लिए 'राजनीतिक सिद्धांत' ही सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है, जो तत्काल व्यावहारिक मामलों के क्षेत्र को लाँघने और मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को एक आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य से 'देखे जाने' की संभावना को दृढ़ करता है। राजनीतिक सिद्धांत संपूर्ण अर्थ में राजनीतिक-विज्ञान था, और सिद्धांत के बग़ैर कोई विज्ञान नहीं हो सकता। ठीक वैसे कि जब हम सिद्धांत के बारे में बात सिद्धांतीकरण के किसी कार्यकलाप के रूप में ही करें, अतः राजनीतिक सिद्धांत को वैध रूप से और सटीक रूप से राजनीतिक-विज्ञान के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

3.2 राजनीतिक सिद्धांत व अन्य अन्तर्सम्बद्ध शब्द

राजनीतिक सिद्धांत और अन्य शब्दों जैसे राजनीतिक-विज्ञान, राजनीतिक-विज्ञान व राजनीतिक-चिंतन, आदि के बीच भेद किया जा सकता है, हालाँकि अनेक विद्वान इनको अदल-बदल कर प्रयोग करते हैं। राजनीतिक सिद्धांत और राजनीति-विज्ञान के बीच भेद आधुनिक विज्ञान द्वारा पनपी बौद्धिक मान्यताओं में आम बदलाव की वजह से पैदा हुआ है। राजनीतिक-विज्ञान ने राजनीति और राजनीतिक व्यवहार के विषय में सत्याभासी निष्कर्ष और नियम देने का प्रयास किया है। राजनीतिक-विज्ञान राजनीतिक दृश्यघटना, प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं पर और वास्तविक राजनीतिक व्यवहार पर उसे दर्शनशास्त्रीय अथवा नीतिशास्त्रीय निकष (criterion) के अधीन कर प्रकाश डालता है। वह सर्वोत्तम राजनीतिक व्यवस्था संबंधी प्रश्न को संज्ञान (consider) लेता है, जो कि एक वृहत्तर और एक अधिक बुनियादी प्रश्न का हिस्सा है, नामतः उस जीवन का आदर्श रूप जो कि मनुष्य को एक वृहत्तर समुदाय में रहकर जीना चाहिए। तत्काल और स्थानीय प्रश्नों का जवाब देने की प्रक्रिया में यह चिरस्थायी मुद्दे को उठाता है; जो कि इस बात का कारण है कि क्यों सैद्धांतिक मूल ग्रंथों का अध्ययन इस नियम पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण घटक बनता है। राजनीति-विज्ञान में किसी भी चिरसम्मत उत्कृष्ट साहित्य में महान् साहित्य कृतियों के अनिवार्य तत्त्व होते हैं, जो कि अपने स्थानीय परिवेश में रहकर भी जीवन व समाज की चिरस्थायी समस्याओं को निबटाता है। इसमें, शाश्वत ज्ञान का सार-तत्त्व होता है और वह किसी एक संस्कृति, स्थान, जन-समाज अथवा समय की नहीं, बल्कि समग्र मानव जाति की धरोहर होता है।

विशिष्ट राजनीतिक सिद्धांतों को किसी घटना के सही अथवा अन्तिम अवबोध (understanding) के रूप में नहीं लिया जा सकता है। किसी घटना का अर्थ हमेशा नए दृष्टिकोणों से भावी व्याख्याओं हेतु खुला रहता है, हर एक सिद्धांत राजनीतिक जीवन में एक विशिष्ट दृष्टिकोण अथवा महत्त्व की दृष्टि से व्याख्या और विश्लेषण करता है। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक सिद्धांत अपने प्रयत्न में आलोचनात्मक होता है, क्योंकि वह ऐसी राजनीति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है जो साधारण लोगों की राजनीति से ऊपर होता है। राजनीतिक सिद्धांत और राजनीति-विज्ञान के बीच कोई तनाव नहीं होता, क्योंकि वे अपनी सीमाओं व क्षेत्राधिकार के लिहाज से ही भिन्न होते हैं, अपने उद्देश्य में नहीं। राजनीतिक सिद्धांत विश्लेषण, वर्णन, स्पष्टीकरण एवं समालोचना के उद्देश्य से विचार, धारणाएँ एवं सिद्धांत प्रस्तुत करता है, जो कि बदले में राजनीतिक-विज्ञान में शामिल कर लिए जाते हैं।

राजनीतिक-दर्शन सामान्य प्रश्नों के उत्तर प्रदान करता है, जैसे – न्याय क्या है, अधिकार-संबंधी संकल्पनाएँ, 'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच भिन्नता, तथा राजनीति के वृहत्तर मुद्दे। राजनीतिक-दर्शन मानवीय राजनीतिक सिद्धांत का हिस्सा है, क्योंकि वह

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

संकल्पनाओं के बीच अंतर्संबंधों को स्थापित करने का प्रयास करता है। यह कहना शायद ठीक होगा कि हर एक राजनीतिक-दार्शनिक एक सिद्धांती होता है, हालाँकि हर राजनीतिक सिद्धांती कोई राजनीतिक-दार्शनिक नहीं होता है। राजनीतिक-दर्शन एक जटिल कार्यकलाप है, जो कि सबसे अच्छी तरह उन कई तरीकों का विश्लेषण करके समझा जाता है जिनको जाने-माने विद्वानों ने अपनाया होता है। किसी एक दार्शनिक और किसी एक ऐतिहासिक काल के बारे में नहीं कहा जा सकता कि उसने इसे निष्कर्ष रूप में परिभाषित किया है— चित्रकला से हम जो कुछ भी समझते हों उससे कहीं अधिक वह समझता है जो कि उसका चित्रकार है अथवा जिसने उस चित्रकला स्कूल का अभ्यास किया हो।

राजनीतिक चिंतन समग्र समुदाय का ही चिंतन है जिसमें उसके सुस्पष्ट भागों जैसे पेशेवर राजनीतिज्ञों, राजनीतिक टीकाकारों, समाज सुधारकों व किसी समुदाय के साधारण व्यक्तियों के लेख और भाषण होते हैं। यह चिन्तन राजनीतिक संधियों, पांडित्यपूर्ण लेखों, भाषणों, सरकारी नीतियों व निर्णयों, तथा पद्य व गद्य के रूप में भी हो सकता है जो लोगों के संताप हर ले। चिन्तन समयबद्ध होता है, उदाहरण के लिए, बीसवीं सदी का इतिहास। संक्षेप में, राजनीतिक चिंतन में वे सिद्धांत शामिल होते हैं जो राजनीतिक व्यवहार, और उसके मूल्यांकन हेतु मूल्यों व उस पर नियंत्रण हेतु तरीकों को स्पष्ट करते हैं।

राजनीतिक सिद्धांत, चिंतन से भिन्न, किसी एक व्यक्ति द्वारा निराधार कल्पना की ओर संकेत है, जो प्रायः व्याख्या के आदर्शों के रूप में संधियों में सुस्पष्ट होते हैं। इसमें संस्थाओं के सिद्धांत आते हैं, जिनमें राज्य के, कानून के, प्रतिनिधित्व के और चुनाव के सिद्धांत शामिल हैं। पूछताछ का तरीका तुलनात्मक और व्याख्यात्मक होता है। राजनीतिक सिद्धांत साधारण राजनीतिक जीवन से जन्म लेने वाली प्रवृत्तियों व कार्रवाइयों को स्पष्ट करने और एक प्रसंग विशेष में उनके विषयक साधारणीकरण करने का प्रयास करता है : यह राजनीतिक सिद्धांत संकल्पनाओं व परिस्थितियों के बीच संबंधों के विषय में अथवा उनसे संबद्ध होता है। राजनीतिक-दर्शन राजनीतिक सिद्धांतों के बीच विवादों को हल करने या समझने का प्रयास करता है, जो कि प्रदत्त प्ररिस्थितियों में समान रूप से स्वीकार्य प्रतीत हो सकते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

राजनीतिक विचारधारा एक ज्ञानकृत और सर्वग्रहणशील सिद्धांत है, जो उसे प्राप्त करने की एक विस्तृत योजना के साथ मानव स्वभाव और समाज का एक सम्पूर्ण और सार्वत्रिक रूप से व्यवहार्य सिद्धांत देने का प्रयास करता है। जॉन लॉक को प्रायः आधुनिक विचारधाराओं का जनक कहा जाता है। मार्क्सवाद भी एक चिंतन संबंधी श्रेष्ठ उदाहरण है, जो कि इस कथन में समेटा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है – दुनिया को बदलना न कि सिर्फ़ उसकी व्याख्या करना। समस्त राजनीतिक चिंतन राजनीतिक दर्शन है, तथापि इसका विलोम सत्य नहीं है। बीसवीं सदी में फासीवाद, नाज़ीवाद, साम्यवाद व उदारवाद जैसी अनेक विचारधाराएँ दिखाई दीं। राजनीतिक चिंतन की एक विशिष्ट विशेषता उसकी मतांधता है, जो राजनीतिक-दर्शन से भिन्न, आदर्श समाज को साकार करने संबंधी अपने उद्देश्य के कारण आलोचनात्मक समीक्षा को सूचित और हतोत्साहित करती है। गैमाइन एवं सैबाइन के अनुसार, राजनीतिक चिंतन राजनीतिक सिद्धांत का एक प्रतिवाद है क्योंकि चिंतन हाल ही में जन्मी होती है, और आशावाद के प्रभावाधीन आत्मपरक, असत्यापनीय मूल्य अधिमानों पर आधारित होती है। गैमाइन, इसके अतिरिक्त, एक राजनीतिक सिद्धांती को एक प्रचारवादी से भिन्न मानते हैं; उनके अनुसार जबकि पूर्ववर्ती के पास मुद्दों की एक गूढ़ समझ होती है, परवर्ती तत्काल प्रश्नों से संबद्ध होता है।

इसके अलावा, जर्मीनो भी, प्लैटो की ही भाँति मत और ज्ञान के बीच भेद करते हैं जहाँ परवर्ती राजनीतिक सिद्धांती का आरंभ-बिन्दु होता था। हरेक राजनीतिक सिद्धांती की दोहरी

भूमिका होती थी – एक वैज्ञानिक और दार्शनिक की, और किस तरीके से वह अपनी भूमिकाएँ विभाजित करता है, उसके मिज़ाज और दिलचस्पियों पर निर्भर करेगा। केवल इन दो भूमिकाओं के संयोजन द्वारा ही एक सार्थक तरीके से ज्ञान प्राप्त करने में मदद मिल सकती है। किसी सिद्धांत का वैज्ञानिक घटक सुसंगत और महत्त्वपूर्ण लग सकता है, यदि लेखक राजनीतिक जीवन के उद्देश्यों की कोई पूर्वकल्पित धारणा रखता हो। दार्शनिक आधार उसी तरीके में प्रकट होता है जिसमें वास्तविकता का वर्णन होता है।

राजनीतिक सिद्धांत तटस्थ और निष्पक्ष होता है। विज्ञान के रूप में, यह जो कुछ भी अव्यक्त अथवा सुव्यक्त रूप से वर्णन किया जा रहा हो, उस पर कोई निर्णय देने का प्रयास किए बग़ैर राजनीतिक बखान करता है। दर्शनशास्त्र के रूप में, आचार-व्यवहार के नियम निर्धारित करता है जो कि समग्र समाज के लिए, न कि महज कुछ व्यक्तियों या वर्गों के लिए उत्तम जीवन सुनिश्चित करेंगे। सिद्धान्ती, सिद्धांत रूप में, स्वयं किसी भी एक देश अथवा वर्ग अथवा दल की राजनीतिक व्यवस्थाओं में कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं लेगा। इस प्रकार की दिलचस्पी के अभाव में, वास्तविकता संबंधी उसका दृष्टिकोण और उत्तम जीवन संबंधी उसकी कल्पना धूमिल नहीं होंगे, न ही उसका सिद्धांत कोई विशेष होगा। किसी भी चिंतन का अभिप्राय समाज में सत्ता की एक व्यवस्था विशेष को न्यायसंगत ठहराना होता है। सिद्धांतवादी एक हितबद्ध पक्ष होता है : उसका हित बातों का पक्ष लेने में हो सकता है, चूँकि वह उसकी यथास्थिति की आलोचना करेगा– इस उम्मीद से कि सत्ता का एक नया वितरण अस्तित्व में आयेगा। निष्पक्ष निर्धारण की बजाय हम युक्तिपरकता पसंद करते हैं। तटस्थ विवरण की बजाय हमारे पास वास्तविकता की एक विकृत तस्वीर है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राजनीतिक सिद्धांत और अन्य अन्तर्सम्बद्ध शब्दों का अंतर स्पष्ट करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

....

3.3 राजनीतिक सिद्धांत के अनुप्रयोग

अरस्तू के समय से ही राजनीतिक सिद्धांतवादी राजनीतिक प्रथाओं व उनके अनुप्रयोग को समझने के लिए 'राजनीतिक' को परिभाषित करते रहे हैं। अरस्तू की यह टिप्पणी कि 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है', समाज हेतु अन्तर्जात मानवेच्छा की भूमिका ले लेती है और यह तथ्य भी कि मानवमात्र को एक राजनीतिक समुदाय की आवश्यकता होती है और वह उसी के माध्यम से पूर्णता पा सकता है। अरस्तू के अनुसार, 'राजनीतिक' महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका अर्थ है – एक सार्वजनिक राजनीतिक स्थान जहाँ पर सभी नागरिक जन भाग लेते हैं। तथापि, राजनीति की परिधि सीमित रखनी पड़ती है।

राजनीतिक सिद्धांत का राजनीतिक आयाम स्वयं को राज्य अथवा सरकार के स्वरूप, प्रकृति व संगठन और वैयक्तिक नागरिक के साथ अपने संबंध से जोड़ता है। यद्यपि ये अन्तर्सम्बद्ध हैं, राजनीतिक को एक विशिष्ट क्षेत्र के रूप में बरता जाता है, जो कि अर्थव्यवस्था व संस्कृति जैसे अन्य क्षेत्रों से भिन्न और असमान होता है। उदारवादी परंपरा का यही प्रमुख ध्यान केन्द्र है। दूसरी ओर, मार्क्सवाद यह तर्क देकर कि 'राजनीतिक सत्ता आर्थिक सत्ता की नौकरानी है,' राजनीतिक व ग़ैर-राजनीतिक के बीच उदारवादी विभेद को सुस्पष्टतापूर्वक निरस्त करता है। वह आर्थिक सत्ता व राज्य के बीच संबंध तादात्म्य स्थापित करता है।

3.3.1 राजनीतिक चिंतन के इतिहास स्वरूप

सामान्यतया राजनीतिक सिद्धांत में पाठ्यक्रम पुस्तकों अथवा विशिष्ट राजनीतिक दर्शनों के विस्तृत एवं विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हैं जो कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से, प्लैटो से लेकर वर्तमान युग तक होता है। इन पुस्तकों का अध्ययन कुछ खास प्रकार की संस्थाओं, सरकारों व कानूनों की वांछनीयता के विषय में उनके नियामक कथनों के लिए किया जाता है, जो कि प्रायः युक्तिपरक तर्कों के साथ दिए होते हैं। इन कालजयी रचनाओं को गुणवत्ता में शाश्वत, भरोसे में स्थायी और उनके महत्त्व में सार्वभौमिक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से मूल पाठों का विश्लेषण करते समय यह देखना महत्त्वपूर्ण होता है कि समय के साथ कोई विचार अथवा संकल्पना विशेष कैसे क्रमविकसित हुई ; और विभिन्न अर्थ एवं व्याख्याएँ भी जिनके अधीन वह रही हो। जबकि यह जानना ज़रूरी है कि कोई बात पहली बार किसने कही, समान रूप से, किसी विचार अथवा संकल्पना के शाखा विस्तार को जानना भी महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि वॉलिन राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास का वर्णन निरंतरता और नवप्रर्वतन, दोनों द्वारा सूचित मानते हैं।

3.3.2 विश्लेषण की तकनीक स्वरूप

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अरस्तू की यह उक्ति कि व्यक्ति एक राजनीतिक प्राणी है, राजनीति की प्राथमिकता और यह तथ्य दर्शाता है कि राजनीतिक चिन्तन विभिन्न स्तरों पर और भिन्न-भिन्न तरीकों से होता है। राजनीतिक इस प्रकार के दृष्टिकोण में न केवल सर्वाकर्षक ही नहीं, बल्कि कार्रवाई का सर्वोच्च प्रकार भी हो जाता है। राजनीति एक सामूहिक जन-जीवन का प्रतीक है, जिसमें लोग ऐसी संस्थाएँ बनाते हैं जो कि उनके आम जीवन को नियमित करती है। यहाँ तक कि भ्रांतिजनक सरल साधारण बुद्धि प्रश्न और राजनीतिक मत भी उत्तर को योग्य बनाते हैं, उदाहरण के लिए, क्या सभी व्यक्ति समान हैं? क्या राज्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं? क्या राज्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है? राज्य द्वारा प्रयुक्त हिंसा को सही कैसे ठहराएँ? स्वतंत्रता और समानता के बीच क्या कोई अन्तर्निहित तनाव है? बहुसंख्यकों के प्रति आदेश जारी किए जाते समय क्या अल्पसंख्यकों को सही ठहराया जाता है और क्या इसका विपरीत भी सही है? इन कथनों के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया प्रायः यह प्रकट करती है कि 'मामला क्या होना चाहिए,' न कि 'मामला क्या है'। यहाँ मूल्यों और आदर्शों के बीच विकल्प दाँव पर होता है। अपने अधिमानों का प्रयोग कर व्यक्ति अनजाने में किसी राजनीतिक चिंतन को स्वीकार कर लेता है, जिसका मतलब है कि प्रश्नों के उत्तर न केवल व्यक्तिगत मत के अनुसार विविध होंगे, बल्कि व्यक्ति के मूल्य अधिमानों पर निर्भर करते हुए भी भिन्न होंगे। ऐसा इस बुनियादी कारण से है कि राजनीतिक सिद्धांत को एक मुक्त समाज का हिस्सा बनना है, चूँकि यहाँ हमेशा उदारवादी और रूढ़िवादी जन होंगे, राजनीतिक सिद्धांत में प्रशिक्षण व्यक्ति को उपर्युक्त प्रश्नों का तार्किक रूप से, सैद्धांतिक रूप से और आलोचनात्मक रूप से उत्तर देने में मदद करती है।

3.3.3 संकल्पनात्मक स्पष्टीकरण स्वरूप

राजनीतिक सिद्धांत किसी राजनीतिक बहस और विश्लेषण में प्रयुक्त संकल्पनाओं और शब्दों को समझने में मदद करता है : जैसे स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र, न्याय व अधिकारों का अर्थ। ये शब्द न सिर्फ़ रोज़ाना की बातचीत में ही, अपितु राजनीतिक सिद्धांत संबंधी बातचीत में भी प्रायिकता से प्रयोग किए जाते हैं। इन शब्दों की समझ इसलिए ज़रूरी है कि इससे उस तरीके का पता चलता है जिसमें ये शब्द प्रयोग किए गए, साथ ही उनकी परिभाषा में बदलाव और किसी तर्क प्राधार में उनका प्रयोग। वैलडन जैसे अनेक विद्वान साधारण पूर्व-सैद्धांतिक भाषा में संकल्पनाओं की सूक्ष्म जाँच किए जाने की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। संकल्पनाओं के विश्लेषण किसी वक्ता या/और लेखक की वैचारिक प्रतिबद्धता को भी प्रकट करते हैं। उदारवादी जन स्वतंत्रता को अपनी पसंद सूचित करने व अवरोधों के अभाव के रूप में परिभाषित करते हैं, जबकि समाजवादी जन स्वतंत्रता और समानता को पसंद करते हैं। उदारवादी जन राज्य को मानव कल्याण के एक साधन रूप में परिभाषित करते हैं जबकि एक समाजवादी के लिए राज्य दमन, प्रभुत्व और वर्ग विशेषाधिकारों का एक साधन है। संकल्पनात्मक वर्गीकरण निश्चित रूप से संभव है, परन्तु पक्षपातशून्य नहीं हो सकता। वे लोग जो इसमें स्पष्ट रूप से या गुप्त रूप से लगे हैं, मूल्य अधिमानों को स्वीकार करते हैं, और इस अर्थ में उनका काम राजनीतिक सिद्धांत में कालजयी रचनाओं के लेखकों से भिन्न नहीं है जो हमें मानवीय, राजनीतिक एवं नैतिक कार्रवाइयों के अन्तर्निहित आधार को समझने में मदद करते हैं।

3.3.4 औपचारिक आदर्श-निर्माण स्वरूप

यह अवधारणा विशेष रूप से अमेरिका में लोकप्रिय है, क्योंकि यह राजनीतिक सिद्धांत को राजनीतिक प्रक्रियाओं के औपचारिक आदर्शों को सोच निकालने हेतु एक प्रयोग रूप में लेती है; ठीक सैद्धांतिक अर्थशास्त्र में औपचारिक आदर्शों की ही तरह। ये आदर्श दो उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं : प्रथम, वे व्याख्यात्मक होते हैं, योजनाबद्ध रूप से उन कारकों को प्रस्तुत करते हुए जिन पर राजनीतिक प्रक्रियाएँ आधारित हैं। दूसरे, वे नियामक होते हैं, उन परिणामों को दर्शाने का प्रयास करते हैं जो किसी नियम विशेष को अपनाने से प्रोद्भूत होते हैं। इस प्रकार के प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण है – एन्टोनी डॉन का 'चुनावी-प्रतिस्पर्धा सिद्धांत' जो यह मानकर चलता है कि मतदाता गण चुनाव-परिणाम से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास करते हैं और टीमों के रूप में पार्टियाँ अपनी विजय संभावनाओं को अधिक-से-अधिक बढ़ाने का प्रयास। डॉन फिर बताते हैं कि किस प्रकार पार्टियाँ जीतने के लिए वैचारिक दृष्टिकोणों को सोच निकालती हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण आदर्श है – कैनेथ ऐरो का असंभावना प्रमेय, जिसके अनुसार, अन्य बातों से परे, जहाँ दो से अधिक विकल्पों के बीच से एक लोकतांत्रिक विकल्प चुना जाना हो, प्रबल संभावना है कि परिणाम यादृच्छिक और विकल्प प्रयोग हेतु अपनाई गई प्रक्रिया द्वारा प्रभावित हो। जोसफ़ शम्पीटर का आभिजात्य सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य राजनीतिक जीवन के बजाय अपने आर्थिक जीवन को अधिक गंभीरता से लेता है।

3.3.5 सैद्धांतिक राजनीति-विज्ञान स्वरूप

बीसवीं सदी में राजनीति-विज्ञान के उद्भव ने कुछ राजनीति-वैज्ञानिकों को प्रवृत्त किया है कि वे राजनीतिक सिद्धांत के इस विषय को महज एक सैद्धांतिक शाखा के रूप में देखें। आनुभाविक अवलोकनों को व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के सांसारिक अनुभवों की एक योजनाबद्ध व्याख्या के साथ जोड़ने के लिए प्रयास किया जाता है। इस दृष्टिकोण को पारंपरिक राजनीतिक सिद्धांत की नियामक विषयवस्तु से अलग रखा जाता है। यद्यपि

MAADHYAM IAS

राजनीतिक दृश्यघटना की मात्र व्याख्या संभव है, परन्तु इसको अनुभववाद में आधारित करना ही काफी नहीं है। नियामक तत्त्वों से मुक्त किसी राजनीतिक सिद्धांत को प्रतिपादित करने का प्रयास सहज ही असफल रहेगा। ऐसा इस वजह से है कि राजनीतिक घटनाओं की किसी भी व्याख्या का मतलब होगा भागीदारों के निश्चयों एवं प्रेरणाओं की विवृति, और इस प्रकार की विवृति नियामक मुद्दों को सामने लाएगी।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राजनीतिक सिद्धांत को किन्हीं दो उपयोगों पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

3.4 मुख्य सैद्धान्तिक संकल्पनाओं का महत्त्व

एक पाठक जो राजनीतिक सिद्धांत से पहली बार परिचित हो रहा हो, दुर्बोध संकल्पनाओं की बजाय संस्थाओं का अध्ययन किया जाना ही पर्याप्त समझ सकता है, ताकि वह समाज के लक्षण और प्रकृति को जान सके। जबकि संस्थाओं का अध्ययन संभव है, हमको स्पष्टतया अनुभव करना पड़ता है कि संस्थागत प्रबंध समाज-समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि वे विचारों की विविध शृंखलाओं पर आधारित होते हैं। यह अनुभव हमें विषयवस्तु की गहराई तक ले जाता है कि महत्त्वपूर्ण क्या है – यथार्थता अथवा अवधारणाएँ, तथ्य अथवा संकल्पनाएँ? क्या अवधारणाएँ वास्तविकता दर्शाती हैं? या फिर क्या यथार्थता अवधारणाओं पर आधारित है?

3.5 क्या राजनीतिक सिद्धांत अपना अस्तित्व खो चुका है?

बीसवीं शताब्दी के मध्य में अनेक प्रेक्षकों ने जल्दी से राजनीतिक सिद्धांत की एक निधन सूचना लिख डाली। कुछ ने इसके पतन की बात की तो दूसरों ने इसकी मृत्यु ही घोषित कर दी। एक ने तो राजनीतिक सिद्धांत को, कुत्ताघर में रहता है, तक बता दिया। यह निराशापूर्ण दृष्टिकोण इसलिए है कि राजनीतिक सिद्धांत में सैद्धांतिक परम्परा आमतौर पर आनुभाविक परीक्षण के नियंत्रण से परे मूल्य निर्णयों से लदी हुई है। नियामक सिद्धांत की आलोचना 'तीस के दशक में युक्तियुक्त आशावादियों की ओर से और तदोपरांत व्यवहारवादियों की ओर से आयी। ईस्टन का दावा है कि चूँकि राजनीतिक सिद्धांत किसी प्रकार के ऐतिहासिक स्वरूप से जुड़ा है, यह अपनी रचनात्मक भूमिका भूल चुका था। वह राजनीति सिद्धांत में नाटकीयता के लिए विलियम डनिंग, चार्ल्स एच. मैकल्वेन और जॉर्ज एम. सैबाइन को दोष देते हैं। इस प्रकार के राजनीतिक सिद्धांत ने मूल्य सिद्धांत के एक गंभीर अध्ययन से छात्रों को रोका है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अपनी भूमिका में सिद्धांत एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा विशिष्ट और बुद्धिमान व्यक्ति जन अपने विचार मामलों को वास्तविक दिशा में ले जाते थे और घटनाओं की वांछित दिशा विषयक कुछ धारणाओं को गंभीर विचारार्थ प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार उन्होंने हमारे सामने अपने नैतिक सिद्धांतों का संपूर्ण अर्थ खोलकर रख दिया। वर्तमान में, तथापि ऐतिहासिक व्याख्या का स्वरूप प्रकार जिससे हम राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन में सुपरिचित हैं, ने परवर्ती से ही अपना अनुपम प्रकार्य व्युत्पन किया है, जो कि एक मूल्यात्मक सिद्धांतों की ओर संरचनात्मक रूप से पहुँचने संबंधी है। अतीत में, सिद्धांत के प्रति दृष्टिकोण एक बुद्धिपरक कार्यकलाप के रूप में है, जिसके द्वारा विद्यार्थी यह जान सकता था कि वह ज्ञातव्य परिणामों, और उनके माध्यम से अपने निजी नैतिक दृष्टिकोण के मूलभूत आधारवाक्यों का अन्वेषण किस प्रकार आरम्भ करे। अमेरिकी राजनीति-सिद्धांतियों द्वारा लिखी गई पुस्तकों की सूक्ष्म जाँच दर्शाती है कि उनके लेखकगण अर्थ, अंतः संगतता और विगत राजनीतिक मूल्यों के ऐतिहासिक विकास विषयक फुटकर जानकारी की बजाय ऐसे ज्ञान को संप्रेषित करने में रुचि करने द्वारा कम प्रेरित थे। डनिंग ने *ए हिस्ट्री ऑफ़ पॉलटिकल थिअरी* (1902) नामक अपने तीन खण्डों में राजनीतिक सिद्धांत में अनुसंधान हेतु वातावरण तैयार किया। एक इतिहासकार के रूप में यह प्रशिक्षण उन्हें राजनीतिक सिद्धांत तक प्रमुखतः ऐतिहासिक बदलाव की समस्याओं को रखने के रूप में और इस प्रक्रिया में राजनीतिक धारणाओं की भूमिका को बतलाने के लिए पहुँचने में समर्थ बनाया। परिणामस्वरूप राजनीतिक सिद्धांत, डनिंग के अनुसार, राजनीतिक धारणाओं की शर्तों व परिणामों का एक ऐतिहासिक लेखा-जोखा बन गया। वह एक युग की सांस्कृतिक व राजनीतिक अवधारणाओं पर से परदा उठाने और, बदले में, सामाजिक दशाओं पर इन धारणाओं के प्रभावों को अलग करने का प्रयास करते हैं।

ईस्टन डनिंग को एक ऐतिहासिकतावादी बताते हैं, क्योंकि वह राजनीतिक सिद्धांत को नैतिक विचार से विमुख करते हैं और सचेत रूप से एक विशुद्ध ऐतिहासिक प्रसंग में नैतिक मुद्दों के साथ क्रियाव्यापार से बचाते हैं। डनिंग राजनीतिक सिद्धांत को अनिवार्यतः उन मुद्दों के भीतर ऐतिहासिक अनुसंधान के रूप में लेते हैं जो कि राजनीतिक तथ्यों व प्रथाओं को अपनाने से पैदा होते हैं। वह अपने अध्ययन को राजनीतिक जीवन संबंधी नीतिशास्त्रीय की बजाय कानूनी आयामों तक सीमित रखते हैं, यद्यपि तदोपरांत उनके शिष्यों ने उसे राजनीतिक कार्यकलाप के सिद्धांतों को चारों ओर से घेरने के लिए इसे विस्तार प्रदान किया। वह नैतिक दृष्टिकोणों को बिना औचित्य प्रतिपादन के सनक, हठमत के उत्थान के रूप में लेते हैं और इस प्रकार विश्लेषण अथवा व्याख्या योग्य नहीं हैं। वह धारणाओं के अर्थ और तार्किक संगतता पर ध्यान नहीं देते।

मैक्ल्वेन ने अपनी पुस्तक *द ग्रोथ ऑफ़ पॉलिटिकल थॉट इन द वैस्ट* (1932) में ऐतिहासिक अनुसंधान का प्रयोग किया है क्योंकि वह राजनीतिक धारणाओं का एक 'प्रभाव' के रूप में लेते हैं, न कि सामाजिक कार्यकलाप की किसी प्रभावशाली अन्तर्क्रियात्मक भूमिका के रूप में। वास्तविक जीवन के बदलते प्रतिमानों में यथार्थ शून्यों के रूप में धारणाओं की सार्थकता सिद्धांतों से संबंधित इतिहास की मात्र एक ऐसी भूमिका के रूप में हो सकती है, जिसमें धारणाएँ उत्तरवर्ती धारणाओं के लिए स्थितियाँ अनुकूल बना सकतीं हैं, परंतु उन्हीं में से जिनमें वे कार्रवाई पर कोई प्रभाव नहीं छोड़तीं। राजनीतिक सिद्धांत यहाँ ज्ञानपरक समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप में अनुमान किया जाता है, जो कि मुख्य रूप से ज्ञान को रूपायित करती परिस्थितियों के साथ वास्ता रखती हैं क्योंकि वह समय के साथ-साथ बदलता रहता है। राजनीतिक सिद्धांती का काम है वह रास्ता दिखाना जिसमें कोई सामाजिक परिवेश ढलता है और राजनीतिक चिंतन को आकार प्रदान करता है। यह विचारधारा के निर्धारक तत्त्वों को अनावृत्त करने संबंधी अनन्य रूप से आनुभाविक कार्य से जुड़ा होता है।

सैबाइन की पुस्तक *ए हिस्ट्री ऑफ़ पॉलिटिकल थिअरी* (1939) ने 'तीस के दशक में अध्ययनों को विशेष रूप से प्रभावित किया है। डनिंग और मैक्ल्वेन की ही भाँति, सैबाइन भी सिद्धांत के ऐतिहासिक अध्ययन को विषयवस्तु के प्रति एक उचित दृष्टिकोण के रूप में लेते हैं। इस पुस्तक से और उसके तरीके की व्याख्या से हम जो प्रभाव देखते हैं, वो यह है कि सिद्धांत का एक ऐतिहासिक अध्ययन अपनी स्वयंसिद्ध न्यायसंगतता प्रदान करता है। सैबाइन डनिंग और मैक्ल्वेन दोनों के दृष्टिकोणों को जोड़कर चलते हैं। डनिंग की ही भाँति वह भी विश्वास करते हैं कि राजनीतिक चिंतन राजनीतिक प्रक्रिया का एक हिस्सा है, जो अन्तर्क्रिया करता है और सामाजिक कार्रवाई को प्रभावित करता है। वह मैक्ल्वेन के इस मत से सहमत हैं कि प्रत्येक सिद्धांत में नैतिक निर्णय का वर्णन और विश्लेषण ज़रूरी होता है, क्योंकि ये किसी कार्रवाई के महज युक्तिकरण ही नहीं बल्कि इतिहास में निर्णयकारी कारक भी होते हैं। नैतिक निर्णय तथ्यपरक प्रस्थापनाओं के मुकाबले निकृष्ट नहीं होते हैं, जैसे कि डनिंग निश्चयपूर्वक कहते हैं। यद्यपि सैबाइन धारणाओं व कार्रवाई के बीच संबंध विषयक अपनी व्याख्या में डनिंग को दोहराते हैं, वह नीतिशास्त्रीय निर्णय की भूमिका पर अपने ज़ोर दिए जाने द्वारा राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास की प्रकृति संबंधी अपनी अवधारणा में भिन्न हैं।

सैबाइन के अनुसार हर राजनीतिक सिद्धांत की सूक्ष्म जाँच दो दृष्टिकोणों से की जा सकती है : सामाजिक दर्शन के रूप में और चिंतन के रूप में। एक विचारधारा के रूप में सिद्धांत मनोवैज्ञानिक दृश्यघटनाएँ हैं, सत्यता अथवा असत्यता को छोड़कर। सिद्धांत विश्वास हैं, लोगों के मन में घटनाएँ हैं, और अपनी वैधता अथवा प्रमाणनीयता पर ध्यान न देते हुए अपने व्यवहार में कारक हैं। सिद्धांत इतिहास में एक प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं और इसी कारण एक इतिहासकार का काम होता है – उस सीमा को निर्धारित करना जहाँ तक कि ये सिद्धांत इतिहास को दिशा दे पाने में मदद करते हों। किसी भी सिद्धांत की मानवीय कार्रवाइयों पर उसके प्रभाव की बजाय उसके अर्थ के लिए जाँच की जानी होती है। इस परिप्रेक्ष्य से देखे जाने पर किसी भी सिद्धांत में दो प्रकार की प्रस्थापनाएँ पाई जाती हैं : तथ्यात्मक और नैतिक। सैबाइन नैतिक की बजाय तथ्यात्मक कथनों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि परवर्ती सत्यता अथवा असत्यता की व्याख्या छोड़ देता है। वह मूल्यों का सम्मान 'कुछ सामाजिक एवं भौतिक तथ्य' हेतु मानवीय वरीयताओं को प्रकट करने के रूप में करते हैं। वे न तो तथ्यों से निगम्य हैं, न ही उन्हें तथ्यों में बदला जा सकता है अथवा राष्ट्रीय रूप से मनोभावों की अभिव्यक्तियों के रूप में खोजा जा सकता है। चूँकि राजनीतिक सिद्धांत वरीयता संबंधी कुछ कथन प्रस्तुत करता है, मूल्य निर्णय सिद्धांत के सारभाग केन्द्र का निर्माण करते हैं और उसके अस्तित्व हेतु कारण स्पष्ट करते हैं। नैतिक तत्त्व राजनीतिक सिद्धांत को अभिलक्षित करते हैं, जो कि इस बात का कारण है कि यह मुख्यतः एक नैतिक उद्यम क्यों है। किसी सिद्धांत के भीतर तथ्यात्मक प्रस्थापनाओं के बावज़ूद किसी प्रसंग अथवा काल विशेष का वर्णन करने में राजनीतिक सिद्धांत समग्र रूप से मुश्किल से ही सत्य हो सकता है।

ईस्टन ने आमतौर पर राजनीतिक सिद्धांत के पतन और विशेष रूप से ऐतिहासिकतावाद में उसके पतन हेतु कारणों की जाँच की। प्रथम और सर्वोपरि है – रचनात्मक दृष्टिकोण के अभाव की ओर प्रवृत्त करती उनके युग संबंधी नैतिक प्रस्थापनाओं के अनुरूप राजनीति-वैज्ञानिकों के बीच रुझान। ज़ोर दिया जाता है व्यक्ति के मूल्यों को अनावृत्त करने और सामने लाने पर, जिसका अर्थ है कि इन नैतिक मूल्यों के गुणों के विषय में पूछताछ की अब आवश्यकता नहीं रही है, अपितु उनके 'उद्‌गमों, विकास और सामाजिक प्रभाव' को समझ लेना ही काफ़ी है। इतिहास का प्रयोग वर्तमान मूल्यों का समर्थन करने के लिए किया जाता है। दूसरे, नैतिक सापेक्षतावाद उस ध्यानाकर्षण हेतु जिम्मेदार है, जो इतिहास के साथ किसी सिद्धांत को मिला हो।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राजनीति सिद्धांत की जाँच किन दो दृष्टिकोणों से की जा सकती है? चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

3.6 राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान

'तीस के दशक में राजनीतिक सिद्धांत ने साम्यवाद, फासीवाद और नाज़ीवाद के सर्वसत्तात्मक सिद्धांतों के विरोध में उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांत के बचाव के उद्देश्य से धारणाओं के इतिहास का अध्ययन शुरू कर दिया। लैसवैल ने मानव व्यवहार पर नियंत्रण रखने के संभावित उद्देश्य को लेकर एक वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत की स्थापना करने का प्रयास किया, जो कि मरियम द्वारा बताए गए उद्देश्यों एवं मार्ग पर आगे बढ़ना ही था। क्लासिकीय परम्परा से भिन्न, वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत का वर्णन करता है न कि निर्धारण। पारंपरिक अर्थ में राजनीतिक सिद्धांत आरेन्द्र थियॉडार अडोर्ना, मारक्युस, लिओ स्ट्रौस आदि की रचनाओं में जीवित रहा। उनके दृष्टिकोण अमेरिकी राजनीति विज्ञान के भीतर विस्तृत विचारों से नाटकीय रूप से भिन्न हैं, क्योंकि वे उदारवादी लोकतंत्र, विज्ञान और ऐतिहासिक प्रगति में विश्वास करते थे। वे सभी राजनीति में राजनीतिक मसीहावाद और रामराज्यवाद को अस्वीकार करते हैं। आरेन्ड ने मुख्य रूप से मनुष्य की अनुरूपता और दायित्व पर ध्यान केन्द्रित किया, जिसके साथ ही वह व्यवहारवाद की अपनी आलोचना शुरू कर देती हैं। उन्होंने निश्चयतापूर्वक कहा कि मानव स्वभाव में अनुरूपताओं हेतु व्यावहारिक अनुसंधान ने मनुष्य को केवल रूढ़िबद्ध करने की दिशा में ही योगदान दिया है।

स्ट्रौस ने आधुनिक युग के संकट से उबर हेतु क्लासिकीय राजनीतिक सिद्धांत के महत्त्व को फिर से दोहराया है। वह इस प्रस्थापना से सहमत नहीं हैं कि समस्त राजनीतिक सिद्धांत एक प्रदत्त सामाजिक-आर्थिक हित को प्रतिबिम्बित करता प्रकृति में वैचारिक है, क्योंकि अधिकांश राजनीतिकचिंतक सामाजिक विद्यमानता में सही व्यवस्था के सिद्धांत को जान लेने की संभाव्यता द्वारा ही अभिप्रेरित होते हैं। एक राजनीतिक दार्शनिक को मुख्य तौर पर सत्य में रुचि रखनी चाहिए। विभाजित मान्यताओं का अध्ययन संसक्ति और संगति को ध्यान में रखते हुए किया जाता है। राजनीतिक सिद्धांत में उत्कृष्ट साहित्य के लेखक अधिक श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होते थे और उन्हें उनकी कृतियों के हिसाब से ही आँका जाना था। स्ट्रौस 'नव' राजनीतिक-विज्ञान के तरीकों और प्रयोजनों पर सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि क्लासिकीय राजनीतिक सिद्धांत, खासकर अरस्तू के, से तुलना किए जाने पर यह दोषपूर्ण है। अरस्तू के अनुसार, किसी भी राजनीतिक-वैज्ञानिक को निष्पक्ष रहना पड़ता है, क्योंकि उसके पास मानवीय साधनों की एक अधिक व्यापक और स्पष्ट समझ होती है। राजनीतिक-विज्ञान और राजनीतिक-दर्शन तद्रूप हैं, क्योंकि सैद्धांतिक और व्यावहारिक पहलुओं वाला विज्ञान दर्शनशास्त्र के तद्रूप

MAADHYAM IAS

है। अरस्तू का राजनीतिक-विज्ञान राजनीतिक वस्तुओं का भी मूल्यांकन करता है, व्यावहारिक मामलों में दूरदर्शिता की स्वायत्तता की रक्षा करता है और राजनीतिक कार्रवाई को अनिवार्यतः नीतिशास्त्रीय के रूप में देखता है। इन आधारवाक्यों को व्यवहारवाद अस्वीकार करता है, क्योंकि वह राजनीतिक दर्शन को राजनीतिक-विज्ञान से अलग करता है और उसके स्थान पर सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक विज्ञानों के बीच भेद को रखता है। वह व्यवहारमूलक विज्ञानों से व्युत्पन्न हुआ तो मानता है परन्तु ठीक उसी भाँति नहीं होते जैसे कि क्लासिकीय परम्परा मानती है। आशावाद की भाँति व्यवहारवाद भी अनर्थकारी है, क्योंकि वह परम सिद्धांतों के संबंध में ज्ञान से इनकार करता है। उनका दिवालियापन प्रत्यक्ष है, क्योंकि वे असहाय दिखाई पड़ते हैं जो सर्वसत्तावाद के उदय के चलते सही या गलत अथवा उचित या अनुचित में भी भेद नहीं कर पाते हैं। स्ट्रौस इतिहासवाद संबंधी ईस्टन के दोषारोपण का प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि यह नया विज्ञान ही राजनीतिक सिद्धांत में पतन हेतु उत्तरदायी है, क्योंकि उसने नियामक मुद्‌दों संबंधी अपनी समग्र उपेक्षा की वजह से पश्चिमी देशों के आम राजनीतिक संकट की ओर इशारा किया और उसे दुष्प्रेरित किया।

वोगलिन राजनीतिक-विज्ञान और राजनीतिक सिद्धांत को अविभाज्य और इस प्रकार का बताया कि एक दूसरे के बगैर संभव नहीं है। राजनीतिक-विज्ञान कोई विचारधारा, कल्पना-लोक अथवा वैज्ञानिक कार्यप्रणाली नहीं बल्कि एक प्रयोगात्मक विज्ञान है जो व्यक्ति और समाज दोनों में सही व्यवस्था संबंधी है। इसको व्यवस्था संबंधी समस्या का आलोचनात्मक और आनुभाविक रूप से सूक्ष्म परीक्षण करना पड़ता है।

सिद्धांत समाज में मानव अस्तित्व विषयक कोई मत प्रकटन मात्र नहीं है, अपितु यह अनुभवों के एक निर्णायक वर्ग की विषयवस्तु की व्याख्या द्वारा अस्तित्व के अर्थ को सूत्रबद्ध करने का एक प्रयास है। उसका तर्क यादृच्छिक नहीं है बल्कि वह उन अनुभवों के पूर्णयोग से वैधता व्युत्पन्न करता है, उसे आनुभाविक नियंत्रण हेतु स्थायी रूप से संदर्भ लेना चाहिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.7 ताज़ा घटनाक्रम

'सत्तर के दशक से, व्यापक रूप से हैबरमा, नॉज़िक और रॉल्स के प्रयासों के चलते राजनीतिक सिद्धांत फिर से जीवित हो उठा है। उसके पुनरुत्थान के बाद से प्रमुख रूप से सामने आने वाली विषयवस्तुएँ स्थूलतः सामाजिक न्याय और कल्याणकारी अधिकार हैं जो कि एक सत्ता-निर्मूलक परिप्रेक्ष्य, उपयोगितावाद, लोकतांत्रिक सिद्धांत एवं बहुवाद, नारीवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद, नव-सामाजिक साम्यवादी बहस में देखे जाते हैं। वस्तुतः साम्यवाद ने मार्क्सवाद की घटती लोकप्रियता द्वारा छोड़े गए रिक्त स्थान को भरने का प्रयास किया है। तथापि, जीवन की यह अभूतपूर्व पट्‌टाधृ (lease) जो राजनीतिक सिद्धांत को प्राप्त हुई है, विद्वत्यरिषद् (academia) तक ही सीमित है। और परिणामतः यह 'एक प्रकार की विमुख राजनीति है', यथा उन कार्यकलापों से कुछ दूरी पर चलाया जाने वाला उद्यम जिनकी ओर वह संकेत करती हो। यह पुनरुत्थान दर्शाता है कि इनके पतन और/अथवा समाप्ति के विषय में उद्‌घोषणाएँ अपरिपक्व और शैक्षिक रूप से अदूरदर्शी हैं। तथापि, हमें समकालीन राजनीतिक सिद्धांत की क्लासिकीय परम्परा से भिन्न पहचानने में सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि पूर्ववर्ती को प्रेरणा परवर्ती से ही मिलती है और इस अर्थ में वे समकालीन जटिलताओं के प्रति क्लासिकीय परम्परा के व्यापक प्राधारों का समंजित करते, नए होने की बजाय परिष्कृत करने के प्रयास हैं।

यह नया-नया पैदा हुआ जोश उदारवादी राजनीतिक संलाप तक ही सीमित रहा है जिसका कारण मुख्य रूप से है – व्यापक समाज को मज़बूत बनाने की आवश्यकता संबंधी जर्मीनो की इच्छा को पूरा करती रॉल्स की प्रारम्भिक पुस्तक। नवीन उदारवादी सिद्धांत, अपने फिर से लिए गए अर्थ में, निष्पक्षता और औचित्य संबंधी धारणाओं पर ध्यान केन्द्रित करता है, इस विश्वास के साथ कि 'भेदभाव उचित भिन्नताओं पर आधारित अवश्य होना चाहिए'। यह बात इस तथ्य से मेल नहीं खाती कि न्याय की अवधारणा का एक सुनियोजित और विस्तृत विश्लेषण जो प्लैटो के समय से ही अतिआपेक्षित है, रॉल्स में प्रकट होता है जिसके अनुसार न्याय का मतलब है औचित्य। रॉल्स इस क्लासिकीय परम्परा में इस बात से सरोकार रखते हैं कि क्या होना चाहिए, क्योंकि अधिकारों के वितरण, अवसरों, आय, धन-सम्पत्ति और आत्म-सम्मान के आधार संबंधी विवादग्रस्त समस्या उनके सामने आयी थी। परस्पर होड़ करती विचारधाराओं के बीच जो बीसवीं सदी में केवल उदारवाद को प्रवेश कराती हैं, फासीवाद और साम्यवाद का अस्तर उधेड़ती हैं और विचार के स्वतंत्र विनिमय की अनुमति देती हैं। यह समकालिक होता है, और ज़रूरत पड़ने पर प्रथा के आलोक में सिद्धांत को अनुकूलित कर लेता है तथा उन तत्त्वों की पहचान करता है जो एक न्यायसंगत और सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा बिना अव्यवहारिक और मतान्ध हुए बनता है। तथापि, इस नए उदारवादी सिद्धांत का काफी कुछ पूर्व सैद्धान्तिक स्थितियों को परिष्कृत करने व स्पष्ट करने की प्रकृति में रहा है। इसके अतिरिक्त, फासीवाद और साम्यवाद दोनों द्वारा चुनौती का अभाव, प्रथमतः द्वितीय विश्वयुद्ध में उसकी पराजय के कारण ध्वस्त हो गयी, भी सिद्ध करता है कि कल्पना-लोकी और आमूल परिवर्तनवादी योजनाएँ अब सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक रूप से वांछित और व्यावहार्य विकल्प नहीं रही हैं। तिस पर भी उदारवाद के सामने आज के समय में समाजवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद तथा नारीवाद की ओर से चुनौतियाँ हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) राजनीति सिद्धांत के पुनरुत्थान पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

3.8 सारांश

प्लैटो के समय से ही राजनीतिक सिद्धांत अपने काल और स्थान से प्रभावित रहा है। अपना खुद का समय भी कोई भिन्न नहीं। गत एक सौ वर्षों के बेहतर भाग में उदारवादी लोकतंत्र, फासीवादी और साम्यबाद के बीच एक तीव्र होड़ रही है। फासीवादी चुनौती अल्पकालिक रही जो द्वितीय विश्वयुद्ध में हार के साथ समाप्त हो गयी, परन्तु साम्यवाद की चुनौती युद्धोपरांत और चार वर्षों तक जारी रही। इस अवधि में आरेन्ड एवं फ्रैड्रिक द्वारा

सर्वसत्तावाद की प्रकृति में नवीन दृष्टियाँ ; बर्लिन, हयेक व पॉवर द्वारा उदारवादी लोकतंत्र का समर्थन तथा जर्मन मार्क्सवाद व सोवियत साम्यवाद के बीच प्लामेन्टा की तुलना आदि दृष्टिगोचर हुए। एविनेरी, बर्लिन, डाल, पॉपर एवं टक्कर द्वारा मार्क्सवाद सिद्धांत एवं व्यवहार की तीखी आलोचनाएँ सुनाई दीं। मिलिबां और ईस्ट यूरोपीय असंतुष्टों ने समाजवादी संलाप के इच्छास्वातंत्र्यवाद पहलू को उजागर किया। द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत काल में समाभिरूपता सिद्धांत का उदय और उन्नत पूँजीवाद एवं विकसित समाजवाद के बीच आम लोगों पर ज़ोर देती वैचारिक बहस की समाप्ति देखी गयी। इस प्रकार समकालीन राजनीतिक सिद्धांत व्यवहारतः दुनिया के हर कोने से महत्त्वपूर्ण योगदानों के साथ वैश्विक बन गया। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद ने राजनीतिक सिद्धांत हेतु ग़ैर-पाश्चात्य जानकारी की एक प्रभावशाली अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त किया जो कि गाँधी जी के 'हिन्द स्वराज्य' में पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता की भर्त्सना, परिष्करण, माओ ज़दौंग, अमिक्ला लोप कैबरा, एडवड सैद के लेखों में यूरोपीय-केन्द्रवाद के अस्वीकरण तथा लिओपॉल सैंगर की हब्शी एवं अफ्रीकी पहचान संबंधी संकल्पना में प्रकट हुई।

सर्वाधिक प्रभावशाली योगदान बीसवीं सदी के उदारवादियों द्वारा रहा, जिसका उद्घाटन हॉब्हाउस के उदारवाद द्वारा और उत्कर्ष रॉल्स के मुख्य सिद्धांत में हुआ। उन्होंने पूछताछ के नए रास्ते खोलने की बजाय पहले के विचारों को ही वर्गीकृत और परिष्कृत किया। यह कार्यतः अपरिहार्य विचार अपनाए जा चुके हैं; हेगेल के बाद वे नए देश व नई भिन्नताओं में फिर से दिखाई देते हैं, परन्तु फिर से दिखाई पड़ना आधारभूत नव-परिवर्तन की संभावना हेतु एक कसौटी है। हमारे समय के राजनीतिक सिद्धांत का गत दो हज़ार सालों की समृद्ध सैद्धान्तीकरण परम्परा में पर्यवेक्षण होता रहा है और हमारे राजनीतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलू नियामक सिद्धांत की बजाय व्यवहारमूलक राजनीति विषय नवीन विद्वतापूर्ण पुस्तकों में अधिक पाए जाते हैं। हमारा ज़माना उन ज़मानों से भी भिन्न है जो इससे पूर्व एक बुनियादी ढंग के थे। यह प्रौद्योगिकी का युग है जो माइक्रोचिप क्रांति और आनुषंगिक कार्यतंत्रों में व्यक्त होता है। बाहरी प्रभावों के प्रति राष्ट्र-राज्यों के अधिक प्रवेश्य और ग्रहणक्षम बनने के साथ ही राजनीतिक सिद्धांत की बढ़ती परिव्याप्ति और भूमण्डलीकरण तथा प्रौद्योगिकी की भूमिका का प्रत्युत्तर देना होता है। तथापि, कीन्स का कहना है कि धारणाओं का प्रभाव हमेशा व्यापक होगा और राजनीतिक सिद्धांत की समृद्ध विरासत के ढाँचे के भीतर हमारे समय की जटिलताओं को रखने वाले समकालीन राजनीतिक सिद्धांत का राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास में अपना न्यायसंगत स्थान अवश्य ही होगा।

MAADHYAM IAS

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैरी, बी., 'द स्ट्रेन्ज डैथ ऑफ़ *पॉलिटीकल* फ़िलोसॅफ़ी', *डैमॉक्रेसी, पॉवर और जस्टिस : एस्सेज़ इन पॉलिटीकल थिअरी* में, क्लेरैन्डन प्रैस, ऑक्सफोर्ड, 1989।

बर्लिन, सर आई., 'डज़ *पॉलिटीकल* थिअरी स्टिल एक्ज़िस्ट?', पी. लैस्ले एवं डब्ल्यू.जी. रन्सीमैन कृत *फ़िलासॅफ़ी, पॉलिटिक्स एण्ड सोसाइटि*, द्वितीय शृंखला (सं.) में, ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड, 1964।

मार्श, डी. एवं जी. स्टोकर, *थिअरी एण्ड मैथड इन पॉलिटीकल थिअरी : ट्रैडीशन एण्ड डाइवर्सिटी,* कैम्ब्रिज यूनिवसिर्टी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1997।

विन्सें, *पॉलिटीकल थिअरी : ट्रैडीशन एण्ड डाइवर्सिटि*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1997।

इकाई 4 राजनीतिक सिद्धांत की संकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 परिचय
4.2 राजनीतिक सिद्धांत का विकास
4.3 राजनीतिक सिद्धांत की एक परिभाषा के प्रति
4.4 राजनीतिक सिद्धांत में प्रमुख संकल्पनाएं
4.4.1 ऐतिहासिक संकल्पना
4.4.2 नियामक संकल्पना
4.4.3 अनुभवजन्य संकल्पना
4.4.4 समसामायिक संकल्पना
4.5 सारांश
4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीतिक सिद्धांत की अनेक संकल्पनाओं पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न पर चर्चा करने में सक्षम हो जाएंगे :

- राजनीतिक सिद्धांत को परिभाषित करने के प्रयास;
- राजनीतिक सिद्धांत की अनेक संकल्पनाएं; और
- राजनीतिक सैद्धांतीकरण पर हाल ही में किए गए प्रयासों का पर्यावलोकन।

MAADHYAM IAS

4.1 परिचय

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक सिद्धांत में पायी जाने वाली विभिन्न संकल्पनाओं को समझना है। शुरुआत के तौर पर, यह चर्चा करना आवश्यक है कि राजनीतिक सिद्धांत वह उद्यम है जो विभिन्न आच्छादनों (Shades) और विवरणों जो विश्व के वस्तुतः राजनीतिक जीवन में घटित होते हैं, के राजनीतिक घटनाक्रम के विश्लेषण की माँग करता है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक सिद्धांत उस विश्व को प्रभावित करता है जिसमें हम रहते हैं और जो हमारी प्राथमिकताओं को प्रभावित करता है। इससे हमें सामाजिक और राजनीतिक जीवन का सुधार करने और उसके बारे में अपनी समझ को परिमार्जित करने में सहायता मिलती है। यह एक अलग मामला है कि सामान्यतः राजनीतिक सिद्धांत के बारे में गलतफहमी है, जो एक राजनीतिक सिद्धांतवादी को ऐसी प्रथक्कृत तथा एकान्तप्रिय सत्ता के रूप में मानती है जो वास्तविक जीवन की समस्याओं की और न्यूनतम ध्यान देती है तथा स्वतः निर्मित ऐसी काल्पनिक दुनिया में रहती है जहाँ प्राणी समाज अथवा राजनीति के सिद्धांतों का मन्थन करता है।

परन्तु तथ्य इससे अन्यथा हैं। राजनीतिक सिद्धांत सदैव उस वास्तविक विश्व में स्थित है जिसके बारे में यह बोलता है, स्वयमेव संबोधित करता है तथा उससे समस्या के समाधान की अपेक्षा करता है। समाज वह धावन मार्ग (Runway) है जहाँ से कल्पना की उड़ान शुरू होती है। अतः सार्वजनिक – राजनीतिक जीवन में लिया सक्रियतावादी प्रशिक्षित राजनीतिक

वैज्ञानिकों के रूप में राजनीतिक सिद्धांत के प्रति महत्त्वपूर्ण योगदान करते है। एक व्यवसाय के रूप में राजनीतिक सिद्धांत उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना वह वृत्ति के रूप में है तथा उस व्यवसाय का प्रमाण पत्र जो मात्र विद्यमान ही नहीं है, अपितु जिससे ज्ञान भंण्डार समृद्ध हुआ है, प्लैटो से लेकर मार्क्स तक लम्बे विगत काल के लेखकों से प्राप्त किया जा सकता है। व्यवसाय के रूप में राजनीतिक सिद्धांत ''राजनीतिक अनुभव और विचारधारा के बीच जटिल अन्तक्रिया के बारे में हमारे ज्ञान को प्रखर बनाता है'', जैसा कि शैल्डन वोलिन ने अपनी पुस्तक *पॉलिटिक्स* एण्ड *विज़न* में इंगित किया है।

4.2 राजनीतिक सिद्धांत का विकास

राजनीतिक सिद्धांत में विकास सदैव उन परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करता है जो हमारे समाज में होते रहते हैं। राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न कालों में उभरने वाली चुनौतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप पैदा होते हैं। हेगेल का ''जब अधिकार की छाया का सूत्रपात होता है तब मिनरवा का उल्लू उड़ान भरता है'' के रूप में चरितार्थ राजनीतिक सिद्धांत का प्रतीकात्यक स्वरूप बहुत ही सहज ग्राह्य है।

तथापि, हम भलीभाँति ध्यान दें कि राजनीतिक चिंतन जो सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भी उद्भूत होती है, समय और स्थान से बँधी हुई है और इसीलिए उस सिद्धांत से भिन्न है जो ऐसे अवरोधों को तोड़ देता है तथा भिन्न स्वरूप और मूल के राजनीतिक घटनाक्रम को समझने और समझाने में अपनी योग्यता सिद्ध करता है। इसका कारण यह है कि सिद्धांत विचारधाराओं और पूर्वाग्रहों से परिष्कृत और परिमार्जित होते हैं तथा उन कतिपय सिद्धांतों पर पहुँचते हैं, जो मात्र कालरहित ही नहीं है, अपितु उन्हें ज्ञान भी पुकारा जा सकता है। राजनीतिक उदारवादी सैद्धान्तीकरण का पक्ष लेते समय मात्र अपनी सनक और अतिकल्पना की पूर्ति के लिए ही नहीं, अपितु उन सिद्धांतों की तलाश के लिए विचारों का अनुगमन करते हैं जिनकी समझ जीवन को बेहतर बना सकती है। इस उद्यम में सिद्धांतवादी कुल मिलाकर सजीव राजनीतिक स्थिति से अभिप्रेरित होते हैं। राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास से पता चलता है कि समष्टियों सैद्धांतीकरण के औज़ारों को किस प्रकार स्निग्ध (smooth) बनाया है, जिसके माध्यम से उनके पीछे विभिन्न मान्यता प्राप्त सिद्धांतों, प्रथाओं और मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगा तथा भविष्य के लिए ब्लूप्रिंट तैयार किया गया।

तथापि, यह सत्य है कि सिद्धांत के लिए यह प्रेरणा हमेशा कई प्रकार की विफलता और संबद्ध दोषसिद्धि से प्राप्त होती है कि वस्तुओं को एक उत्कृष्ट समझ के बेहतर बनाया जा सकता है और अन्ततः उनका समाधान किया जा सकता है। इसलिए, राजनीतिक सिद्धांत का कार्य एक उड़ता हुआ जवाब मुहैया कराने तथा एक तालमेल की स्थिति से संतुष्ट रहने तक ही सीमित नहीं है। अपितु इसे समस्या की जड़ तक पहुँचना होता है तथा वैकल्पिक सिद्धांतों के रूप में उसका उपचार तलाशना पड़ता है। इस प्रकार, सिद्धांतवादी मात्र हस्तगत समस्याओं के बारे में ही नहीं, अपितु उनसे परे भी विचार कर सके।

यहाँ हमें राजनीतिक सिद्धांत को कला अथवा कविता से पृथक करना होगा। दर्शन, प्रतिक्रिया और चिंतन के शब्दों में, राजनीतिक सिद्धांत और कला तथा कविता जैसे अन्य रचनात्मक क्रियाकलापों के बीच अधिक अन्तर नहीं है। तथापि, राजनीतिक सिद्धांतवादी और एक कवि के बीच अन्तर यह है कि राजनीतिक सिद्धांतवादी का आवेग और अनुसंधान एक निश्चित स्वरूप के चैतन्य कार्य हैं, जबकि कविता का कार्य एक सहज क्रिया है। अतः यह सृजनात्मकता नहीं है परन्तु चैतन्यता कविता को एक सिद्धांत की प्रास्थिति अनुमत नहीं करती।

MAADHYAM IAS

4.3 राजनीतिक सिद्धांत की एक परिभाषा के प्रति

राजनीतिक सिद्धांत को विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। परिभाषाएं इसके मूलभूत संघटकों की प्रबलता और बोध के आधार पर बदल जाती है। सेबाइन की राजनीतिक सिद्धांत की सुप्रसिद्ध परिभाषा है कि यह कुछ इस प्रकार है "जिसमें तथ्यात्मक, नैमित्तिक और मूल्यात्मक लक्ष्णों वाले घटक होते हैं।" हैकर के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत "आवेगहीन तथा तटस्थ क्रियाकलाप है। यह उस दार्शनिकीय तथा वैज्ञानिक ज्ञान का निकाय है जो इस बात की ओर ध्यान दिए बिना कि इसे कब और कहाँ लिखा गया, उस विश्व के बारे में हमारी जानकारी में वृद्धि कर सकता है जिसमें आज हम रहते हैं और कल रहेंगे।"

अतः यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक सिद्धांत का हमारा तात्पर्य प्रस्थापनाओं के एक ससक्त (coherent) समूह से है जिसके एक राजनीतिक घटनाक्रम के एक विशिष्ट वर्ग के बारे में कुछ विवेचनात्मक सिद्धांत होते हैं। इसका तात्पर्य है कि चिंतन से अन्यथा सिद्धांत एक निश्चित समय पर कई घटनाओं पर विचार नहीं कर सकता है तथा इसे मात्र मुद्दों के वर्ग अथवा प्रकार से जोड़ना पड़ेगा।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राजनीतिक सिद्धांत के विकास पर कुछ पंक्तियाँ लिखें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

4.4 राजनीतिक सिद्धांत में प्रमुख संकल्पनाएँ

सिद्धांतकारों द्वारा प्रयुक्त राजनीतिक सिद्धांत की विभिन्न संकल्पनाओं की पहचान करना तथा उन्हें वर्गीकृत करना बहुत मुश्किल है। सिद्धांतकारों के बीच उस अभ्यास की तलाश की प्रवृत्ति से कठिनाई सामने आती है, जिसमें वे विभिन्न संकल्पनाओं और परम्पराओं का अनुमान लगाना आरंभ करते हैं। यह समसामयिक राजनीतिक सिद्धांत के साथ इससे पूर्ववर्ती सिद्धांतों के मुकाबले अधिक सत्य है जैसा कि हम बाद में देखेंगे। विगत समझ में, सिद्धांतकारों ने कुछ सीमा तक सिद्धांत निर्माण में संकल्पना की शुद्धता बनाए रखी थी तथा कभी-कभी अपने चुने हुए, फ्रेमवर्क से भटक जाते थे। परन्तु समसामयिक कालों में यह लागू नहीं होता है, जो उस सिद्धांत की फसल के साक्षी हैं जो स्वभावतः मिश्रित किस्म की प्रतीत होती हैं।

परन्तु व्यापक तौर पर, राजनीतिक सिद्धांत में तीन भिन्न संकल्पनाएँ सामने आती हैं जिनके आधार पर विगत और वर्तमान सिद्धांतों को संकल्पित, न्यायनिर्णीत और मूल्यांकित किया जा सकता है। ये सिद्धांत हैं : ऐतिहासिक, नियामक और अनुभवजन्य।

4.4.1 ऐतिहासिक संकल्पना

कई सिद्धांतकारों ने अन्तर्दृष्टि और ऐतिहासिक संसाधनों के आधार पर सिद्धांत-निर्माण का प्रयास किया है। सेबाइन ऐतिहासिक संकल्पना के एक प्रमुख भाष्यकार हैं। उनके मतानुसार, राजनीतिक सिद्धांत का स्वरूप क्या है जैसे प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया जा सकता है, अर्थात अमुक सिद्धांत ने ऐतिहासिक घटनाओं और विशिष्ट स्थितियों में प्रतिक्रिया की है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक सिद्धांत इस परिप्रेक्ष्य में उसे स्थिति-आश्रित हो गए हैं, जिसमें प्रत्येक ऐतिहासिक स्थिति एक समस्या की जनक है जिसका सिद्धांत द्वारा दिए गए समाधानों के माध्यम से निदान किया जाता है।

राजनीतिक सिद्धांत की यह परिकल्पना परंपरा से हटकर है। कॉब्बन भी मानते हैं कि परंपरागत संविधि जिसमें ऐतिहासिक बोध पूर्णता को प्राप्त होता है, राजनीतिक सिद्धांत की समस्याओं पर विचार करने का सही तरीका है।

यह सत्य है कि विगत, सिद्धांत-निर्माण के हमारे प्रयास में एक मूल्यवान मार्गनिदेर्शक के रूप में कार्य करता हैं और हमें सिखाता है कि हम अपनी मौलिकता के बारे में अत्यधिक आश्वस्त न हो। इससे यह संकेत भी मिलता है कि साधनों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त उन तरीकों से भिन्न विचार करना संभव है जो प्रचलित और प्रमुख हैं। ऐतिहासिक जानकारी हमें विगत पीढ़ियों की विफलताओं का भी बोध कराती है तथा उन्हें वर्तमान सामूहिक जानकारी से जोड़ती है तथा हममें कल्पनाशीलता का संचार करती है।

इसके अतिरिक्त, ऐतिहासिक संकल्पना हमारे नियामक दर्शन में भी महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। वैचारिक इतिहास से हमें पता चलता है कि हमारी सामाजिक और राजनीतिक दुनिया उन वस्तुओं का उत्पाद है जिनकी जड़ें विगत में समाई हुई हैं। उनकी बेहतर जानकारी से हमें पता चलेगा कि किस प्रकार हमारे कतिपय मूल्य, मानदण्ड और नैतिक अपेक्षाएँ हैं और वे कहाँ से हमें प्राप्त हुए हैं। हमारे इस बोध के साथ यह संभव है कि हम इन मूल्यों की जाँच करें तथा समीक्षात्मक तौर पर उनकी उपयोगिता का निर्धारण करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

परन्तु इस संकल्पना पर अन्य विश्वास मूर्खता से रहित नहीं है। राजनीतिक सिद्धांत नामक परियोजना की उत्कृष्टता यह है कि यह प्रत्येक स्थिति में अनोखा तथा पहेलियों से भरा हुआ है। इस प्रकार, विगत की योग्यता कभी-कभी अनावश्यक होती है, तथा यदि कोई इस पहलू से असावधान है तब यह बाधा भी बन जाती है। अतः एक निश्चित सार से परे राजनीतिक सिद्धांत में इस अभिगम की उपयोगिता संदिग्ध है, क्यों कि यह सदैव अप्रचलित काल के अप्रचलित विचारों से जुड़ा होता है। इन विचारों के सुग्राह्य मूल्य बने रहते हैं परन्तु सैद्धांतिक कार्य पर्याप्त स्थिति में आगे नहीं बढ़ पाते हैं।

4.4.2 नियामक संकल्पना

राजनीतिक सिद्धांत में नियामक संकल्पना विभिन्न नामों से जानी जाती है। कुछ लोग इसे *दार्शनिकीय सिद्धांत* कहना पसन्द करते हैं तथा कुछ अन्य इसे *नीतिविषयक सिद्धांत* के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नियामक संकल्पना इस विश्वास पर आधारित है कि विश्व और उसके अनुभवों की सहायता से तर्क, प्रयोजन और परिणाम के संदर्भ में विवेचना की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, यह मूल्यों के बारे में दार्शिनिकीय अटकलबाजी का मूर्त रूप है।

आदर्शवादी प्रश्न करेंगे कि राजनीतिक संस्थाओं का क्या परिणाम होगा? व्यष्टि और अन्य सामाजिक संगठनों के बीच संबंध को क्या नाम दिया जाएगा? समाज में कौन से प्रबन्ध प्रतिदर्श अथवा आदर्श हो सकते हैं तथा यह किन नियमों और सिद्धांतों द्वारा विनियंत्रित होंगे।

कोई यह कह सकता है कि उनके चिन्तन नैतिक हैं और प्रयोजन, एक आदर्श स्वरूप का निर्माण करना है। इस प्रकार ये वे सिद्धांतकार है, जिन्होंने हमेशा अपनी सशक्त कल्पना के माध्यम से राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में 'राम राज्य' की कल्पना की है।

नियामक राजनीतिक सिद्धांत प्रबलता से राजनीतिक दर्शन के प्रति प्रवृत्त है, क्योंकि यह उससे बेहतर जीवन का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसे निरपेक्ष मानदण्डों के सृजन के लिए अपने प्रयास में फ्रेमवर्क के रूप में भी प्रयोग करता है। वस्तुतः, सैद्धांतीकरण के इसके यंत्र राजनीतिक दर्शन से उधार लिए गए हैं और इसीलिए, यह संकल्पनाओं के बीच अन्तर्संबंध स्थापित करने की माँग करता है तथा घटनाक्रम और सिद्धांत में ससक्तता की तलाश करता है जो दार्शिनिकीय दृष्टिकोणों के प्रतीकात्मक उदाहरण हैं।

लियो स्ट्रौस ने नियामक सिद्धांत के मायने की ज़ोरदारी से वकालत की है और तर्क दिया है कि राजनीतिक वस्तुएँ स्वभावतः अनुमोदन अथवा अनुमोदन के अध्याधीन होती हैं तथा उन्हें अच्छे अथवा बुरे तथा न्यायसंगत अथवा अन्यायपूर्ण से अन्यथा किसी अन्य संदर्भ में निर्णीत करना कठिन है।

परन्तु आदर्शवादियों की समस्या यह है कि वे अपने द्वारा पोषित मूल्यों का दावा करते समय उन्हें सार्वभौमिक एवं निरपेक्ष चित्रण करते हैं। वे यह महसूस नहीं करते हैं कि भलाई के लिए निरपेक्ष मानक के सृजन की उनकी उत्कृष्ट इच्छा दोष रहित नहीं है। नीति विषयक मूल्य समय और स्थान के प्रति सापेक्ष हैं जो उनमें प्रचुर व्यक्तिपरकता का प्रतीक है तथा निरपेक्ष मानक के किसी सृजन की संभावना को व्यक्त करता है। यह याद रखना हमारे लिए अधिक श्रेयस्कर होगा कि एक राजनीतिक सिद्धांतकार भी विश्व के निर्धारण में एक सापेक्ष उपस्कर (Instrument) है तथा ये सूक्ष्मदृष्टियाँ कई घटकों से प्रतिवांछित होते हैं जो स्वरूप में चिंतन की प्रतीक हैं।

अनुभवजन्य सिद्धांत के भाष्यकार आदर्शवादियों को (क) मूल्यों की सापेक्षता (ख) नीतियों और मानदण्डों के सांस्कृतिक आधार (ग) उद्यम में सैद्धान्तिक घटक तथा (घ) प्रायोजना के निरपेक्ष एवं आदर्श स्वरूप का उत्तरदायित्व सौंपते हैं।

यह सत्य है कि नियामक संकल्पना के प्रायोजक सिद्धांत की आन्तरिक सहवर्तिता (internal consistency) के बारे में पूछताछ से पूर्वाग्रस्त होते हैं जो अविवेकशील रहते हुए तथा कभी-कभी विद्यमान सामाजिक और राजनीतिक वस्तुस्थिति की अनुभवजन्य जानकारी न होने पर भी अधिकांशतः विचारों के स्वरूप तथा तरीके की दृढ़ता से जुड़ी होती है। यह और पीड़ादायक और कष्टकारी है जब किसी को पता चलता है कि उनके बीच यह प्रवृत्ति किसी अन्य संलक्षण से सहयोजित है, जिसके तहत वे एक सिद्धांतकार को जवाब देना चाहते हैं तथा उस अनुभवजन्य वास्तविकता जो उनके सामने घूर रही है, से अपनी आँखें चुराते हुए मात्र अपने कार्य की समीक्षा करते हैं। इस प्रकार, यह उच्च और उत्कृष्ट नियामक चिन्तन के नाम पर सिद्धांत-निमार्ण में एक भ्रामक और कपटपूर्ण प्रयोग बनकर रह जाता है।

परन्तु लम्बे विगत में जो नियामक सिद्धांत के प्रतिष्ठिता रहे, उन्होंने हमेशा अपने सिद्धांतों को अपने काल की वस्तुस्थिति के ज्ञान से जोड़ने की कोशिश की। अतः, विगत में सभी नियामक उद्यम प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अनुभवजन्य प्रमाणों से पूर्ण थे तथा प्लैटो का न्याय का सिद्धांत इसे प्रदर्शित करने के लिए एक अच्छा उदाहरण हो सकता है।

हाल ही में पुनः नियामक सिद्धांत के भीतर पुराना प्रबोधन (sensibility) उभरकर सामने आया है तथा बेहतर जीवन और बेहतर समाज के लिए भावातिरेक का प्रणालीगत और अनुभवजन्य चतुरता से मिलान किया गया है। इस मुद्दे पर जॉन रॉल्स की पुस्तक *थ्यौरी*

MAADHYAM IAS

ऑफ जस्टिस एक ऐसा मामला है जो तर्कपूर्ण और नैतिक राजनीतिक सिद्धांत को अनुभवजन्य उपलब्धियों में संरक्षण प्रदान करने का प्रयास करता है। रॉल्स अपनी कल्पना से नियामक दार्शनिकीय दलीलों को व्यष्टिवाचक न्याय और हितकारी राज्य के बारे में वास्तविक विश्व प्रतिष्ठानों से जोड़ने के लिए ''मूल स्थिति'' का सृजन करते हैं। कुछ अन्य सिद्धांन्तकार भी समानता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र के बारे में उन्हें प्रतिदिन के चिन्तन में आरोपित करके तथा उन्हें विशिष्ट स्थितियों के साथ जोड़कर नैतिक सिद्धांतों में विकसित करने के कार्यों में लगे हुए हैं।

नई पीढ़ी के कुछ नियामक सिद्धांतकारों ने भी सिद्धांत की सुविज्ञ प्रवृत्ति को निराकृत करना आरंभ कर दिया है जो पुराने दिनों के स्वरूप का है, जिसके तहत या तो विद्यमान प्रबन्धनों के लिए उन्हें प्रचुर न्याय की पेशकश की गई थी अथवा वे उनकी समालोचना करने में संकोचग्रस्त रहे तथा इस प्रकार अपनी चिंतन में यथापूर्व स्थिति के स्तर पर बने रहे। अब समालोचना सिद्धांत के रूप में ज्ञात एक नया सिद्धांत उजागर हुआ है जो नियामक प्रायोजना के अंग के रूप में राजनीतिक घटनाक्रम से जुड़ा हुआ है तथा विचारों को व्यवहार से जोड़ने की कोशिश करता है तथा समाज एवं राजनीति में बेहतर स्थिति के लिए परिवर्तनों को सहज बनाने के लिए प्रभावी अवरोध भी लगाता है।

4.4.3 अनुभवजन्य संकल्पना

बीसवीं शताब्दी में वर्चस्व कायम करने वाला राजनीतिक सिद्धांत नियामकवादी नहीं है, अपितु अनुभवजन्य राजनीतिक सिद्धांत के रूप में ज्ञात एक अन्य संकल्पना है जो अनुभवजन्य प्रेक्षणों से सिद्धांतों को प्राप्त करती है।

अनुभवजन्य राजनीतिक सिद्धांत उन सिद्धांतों को अंगीकार नहीं करता है जो मूल्य निर्धारणों में अंर्तग्रस्त हैं। अतः स्वाभाविक तौर पर नियामक राजनीतिक सिद्धांत अभिमतों और प्राथमिकताओं की मात्र विवरणी के रूप में मूर्तिमान है।

MAADHYAM IAS

राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र को वैज्ञानिक और उद्देश्यपरक बनाने के लिए मूल्य-मुक्त सिद्धांत के लिए आन्दोलन की शुरुआत हुई जो क्रियाशीलता हेतु एक अधिक विश्वास दिशानिर्देशक था। इस नई अवस्थिति को *प्रत्यक्षवाद* के रूप में जाना गया।

प्रत्यक्षवाद के आकर्षण के तहत, राजनीतिक सिद्धांतकारं ने ऐसे सिद्धांत के आधार पर राजनीतिक घटनाक्रम के बारे में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने में लग गए, जिसे अनुभवजन्य तौर पर सत्यापित एवं सिद्ध किया जा सकता था और इस प्रयास में दर्शन विज्ञान का मात्र अनुबद्ध बनकर रह गया। सिद्धांत के इस जोड़-तोड़ ने एक ऐसे निःस्पृह पर्यवेक्षक के रूप में सिद्धांतकार की भूमिका का भी चित्रण किया जो सभी वचनबद्धताओं से परिमार्जित तथा सभी मूल्यों से रहित हो।

राजनीतिक सिद्धांत में यह प्रायोजना ज्ञान के उस अनुभवजन्य सिद्धांत पर आधारित थी, जो यह परीक्षण करने के लिए कि क्या सच है और क्या झूठ अपने पास पूर्ण सक्षम मानदण्ड पाए जाने का दावा करता है। इस मानदण्ड का निचोड़ सिद्धांत के परीक्षण और सत्यापन में निहित है।

जब राजनीतिक सिद्धांत इस प्रभाव के तहत आगे बढ़ रहा था, एक तथाकथित क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ जो 'व्यवहारमूलक क्रांति' से नियंत्रणकारी स्थिति में पहुँच गई और इसने अध्ययन और अनुसंधान के संपूर्ण क्षेत्र को नए अभिलक्षणों का समर्थन करने अपनी गिरफ़्त में ले लिया। इसमें सम्मिलित था : (क) विश्लेषण में प्रभावात्मक तकनीक को प्रोत्साहन

(ख) नियामक फ्रेमवर्क की समाप्ति तथा अनुभवजन्य शोध को बढ़ावा देना जो सांख्यकीय परीक्षणों के प्रति सुग्राहय हो सकती है (ग) वैचारिक इतिहास की अस्वीकृति और उसका बहिष्कार (घ) सूक्ष्म-अध्ययन पर ज़ोर क्योंकि यह अनुभवजन्य व्यवहार के प्रति अधिक सहज अनुगामी था (ङ) निशिष्टीकरण का गुणगान (च) व्यष्टि के व्यवहार से आंकड़ों की प्राप्ति तथा (छ) मूल्य-मुक्त शोध के लिए तीव्र चाह।

वस्तुतः, व्यवहार मूल्य वातावरण एक सिद्धांत-विरोधी स्थिति से अतिप्रभावित हुआ। यह उनके लिए अनुकूल सिद्ध हुआ जिन्होंने परम्परागत अर्थ में सिद्धांत को परिष्कृत किया। सिद्धांत का व्यंग्यचित्र *बनाया गया* तथा उसे चिंतन, अमूर्तपद, अधिमानसिका तथा आदर्श राज्य का पयार्य बनाया गया। कुछ दुस्साहसियों ने सिद्धांत को उद्यम के रूप में विदा करने का समर्थन भी किया।

तत्पश्चात्, जब *तर्कसंगत प्रत्यक्षवाद* प्रत्यक्षवाद के पुनः जीवनप्रद अवतार के रूप में दृष्टिगोचर हुआ तथा इसके पदक्रम में विटजेन्सटीन जैसे भारी-वजनदार शामिल थे, दृष्टिकोण में कोई अधिक अन्तर नहीं आया। एक मात्र अन्तर यह था कि प्रत्यक्षवादी राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र को वैज्ञानिक बनाना चाहते थे, जबकि तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने इसे अमूर्तरूप तथा अयुक्तसंगत घोषित कर दिया और इसलिए यह वैज्ञानिक ज्ञान के दायरे से बाहर था।

परन्तु यह अवस्था लम्बे समय तक नहीं रही क्योंकि संपूर्ण जानकारी त्रुटिपूर्ण थी। यहाँ तक कि उद्देश्यपरक जानकारी प्राप्त करने के जोश में, उन्होंने चिंतन को वास्तविकता के एक पहलू में बदल दिया तथा चिंतन और वास्तविकता के बीच सुस्पष्टता को अस्पष्ट कर दिया। इस प्रकार, वे शीघ्र ही विज्ञान के कुछ दार्शनिकों की ईर्ष्या और क्रोध का भाजन बने जिन्होने विज्ञान के प्रति अनुवर्ती - प्रत्यक्षवादी अभिगम हेतु एक दर्शन प्रस्तुत किया। कार्ल पॉपर ने वैज्ञानिक ज्ञान के मानदण्ड के रूप में 'मिथ्याकरण' का सिद्धांत अवधारित करके एक नई स्थिति को जन्म दिया तथा तर्क दिया कि सभी ज्ञान अनुमान विषयक अस्थायी था तथा सत्य से पर्याप्त दूरी पर था। विज्ञान के दर्शन में वास्तविक मोड़ अथवा सफलता का क्षण वह था, जब थॉमस कुन, इमरे लाकाटोस तथा मैरी हैसे ने तथाकथित उस वैज्ञानिक सिद्धांत की निन्दा की जो राजनीतिक सिद्धांत का सर्वनाश कर रहा था तथा एकीकृत विज्ञान की धारणा का बहिष्कार करके प्रत्यक्षवासी आदर्श की साख समाप्त कर दी और इसे प्राकृतिक वैज्ञानिक व्यवहार की अनुचित जानकारी के रूप में घोषित किया। इसका निचोड़ अथवा तर्क यह था कि विज्ञान मानवीय, क्रियाकलापों के रूप में उन विवेचनाओं से अनुप्राणित था जो सार्थकता, संचार तथा स्पष्टता से युक्त था।

कुन की पुस्तक *द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवॉल्यूशन* ने प्रत्यक्षवादी सिद्धांत की कमियों और विफलताओं के प्रत्यक्षीकरण में अग्रणी की और इसमें दर्शाया कि सभी मान्यताएँ जानकारी और अंतर-विषयक संचार के साधन के रूप में विवेचना पर निर्भर थीं। कुन ने प्रबलता से तर्क दिया कि यह मात्र उपयुक्त संगत समागम नहीं थे जो सार्थक फ्रेमवर्क के गठन के पीछे प्रच्छन्त स्थिति में थे, अपितु विवेचना और समालोचना द्वारा निर्मित युक्ति संगत संभाषायें के माध्यम से भी सूचित किये गए थे।

इस प्रकार इस नए कुन्हिआनी परिप्रेक्ष्य ने विज्ञान के दर्शन में नए आधार जोड़े और ज्ञान और सिद्धांत की प्रत्यक्षवादी अटकलबाजी को तीव्र आलोचना और संतीक्षा के दायरे में खड़ा कर दिया। परन्तु 'सामाजिक विज्ञान दर्शन' को पिछड़ना नहीं था, अतः शीघ्र ही नया विचारमंथन आरंभ हुआ जिसने जानकारी से जुड़ी हुई समस्या को जाँच के तहत ला दिया तथा जो इस समस्या को एकीकृत विज्ञान के फ्रेमवर्क के भीतर सुलझाने के प्रयास में जुट गया।

MAADHYAM IAS

पीटर विंच, एल्फ्रेड शुटज़ तथा चार्ल्स टेलर ने इस नए परिप्रेक्ष्य की उद्घोषणा की और सुझाव दिया कि सामाजिक विज्ञान में जानकारी समस्याओं से ग्रस्त थी तथा उनमें दो समस्याओं को विशेष ध्यान की आवश्यकता थी : (क) सभी विज्ञान विवेचनात्मक जानकारी का स्वरूप है और इसलिए सभी जानकारियों का सिद्धांतमय स्वरूप होता है (ख) सामाजिक विज्ञान का उद्देश्य विशिष्ट रूप से वस्तुपरक है, जिसका तात्पर्य ऐसे अभिकर्त्ता से है जो स्वयं विवेचनाशील सामाजिक प्राणी है। अतः इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार, सामाजिक विज्ञान की समस्या 'दुहरे विवेचन' के साथ सिहरन पैदा करती है।

इस नए अभिगम से जानकारी, विवेचना और इस मुद्दे की समस्या सामने उठाई गई कि विषय के प्रतीकात्मक विश्व को चर्चा में किस प्रकार लाया जाए। इसने राजनीतिक सिद्धांतकारों की विवेचनात्मक प्रयोजना में प्रतीकात्मक विश्व के प्रति संवेदनशील बनाकर नए अर्थ के लिए भी उत्प्रेरित किया। इस प्रकार मात्र अर्थ का बोध ही समस्याग्रस्त नहीं अपितु उन्हें समझाने का मुद्दा प्रभावित हुआ। यह हमें मैक्स वैबर की याद दिलाता है, जिन्हों 'नैमित्तिक पर्याप्तता' और 'अर्थ की पर्याप्तता' के अपने वर्गीकरण के माध्यम से इस समस्या के साथ लम्बे समय तक संघर्ष किया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राजनीतिक सिद्धांत की अनुभवजन्य और नियामक संकल्पनाओं के बीच अंतर स्पष्ट करें?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

4.4.4 समसामायिक संकल्पना

राजनीतिक सिद्धांतों द्वारा बाधित भूभाग और समसामाजिक कालों में उनके द्वारा नियोजित सैद्धांतिक उपकरणों को चित्रित करना एक यथार्थ चुनौती है। यह चुनौती कई स्रोतों से झलकती है। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत वर्गीकरण की आम वर्ग द्वारा स्वीकृत श्रेणी का स्पष्टतः अनुगमन नहीं करता है, नामतः ऐतिहासिक, नियामक और अनुभवजन्य तथा यह पूर्ववर्ती सिद्धांतवादियों के सिद्धांतों की तरह विशेष परम्परा के भीतर भी नहीं टिकता। कभी-कभी वे अपने उद्यम में विभिन्न संकल्पनाओं का प्रयोग करते हुए तथा उस तरीके से उनका नियोजन करते हुए प्रतीत होते हैं जो पहले नहीं देखा गया। राजनीतिक सिद्धांत में पूर्ववर्ती प्रायोजनाओं के सीमांकन के प्रतिक्रिया स्वरूप सैद्धान्तीकरण में वृद्धि हुई है, जिनमें अधिकांश दो महान परम्पराओं के अन्तर्गत आती है, नामतः उदारवाद और मार्क्सवाद तथा जो उन पर चुनिन्दा आधार पर उनसे भवन निर्माण के दौरान, वे राजनीतिक अन्वेषण के लिए नए आधारों की खोज करते हैं तथा नए स्थलों का सृजन करते हैं और राजनीति के सिद्धांतों की शोध और स्थापना के लिए नए उपकरणों को भी जन्म देते हैं। तथापि, राजनीतिक सिद्धांत पर समकालीन प्रायोजना राजनीतिक सिद्धांत नामक व्यापार के दायरे

से परे नहीं जाती, जैसा पहले चर्चा की जा चुकी है, अर्थात ऐतिहासिक, नियामक और अनुभवजन्य संकल्पनाऐं, परन्तु उनके नियोजन की विधि स्वरूप में कुछ दोगलापन लिए रहती है।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत बौद्धिक पर्दे पर 1980 के दशक में प्रकट हुए, जिनमें से अधिकांश सिद्धांत प्रतिष्ठित परम्पराओं के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप थे और उन्होंने तर्क और विज्ञान जैसी उन बौद्धिक श्रेणियों को सामने रखा जिनसे वे बँधे हुए थे, जिसने कई पहलुओं को जन्म दिया जो राजनीतिक सिद्धांत द्वारा जाँचाधीन सत्य के आधार के रूप में प्राप्त हुए थे और जिन्होंने नए सामाजिक और राजनीतिक ब्रह्माण्ड को समझने और उसकी कल्पना करने के लिए नए सिद्धांतों को आधारित करने की शुरुआत की, जिनमें से कुछ ''आधुनिक स्थिति के बाद'' की स्थिति में रखे गए।

यह सत्य है कि राजनीतिक सिद्धांत में समकालीन लेखकों की संबद्धता आलोचनात्मक रही है, बल्कि समान रूप से रूपांतरकारी, कल्पनात्मक अथवा दर्शनात्मक। यद्यपि समकालीन समय में ''नए सामाजिक आन्दोलनों'' को समाज के रूपांतरण और नई स्थिति की व्यक्तियों पर काबू पाने के नाम पर इनमें से कई सिद्धांतकारों को नैतिक और बौद्धिक समर्थन दिया गया है।

तथापि, एक व्यापक विश्लेषण के तहत आज विभिन्न सैद्धांतिक प्रवृत्तियों को दृष्टिगोचर करना स्वेच्छाचारी होगा। उदाहरणार्थ, साम्प्रदायवाद और बहुसंस्कृतिवाद को एक साथ लेकर निर्माणवाद और आधुनिकतावाद के बाद की स्थिति पर चर्चा करना उनके प्रति तथा उनके चिन्तनों और वचनबद्धताओं के प्रति बौद्धिक अतिवादिता मानी जाएगी। क्योंकि उनके इतिहास, उनके नियामक चिन्तन तथा सैद्धांतिक उपकरण और अनुभवजन्य हवालाकारों में महत्त्वपूर्ण असमानता तथा दिक्परिवर्तन है। परन्तु फिर भी कोई भी उस सैद्धांतिक भूभाग को रंखांकित कर सकता है, जिस पर राजनीतिक सिद्धांत से उनकी संबंधता उजागर होती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कई समकालीन सिद्धांतकारों और उनके सिद्धांतों को साथ-साथ निम्न व्यापक प्रबल वर्गों में रखा जा सकता है :

1) सार्वभौमवाद का विरोध

समसामाजिक कालों में राजनीतिक सैद्धांतीकरण ने विगत वर्षों के राजनीतिक सिद्धांत के सार्वभौमिक दावों को, उन परम्पराओं जिनसे वे जुड़े हुए थे, की और ध्यान दिए बिना, समालोचनात्मक संतीक्षा के तहत लाने का प्रयास किया है उन्हें उदारवादी सार्वभौमवाद सामाजिक और तौकिक संदर्भ से वंचित था और उनके मतानुसार पाश्चात्य समाज के अनुभव के आधार पर गुप्त ''विशिष्टतावाद'' ने सार्वभौमिक मूल्यों और मानदण्डों के रूप में छद्मवेश धारण किया है। वे तर्क देते हैं कि सार्वभौमिक सिद्धांतों की अपील मानकीकरण के समतुल्य है और इस प्रकार उस न्याय का उल्लंघन होता है जो विशिष्ट समुदाय अथवा जीवन के स्वरूप में छिपा हुआ है तथा जो अपने निजी मूल्यों और नियामक सिद्धांतों का प्रतीक है। विद्यमान काल में साम्प्रदायिकतावाद सिद्धांतों और बहुसंस्कृतिवादी सिद्धांतों ने इसे पूरी तरह बलपूर्वक विशिष्ट रूप से उजागर किया है तथा इन तथा इन तथाकथित सिद्धांतों को मूल रूप में ''अपवार्जित'' के रूप में पुकारा है, जिसने 'अच्छाई' के एक दर्शन को हमेशा मानवता के एक मात्र दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है।

मजे की बात यह है कि इस प्रकार के राजनीतिक सिद्धांत ने नियामक विश्व के दृष्टिकोण की निन्दा नहीं की है, परन्तु उन्होंने यह आपत्ति उठाई है कि आरंभ में राजनीतिक सिद्धांत ने अपना मूल्य निर्णय ''वास्तविकतावादी'' शब्दों में व्यक्त किया तथा सापेक्ष मूल्यों से अलग

रखा। इस प्रकार, उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में सत्य का बलिदान किया। अतः ये सिद्धांत राजनीतिक सिद्धांत की नियामक श्रेणी जैसे न्याय, स्वतंत्रता और लोकतंत्र को विखण्डित करने तथा उन पर निर्णय की प्राथमिकता देने अथवा एक पर दूसरे का वर्चस्व कायम करने से अलग रहने की माँग करते हैं। पश्च-संरचनावादी और पश्च-आधुनिकतावादी इस प्रक्रिया मे लिप्त रहते हैं।

2) **महान आख्यानों की समालोचना**

उदारवादी और मार्क्सवादी, दोनों प्रकार के महान आख्यान इस आधार पर निन्दाग्रस्त हुए हैं कि यहाँ सत्य और वास्तविकता का अति मेहराबदार और अस्पष्ट आधार है। कुछ समकालीन सिद्धांतों को राजनीतिक सिद्धांत में सभी द्वारा भलीभाँति स्वीकृत आधारों नामतः अन्य, संप्रभुता और सत्ता के सतत- विरोध के कारण 'आधार-विरोधी' घोषित कर दिया गया है। निष्पक्ष रूप से देखें तो वे अस्पष्ट आधारों के अलावा अन्य आधारों को अस्वीकार नहीं करते हैं।

महान आख्यानों पर आक्रमण करने वालों में पश्च-आधुनिकतावादी मुकाबले पर हैं और तर्क देते हैं कि उद्देश्यपरक पूर्व-प्रदत्त वास्तविकता अथवा उद्देश्यपरक सामाजिक समर्थन किया जा सके। उनका मत है कि यह 'उद्देश्यवादी संभ्रम' के अलावा कुछ देते हैं, जो इसे वस्तुपरक विवेचन के लिए युक्त करती है। हमें यह भली भाँति याद होगा कि पश्च-संरचनावादी और पश्च-आधुनिकतावादी एक बार राजनीतिक सिद्धांत में अत्यधिक लोकप्रिय ''संरचनात्मक'' तर्क से अपने को समकालीन (आन्तरिक में स्थिति), सार्वभौमिक और कालरहित थी और इस प्रकार ऐतिहासिक नहीं थी। इसके स्थान पर वे 'संभाषण' नामक संरचना की नई धारणा का नियोजन करते हैं जो स्वरूप से समकालीन (समय में स्थित), ऐतिहासिक और सापेक्ष है।

MAADHYAM IAS

3) **पश्च-प्रत्यक्षवाद**

यह सामाजिक विज्ञान में मूल्य तटस्थता वाली आरंभिक विनियोजन के रूपसादृश्य है जो एक बार राजनीतिक सिद्धांत में व्यवहारवादियों के वर्चस्व में था। समकालीन सिद्धांत मूल्य युक्त उद्यमों को निरर्थक मानते हैं और विश्वास करते हैं कि राजनीतिक सिद्धांत आन्तरिक रूप से नियामक तथा राजनीतिक रूप से विनियोजित प्रायोजना है जिससे भविष्य के लिए निर्देशन और एक दर्शन के प्राचुतीकरण की अपेक्षा की जा सकती है।

4) **अनुभवजन्य और प्रतिस्पर्धात्मक**

समकालीन सिद्धांन्तकारों में पश्च-प्रत्यक्षवादी सोच उन्हें, किसी प्रकार के सामान्यीकरण का प्रयास किए जाने से पहले, अनुभवजन्य और प्रतिस्पर्धात्मक अभिगमों के लिए आवश्यकता की वकालत करने से नहीं रोकती है। बहुसंस्कृतिवाद एक वैसा ही उदाहरण है, जो इस संदर्भ में संवेदन शील है। वस्तुतः, इस प्रकार की अनुभवजन्य-प्रतिस्पर्धात्मक पद्धति संस्कृतियों और उनके संघटकों पर व्यापक सामान्यीकरण के ऊपर एक नियंत्रण के रूप में होगी।

नई सूक्ष्मदृष्टियों के बावजूद जो सामाजिक सिद्धांत से उद्भूत होती हैं, उन्हें कई कमज़ोरियों को सामना करना पड़ता है। उत्कृष्ट राजनीतिक सिद्धांत से अलग, अभी तक कोई प्रतिस्पर्धात्मक-अनुभवजन्य सोच नहीं है तथा सिद्धांतकारों के बीच अन्य सिद्धांतकारों से उधार लेने की प्रकृति प्रचुर मात्रा में है। नियामक उद्यम तभी उपयोगी हो सकता है जब इसे वास्तविकता से जोड़ा जाए। अतः वास्तविक चुनौती नियामक सिद्धांत को समाज और

राजनीति की अनुभवजन्य वास्तविकता के मुकाबले धराशायी करने में संनिहित है। यही एक मात्र मार्ग है जहाँ एक वैध राजनीतिक सिद्धांत मात्र सामान्यीकरण से प्रकट हो सकता है, जो पश्च-उदारवादी परिप्रेक्ष्य तथा सापेक्षता और विसरण की इसकी कमज़ोरी के उस सीमांकन पर भी काबू पाएगा जो राजनीतिक प्रायोजनाओं के लिए हमेशा शक्तिशाली है। यह फलीभूत हो सकता है, जैसा कि शैल्डन वोलिन इसे 'महासिद्धांत' मानते हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) कुछ व्यापक मान्यताओं पर चर्चा करें जो समकालीन सिद्धांन्तकारों को एक साथ ले आते हैं।

....

....

....

....

....

....

4.5 सारांश

चूँकि हमारे पास राजनीतिक सिद्धांत की विभिन्न संकल्पनाएँ हैं, वे विभिन्न परंपराओं से विभिन्न प्रकार के अर्थ निकालते हैं। हमने देखा है कि राजनीतिक सिद्धांत क्यों जन्म लेता है और राजनीति में मानवीय अवरोधों को सहज बनाकर इतिहास में किस प्रकार स्वरूप ग्रहण करता है और निर्माण होता है। सिद्धांतकारों द्वारा निर्णीत विभिन्न संकल्पनाएँ क्या हैं जिन पर चर्चा की गई है तथा उनकी कमियों को उजागर किया गया है। समकालीन उद्यम जो राजनीतिक और सामाजिक वास्तविकता की जानकारी में नए द्वार खोलने का दावा करते हैं, उनकी सीमाओं के साथ चर्चा का विषय रहें हैं। पूर्वर्ती चर्चा से स्पष्टतौर पर उभरता है कि राजनीतिक सिद्धांत नाम प्रयोजना में दर्शन और विज्ञान एक दूसरे को प्रतिस्थापित नहीं कर सकते, यदि मानवता के उद्धार के लिए दर्शन एक लक्ष्य है और यह कि उद्देश्य परक 'अच्छाई' अथवा उद्देश्य परक 'सत्य' नामक किसी भी वस्तु के न होने पर भी, सिद्धांत के लिए व्यवहारिक आधार का प्रयास किया जाना चाहिए। यह मात्र वांछनीय नहीं है, अपितु अधिप्राप्ति योग्य है। राजनीतिक विज्ञान में कोई परियोजना जो अनुभवजन्य उपलब्धियों को कड़ी आलोचना के अध्याधीन नियामक चिंतन से जोड़ती है, राजनीतिक सिद्धांत में सृजन के द्वारा खोल सकता है जिसके आधार पर हम भविष्य में आगे बढ़ सकते हैं।

4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

शैल्डन बोलिन, *पॉलिटिक्स ऐंड विज़न : कंटीन्यूटी ऐंड इनोवेशन इन वैस्टर्न पॉलिटिकल थॉट,* लिटिल ब्राउन, बॉस्टन्द्व 1960।

पीटर लैसलेट और डब्ल्यू. जी. रंसीमन (संपा) *फिलॉसॉफी, पॉलिटिक्स ऐंड सोसायटी,* ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड, 1957

जी.एच.सैबाइन, *व्हॉट इज़ पॉलिटिकल थ्योरी,* जर्नल ऑफ पॉलिटिक्स, (1), पृष्ठ 1—16, 1939।

डब्ल्यू.इ.फॉनॉली, *द टर्मज़ ऑफ पालिटिकल डिसकोर्स,* प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन, 1983।

डेविड मिलर (संपा), *द ब्लैक्वैल ऐंन्साइक्लोपीडिया ऑफ पॉलिटिकल थॉट,* ऑक्सफोर्ड, ब्लैक्वैल, 1987।

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 4.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप-भाग 4.4.2 और 4.4.3

बोध प्रश्न 3

1) देखें उप-भाग 4.4.4

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 5 राजनीतिक तर्क और सैद्धांतिक विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 परिचय

5.2 शास्त्रीय परम्परा में बहसों का स्वरूप

5.3 नियामक सिद्धांत की समीक्षा

5.4 आनुभविक परम्परा में बहसों का स्वरूप

5.5 प्रत्यक्षवाद का पतन और एक विकल्प रूप में व्याख्यात्मक सिद्धांत

5.6 राजनीतिक सिद्धांत में नियामक बदलाव

5.7 आधारवादी और उत्तर-आधारवादी सिद्धांतों में बहसों की प्रकृति

5.8 संकल्पनात्मक विश्लेषण

5.8.1 प्रत्यक्षवादी विश्लेषण

5.8.2 व्याख्यात्मक दृष्टिकोण

5.9 सारांश

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

5.0 उद्देश्य

यह इकाई स्वयं को राजनीतिक बहसों के स्वरूप तथा संकल्पनाओं के विश्लेषण से जोड़ती है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- शास्त्रीय और आनुभाविक परम्पराओं में राजनीतिक बहसों की प्रकृति पर चर्चा कर सकें;
- प्रत्यक्षवाद का पतन एवं एक विकल्प स्वरूप व्याख्यात्मक सिद्धांत के उदय पर सूक्ष्म दृष्टि डाल सकें;
- आधारवादी एवं उत्तर-आधारवादी सिद्धांतों में बहसों की प्रकृति पर टिप्पणी कर सकें; और अन्ततः
- संकल्पनात्मक विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोणों पर चर्चा कर सकें।

5.1 परिचय

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक बहसों की प्रकृति और राजनीतिक सिद्धांत में संकल्पनात्मक विश्लेषण के प्रयोजन को समझना है। सैद्धांतीकरण के निर्माण खण्डों के रूप में हमें राजनीतिक बहसों और संकल्पनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है। हम किस विषय पर बहस करते हैं और हम किस प्रकार बहस करते हैं, ये दो निर्णायक विचार हैं जो बहस की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। बहसें सत्यअध्यर्थों के औचित्य प्रतिपादन हेतु सकारण प्रस्थापनाओं की एक शृंखला की ओर संकेत करती हैं। चूँकि राजनीतिक सिद्धांत की विभिन्न परम्पराएँ हैं जिनमें प्रत्येक की पहचान उनके विशिष्ट, सारयुक्त और सुव्यवस्थित

मुद्दे होते हैं, राजनीतिक बहसों की प्रकृति विभिन्न परम्पराओं में भिन्न-भिन्न होती है। चूँकि राजनीतिक बहसों में सत्य अध्यर्थों का औचित्य प्रतिपादन अथवा प्रमाणन पाया जाता है, विभिन्न परम्पराओं का ज्ञान सिद्धांत और उसकी कार्यप्रणाली ही राजनीतिक बहसों की प्रकृति को माफ़िक बनाती है।

एक ओर हम बहसों के आधार पर संकल्पनाओं को बनाते या रचते हैं, तो दूसरी ओर हम अपनी बहसों को संकल्पनाओं पर आधारित करते हैं। संकल्पनाएं ही वे शब्द या शब्दावली हैं, जिनकी मदद से हम कोई राजनीतिक चर्चा करते हैं। ये हमारी परिपृच्छा (inquiry) को माफ़िक बनाती हैं, साथ ही साथ राजनीतिक परिपृच्छा विषय चर्चा को सुसाध्य भी बनाती हैं। राजनीतिक बहसें संकल्पनाओं में ही उठतीं और उन्हीं के माध्यम से आगे बढ़ती हैं। संकल्पनात्मक विश्लेषण के इसी कारण दो उद्देश्य होते हैं : एक, संकल्पना में निहित यथासंभव एक इतने स्पष्ट अर्थ को सामने रखना कि 'वाद-विवाद को अनुशासित करके' अथवा 'स्वच्छंद वाद-विवाद' का निवारण करके विद्वानों के बीच असंदिग्ध संचार में मदद मिले, और दूसरे, विचाराधीन राजनीतिक बहसों की जटिलताओं को प्रस्तुत करने की दृष्टि से किसी संकल्पना के अर्थ पर विवाद की जाँच करना और सच खोलकर रखना, और इस प्रकार राजनीति संबंधी अपने ज्ञान को समृद्ध करना। संकल्पनात्मक विश्लेषण का एक तीसरा उद्देश्य भी हो सकता है, नामतः हमें उन दुर्बोध तरीकों के प्रति सतर्क करना जिनमें संकल्पनाएँ यथार्थ विषयक हमारी अनुभूतियों पर पर्दा डाल सकती हैं और आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य को धुंधला कर सकती हैं, अथवा राजनीतिक प्रथाओं संबंधी वैकल्पिक कल्पनाशक्तियों को बाधित कर सकती हैं। सर्वाधिक सामान्य स्तर पर, विभिन्न परम्पराओं को **नियामक** और **आनुभविक** परम्पराओं के रूप में पहचाना जा सकता है। परन्तु नियामक परम्पराओं में रहकर, सत्य अध्यर्थों का औचित्य प्रतिपादन, जो कि बहस का उद्देश्य ही है, विभिन्न मानदण्डों पर आधारित होता है, और इसीलिए हम इन परम्पराओं को आंतरिक रूप से **आधारिक** और **उत्तर-आधारिक सिद्धांतों** की शब्दावली में बाँट देते हैं। इस प्रकार, राजनीतिक बहसों की प्रकृति, हमारा दावा है कि एक परम्परा विशेष में भी भिन्न होगी। उदाहरण के लिए, नियामक परम्पराओं के भीतर राजनीतिक बहसें आधारवादी और उत्तर-आधारवादी सिद्धांतों के बीच भेद करेंगी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.2 शास्त्रीय परम्परा में बहसों का स्वरूप

प्लैटो से लेकर मार्क्स तक अनेक दार्शनिक हुए हैं जिनकी कृतियों को व्यापक रूप से वह शामिल करने वाला स्वीकार किया जाता है जिसे **पाश्चात्य शास्त्रीय परम्परा** कहते हैं। इस परम्परा में राजनीतिक बहसें आम तौर पर इस तथ्य के कारण नियामक प्रकृति की रही हैं कि मुद्दे और विचार का विषय इस प्रकार की बातें रही हैं जैसे – न्याय क्या है? क्या मानवाधिकार हैं और यदि ऐसा है तो वे क्या हैं? राज्य की क्या भूमिका होती है? क्या व्यक्ति जन की परिभाष्य आवश्यकताएँ हैं और यदि ऐसा है तो उन्हें पूरा करने की जिम्मेदारी किसकी है? क्या सरकार को अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक खुशहाली हेतु प्रयास करना चाहिए और, यदि ऐसा होना चाहिए तो इस अनुष्ठान में अल्पसंख्यकों का क्या स्थान है? कौन सी बात सरकार को वैधता और किसी राज्य को संप्रभुता प्रदान करती है? संसाधनों पर किस प्रकार के दावे योग्यता अथवा गुण-दोष संबंधी मान्यता को सगुण बनाते हैं? शेष समाज पर अपना नैतिक दृष्टिकोण थोपने में बहुमत कहाँ तक न्यायोचित है? क्या हम सामाजिक नैतिक दृष्टिकोण संस्थाओं का पर्याप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकते हैं? सरकार का सर्वोत्तम स्वरूप क्या है?

सामान्यतया, यह शास्त्रीय परम्परा उत्तम जीवन की प्रकृति के साथ, उन संस्थागत प्रबंधों के साथ जो मनुष्य को पनपने के लिए आवश्यक होंगे, सम्बद्ध रही है ताकि उनकी

आवश्यकताएँ पूरी हों अथवा उनकी युक्तिसंगत क्षमताएँ स्पष्टतया अनुभव की जाएँ। साथ ही, इन बातों के साथ एक पूर्वाग्रह देखा गया है कि कानून, न्याय, सरकार के सर्वोत्तम रूप, व्यक्तियों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों के साथ, और समाज के वितरणकारी संगठन के साथ **राजनीतिक रूप से सही क्या** है। राजनीतिक सिद्धांत सही और उत्तम विषयक ही होते थे और ऐसी ही होती थीं, राजनीतिक बहसें। इस दृष्टि से देखे जाने पर, राजनीतिक दर्शन की विषयवस्तु काफ़ी कुछ नैतिक दर्शन का ही भाग और अंश थी। राजनीतिक बहसों ने नैतिक मुद्दों अथवा युक्तिसंगत आधार पर नैतिक और राजनैतिक सत्य के दावों को निपटाने के एक स्पष्ट उद्देश्य से नैतिक तर्कणा का रूप ले लिया।

राजनीतिक बहसें राजनीति की मूल प्रकृति विषयक कुछ सच्चाइयों को बताने की मंशा रखती थीं, ताकि ऐसे दावे कर सकें जिन्हें वस्तुपरक और आत्मपरक रूप से वैध माना जा सके। यह सच्चाई और वस्तुपरकता विभिन्न मान्यताओं पर आधारित होती थी : कभी कारण विषयक, कभी प्रयोगाश्रित विषयक, कभी संस्था विषयक, और आवसरिक रूप से रहस्योद्घाटन। साथ ही, किसी ज्ञानमीमांसात्मक साक्ष्य का भी आह्वान किया जाता था जैसे कारण अथवा अनुभव, ताकि मौलिक मानवीय आवश्यकताओं, लक्ष्यों, उद्देश्यों, संबंधों और इनके उपयुक्त शासन रूपों को जो राजनीतिक विज्ञान में प्रवेश पा गए हों, सत्य मान लिया जाए। उदाहरण के लिए, प्लैटो, हॉब्स, हेगेल और मिल ने वह संज्ञानात्मक आधार, कम से कम अंशतः, तैयार किया जिस पर राजनीतिक दर्शन में दावों को पेश किया गया।

इस परम्परा में राजनीतिक बहसें इस प्रकार कुछ स्वतःसिद्ध सत्य, स्वयंसिद्धियों, अथवा सत्य या ज्ञान की प्रकृति विषयक मान्यताओं से राजनीतिक सच्चाइयों अथवा सत्यार्थ दावों विषयक निष्कर्षों की दिशा में बढ़ीं। चूँकि दार्शनिकों ने स्वयं ही संज्ञानात्मक सत्य के मानक निर्धारित किए थे, उनकी राजनीतिक बहसों की वैधता को सिर्फ़ आन्तरिक रूप से जाँचा जा सकता है। किसी सिद्धांत-मुक्त मानदण्ड हेतु अपील का प्रश्न ही नहीं था। यदि आपने इस धारणा अथवा सिद्धांत के आधारवाक्य को स्वीकार कर लिया, तो निष्कर्ष की वैधता से बचने का कोई रास्ता ही नहीं था। यह बात बहरहाल अलग थी कि जब कभी आधारवाक्यों पर विवाद हो जाये – यदि उसके संज्ञानात्मक दावे आपत्तियोग्य हों।

MAADHYAM IAS

वस्तुतः शास्त्रीय परम्परा का इतिहास यह दर्शाता है कि राजनीति दार्शनिकों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों में बड़ी भिन्नताएँ थीं, इस तथ्य के कारण कि उनके आधारवाक्यों अथवा ज्ञानमीमांसा में भिन्नता थी। ऐसी स्थिति में ऐसी धारणाओं के महत्त्व के संबंध में एक बात उभर कर आयी। यह पूछा जाने लगा कि राजनीति संबंधी इस प्रकार के सभी प्रतिद्वंद्वी सिद्धांतों की क्या प्रासंगिकता है, जिनमें से प्रत्येक राजनीतिक नैतिकता विषयक सत्य धारण करने का दावा करता था, जब इन राजनीतिक एवं नैतिक सिद्धांतों के संज्ञानात्मक आधार की उपयुक्तता को निर्धारित करने का कोई मापदण्ड नहीं था। इस प्रकार के प्रश्न का सामना करने के लिए प्रत्यक्षवादीजन सबसे आगे रहे।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के संकेत इकाई के अंत में देखें।

1) पश्चिमी शास्त्रीय परम्परा में राजनीतिक बहसों का स्वरूप स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

5.3 नियामक सिद्धांत की समीक्षा

प्रत्यक्षवाद, खासकर स्थानीय प्रत्यक्षवाद जो भाषाई दर्शन द्वारा प्रभावित था, ने नियामक राजनीतिक सिद्धांत को अमोच्य रूप से काल्पनिक संज्ञानात्मक आधाररहित और यहाँ तक कि अर्थहीन या निरी बकवास बताकर काफ़ी कुछ अस्वीकार कर दिया।

विटजैन्सटीन, जिन्होंने तार्किक प्रत्यक्षवादी सिद्धांतों को प्रेरित किया, तीन शोध-विषयों को आगे बढ़ाया था, जो कि हमारे लिए यहाँ नियामक सिद्धांत के खिलाफ उदाहरण स्पष्ट करने में रोचक होंगे। पहला था – तर्कशास्त्र व गणित, जिसमें पुनरुक्तियाँ शामिल थीं; दूसरा, भाषा जो कि सत्य-प्रकार्यत्मक प्राधार रखती है और उसके मूल तत्त्व हैं – विभिन्न नाम; और तीसरा, कोई भी नीतिशास्त्रीय अथवा नैतिक कथन निश्चित संज्ञानात्मक सूचना नहीं दे सकते हैं।

प्रथम को श्रमसम्पादित करते हुए विटजैन्सटीन ने कहा कि गणित का मूल प्राधार तर्कशास्त्र से व्युपन्न किया जा सकता है और इस अर्थ में गणित की सच्चाइयाँ पारम्परिक हैं, न कि अंकों और उनके संबंध के विषय में 'तथ्यों' की उद्घाटक कहा जा सकता है। कि मूल शब्दों की कुछ परिभाषाओं और निष्कर्षण नियमों की एक विशेष समझ को लेकर गणितीय सच्चाई के समग्र प्राधार को उत्पन्न किया जा सकता है। परन्तु सत्य के ये रूप मूल शब्दों व निष्कषण नियमों संबंधी अपनी परिभाषाओं पर निर्भर करते हैं। एक अर्थ में वे पारिभाषिक रूप से सत्य हैं। ऐसा लग सकता है कि हम गणित में नई खोजें करते हैं, परन्तु ऐसा सिर्फ़ इसलिए है कि परिभाषा के दूरवर्ती परिणामों को पहले से जान पाना कठिन होता है और उन्हें बड़ी ही जटिलता और श्रमसम्पादन द्वारा सुलझाना पड़ता है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

दूसरा शोध-विषय यह है कि भाषा एक ऐसा प्राधार रखती है जिसको तार्किक विश्लेषण द्वारा अनावृत किया जा सकता है। यह विश्लेषण भाषा को सत्य-प्रकार्यात्मक के रूप में प्रकट करेगा। यह कहा जा सकता है कि भाषा में जटिल प्रस्थापना, जिसे हम सूचना पहुँचाने में प्रयोग करते हैं, संघटक प्रस्थापनाओं में विश्लेष्य के रूप में दर्शायी जा सकती है। स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया को रोकना पड़ता है और हमारे पास भाषा के मूल निर्माण-खण्ड रह जाते हैं, जिन्हें विटजैन्सटीन 'प्रारंभिक प्रस्थापनाएँ' कहते हैं। इन प्रारंभिक प्रस्थापनाओं में विभिन्न नाम होते हैं : (i) वे सीधे अर्थ प्रदान करती हैं, बजाय दूसरी प्रस्थापना की मध्यस्थता के, और (ii) वे दुनिया से सीधा संबंध रखती हैं।

फलतः यदि भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोगों को इस तथ्य पर निर्भर करना पड़ता है कि नाम सीधे लक्ष्यित वस्तुओं का संदर्भ देते हैं, तब इसके स्पष्ट परिणाम नैतिक और राजनैतिक चिंतन हेतु होते हैं। यदि नियामक राजनीतिक रचनाओं में दी गई ये प्रस्थापनाएँ इस विश्लेषण की गुंजाइश योग्य नहीं है तो वे सार्थक नहीं हैं। लक्ष्य या तो भौतिक वस्तुएँ होती हैं या फिर प्रत्यक्ष इंद्रिय अनुभव। राजनीतिक भाषा इस प्रकार गहरे संकट में पड़ जाती है, कारण लक्ष्यित वस्तुओं का संदर्भ देने के लिए उत्तम, न्याय, अधिकार जैसे शब्दों को किस अर्थ में विश्लेषित किया जा सकता है?

अंतिम विषय-विशेष से यह ऊपर चर्चित निष्कर्ष ही निकलता है। नैतिक और मूल्यांकनकारी भाषाएँ आम तौर पर इस सत्य-प्रकार्यात्मक विश्लेषण को स्वीकार नहीं करतीं और नैतिक

'लक्ष्यों' को किसी संज्ञानात्मक सार्थक तरीके से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। केवल भौतिक वस्तुओं के मूल अनुभवों का वर्णन करती वे प्रस्थापनाएँ ही सार्थक हो सकती हैं। इससे यह बात सामने आती है कि किसी प्रस्थापना को वैध होने के लिए आनुभाविक रूप से प्रमाण्य होना चाहिए, जिसके लिए उस प्रस्थापना को प्रत्यक्ष भाव अनुभव का संदर्भ देना चाहिए अथवा वह अनुभव सिद्धांततः स्पष्ट उल्लिखित होना चाहिए, यदि प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध भाव अनुभव शामिल न रहा हो।

यह कहा जा सकता है कि प्राचीन परम्परा के कुछ राजनीतिक सिद्धांत तथ्यात्मक आधारवाक्यों पर आधारित थे, जैसे कि हॉब्स, अरस्तू और मिल के। ये सिद्धांत मानव स्वभाव के तथ्यों पर आधारित थे। उस हद तक, जहाँ तक कि ये तथ्यात्मक आधारवाक्य आनुभाविक हैं, वे सिद्धांततः सत्यापित किए जा सकते हैं और फिर सार्थक हो सकते हैं। प्रत्यक्षवादी जन उन आधारवाक्यों को सार्थक मानेंगे, परन्तु फिर समर्थन के उस स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करेंगे जिनको कि समझा जाता है कि ये आनुभाश्रित कथन नियामक एवं मूल्य-निर्धारक निष्कर्ष प्रदान करते हैं। और इस संदर्भ में उन्होंने ह्यूम का स्तुतिपूर्वक आह्वान किया, जिन्होंने बताया था कि किसी बहस में तथ्यात्मक आधारवाक्य ऐसे सिद्धांतों को निरस्त करने के लिए नियामक, नैतिक अथवा मूल्य-निर्धारक निष्कर्षों को जन्म नहीं दे सकते। ह्यूम के तर्क को प्रायः इस सिद्धांत के रूप में जाना जाता है कि 'जो होना चाहिए था' को किसी 'जो है' से व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता है।

5.4 आनुभविक परम्परा में बहसों का स्वरूप

यद्यपि प्रत्यक्षवाद ने नियामक राजनीतिक सिद्धांत को अस्वीकार किया, उसने प्राकृतिक विज्ञानों की कार्यप्रणाली पर आधारित राजनीतिक तथ्यों के एक वैज्ञानिक अध्ययन को बढ़ावा दिया। इस परम्परा के भीतर रहकर राजनीतिक तर्क की प्रकृति में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव आया, क्योंकि अब विषयवस्तु के साथ-साथ वह कार्यप्रणाली भी, जिस पर वह अपने तर्कों को सही ठहरा सकती, नियामक सिद्धांत वाली कार्यप्रणाली से भिन्न थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इन तर्कों की विषयवस्तु के संबंध में, राजनीतिक तर्क केवल अनुभवाश्रित राजनीतिक व्यवहार एवं राजनीतिक अवधारणाओं के तर्काधारित विश्लेषण विषयक ही हो सकते हैं। राजनीति के अध्ययन के संबंध में, इन तर्कों के लिए अपेक्षित था कि अभिकथनों को किसी अनुभवाश्रित भाव संतोष के शब्दों में परिभाषित किया जाए। बदले में, इसके लिए अपेक्षित था कि तर्क व्यवहारात्मक दृष्टिकोण पर आधारित हों, ताकि राजनीतिक रुझानों का अध्ययन किया जा सके, साथ ही वे सामाजिक एवं राजनीतिक तथ्यों हेतु एक व्यक्विादी रूपान्तरवादी दृष्टिकोण पर आधारित भी हों। परवर्ती का निहितार्थ था किसी प्रकार का कार्यप्रणालीगत व्यक्तिवाद, ताकि राज्य, समुदाय, राज्यतंत्र जैसी सामाजिक समष्टियों से संबंधित संकल्पनाओं को ऐसे कथनों की शृंखला में रूपान्तरित किया जा सके जो व्यक्तियों के केवल आनुभविक रूप से अवगम्य व्यवहार का संदर्भ दे सके। प्रभावतः, राजनीतिक तर्क पराभौतिकीय कल्पनाओं से मुक्त किए गए और पूरी तरह से मूल्य-निरपेक्ष बन गए, जिनको कि जाँचा और सत्यापित किया जा सकता था, क्योंकि ये तर्क अनुभवाश्रित दृश्यघटनाओं के विषय में थे।

राजनीतिक बहसें, इस परम्परा में, मनुष्य और समाज विषयक प्रागनुभविक तर्क को अस्वीकार करती थीं, और तथ्यपरक और संख्यिकीय परिपृच्छाओं को आधार बनाती थीं। यह जानकारी के सिद्धांत पर आधारित होता था जो अनुभव को एकमात्र प्रामाणिक ज्ञानाधार के रूप में लेता था। इस प्रकार के प्राधार में, राजनीतिक बहसों का उद्देश्य अवलोकनीय दृश्यघटनाओं को स्पष्ट करना ही होता था और इन बहसों की प्रामाणिकता

को परखने का मापदण्ड थे : आन्तरिक सामंजस्य, ऐसी अन्य बहसों के लिहाज से संगति जो संबद्ध दृश्यघटनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास करती हों, तथा उन अनुभवाश्रित पूर्वानुभानों को सामने लाने की क्षमता जिनको कि अवलोकन के विरुद्ध जाँचा जा सके। इन बहसों का सत्य दावा न्यायसंगत सिद्ध किया जा सकता था, यदि वह या तो सत्यापन सिद्धांत से मेल खाता हो या फिर पॉपर के मिथ्या-दर्शन सिद्धांत से। प्रत्यक्षवादियों के बीच व्यवहारवादियों ने मिथ्या-दर्शन सिद्धांत ही अपनाया। यदि बहस को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता था तो फिर वह महज पुनरुक्तिपूर्ण ही होती थी; यथा, केवल परिभाषा द्वारा सत्य, और इस प्रकार निरर्थक। बहसों को प्रमाणित होने के लिए मिथ्या सिद्ध करने लायक होने चाहिए, तभी उन्हें वैज्ञानिक विधि पर आधारित कहा जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के संकेत हेतु इकाई के अंत में देखें।

1) नवीन नियामक सिद्धांतों में राजनीतिक बहस का स्वरूप शास्त्रीय परम्परा में राजनीतिक बहस के स्वरूप से किस प्रकार भिन्न है?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.5 प्रत्यक्षवाद का पतन और एक विकल्प रूप में व्याख्यात्मक सिद्धांत

यदि सभी सार्थक कथन, सत्यापनीयता के सिद्धांत पर, चाहे पुनरुक्तिपूर्ण हों या फिर आनुभविक रूप से सत्यापनीय, स्वयं-सत्यापन सिद्धांत का प्रतिपादन क्या होगा? प्रत्यक्षवाद के पास इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं था और यह लगता था कि कथनों में अर्थ और अनर्थ के बीच फैसला करने के लिए सही मापदण्ड स्वयं ही निरर्थक है। चूँकि प्रत्यक्षवाद ने इस ज्ञान मीमांसात्मक स्तर को खो दिया था, शक्ति की वृहत्तर मात्रा, अर्थ और भाव का एक अधिक स्वच्छंद दृष्टिकोण उभर कर सामने आया।

व्याख्यात्मक सिद्धांत, अथवा भाष्यशास्त्र, राजनीतिक परिपृच्छा में प्रत्यक्षवादी राजनीति-विज्ञान के एक विकल्प स्वरूप उभरा। व्याख्यात्मक सिद्धांती प्रत्यक्षवादी तरीके के साथ अनेक समस्याओं का उल्लेख करते हैं। वे राजनीतिक जीवन और उस राजनीतिक जीवन की भाषा के बीच एक अवग्रह को मानते हुए अनुभववादी दृष्टिकोण की आलोचना की। दूसरे शब्दों में, वे अनुभववाद की आलोचना उसकी इस धारणा के लिए करते हैं कि एक राजनीतिक यथार्थ है जो विद्यमान है और सिद्धांततः उस राज्य व्यवस्था की भाषा से स्वतंत्र महसूस किया जा सकता है, और एक ओर सामाजिक/राजनीतिक जीवन के बीच आंतरिक संबंध के घटते महत्त्व और दूसरी ओर उसमें निहित भाषा को भी देखा जा सकता है। व्याख्यात्मक सिद्धांती कहते हैं कि हमारे राजनीतिक व्यवहार उस भाषा द्वारा व्यक्त और

संघटित होते हैं जो उनमें (यथा, राजनीतिक व्यवहारों में) बसी रहती हैं, और कि उनमें बसी भाषा अपना अर्थ उन राजनीतिक व्यवहारों के रूप से ही प्राप्त करती है जिनमें वह विकसित होती है। चार्ल्स टेलर का कहना है कि हमारे राजनीतिक व्यवहारों को उस भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता है कि हम उनका वर्णन करने, उनका आह्वान करने अथवा उन्हें कार्यान्वित करने के लिए प्रयोग करते हैं। इस स्थिति के सामाजिक आयाम की शब्दावली इस आयाम में सामाजिक व्यवहारों के रूप में ही आधार रखती है; यथा, कहा जा सकता है कि शब्दावली का कोई अर्थ नहीं होता यदि व्यवहारों की यह श्रृंखला अस्तित्व में न होती। और पुनः, यह व्यवहार श्रृंखला इस अथवा किसी संबद्ध शब्दावली की विद्यमानता के बग़ैर अपना वज़ूद नहीं रखती। यह भाषा, तदनुसार, यथार्थ की संघटक, इस प्रकार के यथार्थ के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

जब भाषा यथार्थ की संघटक हो तो राजनीतिक जीवन की व्याख्या अवश्य ही आनुभविक रूप से अवलोकनीय व्यवहार और आत्मगत प्रवृत्तियों से परे जायेगी। व्याख्या को भाषा एवं राजनीतिक जीवन के अर्थ एवं व्यवहारों को अनावृत्त करने और ऐसे सामाजिक साँचे का निर्माण करने के लिए गहरे पैठना चाहिए जिसके विरुद्ध आत्मपरक प्रवृत्तियाँ बनी हों। इन काफ़ी बुनियादी अन्तरात्मगत एवं सर्वसामान्य अर्थों एवं व्यवहारों को एक गहन भाष्यशास्त्र की आवश्यकता होती है जो अनुभाश्रित परिपृच्छा से अपेक्षित साक्ष्य (आँकड़ों) से भी परे होता है। इस प्रकार, आनुभाविक समाज-विज्ञान राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के सबसे बुनियादी पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए अपर्याप्त है। मानव व्यवहार संबंधी आत्मपरक प्रवृत्तियाँ और आनुभाविक संकेतकों के लिहाज से व्याख्याएँ किंचित् ही पहचान रखती हैं और राजनीतिक जीवन के सर्वाधिक गूढ़ अर्थ और अभिप्राय का कारण बतलाती हैं।

भाषा द्वारा सूचित सामाजिक/राजनीतिक व्यवहारों को अर्थ व्यक्त करने के लिए हमें व्याख्या की ज़रूरत पड़ती है, क्योंकि वे प्रायः अपरिपक्व, अनुक्त और अपूर्ण रूप से व्यक्त की गई होती हैं। परन्तु तब इस प्रकार की कोई भी व्याख्या विवादास्पद होती है क्योंकि किसी एक विशिष्ट व्याख्या के समर्थन करने का मतलब है राजनीतिक विकल्पों की एक श्रृंखला को सकारना, जबकि दूसरों को गुप्त रूप से क्षति पहुँचती है। व्याख्यात्मक सिद्धांत, इसी करण, मूल्य-शून्य नहीं हो सकता है। गैडमर अपने *ट्रुथ एण्ड मैथॅड* में बताते हैं कि सामाजिक/राजनीतिक व्यवहारों के अर्थ को समझने हेतु एक उचित प्रतिदर्श किसी मूलपाठ की व्याख्या वाला प्रतिदर्श ही होता है : एक प्रतिदर्श जिसमें हम कारणों अथवा कानून-रचना हेतु अनुसंधान में रुचि नहीं रखते, परन्तु उसके अंगों के लिहाज से समूचे को, और योगदानों के लिहाज से उसके अंगों को समझते हुए वे समूचे का ही अर्थ देते हैं। व्याख्यात्मक सिद्धांत ने समाजवादियों, नारी-अधिकारवादियों, और उत्तर-आधुनिकतावादियों के नियामक सिद्धांतों पर हाल के वर्षों में काफ़ी सख़्त प्रभाव डाला है।

5.6 राजनीतिक सिद्धांत में नियामक बदलाव

'सत्तर के दशक में रॉल्स, नॉज़िक, वाल्ज़र, ड्वोर्किन, ग्रेविथ व अन्य के हाथों राजनीतिक सिद्धांत में एक नियामक बदलाव देखा गया। शायद, भाग्य बदलने के सबसे बुनियादी कारणों में एक कारण दर्शनशास्त्र में एक कार्यकर शक्ति के रूप में प्रत्यक्षवाद का ह्रास रहा है। बड़े पैमाने पर यह ह्रास स्वयं सिद्धांत को सही सिद्ध करने में अशक्त होने के कारण है, जो कि हमने ऊपर देखा। इसके साथ ही, नियामक राजनीतिक सिद्धांत के पुनरुद्धार हेतु एक प्रेरक वातावरण गहरे नैतिक संकट द्वारा बनाया गया जिसका कि पश्चिमी सभ्यता कर रही थी। इस विचार ने, इसी कारण, जड़ पकड़ ली कि समाज को एक नैतिक आधार की आवश्यकता होती है, यथा उन विश्वासों की एक श्रृंखला की, जो कि या जो

वह रखता है या उसे रखने चाहिए, जबकि धारणा यह है कि व्यावहारिक कारण निर्मूल और यादृच्छिक होता है, यदि वह एक ऐसे स्वीकृत मूल्यों की श्रृंखला पर आधारित न हो जो कि उस समाज के लिए प्रामाणिक माने जाते हों।

परन्तु यदि मूल्य व्यक्तिपरक हों, जो कि प्राथमिकता के आधार पर हो सकता है, जैसा कि प्रत्यक्षवादी कहते हैं, तब हम मूल्यों पर सहमत कैसे होंगे? नियामक राजनीतिक सिद्धांत, दूसरी ओर, कहता है कि यह समझौता संभव है, यदि कुछ ऐसे आम सिद्धांतों की श्रृंखला स्थापित की जाये जो फिर आत्मपरक विचारों के बीच सामंजस्य एवं/अथवा विभिन्न मूल्यों के बीच अधिनिर्णय का आधार प्रदान कर सके। निर्णायक प्रश्न तब यह होगा कि हम आम सिद्धांतों की उस श्रृंखला को हासिल कैसे करें। इस प्रश्न के दो उत्तर या तरीके हैं।

5.7 आधारवादी और उत्तर-आधारवादी सिद्धांतों में बहसों की प्रकृति

पहला उत्तर यह है कि हम नैतिकता के मूल्यों अथवा मानकों की एक ऐसी श्रृंखला तैयार करें जो कि सार्वत्रिक, परासांस्कृतिक और अन्तरात्मपरक रूप से प्रामाणिक हो। नैतिकता के इन मानकों को ऐसे आधार कहा जा सकता है जो विशिष्ट संस्कृतियों, परिस्थितियों एवं विशेष इतिहासों से कलुषित नहीं हुए। *नॉउमैनल सैल्फ़* (कैन्ट), *एब्सॅल्यूट स्प्रिट* (हेगेल), *प्रोलिटैरिएट* (मार्क्स), *आइडियाज़ ऑर फ़ॉर्म्स* (प्लेटो) जैसी कृतियों को शामिल करने वाले अधिवृत्तांत एक युक्तियुक्त आधार पर निर्णयन् एवं औचित्य-प्रतिपादन हेतु एक ऐसा ही आधार प्रदान कर सकते हैं। नैतिक सिद्धांतों की दूसरी इस प्रकार की सार्वत्रिक आधारिक श्रृंखला हो सकती थी : (i) उपयोगितावाद, (ii) कैन्ट का नीतिशास्त्र और (iii) मानव स्वभाव एवं मानवधिकारों संबंधी कुछ अवधारणाएँ। उपयोगितावाद से परे, इन आधारिक सिद्धांतों में से अधिकांश, जहाँ तक कि जानकारी है, गूढ़ तर्कशक्ति पर ही आधारित हैं। अभी हाल ही के दिनों में, सार्वभौमिक युक्तिपरक नैतिकता को जन्म देने का प्रयास किया गया है, या तो प्रक्रियात्मक युक्तियों पर ज़ोर देकर, जैसे रॉल्स का अज्ञान का परदा, या फिर **न्यूनतम नीतिशास्त्रीय प्रतिबद्धता** की अवधारणा पर विचारों का आदान-प्रदान, जैसे कि प्राथमिक वस्तुओं संबंधी रॉल्स की अवधारणा जिन्हें कि किसी भी व्यक्ति द्वारा इच्छित समझा जाता है, या फिर जैसा कि ग्रेविथ की **प्रभाव की न्यूनतम शर्त** संबंधी अवधारणा में है। आधारवादियों के राजनीतिक तर्क, तदनुसार, उन शब्दचिह्नों पर आधारित हैं जो कि मनुष्य, समाज एवं स्वयं की प्रकृति संबंधी एक सामान्य, परन्तु अनिवार्यकृत विवरण प्रस्तुत करते हैं, और युक्तिपरकता एवं वस्तुनिष्ठता संबंधी जिनके मापदण्ड ऐसे ही शब्दचिह्नों से व्युत्पन्न किये जाते हैं, जिनको कि सार्वत्रिक रूप से व्यवहार्य एवं वैध माना जाता है।

दूसरा उत्तर उत्तर-आधारवादियों द्वारा दिया जाता है, यथा साम्यवादियों द्वारा। वैसे तो अनेकों उत्तर-आधारवादी सिद्धांत दृष्टिगत होते हैं, परन्तु यहाँ हम अन्तर्थृत राजनीतिक तर्क की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए केवल साम्यवादियों को ही लेंगे। उनका कहना है कि हमें किसी सार्वत्रिक, सैद्धांतिक नैतिक आधार की आवश्यकता नहीं है, और कि स्पर्धी मूल्यों के बीच निर्णयादेश हेतु वांछित सिद्धांतों की श्रृंखला एक समुदाय विशेष में अव्यक्त होती है। इस अव्यक्त को सुव्यक्त और स्पष्ट बनाना होता है। राजनीतिक लाभ दुर्बोध तर्कणा द्वारा निर्धारित नहीं होते हैं, न ही उन्हें निर्मुक्त लघुकृत नैतिक अभिकर्त्ताओं द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक चुना जा सकता है। ये विशिष्ट समुदायों की जीवन-पद्धतियों से जन्म लेते हैं, और उन्हीं में व्यक्त होते हैं। साम्यवादी तर्कों को व्याख्यात्मक भाषायी सिद्धांत से समर्थन मिला, उदाहरण के लिए, *फ़िलोसॅफ़िकल इन्वेस्टिगेशन* और *दि ब्लू बुक* में विट्ज़ैन्स्टीन के नवीन लेखों से, जो कि व्यावहारिक तर्कणा हेतु किसी बाह्य युक्तिपरक

MAADHYAM IAS

आधार हेतु खोज पर विचार करते हैं जैसी कि मिथ्या धारणा है, क्योंकि यदि उनको पाया भी जा सकता, तो वे, वस्तुतः, व्यावहारिक धर्मसंकट के संबंध में निष्क्रिय ही होते। किसी जीवन-पद्धति के लिए हमें किसी सैद्धांतिक आधार की ज़रूरत नहीं होती। व्यावहारिक कारण सोफ़िया (विवेक), यथा वस्तुपरक ज्ञान के न्यायसंगत दावों के विषय में नहीं है, वरन् फ्रोन्सैसिस (निर्णय) के विषय में हैं, यथा किसी परिस्थिति विशेष में व्यावहारिक विचारात्मक निर्णय की क्षमता। राजनीतिक तर्क की प्रकृति चूँकि उस विधितंत्र पर निर्भर होती है जिसमें उसे रूपायित किया जाता है, चलिए, उत्तर-आधारवादी राजनीतिक सिद्धांत में राजनीतिक तर्क की व्याख्या करने हेतु एक उदाहरण के रूप में राजनीतिक सैद्धांतीकरण के लिए स्वयमर्थक संतुलन संबंधी रॉल्स की कार्यप्रणाली पर एक सरसरी नज़र डालते हैं। एक व्याख्या उपयुक्त होगी। रॉल्स को उसकी कुछ धारणाओं के लिए आम तौर पर एक आधारवादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसा कि रॉल्स के निर्णय संबंधी माइकल सैडल की समालोचना में आता है, परन्तु साधारणतया स्वयमर्थक संतुलन संबंधी रॉल्स की कार्यप्रणाली को स्वभावतः उत्तर-आधारवादी के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

स्वमर्थक संतुलन की विधि का तकाज़ा है कि अपने 'सामान्यता के सभी स्तरों पर समझे गए निर्णयों के विरुद्ध हम उसकी जाँच कर एक प्रदत्त नैतिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण का मूल्यांकन करें। यथा, हम उसके आंतरिक संबंधों और सतही सत्याभास (उनका समर्थन करते तर्कों के साथ) के लिहाज से इस सिद्धांत को समाविष्ट करने वाले दुर्बोध सिद्धांतों की सामान्य संगति को समझें; हम, तदोपरांत, उन विशिष्ट निर्णयों की जाँच करें जिनको कि इस प्रकार के सिद्धांत विश्व में निर्दिष्ट उदाहरणों के विषय में अर्थसूचित करते हैं; साथ ही, हम उसके दुर्बोध सत्याभास, आंतरिक संगति एवं विशिष्ट उदाहरणों में 'अन्तर्दर्शी पर्याप्तता' को ध्यान में रखते हुए उसकी समस्त ग्राह्यता हेतु समग्र सम्वेष्टन पर विचार करें।

स्वयमर्थक संतुलन नियामक दावों की वैधता का एक सुसंगत विवरण है। यह 'आधारवाद' से इस बात में भिन्न है कि वह यह माँग नहीं करता कि हम असंदिग्ध प्रथम सिद्धांतों से आगे बढ़ें और सिर्फ़ उनसे ही एक आनुमानिक तर्क के माध्यम से निष्कर्ष निकाल लें। इसका मतलब है कि नियामक सिद्धांत हमेशा ही नई शर्तों के आलोक में समीक्षा अधीन होते हैं, जो कि या तो नैतिक सिद्धांतों के संबंध में होती हैं या फिर दुनिया के उन पहलुओं से संबंधित जिनके प्रति इन सिद्धांतों को अपनाया जाना होता है। व्याख्या की, तदनुसार, राजनीतिक सैद्धांतीकरण में निभाये जाने के लिए एक भूमिका होती है और तथ्य यह भी है कि राजनीतिक निर्णय कदाचित् ही पक्के होते हैं, बल्कि वे हमेशा नई अन्तर्दृष्टियों अथवा जानकारी के आलोक में पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत रहते हैं।

उत्तर-आधारवादी सिद्धांतों में राजनीतिक तर्क, तदनुसार, सामाजिक सत्यता के विषय में आम सोच अथवा तर्कणा को नहीं छोड़ते हैं। परन्तु यह तर्क हमेशा एक सामाजिक रूप से स्थापित दृष्टिकोण से होता है, जो कि इस धारणा पर आधारित होता है कि हमारी सामाजिक रुचि और सामाजिक मूल्य ही हमारे विचारों को रूपायित करते हैं और कि हमारा सामाजिक बोध भी सामाजिक जीवन को रूपायित करने का ही एक हिस्सा है। यहाँ एक बहुस्तरीय तर्क सन्निहित है जो कि विश्लेषणात्मक तर्कशक्ति, आनुभाविक आँकड़ों, नियामक स्पष्टीकरण एवं व्याख्या के बीच विश्वास पैदा करता है। राजनीतिक तर्क आमतौर पर जटिल होते हैं और संशोधक सीमाओं को लाँघकर सामने आते हैं, विशेषतः विटजैन्स्टीन की भाषा-नीति की सीमाओं को। वस्तुनिष्ठता एवं युक्तिपरकता जिनका कि राजनीतिक तर्क औचित्य-प्रतिपादन हेतु आह्वान करते हैं, प्रासंगिक होते हैं, क्योंकि ऐसा कोई प्रासंगिक स्वतंत्र विचाराधार नहीं है जिस पर कि सामाजिक व्यवहारों को परखा जा सके। तदनुसार,

किसी राजनीतिक तर्क में सत्यता हेतु कसौटियाँ – सही और ग़लत – भाषा-नीति एवं प्रसंग हेतु पूरी तरह आंतरिक होती हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के संकेत हेतु इकाई के अंत में देखें।

1) आनुभाविक-व्यावहारिक परम्परा के एक विकल्प स्वरूप भाष्यशास्त्र की समीक्षा करें।

....

....

....

....

....

....

2) आधारिक और आधारिकोत्तर सिद्धांतों के बीच तर्क-वितर्क की प्रकृत्ति में क्या भेद हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.8 संकल्पनात्मक विश्लेषण

हम किसके विषय में क्या तर्क देते हैं और कैसे वह तर्क प्रस्तुत करते हैं, दोनों ही बातों का संबंध इस बात से है कि हम क्यों और कैसे संकल्पनात्मक विश्लेषण करते हैं। संकल्पनाएँ विद्वतापूर्ण प्रयासों के लिए दो अर्थों में निर्याणक हैं : साधन स्वरूप और साध्य स्वरूप। साधनों के रूप में संकल्पनाएँ ज्ञान हेतु आवश्यक हैं; वे ज्ञान की संभावना हेतु शर्तें हैं। इस अर्थ में, विज्ञान संकल्पनाओं के माध्यम से संभव बनाया गया अन्तर्तात्मगत रूप से नियंत्रित ज्ञान है। संकल्पनाएँ व्याख्या के लिए भी निर्णायक होती हैं, और इसी कारण, संकल्पनाएँ कैसे जन्म लेती हैं भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार, संकल्पनाएँ न सिर्फ़ ज्ञान का साधन हैं, वरन् साध्य स्वरूप एक ज्ञान का विषय भी हैं।

संकल्पनात्मक विश्लेषण के तीन रूपान्तरण हैं। प्रथम रूपान्तरण का उद्‌देश्य होता है– किसी गूढ़ अर्थ को यथासंभव द्वयर्थक से मुक्त करना; एक ऐसी व्याख्या जो यथासंभव सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक कथनों, प्राक्कथन विरचन एवं पुनरुत्पाद्य आनुभाविक विश्लेषण को स्वीकार करती है। द्वितीय रूपान्तरण इस बात पर विचार करता है कि विशिष्ट सामाजिक सिद्धांतों में संकल्पनाएँ किस प्रकार निहित हैं; यहाँ संकल्पना निर्माण सिद्धांत निर्माण के समानान्तर ही चलता है; अधिक सामान्य तौर पर – सिद्धांतों को विश्लेषण हेतु एक

प्राधार के रूप में लिया जाता है। प्रथम रूपान्तरण संकल्पनात्मक इतिहास पर विचार करता है, जो कि वर्तमान समेत, इतिहास की एक बेहतर समझ की ओर ले जा सकता है।

इन रूपान्तरणों पर चर्चा को संकल्पनात्मक विश्लेषण हेतु दो दृष्टिकोणों के तहत परिकल्पित किया जा सकता है – प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण और व्याख्यात्मक दृष्टिकोण।

5.8.1 प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण

जैसा कि हमने ऊपर देखा, तार्किक प्रत्यक्षवाद नामक असरकारी आन्दोलन का अनुसरण करने वाले दार्शनिकों ने परिपृच्छा के केवल दो सार्थक प्रकारों को समझा : तथ्यपरक विषयों में आनुभाविक खोजबीन, और शब्दों के अर्थों एवं प्रयोगों की संकल्पनात्मक चर्चाएँ। चूँकि दर्शनशास्त्र कोई अनुभवपरक, तथ्य-खोजी चिंतन नहीं थी, उसे संकल्पनात्मक विश्लेषण की भूमिका सौंपी गई।

संकल्पनात्मक विश्लेषण का उद्देश्य ठीक वैसा ही था जैसा कि विज्ञान के दार्शनिकों ने वैज्ञानिक संकल्पनाओं के तार्किक विश्लेषण के संबंध में किया; कार्यतः उनका अर्थ स्पष्ट करना और उन्हें एक पूरी तरह आनुभविक, ग़ैर-पराभौतिकीय एवं कारगर अर्थ प्रदान करने में मदद करना।

इस अर्थ में, राजनीतिक दर्शनशास्त्र राजनीति-विज्ञान का एक सहायक था, जो उन्हें प्रयुक्त संकल्पनाओं तथा व्याख्यात्मक एवं अनुभवजन्य अर्थ के अलावा किसी भी चीज़ से शून्य करने के प्रयास हेतु तर्कों को स्पष्ट करता था, ताकि राजनीतिक संलाप के शब्दों को ऐसे तरीकों से प्रयोग किया जा सके कि जो वैचारिक एवं नैतिक पहलुओं के बीच पक्षपातशून्य हों। उम्मीद यह थी कि ठीक उसी तरीके से जिस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धांतों को आगे बढ़ाया जा सकता था और वैज्ञानिकों की नैतिक व अन्य किसी प्रतिबद्धता पर ध्यान बग़ैर वैज्ञानिक तथ्यों की व्याख्या और पहचान की जा सकती थी, राजनीति-विज्ञान भी एक मूल्यरहित तरीके से आगे जा सकता था, यदि एक बार उस विज्ञान की मूल संकल्पनाओं को पहचान लिया जाए और एक परिवर्त्य आनुभविक परिभाषा दे दी जाए, और साथ ही, वह राजनीतिक बहस स्पष्ट संकल्पनाओं एवं सम्मत परिभाषाओं को लेकर आगे बढ़ सकती थी। यह खोज आवश्यक थी, क्योंकि जब तक यह सफल नहीं होती, वह राजनीति का एक विज्ञान रखने की उम्मीद नहीं कर सकती थी और जब तक राजनीति का कोई विज्ञान नहीं होता, हम राजनीतिक एवं नैतिक तर्क-वितर्कों हेतु कारण प्रस्तुत करने की अपेक्षा नहीं कर सकते थे। लक्ष्य था – राजनीतिक परिपृच्छा की भाषा को पुनर्गठित करना, ताकि उसे राजनीति के विज्ञान हेतु एक उपयुक्त माध्यम बनाया जा सके।

MAADHYAM IAS

तथापि, प्रत्यक्षवाद के प्रभाव से बाहर रहने वाले राजनीति-सिद्धांतियों को संकल्पनात्मक विश्लेषण में कोई अर्हता प्राप्त नहीं है, जिनका कि उद्देश्य नैतिक रूप से उन पक्षपातशून्य संकल्पनाओं को जन्म देना है जो राजनीति-विज्ञान में ठीक उसी प्रकार की व्याख्यात्मक कारगर भूमिका निभायेंगी जैसी कि प्राकृतिक विज्ञानों में वैज्ञानिक संकल्पनाएँ निभाती हैं। दृष्टांत के गुण-दोष से परे, वे इसे अवांछित भी मानते हैं।

5.8.2 व्याख्यात्मक दृष्टिकोण

संकल्पनात्मक विश्लेषण का उद्देश्य संकल्पना-विशेष की आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त (परिभाषा) को उजागर करना अथवा उसकी आंतरिक संरचना को उघाड़ना नहीं है, वरन् उन्हें समझने के नए-नए रचनात्मक तरीके ईज़ाद करना है। संकल्पनाएँ निर्मुक्त स्थापित सत्ताएँ नहीं हैं और उन्हें उस वृहद् संदर्भ में समझा जाना होता है जिसमें वे स्थापित होती

हैं, यथा जिस तरीके से एक साहित्यिक मूलपाठ की व्याख्या की जाती है। संकल्पनाएँ जिस तरीके से प्रयोग की जाती हैं उससे वे सार्थक हो जाती हैं और इससे संकल्पनात्मक विश्लेषण एक जटिल, अनन्त और विवादास्पद मामला बन जाता है।

कोनोली का तर्क है कि राजनीतिक संकल्पनाएँ जैसे स्वतंत्रता, सत्ता, आदि 'अनिवार्यतः' विवादास्पद हैं। वे 'विवादास्पद' हैं क्योंकि इस संकल्पना की कसौटियाँ और उसका प्रयोग प्रसंग बहस के विषय हैं। कसौटियों से यहाँ मतलब है – किसी घटना या कार्रवाई से पूर्व वे शर्तें पूरी होनी चाहिए जो प्रदत्त संकल्पना के दायरे में आती हैं कहा जा सकता है। प्रयोग प्रसंग का अर्थ है – संकल्पना-विशेष का उद्देश्य और इस उद्देश्य के साथ ही, उससे जुड़ी हैं वचनबद्धताएँ। 'संकल्पनाएँ अनिवार्यतः विवादास्पद हैं' का मतलब है कि तर्क की 'सार्वभौमिक' कसौटियाँ इन विवादों को निश्चित रूप से सुलझाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

प्रत्यक्षवादी मुख्यधारा सामाजिक विज्ञानों की सुव्यवस्थित अभिधारणाएँ एवं मानक, जैसे कारगर एवं ग़ैर-कारगर शब्दावली, विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषात्मक कथन, व्याख्यात्मक एवं नियामक संकल्पनाएँ, आनुभाविक एवं संकल्पनात्मक तर्क संदेहास्पद वैधता वाले हैं। कोनोली बताते हैं कि भाषाई दर्शनशास्त्र में नवीन कृतियाँ दर्शाती हैं कि अनुसंधान के इन मानकों को संशोधनार्थ दोहराये जाने की आवश्यकता है। इन मानकों की नए आलोक में व्याख्या किया जाना, जो कि, उदाहरण के लिए, विश्लेषणात्मक भिन्नताओं एवं तथ्य-मूल्य द्वादैश्य की ओर प्रवृत्त करता है, कोनोली बताते हैं, यह अधिक स्पष्ट रूप से समझने में मदद करता है कि क्यों राजनीति की मुख्य संकल्पनाएँ इतने प्रायिक रूप से विवाद का विषय बन जाती हैं।

इसके अतिरिक्त, वह बताते हैं कि पक्षपातशून्य, व्याख्यात्मक एवं कारगर रूप से परिभाष्य संकल्पनाएँ राजनीति की समझ को सीमित कर देती हैं। यह न केवल सन्निहित अर्थ को धराशायी कर देती है, बल्कि राजनीति विषयक वैकल्पिक, मौलिक पहलुओं की गवेषणा हेतु प्रयासों को बाधित भी कर देती है। पक्षपातशून्य कारगर संकल्पनाओं को रखने का प्रयास राजनीति से बचने की एक इच्छा स्वरूप जन्मा है। यह या तो जनजीवन को युक्तिसंगत करने की एक इच्छा के रूप में जन्मता है, जहाँ द्वयर्थकताओं एवं विवादास्पद अभिविन्यास की एक श्रृंखला को शर्तों एवं प्राथमिकताओं की व्यवस्थित प्रणाली के नियंत्रण में रखते हैं, अथवा जनजीवन की नैतिक व्याख्या करने हेतु एक खोज के रूप में, जहाँ सभी नागरिकों को समग्रतः एक सर्वसम्मति के अधीन ले आती है जो राजनीतिक को उपांतिक और अमहत्त्वपूर्ण बना देती है। राज्य व्यवस्था में प्रचलित संकल्पनाओं को संशोधनार्थ दोहराए बग़ैर अपनाना, इसी कारण स्थापित प्रथाओं के पक्ष में डूबी बातचीत की शर्तों पर स्वीकार करना ही है।

MAADHYAM IAS

उपर्युक्त के आलोक में, विवादास्पदता की संकल्पना का महत्त्व यह है कि वह राजनीति की भाषा में टिके विवादास्पद नैतिक एवं राजनीतिक पहलुओं को सामने लाने के लिए अधिक आत्ममननशील राजनीतिक संलाप प्रस्तुत करती है और इस प्रकार, राजनीतिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करती है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के संकेत हेतु इकाई के अंत में देखें।

1) संकल्पनात्मक विश्लेषण से आप क्या समझते हैं? संकल्पनात्मक विश्लेषण के प्रत्यक्षवादी और व्याख्यात्मक विवरणों के बीच भेद बताएँ।

....

....

....

....

....

....

5.9 सारांश

चूँकि हमारे पास राजनीतिक सिद्धांत के विभिन्न परंपराएँ हैं और हरेक विशिष्ट सारयुक्त एवं सुव्यवस्थित विषयों द्वारा पहचान प्राप्त हैं, राजनीतिक बहसों का स्वरूप भिन्न-भिन्न परंपराओं में भिन्न-भिन्न होता है। राजनीतिक बहसों में चूँकि सत्य-दावों के औचित्य प्रतिपादन एवं वैधता शामिल होती है, विभिन्न परंपराओं के ज्ञान का सिद्धांत एवं प्रासंगिक ज्ञानमीमांसा की कार्य-प्रणाली ही राजनीतिक बहसों के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। राजनीतिक बहसें और संकल्पनात्मक विश्लेषण तार्किक रूप से जुड़े हैं। संकल्पनाएँ ही वे शब्द अथवा शब्दावली हैं जिनको लेकर राजनीतिक संवाद किया जाता है। राजनीतिक बहसें अन्दर ही अन्दर जन्म ले लेती हैं और संकल्पनाओं के माध्यम से आगे बढ़ायी जाती हैं। नियामक राजनीतिक सिद्धांत सही एवं उत्तम के विषय में थे और इसी प्रकार राजनीतिक बहसें भी। राजनीतिक बहसों ने एक युक्तियुक्त आधार पर नैतिक मुद्दों अथवा नैतिक-राजनैतिक सत्य-दावों को निबटाने के एक स्पष्ट उद्देश्य को लेकर नैतिक तर्कशक्ति का रूप ले लिया। इस परंपरा में राजनीतिक बहसें राजनीतिक सच्चाइयों अथवा सत्य-दावों विषयक निष्कर्षों की दिशा में, सत्य अथवा ज्ञान के स्वरूप विषयक कुछ निश्चित स्वतः प्रमाणित सत्यों, स्वयंसिद्धियों, अथवा अवधारणाओं से निकल कर आईं।

MAADHYAM IAS

प्रत्यक्षवादियों ने नियामक सिद्धांत की आलोचना की। यदि नियामिक राजनीतिक लेखों में दिए गए कथन आनुभविक सत्यापन अथवा खंडन के प्रति सहज प्रभाव्य नहीं हैं तो वे सार्थक नहीं हैं। जबकि प्रत्यक्षवाद ने नियामक राजनीतिक सिद्धांत को निरस्त कर दिया, उसने प्राकृतिक विज्ञानों की कार्यप्रणाली पर आधारित राजनीतिक दृश्यघटनाओं के एक वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहित किया। जहाँ तक कि इन बहसों के विषय का संबंध है, राजनीतिक बहसें केवल राजनीतिक संकल्पनाओं संबंधी अनुभवजन्य राजनीतिक व्यवहार एवं तार्किक विश्लेषण के विषय में हो सकती थीं। इसे, बदले में, अपेक्षा थी कि बहसें राजनीतिक प्रवृतियों के अध्ययन के साथ-साथ सामाजिक एवं राजनीतिक दृश्यघटनाओं के प्रति एक व्यक्तिवादी लघुकारक दृष्टिकोण पर भी आधारित हों। व्याख्यात्मक सिद्धांत, अथवा भाष्यशास्त्र प्रत्यक्षवादी राजनीति-विज्ञान के प्रति एक विकल्प के स्वरूप राजनीति परिपृच्छा में उभरा। इसने राजनीतिक जीवन और उस राजनीतिक जीवन की भाषा के बीच एक वियोजन की परिकल्पना करने के लिए अनुभवजन्य दृष्टिकोण की आलोचना की। व्याख्या को भाषा एवं राजनीतिक जीवन के अर्थ एवं प्रयोगों को उजागर करने के लिए और गहराई में जाना ही चाहिए जो कि उस सामाजिक साँचे का निर्माण करते हैं जिसके विरुद्ध वस्तुपरक अभिप्रायों का जन्म होता है। अतएव, अनुभवजन्य सामाजिक विज्ञान राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के सबसे मौलिक पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए अपर्याप्त है। वस्तुपरक प्रवृत्तियों एवं व्यवहार के आनुभाविक संकेतकों के शब्दों में व्याख्याएँ इतनी

संक्षिप्त हैं कि राजनीतिक जीवन के सबसे गहरे अर्थ एवं भाव को पहचानना और उसका कारण बताना मुश्किल होता है।

भाष्यशास्त्र तथा पश्चिमी सभ्यता द्वारा अनुभव किए गए नैतिक संकट के प्रभाव की वजह से, राजनीतिक सिद्धांत ने एक नियामक मोड़ लिया। तथापि, आधारवादियों एवं उत्तर-आधारवादियों के बीच कार्यप्रणाली एवं ज्ञानमीमांसा के संबंध में भेदों के कारण नियामक सैद्धांतीकरण के भीतर राजनीतिक बहसों का स्वरूप भिन्न था। अन्ततः, हमने दो दृष्टिकोणों को अपनाने वाले संकल्पनात्मक विश्लेषण को भी देखा। प्रत्यक्षवादियों के लिए, संकल्पनात्मकता का अर्थ था पक्षपातशून्य कारगर संकल्पनाओं को जन्म देना। व्याख्यात्मक सिद्धांती ऐसे प्रयासों को अस्वीकार करते हैं। वे राजनीतिक संकल्पनाओं के 'अनिवार्यतः' विवादास्पद स्वरूप पर ज़ोर देते हैं और आगे तर्क देते हैं कि पक्षपातशून्य संकल्पनाएँ स्थापित प्रथाओं का पक्ष लेती हैं और राजनीति विषयक आलोचनात्मक विचार में बाधा डालती हैं। विवादास्पदता की संकल्पना राजनीति की भाषा में टिके विवादयोग्य नैतिक एवं राजनीतिक पहलुओं को सामने रखकर अधिक आत्ममननशील राजनीतिक संलाप प्रस्तुत करती है।

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एम. गिब्बन (सं.), *इण्टरप्रेटिंग पॉलिटिक्स*, बेसिल ब्लैक वैल, ऑक्सफ़ोर्ड, 1987।

जॉन क्रिस्टमैन, *सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल फ़िलोसॅफ़ी, ए कॉन्टैम्पॅरेरी इण्ट्रोडक्शन*, रूटेज, लंदन, 2002।

जॉन ग्रे कृत ''ऑन द कॉन्टैस्टेबिलिटी ऑफ़ सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल कॅन्सैप्ट्स'', *पॅलिटिकॅल थिअरी*, खण्ड 5 (1977)।

पी. लैसले, *इण्ट्रोडक्शन टु फ़िलोसॅफ़ी, पॉलिटिक्स एण्ड सोसाइटि*, सीरीज़ 1, ब्लैक वैल, ऑक्सफ़ोर्ड, 1956।

विलियम कॉनोली, *द टर्म्स ऑफ़ पॅलिटिकॅल डिसकॅर्स*, प्रिंसटन यूनिवर्सिटि प्रेस, प्रिंसटन, 1974।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 5.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 5.3 और 5.4

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 5.5 और 5.6

2) देखें भाग 5.7

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 5.8

इकाई 6 भारतीय राजनीतिक परम्पराएँ

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 आद्य (Early) भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति
6.2.1 परिचय
6.2.2 नामावली की समस्या
6.2.3 मत्स्यन्याय की संकल्पना
6.2.4 धर्म और दण्ड
6.3 भारतीय राजनीतिक चिंतन : स्रोत
6.3.1 खामियां और सीमाएँ
6.4 भारतीय राजनीतिक चिंतन के अभिलक्षण
6.4.1 धर्म के तानेबाने में मनोगत राजनीतिक जीवन
6.4.2 नीतिशास्त्र का प्रभाव
6.4.3 राजनीति पर जाति-आधारित सामाजिक ढाँचे का प्रभाव
6.4.4 सरकार उच्च वर्गों की साझीदारी के रूप में
6.4.5 राज्य व समाज के बीच कोई स्पष्ट भिन्नता नहीं
6.4.6 राजतंत्र ही सरकार का सामान्य रूप था
6.4.7 सरकार संप्रभु नहीं थी
6.4.8 अन्य विभेदकारी अभिलक्षण
6.5 भारतीय राजनीतिक परम्परा को बौद्धों का योगदान
6.5.1 राजपद की उत्पत्ति
6.5.2 बौद्ध संघ की लोकतांत्रिक प्रकृति
6.5.3 राज्योद्भव का सिद्धांत
6.5.4 न्यायनिष्ठा का सिद्धांत
6.6 भारतीय राजनीतिक परंपरा को मुस्लिम शासनं का योगदान
6.6.1 राज्य का मिज़ाज
6.6.2 बादशाह की इल्म इलाही (Divinity)
6.6.3 बादशाह के फर्ज़
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम पायेंगे आद्यकालीन भारत में राजनीतिक चिन्तन का क्रम-विकास। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति को स्पष्ट कर सकें;

- धर्म की संकल्पनाओं का अर्थ एवं महत्त्व भारतीय राजनीतिक परंपरा की मूल संकल्पनाओं के रूप में स्पष्ट कर सकें;
- भारतीय राजनीतिक परंपरा में बौद्ध धर्म का योगदान समझ सकें; और
- भारतीय राजनीतिक चिन्तन को इस्लामिक योगदान का महत्त्व समझ सकें।

6.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के योजनाबद्ध अध्ययन की शुरुआत का संबंध राष्ट्रीयकृत आन्दोलन से जोड़ा जा सकता है। भारतीय राजनीतिक विचार पर अधिकांश महत्त्वपूर्ण पुस्तकें इसी काल में लिखी गई, जो कि इस आलोचना का जवाब है कि प्राचीन भारत का राजनीतिक चिन्तन में कोई योगदान नहीं रहा और भारत में राजनीतिक-विज्ञान कोई अलग और भिन्न विज्ञान नहीं रहा। विद्वजनों के बीच व्यापक रूप से यह माना जाता था कि राजनीति संबंधी हिन्दू विज्ञान वस्तुतः हिन्दू दर्शन या हिन्दू धर्म का एक हिस्सा है। यह मत, हालाँकि गलत है, इसकी उत्पत्ति इन अवधारणाओं को विभिन्न नाम दिए जाने से शायद हुई, जैसे 'राजनीति', 'राजनीति-विज्ञान', व 'राज्य'। अनेक विद्वानों के सामने यह समस्या आती है क्योंकि वे राजनीतिक चिन्तन के विकास का अध्ययन पश्चिम द्वारा प्रदत्त विश्लेषण के ताने बाने में करने का प्रयास करते हैं। एक पूरी तरह से भिन्न भारत के ऐतिहासिक परिवेश एवं सामाजिक-सांस्कृतिक प्रसंगों के साथ, उसमें वही विचार और वर्ग तलाश करने का यह एक व्यर्थ प्रयास है, जो यूरोपीय चिन्तन उस सामाजिक व राजनीतिक वातावरण से गहरे जुड़ा होता है जिसमें यह जन्म लेता है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक धारणाओं का अध्ययन, इसीलिए, प्राचीन भारतीय जीवनदृष्टि, प्राचलित सामाजिक संगठन प्रणाली एवं भारतीय राजतंत्र के अभिलक्षण, आदि को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

MAADHYAM IAS

6.2 आद्य (Early) भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति

6.2.1 परिचय

अभी हाल तक अनेक विद्वानों का मत था कि राजनीतिक चिन्तन में भारत ने कोई योगदान नहीं दिया। यह माना जाता था कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिंन्तन, यदि चिंतन था तो हिन्दू नीति-विज्ञान या धर्म का एक हिस्सा था। उसको कोई अलग पहचान प्राप्त नहीं थी। परन्तु यदि हम राजनीति की धारणा को भिन्न उपलब्ध स्रोतों में देखें तों यह स्पष्ट होगा कि प्राचीन भारतीय विचारक न तो दर्शनशास्त्र से और नहीं धर्म से भिन्न कोई राजनीति की धारणा रखते थे। यह भ्रांतिपूर्ण निष्कर्ष जिस पर कुछ विद्वान पहुँचे, इस तथ्य के कारण पहुँचे कि वे राजनीति और राजनीति विज्ञान की एक तयशुदा धारणा रखते थे जोकि पश्चिम से प्रभावित थी। यदि हम राजनीति को और ''क्षेत्रीय रूप से ऐसा संगठित समाज माने जो एक सर्वमान्य सत्ता के प्रति निष्ठा से जुड़ा था''। हम उनसे शायद ही सहमत हों जो यह मानते थे कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिंतन का कोई योजनाबद्ध विकास नहीं हुआ।

6.2.2 नामावली की समस्या

यह भ्रम राजनीति के लिए प्राचीन भारत में प्रयुक्त अनेक समांतर शब्दों के कारण पैदा हुआ है। इसके अनेक नाम थे, यथा : राजधर्म– जिसका अर्थ है शासक के कर्त्तव्य; क्षत्रविद्या– वह ज्ञान जो शासक को रखना चाहिए; राज्यशास्त्र– शासन काल अथवा राज्य-विज्ञान;

दण्डनीति– दण्ड दिए जाने हेतु आचारशास्त्र; नीतिशास्त्र : शासक व शासित दोनों के जीवन को नियमित करने वाला नीति-विज्ञान; अर्थशास्त्र : भूमि-अर्जन और रखरखाव की कला।

6.2.3 मत्स्यन्याय की संकल्पना

प्राचीन भारत में हमारे पास प्राकृत अवस्था संबंधी पाश्चात्य अवधारणा के समतुल्य एक शब्द है। इसको ''मत्स्यन्याय'' कहा जाता है, यथा बड़ी मछली द्वारा छोटी को खा जाने की अवस्था। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में हम ''मत्स्यन्याय'' शब्द पाते हैं जो कि बल प्रयोग अथवा दण्ड के अभाव में कार्यव्यापार की अवस्था को स्पष्ट करता है। बल-प्रयोग को राज्य के पीछे परम आदेश समझा जाता है। साथ ही इस बात पर भी ज़ोर दिया जाता है कि बल प्रयोग यादृच्छिक रूप से नहीं किया जा सकता है और यह देखने के लिए अनेक नियंत्रण लगाये गए हैं कि वह व्यक्ति जिसे शासन करने का अधिकार सौंपा गया है, अपनी मर्ज़ी से बल प्रयोग न करें।

6.2.4 धर्म और दण्ड

भिक्खू पारेख के अनुसार, हिन्दू राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक जीवन का दो मुख्य अवधारणाओं में वैचारीकरण किया– धर्म और दण्ड। दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। 'दण्ड' शब्द का अर्थ है अनुशासन, बल प्रयोग, निग्रह, दमन अथवा सज़ा। 'धर्म' वो है जो समाज को बाँधे रखता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत के मूल शब्द ध्र से हुई जिसका अर्थ है पकड़ के रखना से हुई और समाज एकजुट रह सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति और समूह अपने अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। इसको वर्णाश्रम धर्म का पालन करके प्राप्त करने का प्रयास किया गया। वर्ण धर्म का अर्थ है उस समूह के सदस्य के रूप में अपने कर्त्तव्यों का कड़ाई से पालन करना, जिस से हम संबंध रखते हैं, यथा भारतीय संदर्भ में जाति। इसीलिए, यह राजा का कर्त्तव्य था कि वर्ण धर्म को कायम रखे। वर्ण संकट, यथा विभिन्न वर्णों का मिश्रण, किसी भी कीमत पर टाला जाना है। इस बारे में विविध वर्णन मिलते हैं कि क्या होता है यदि विभिन्न वर्णों से ताल्लुक रखने वाले सदस्य धर्मशास्त्र, धर्मशस्त्र, अर्थशास्त्र व महाभारत में दिए गए अपने-अपने वर्णों से जुड़े नहीं रहते।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

धर्मशास्त्र लेखकों ने व्यक्तियों एवं सामाजिक समूहों, सरकार समेत, के धर्म पर ध्यान लगाया। उन्होंने हालाँकि छानबीन के एक भिन्न एवं स्वायत्त विषय के रूप में राजनीतिक धर्म को मुहैया कराने का प्रयास नहीं किया। जो उन्होंने किया, वो था सबके सब को एक आचार संहिता प्रदान करना। राजनीति इस मुख्य धारा के प्रति प्रासंगिक थी।

धर्मशास्त्रों के अभिगम को तुलना में अर्थशास्त्र के लेखक दण्ड की व्यवस्था और प्रक्रिया में अधिक रुचि रखते थे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र सरकार की प्रकृति व संघटन, दमनकारी शक्ति के प्रयोग की प्रकृति व विधि, सत्ता कैसे हासिल की जाए संबंधी रणनीतियों व सत्ता कायम रखने की क्रियाविधि, वर्णों को संभावित खतरा, राज्य की प्रकृतियाँ या तत्त्व तथा उनके साथ क्रियाव्यापार का सर्वोत्तम तरीका आदि के विषय में विस्तृत जानकारी देता है। अर्थशास्त्र के लेखकों की पुस्तकें विशेषतः राजनीतिक थीं।

धर्मशास्त्रों व अर्थशास्त्रों के दो अभिगम मुख्य तौर पर अपनी विषयवस्तु में भिन्न थे। एक धर्म के दृष्टिकोण से राजनीतिक जीवन का अन्वेषण करता है, तो दूसरा दण्ड के दृष्टिकोण से। धर्मशास्त्र विधिवादी और धर्मोन्मुखी थे, जबकि अर्थशास्त्र संस्थाओं एवं राजनीति पर ध्यान केन्द्रित करते थे और अवस्थिति में धर्मनिरपेक्ष थे। कोई भी अभिगम अपने आप में

परिपूर्ण नहीं था, न ही अपने अनुयायियों द्वारा पूरी तरह से कोई प्रशंसा प्राप्त। ये दोनों मिलकर ही राजनीतिक चिन्तन की हिन्दू परम्परा का निर्माण करते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) आद्य भारत में 'राजनीति' शब्द के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले विभिन्न नामावलियाँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

2) मत्स्यन्याय की संकल्पना का संक्षिप्त वर्णन करें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) धर्म और दण्ड की संकल्पनाओं को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

6.3 भारतीय राजनीतिक चिंतन : स्रोत

जैसा कि पहले से होता आया है, भारत में राजनीति को कोई स्वतंत्र और स्वायत्त शिक्षा विषय नहीं समझा जाता था। हमें राजनीति की अवधारणाओं को उन स्रोतों के जमघट से खोज निकालना पड़ता है, जिनमें मनुष्य जीवन के बड़े प्रश्नों के बारे में वर्णन है, जो मुख्य तौर पर स्वाभावतः धार्मिक और दार्शनिक होते हैं। ऐसा कोई एक मूलपाठ नहीं है, जिसमें राजनीति ही राजनीति हो। राजनीति के अध्ययन हेतु मुख्य स्रोत हैं :

वैदिक साहित्य;

धर्मसूत्र एवं स्मृतियाँ;

महाकाव्य एवं पुराण

अर्थशास्त्र

बौद्ध एवं जैन साहित्य

सिक्के एवं चीनी लेख

अन्य साहित्य-स्रोत एवं पुरालेखशास्त्र

6.3.1 खामियाँ और सीमाएँ

ऊपर उल्लिखित स्रोतों में से अधिकांश चूँकि स्वभावतः धार्मिक हैं उनमें से राजनीति संबंधी तथ्यों को पृथक् करना बहुत मुश्किल है। धर्मशास्त्र समाज व राजनीति की एक आदर्शीकृत तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जो वास्तविकता को शायद ही दर्शाते हैं। अधिकतर विद्वानों ने जो भारतीय राजनीतिक चिंतन में उलझे हैं, इन स्रोतों को सत्य मान लिया है, यद्यपि उनका काल, स्थान व प्रामाणिकता अनिश्चितताओं से भरे पड़ें हैं।

इन सब के बावजूद एक और मुश्किल है कि भारतीय राजनीति पर अधिकांश पुस्तकें राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान लिखीं गयीं जो कि इस उद्देश्य को लेकर था कि पश्चिम के विद्वानों की साम्राज्यवादी विचारधारा का खण्डन करना है। साम्राज्यवादी विचारधारा कुछ पश्चिमी विद्वानों द्वारा विकसित की गयी जिन्हेंने प्राचीन भारतीय इतिहास अध्ययन करने का प्रयास किया था। भारतीय इतिहास संबंधी उनकी समझ दो मान्यताओं पर आधारित थी। ये मान्यताएँ हैं :

क) प्राचीन भारतीयों के मुख्य पूर्वकरणीय (intellectual) कार्य दर्शनशास्त्रानुकूल थे और उनमें राजनीतिक अथवा भौतिक सिद्धांत का अभाव था।

ख) भारतीय जन राष्ट्रीयता का बोध कभी नहीं कर पाये।

इन निष्कर्षों के व्यवहारिक निहितार्थ भारत में स्वशासन की माँग के प्रति खतरनाक थे। उनका अर्थ था कि भारतवासी अपने भौतिक जगत् को कायम रखने में अक्षम हैं और इसी कारण अंग्रेज़ों को उनके लिए उसे संभालना चाहिए। दूसरा निहितार्थ यह था कि चूँकि भारतीयों को राष्ट्रत्व की कोई समझ नहीं है, इसलिए यह उनकी परम्परानुकूल ही होगा कि वे निरंकुश शासन के अधीन किए जाएँ।

भारतीय राष्ट्रवादी एतिहासकारों ने साम्राज्यवादी विचारधारा का खण्डन करने के लिए ढेरों साहित्य मथ डाला। भगवान लाल इन्द्रजीत, भण्डारकर, आर.एल. मित्र, बाल गंगाधर तिलक और फिर के.पी. जायसवाल, आर.के. मजूमदार, बी.के. सरकार साम्राज्यवादी विचारधारा की असत्यता को सिद्ध करने के लिए भारतीय इतिहास संबंधी अपनी ही व्याख्या को लेकर सामने आये। उन्होंने कड़ा दावा किया कि प्राचीन भारत में जो भी प्रचलित था, कोई एकतंत्रीय शासन नहीं था बल्कि एक मर्यादित राजतंत्र था। के.पी. जायसवाल ने अपनी *हिन्दू पॉलिटी* में तर्क प्रस्तुत किया कि प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था अंशतः एथेन्स की तरह समानता प्रधान समाज वाली और ग्रेट ब्रिटेन की भाँति संवैधानिक राजतंत्रों वाली थी। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ''हिन्दुओं द्वारा की गई संवैधानिक प्रगति की बराबरी संभवतः कभी नहीं हुई है प्राचीन काल की किसी राज्य व्यवस्था का आगे निकलना तो दूर की बात है।''

राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान लोगों के बीच आत्म-विश्वास का अहसास जगाने के लिए राष्ट्रवादी विद्वानों के योगदान की तारीफ़ किए जाते समय हमें इस अभिगम की मर्यादाओं को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। आर. एस. शर्मा, एक जाने-माने इतिहासकार ने भारतीय

MAADHYAM IAS

राजनीतिक चिंतन के अध्ययन हेतु इस राष्ट्रवादी एवं पुनर्जागरणवादी अभिगम की चार महत्त्वपूर्ण सीमाएँ बतायीं। वे हैं :

प्रथम, प्राचीन हिन्दू संस्थाओं की एक अघा (full some) देने वाली अराधना द्वारा उसने मुसलमानों को विमुख करने की प्रवृत्ति दर्शायी।

दूसरे, यह अभिगम अतीत के मूल्यों का एक झूठा आभास कराता है। उसने इस तथ्य को दरकिनार कर दिया कि चाहे राजतंत्र हो या गणतंत्र, दो उच्च वर्ण दो निम्न वर्णों पर हावी रहे जिनको कि सभी राजनीतिक पदों से आमतौर पर बाहर ही रखा गया।

तीसरे, अनेक भारतीय जन प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था के धार्मिक पहलुओं की वास्तविकता मानने सें शर्माते थे और इस अपराध-बोध को मानो छुपाने के लिए कोई कसर नहीं उठा रखते थे। उन्हें कम ही अहसास था कि पाश्चात्य विश्व तक में 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक धर्मतंत्र का ही बोलबाला था।

चौथे, एक श्रेष्ठतर सभ्यता सिद्ध करने की धुन में आदिम जातियों के क्रम-विकास के आलोक में जैसा कि मानव-विज्ञान से पता चलता है, उसने शायद ही प्राचीन संस्थाओं के अध्ययन में कोई रुचि दिखाई हो।

आरम्भिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के अध्ययन में हमें ऊपर उल्लिखित सीमाएँ ध्यान में रखनी पड़ती हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

MAADHYAM IAS

1) भारतीय राजनीतिक चिंतन के अध्ययन हेतु मुख्य स्रोतों का संक्षिप्त उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

2) उक्त स्रोतों के क्या दोष और सीमाएँ हैं?

....

....

....

....

....

6.4 भारतीय राजनीतिक चिंतन के अभिलक्षण

6.4.1 धर्म के तानेबाने में मनोगत राजनीतिक जीवन

प्राचीन भारत में हम ऐसे वर्गों को नहीं पाते जो कि राजनीतिक व सामाजिक जीवन के साथ अनत्य (exclusively) रूप से वास्ता रखते हों, जिनकी तुलना प्लैटो व अरस्तू के 'रिपब्लिक'

व 'पॉलिटिक्स' से की जा सके। सभी उपलब्ध कृतियों में अलौकिक तत्त्व मौजूद है। समाज व सरकार के गठन में दैवी हाथ दिखाई पड़ता है; राजा द्वारा दैवी प्रयोजन पर बल दिया जाता है, दैविक ऐहिक (earthly) दण्ड को प्रबलित करता है और कभी-कभी चालाकी से उसे हटा भी देता है। यही है जिसे हम लगभग ऐसे सभी ग्रंथों में पाते हैं जो लोगों के जीवन से नाता रखते हैं। परन्तु किसी को सच्चाई पर विश्वास करने को प्रेरित नहीं किया जाना चाहिए। 'शास्त्रों' परम्पराओं तथा मनुष्यों के वास्तविक जीवन के बीच एक चौड़ी खाई थी। बाह्मणवादी धर्म, जिसको सामान्यतः हिन्दू धर्म के रूप में लिया जाता है, सर्वव्यापक नहीं था। ग़ैर-बाह्मणवादी परंपराएँ भी थीं, जो स्वभावतः भौतिकवादी थीं और जो आम आदमी की गतिविधियों के मार्गदर्शन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। इस लिहाज से बौद्धधर्म का योगदान महत्त्वपूर्ण है। हम इस पर फिर चर्चा करेंगे।

6.4.2 नीतिशास्त्र (Ethics) का प्रभाव

सामाजिक चिंतन न सिर्फ़ नैतिकता के कुछ निश्चित बुनियादी सिद्धांतों को सुनिश्ति करता है, बल्कि वह हमेशा दैहिक जीवन को दिशानिर्देश करने का प्रयास भी करता है। राजा को अवश्य ही सचेत रूप से सद्गुण को प्रेरित करना चाहिए और नैतिक जीवन, नैतिकता का मार्ग दिखाना चाहिए जैसा कि धर्मशास्त्रों में शर्त है। राज्य सामुदायिक जीवन में विचारणीय रूप से भाग लेता है और जीवन-सिद्धांत स्वयं को एक नैतिक सिद्धांत में समाधित करने को अग्रसर होता है। संक्षिप्त में, राजनीति-विज्ञान समस्त समाज का नीतिशास्त्र बन जाता है, आदमी के कर्त्तव्य संबंधी विज्ञान जिसने उसी को समाज में संबंधों के जटिल समूह में स्थापित कर दिया।

परन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की बात आती है, हम देख सकते है कि नीति विषयक कार्यव्यापार, वास्तविकता से नाता जोड़ रहे हैं। कौटिल्य उदाहरण के लिए, मैकाइवली शैली के अनुसार यथार्थपरक हो जाते हैं। लेखक की कृतियों में नैतिक पराकाष्ठाओं से अति घृणोत्पादक यथार्थवाद दिखलाई पड़ता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.4.3 राजनीति पर जाति-आधारित सामाजिक ढाँचे का प्रभाव

उत्तर वैदिक काल में समस्त सामाजिक मनन में जाति एक प्रमुख स्थान पर रही और उसका शासन-सिद्धांत से सीधा संबंध रहा। प्रत्येक वर्ण को विशिष्ट कार्य सौंपे गए थे। राजा का यह सर्वोपरि कर्त्तव्य था कि वह यह देखे कि हर व्यक्ति स्वयं को उन कार्यों तक सीमित रखे जोकि उसके वर्ग से संबंधित थे। कोई भी व्यक्ति अपना हित साधने अथवा प्रकट करने का प्रयास नहीं कर सकता था; न ही अपनी महत्त्वकांक्षा अथवा ध्येय निर्धारित कर सकता था। वर्णाश्रम धर्म ने समाज को मानवीय मूल्यों की लागत पर उन्नत किया। ज़्यादा जो कुछ स्वयंकृत था उसने सामूहिक घटकों को रास्ता दिया। अपने को सौंपे गए अधिकारों व कत्तव्यों के उपभोग में सभी जातियाँ अथवा वर्ण समान रूप से विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। उच्च वर्ण– ब्राह्मण व क्षत्रिय– ही शासक वर्ग थे। किसी भी व्यक्ति का काम उसकी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते थे। यदि कोई व्यक्ति अपने काम का अतिक्रमण करता था वह न सिर्फ व्यवस्था का उल्लंघन करता था, वह वास्तव में समाज-विरोधी भी कहलाता था। यही एक तरीका था जिससे हिन्दू सिद्धांत मनुष्य बनाम राज्य या समाज के वैपरीत्य से पार पा सकता था।

6.4.4 सरकार उच्च वर्गों की साझीदारी के रूप में

प्राचीन भारत में क्षत्रीयों, ब्राह्मणों व तदोपरांत वैश्यों ने मिलकर शासक वर्ग का निर्माण किया। शूद्र सेवक वर्ग में आते थे। 'क्षत्र'– लौकिक सत्ता अपनी शक्ति व अधिकार 'ब्रह्म'–

अलौकिक सत्ता से प्राप्त करता था। वैश्य कृषि व व्यापार जैसे व्यवसायों में लगे थे जो राज्य का आर्थिक आधार प्रदान करते थे। पुरोहित का पद सबसे ऊँचा होता था। उसे भगवान 'ब्रहस्पति' के नाम से जाना जाता था, न कि लौकिक सत्ता 'इन्द्र' से। उसका काम था, धर्म की व्याख्या करना और कर्मकाण्ड का संचालन करना।

पुरोहित द्वारा राज्याभिषेक राजसी सत्ता प्रयोग करने के लिए एक पूर्व शर्त थी। प्रतीक रूप में इसका अर्थ था कि क्षत्रीय शक्ति ब्राह्मण से प्राप्त करें।

पुरोहित अर्थात् याजक राजा का मुख्य सलाहकार होता था। दिलचस्प बात है, यूरोप से भिन्न, भारत में याजक पद लौकिक सत्ता के लिए दावा नहीं करता था, एक ऐसी दृश्यघटना जिसने यूरोप को एक खासे लम्बे समय तक क्रोधोन्मत्त किया। याजक वर्ग द्वारा प्रयोग किया जाने वाला प्रभाव खास तरह का था। उनका शिक्षा पर एक छत्र राज था और धर्म के सिर्फ़ वही व्याख्याता थे। उनकी कार्य-व्यवस्था से परे कोई भी, यहाँ तक कि राजा भी नहीं जा सकता था। समुदाय संबंधी अपने बौद्धिक नेतृत्व एवं धार्मिक नियंत्रण के चलते याजक वर्ग के लिए कतई ज़रूरी नहीं था कि वे स्वयं को चर्च आदि अथवा ऐसे किसी अन्य आध्यात्मिक संगठन में अंगविशिष्ट (organise) करें।

6.4.5 राज्य व समाज के बीच कोई स्पष्ट भिन्नता नहीं

सरकारी संगठन व राजनीति को समाज नाम के वृहत्तर समुदाय के हिस्से के रूप में देखा जाता था। दूसरे शब्दों में, समाज एक व्यापक रूप में देखा जाता था। समाज को राजनीति के नज़रिये से देखने की आदत नहीं जन्मी थी। परिणामतः न तो राज्य की कोई स्पष्ट अवधारणा थी, न ही सरकार की। दोनों ही शब्द अदल-बदल कर प्रयोग किए जा सकते थे।

6.4.6 राजतंत्र ही सरकार सामान्य रूप था

चूँकि समाज के चौपरती (fourfold) विभाजन में क्षत्रिय जाति को शासन-सत्ता सौंपी गयी थी, राजतंत्र स्वभाविक परिणाम ही था। सरकार के गैर-राजतंत्रीय रूप भी होते थे। कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*, उदाहरण के लिए, 'द्वैराज्य' (दो राजाओं द्वारा शासन), 'व्यराज्य' (राजा रहित राज्य), आदि की चर्चा करता है। 'गणसंघ' भी हुआ करते थे जो कि के.पी. जायसवाल के अनुसार, आधुनिक गणतंत्रों के सदृश थे। परन्तु सरकार का सामान्य रूप अब भी राजतंत्र ही था। हालाँकि ग़ैर-राजतंत्रीय रूप थे, परन्तु वे साधारण रूप में प्रचलित अवस्था न होकर अपवाद मात्र ही थे।

6.4.7 सरकार संप्रभु नहीं थी

अपने अस्तित्व की यथार्थ प्रकृति से प्राचीन भारत में सरकार को शब्द के ऑस्टिनवादी अर्थ में सम्प्रभु नहीं माना जा सकता। वह आदेशों को वैधता प्रदान नहीं करती थी, बल्कि उनकी वैधता में साझेदार होती थी। इसके विपरीत, सरकार का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं होता था। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखना ही मात्र उसका कार्य था। संप्रभुता वस्तुतः दैवी इच्छा में निहित परम स्रोत था। व्यक्ति की ओर से समष्टि रूप में समाज को छोड़कर किसी के भी प्रति कोई एकीकृत अनुचक्ति (allegiance) नहीं हो सकती थी, न ही कोई एकल निष्ठा। केवल संप्रभुता संबंधी अनेकवादी सिद्धांत ही इस भारतीय दृश्यघटना को समझ सकता था।

6.4.8 अन्य विभेदकारी अभिलक्षण

ऊपर उल्लिखित अभिलक्षणों से परे, प्रोफेसर भिक्खू पारेख हिन्दू राजनीतिक परम्पराओं के कुछ अन्य विशिष्ट अभिलक्षणों की भी चर्चा करते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

प्रथम, हिन्दू परम्परा आधारभूत रूप से असमतावादी है। यद्यपि उसने सभी मनुष्यों की नैतिक समानता संबंधी धारणा को विकसित किया, उसने सामाजिक, कानूनी व राजनीतिक समूहों की कभी नहीं पनपने दिया।

दूसरे, राजनीतिक चिंतन संबंधी हिन्दू परंपरा अनेकवादोन्मुखी है। हिन्दू राजनीतिक लेखकगण नितान्त आरम्भ से ही सामाजिक समूहों की स्वायत्तता को मान्यता देते आये हैं।

तीसरे, पहले के भारत में राजनीतिक चिंतन स्थापित सामाजिक व्यवस्था के प्रति मोटे तौर पर अनालोचक और रक्षात्मक था। अधिकांश हिन्दू लेखकों ने जाति व्यवस्था, धर्म की जाति-आधारित अवधारणाओं, कर्म की स्थूलतः भवितव्यतावादी संकल्पना, शूद्रों व दासों के निम्नपदारोपण, राज्य के व्यापक नैतिक हस्तकक्षेप, इत्यादि को उचित ही ठहराया। इसमें सामाजिक संघर्ष के संपूर्ण क्षेत्र को अनदेखा किया।

चौथे, अनेक हिन्दू लेखकों ने खासतौर पर शासकों का ध्यान खींचने के लिए लिखा। उनकी पुस्तकें स्थूल रूप से नीतिविज्ञान अथवा प्रशासन की नियमावलियाँ हैं, अतः राजनीतिक चिंतन मोटे तौर पर शिक्षात्मक एवं व्यवहार्य है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय राजनीतिक चिंतन के मुख्य अभिलक्षणों की सूची प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) प्रोफेसर भिक्खू पारेख के अनुसार हिन्दू राजनीतिक चिंतन के विशिष्ट अभिलक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.5 भारतीय राजनीतिक परम्परा को बौद्धों का योगदान

6.5.1 राजपद की उत्पत्ति

ब्राह्मणवादी साहित्य की तुलना में हम बौद्ध साहित्य में राजपद की उत्पत्ति का एक भिन्न रूप पातें हैं। दैविक उत्पत्ति सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जाता। राज दरबार के लिए चुनावों से संबंधित हमारे पास जातक कथाओं में असंख्य उदाहरण हैं। कुछ जातक कथाओं में निर्वाचित राजा का वर्णन है, जो कि पुरोहित अथवा बुजुर्गों द्वारा उसके गुणों अथवा उसके *महाजन-सम्मत* अर्थात् जो सभी को स्वीकार्य हो, के आधार पर चुना जाता था। आमतौर पर अच्छे परिवार के क्षत्रियों को चुना जाता था, परन्तु जाति राज दरबार हेतु इस चुनाव में कोई बाधा नहीं थी। कम से कम दो कथाओं में हम पाते हैं कि राजदरबार के लिए ब्राह्मण चुने गए। एक अन्य जातक कथा में हम पाते हैं कि एक निम्न जाति का आदमी राजा चुना गया। प्रजापीड़क सिद्ध होने पर उपचार स्वभावतः एक आम बगावत था जिसके हमारे पास असंख्य उदाहरण हैं। ये विद्रोह निम्नलिखित आधारों पर उचित ठहराए जाते थे :

1) राजपद प्रजाजनों व उनके द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के बीच एक अनुबंध से ही जन्मा है।
2) राजा के सर्वसत्ताक अधिकार प्रजाजनों की रक्षा तथा ग़लत करने वालों को दण्ड देने तक ही सीमित हैं और वह कानून से सीमाबद्ध है।

जनता ने जातक कथाओं के प्रमाण द्वारा, एक लम्बे समय तक अपने अधिकार और विशेषाधिकार कायम रखे। उन्होंने अपनी महत्ता कुछ अपनी संख्या से और कुछ अपने संगठनों से व्युत्पन्न की।

6.5.2 बौद्ध संघ की लोकतांत्रिक प्रकृति

प्रोफेसर रिस डेविस का मत है कि बौद्ध संघ लोकतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित था। उनके अनुसार, बौद्ध संघ "एक प्रकार का गणतंत्र था जिसमें सभी कार्यवाहियाँ उसके सदस्यों की उन नियमित सभाओं में सहमति प्राप्त प्रस्तावों द्वारा निपटाई जाती थीं, जो कुछ स्थापित विनियमों के पालन व कुछ निश्चित शब्दा-रूपों के प्रयोग के अधीन आयोजित की जातीं थीं। ये शब्द-रूप व पारित प्रस्ताव 'कामा नाकास' कहलाते थे"।

बौद्ध व्यवस्था का लोकतांत्रिक स्वरूप इस तथ्य द्वारा और अधिक स्पष्ट होता है कि इन नियमों व संकल्पों के अतिरिक्त *महावग्ग* और *कुलवग्ग* से हमें यह भी पता चलता है कि :

1) बौद्ध संघ के पास सभा में रखे जाने वाले प्रस्तावों के स्वरूप से संबंधित नियमों का एक निकाय होता था।
2) गणपूर्ति (guorum) का नियम लागू था।
3) भिन्न मत होने की दशा में बहुमत के वोटों पर छोड़ दिया जाता था।
4) जटिल मामलों को समितियों के निर्णय पर छोड़ दिया जाता था।
5) दूरवासियों के वोट आदि मामलों के संबंध में संभवतः निश्चित नियम होते थे।

फिर भी, इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि बौद्ध संघ में प्रक्रिया जो मूल रूप से धार्मिक व्यवस्था थी, 'गणसंघ' में प्रकट होती ही थी, जो कि एक राजनीतिक संघ था। परन्तु किसी भी दशा में बौद्ध द्वारा परिकल्पित राजनीतिक विचार अलग हटकर था और धर्मशास्त्रों अथवा अर्थशास्त्र के राजनीतिक चिंतन से बहुत भिन्न था। इस बात का प्रमाण राज्य की उत्पत्ति संबंधी बौद्ध सिद्धांत में मिलता है।

MAADHYAM IAS

6.5.3 राज्योद्भव का सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत '*दीघनिकाय*' में पाया जाता है। इसके अनुसार, धरती पर मेल-मिलाप और खुशहाली का एक सुनहरा युग आया हुआ था और लोग चूँकि धर्मात्मा थे, एक सुख-शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। पर एक लम्बी अवधि में जाकर लोग लोभी और स्वार्थी हो गए। तदोपरांत अन्य बुराइयाँ भी चुपके से चली आयीं। इस आदर्श राज्य का अन्त हो गया। तब लोग अपने बीच सबसे अच्छे आदमी के पास पहुँचे और उससे एक समझौता किया। उसका काम था गलत करने वालों को दण्डित करना और बदले में लोगों ने उसे अपनी फसल का एक हिस्सा देने का वायदा किया। लोगों द्वारा चुना गया वह व्यक्ति 'महा सम्मत' या 'महा निर्वाचित' (Great Elect) कहलाया। इस प्रकार, दीर्घनिकाय सामाजिक व्यवस्था की दैवी रचना संबंधी वैदिक सिद्धांत को चुनौती देता है।

शासकों के प्राधिकार की आवश्यकता महसूस की गई क्योंकि लोग भ्रष्ट हो गए थे, परिणाम स्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। परन्तु फिर भी अपराधियों में भगवान बुद्ध ने शासक द्वारा कठोर दण्ड दिए जाने के भय का महत्त्व अपराधों के निवारक के रूप में बताया।

सामाजिक क्रम-विकास संबंधी बौद्ध सिद्धांत का विशिष्ट अभिलक्षण यह है कि यह निरन्तर, नैतिक और दैहिक पतन ही है जिसने सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता को जन्म दिया। इस क्रमिक ह्रास का एक प्रत्यक्ष परिणाम सामने आया– उत्तरोत्तर क्रम में संपत्ति, राज्य व समाज संबंधी संस्थाओं का उदय। यह मनुष्य का और अधिक पतन ही था जिसने उस राजपद की संस्था की ओर प्रवृत्त किया जो समुदाय और विशिष्टतम व्यक्ति के बीच अनुबंध के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। सामाजिक वर्ग का उदय, ब्राह्मणवादी सिद्धांत की तुलना में, व्यवसायों के स्वैच्छिक चयन संबंधी एक युक्ति युक्त सिद्धांत द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय ब्राह्मणों से ऊपर स्थान पाता है। यह हमेशा ऐसी व्यवस्था रही जिससे कि वे मुकरते रहे कि राजा का सीमाबंधन वर्णाश्रमधर्म को कायम रखना ही था। उन्होंने क्षत्रिय वर्ण के प्रति राजपद के सीमाबंधन से भी इंकार किया। वे उस पुण्यात्मकता में विश्वास नहीं करते थे जिसमें राजा का शरीर परिवेष्टित (sacred) रहता था।

MAADHYAM IAS

6.5.4 न्यायनिष्ठा का सिद्धांत

बौद्ध साहित्य में दण्ड की कोई अहम् भूमिका नहीं है। धर्म को अधिक सकारात्मक तरीकों से कायम रखा जाना है। न्यायानिष्ठा का सिद्धांत धर्म संबंधी ब्राह्मणवादी संकल्पना से भिन्न है। यह सद्गुण संबंधी पाश्चात्य संकल्पना के ज़्यादा निकट है। ब्राह्मणवादी साहित्य के अनुसार, राजा के लिए नीति-सिद्धांतों की एक अलग श्रृंखला है। आम आदमी के लिए जो अधर्म है राजा के लिए धर्म हो जाता है, जब वह सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करने में लगा होता है। इसको *राजधर्म* कहा जाता है। *भगवद्गीता* और *महाभारत* दोनों राजधर्म की संकल्पना का विस्तृत स्पष्टीकरण आम नागरिकों के द्वारा व्यवहृत धर्म से भिन्न के रूप में प्रस्तुत करते हैं। बौद्धजन भी यह मानते हैं कि राज्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करना है। परन्तु इस व्यवस्था को नैतिकता की भाषा में अधिक समझा जाता है और धर्म राजा की सभी गतिविधियों के लिए मानक अवश्य हो। आंतरिक व विदेश दोनों नीतियों के मार्गदर्शन में ईमानदारी ही न्यायनिष्ठा का सिद्धांत है। ईमानदार राजा के लिए न्यायनिष्ठा ही राजा है। राजा भी नीति-सिद्धांतों की उसी श्रृंखला से जुड़ा है जिससे कि उसके प्रजाजन। राजा ही आदर्श प्रस्तुत कर अपनी जनता की खुशहाली या दुख लाता है। राजनीतिक न्यायनिष्ठा, इस प्रकार समझे जाने पर, ही सृष्टि संबंधी एक ब्रह्माणीय सिद्धांत के स्तर को छूने लगती है। यह एक अतिश्योक्तिपूर्ण व्याख्या लग सकती है, परन्तु

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राजा का आचरण उसके प्रजाजनों के व्यवहार को विचारणीय रूप से प्रभावित करता है। न्यायनिष्ठा के सिद्धांत का विस्तार उस में विश्व-शासक अथवा चक्रवर्ती की संकल्पना को शामिल कर के किया गया है। ऐसे शासक के सहजगुणों में न सिर्फ़ देश और विदेश में सार्वभौम सर्वोच्चता व सफल प्रशासन शामिल है, आन्तरिक प्रशासन के लिहाज से, न्यायनिष्ठा शासक व उसके प्रजाजनों के बीच पारस्परिक प्रेम और स्नेह का भी संकेत करती है। विदेश-संबंधों के क्षेत्र में, चक्रवर्ती की राज्य-विजय बल द्वारा नहीं, वरन् न्यायनिष्ठा द्वारा होती है। न्यायनिष्ठा के सिद्धांतों का मतलब है– उचित दृष्टिकोण, उचित अभिप्राय, उचित वाणी, उचित कर्म, उचित कर्मठता, उचित प्रयास, उचित प्रवृत्ति, आदि।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) बौद्ध साहित्य में राजा को 'महाजनसम्मत' क्यों कहा गया?

....

....

....

....

....

2) बौद्ध संघों की कार्य-प्रकृति का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

3) न्यायनिष्ठा की अवधारणाओं को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

6.6 भारतीय राजनीतिक परंपरा को मुस्लिम शासन का योगदान

भारतीय राजनीतिक चिंतन में इस्लामिक योगदान मध्यकाल के दौरान देखा जा सकता था। भले ही मुस्लिम शासकगण अपनी सत्ता के लिए वैधता उस खलीफ़ा से प्राप्त करते थे, जिसकी उन्होंने साधना की हो। यहाँ भी, हिन्दू राजनीतिक चिंतन की भाँति, कोई भी उद्धरण अनन्य रूप से राजनीति विषयक नहीं है। तथापि, मध्यकाल में लिखीं गयीं दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें मुस्लिम शासकों के राजनीतिक विचारों पर कुछ प्रकाश डालती हैं। उनमें ज़ियाउद्दीन बर्नी की *तारीक़-ए-फ़िरोज़* और अबुल फज़ल की *आइन-ए-अकबरी*। इन पुस्तकों पर तीन शीर्षकों के तहत चर्चा की जा सकती है, नामतः राज्य का मिजाज़ बादशाह की इल्म इलाही (divinity) और बादशाह के फर्ज।

6.6.1 राज्य का मिज़ाज

निरापद रूप से यह कहा जा सकता है कि कम से कम सिद्धांततः राज्य प्रकृति में धर्मतांत्रिक अवश्य था। शासक दोहरी नीति अपनाता था– एक अपने सह-धर्मी प्रजाजनों के लिए और दूसरी ग़ैर-मुस्लिमों के लिए। यह राज्य का कर्त्तव्य था कि मुसलमानों के जानोंमाल की रक्षा करे, पर ग़ैर-मुसलमानों को राज्य में अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए 'जिज़या' नामक विशेष कर चुकाना पड़ता था। इस काल में राज्य का एक अन्य मुख्य अभिलक्षण यह था कि उस की पहचान राजवंशी अर्थात् बादशाह से ही होती थी।

अबुल फ़जल के अनुसार, "खुदा की नज़र में बादशाहत से ऊँची कोई इज़्ज़त नहीं"। बादशाह को स्थिरता और स्वामित्व का उद्गम माना जाता था। अगर बादशाह का वजूद नहीं होता, संघर्ष का सैलाब कभी शांत नहीं होता, न ही खुदगर्ज़ ख्वाहिशें खत्म होतीं। अगर बादशाह नहीं होता तो लोग राज्य के कानूनों का पालन नहीं करते, और उसी की मौजूदगी, सज़ा मिलने के डर से, लोगों को खून-खराबे से दूर रखती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.6.2 बादशाह की इल्म इलाही

आइन-ए-अकबरी में बादशाह का वर्णन *नूर-ए-इलाही* (खुदा से निकली रोशनी), आफ़ताब से फूटीं किरण, ब्रह्मांड को रोशन करने वाले, आदि के रूप में किया गया है। यह देव-प्रकाश ही बिना किसी बिचौलिये की मदद से ईश्वर और राजाओं के बीच संचार-व्यवस्था है। इस प्रकाश या नूर को धारण करने से अनेक श्रेष्ठ गुण प्रवाहित होते हैं। ये हैं :

1) प्रजाजनों के प्रति मातृ-पितृवत् स्नेह;
2) विशाल हृदय;
3) ईश्वर में वर्धमान आस्था; और
4) प्रार्थना व भक्ति भाव।

6.6.3 बादशाह के फर्ज़

राजा अर्थात् बादशाह के मुख्य कर्त्तव्य हैं :

1) प्रजाजनों के जीवन और सम्पत्ति की देखभाल और सुरक्षा सुनिश्चित करना।
2) उनको दण्डित करना जो राज्य के मानदण्डों का उल्लंघन करते हों।

3) सभी को निष्पक्ष रूप से न्याय दिलाना।

4) बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करना।

5) राजा को स्वयं के उदाहरण प्रस्तुत करके लोगों का नेतृत्व करना चाहिए। किसी भी कार्यवाही की कुशलता उसी के आचरण पर निर्भर करती है।

6) राजा को चार चीज़ों से दूर रहना चाहिए :

   i) आखेट में अत्यधिक समय व्यतीत करना; निरन्तर क्रीड़ा मग्न रहना; दिन-रात मदमत्त रहना; और सदा स्त्रियों के साथ समागम रत रहना।

   ii) राजा को मिथ्या कथन या कपट से बचना चाहिए, क्यों कि वह सभी मनुष्यों के लिए अनुचित होता है और राजाओं के लिए अवसर पड़ने पर सर्वथा अनुपयुक्त होता है।

   iii) राजा को हमेशा विजयोत्सुक होना चाहिए, अन्यथा उसके पड़ोसी उसके खिलाफ हथियार उठा लेते हैं।

   iv) राजा को अपनी सेना हमेशा ठोकर पर रखनी चाहिए, कहीं ऐसा न हो कि प्रशिक्षण के अभाव में वे मर्ज़ी के मालिक हो जायें।

अबुल फज़ल की *आइन-ए-अकबरी* दो प्रकार के राजाओं के बीच भेद करती है : सच्चा बादशाह और खुदगर्ज़ बादशाह। कहा जाता है कि दोनों ही के पास भरपूर खजाना, फ़ौज, नौकर-चाकर और ताबेदार रैयत (पूजा) होती है। एक सच्चा बादशाह अपने को इन चीज़ों के मोह से दूर रखता है, क्योंकि उसका उद्देश्य होता है अत्याचार मिटाना और सब तरफ सच्चाई, वफ़ादारी और ईमानदारी लाना। दूसरी ओर, खुदगर्ज़ यानी स्वार्थी राजा राजसी सत्ता के बाहरी स्वरूपों को बहुत अधिक महत्त्व देता है जिस कारण सब तरफ असुरक्षा, विश्वास की कमी, अत्याचार और लूटमार दिखाई देती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय मुस्लिम साहित्य में राज्य की प्रकृति को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

2) मध्यकालीन साहित्य में उपलब्ध राजा की प्रकृति व कर्त्तव्यों पर संक्षिप्त चर्चा करें।

....

....

....

....

6.7 सारांश

संक्षेप में, भारतीय राजनीतिक चिंतन के क्रम-विकास संबंधी अध्ययन की एक लम्बे समय तक उपेक्षा होती रही। अनेक लोगों का यह मत था कि आद्य भारत ने राजनीतिक चिंतन के विकास में कोई योगदान नहीं दिया। भारतीय राजनीतिक चिंतन के अपने ही विशिष्ट अभिलक्षण हैं। वह धर्म, सामाजिक ताने-बाने एवं नीतिशास्त्र से इतना अधिक जुड़ा है कि चिंतन के अन्य क्षेत्रों से उसे राजनीतिक के रूप में पहचानना अत्यंत मुश्किल काम है। यद्यपि भारतीय राजनीतिक चिंतन की बराबरी प्रायः हिन्दू राजनीतिक चिंतन से की जाती है, भारत में अन्य ग़ैर-ब्राह्मणवादी परम्पराएँ भी थीं जिन्होंने राजनीतिक चिंतन के क्रम-विकास में योगदान दिया। बौद्ध, जैन और मुस्लिम जन उत्तम प्रशासन, संबंधी अपनी ही धारणाएँ लेकर प्रकट हुए। यह सत्य है कि आद्य भारतीय विचारकों ने राजनीति-दर्शन को किसी स्वायत्त विचारधारा के रूप में विकसित नहीं किया। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही उन्होंने दर्शनशास्त्र तत्त्वज्ञान की कोई योजनाबद्ध परंपरा नहीं डाली, भारतीय सामाजिक संरचना की एक आलोचनात्मक सूक्ष्म जाँच-पड़ताल और उसकी तुलना विख्यात् एथेन्स की सामाजिक संरचना से किए जाने की आवश्यकता है, जहाँ राजनीतिक-दर्शन की परम्परा का पदार्पण हुआ।

6.8 शब्दावली

राष्ट्रवादी इतिहासकार : भारतीय इतिहासकार जिन्होंने भारत का इतिहास यह मानकर लिखा कि भारत का एक राष्ट्र के रूप में वजूद प्राचीन काल से ही था।

वर्ण : प्राचीन भारत में समाज चार वर्णों की श्रेणियों में बँटा था। इनके नाम हैं– ब्राह्मणजन, क्षत्रियजन, वैश्यजन, और शूद्रजन।

आश्रम : किसी व्यक्ति, खासकर उच्च वर्ग के सदस्यों, के जीवन में चार अवस्थाएँ। ये हैं : ब्रह्मचर्य (कौमार्य-साधना), गृहस्थ (विवाहित जीवन), वानप्रस्थ (विवाहित जीवन से वापसी) और संन्यास (संसारिक जीवन से संपूर्ण विच्छेद)।

वर्णाश्रम धर्म : चार वर्णों व चार आश्रमों हेतु विहित कर्त्तव्य।

राजतंत्र : एक ही राजा/बादशाह द्वारा शासन।

गणसंघ : लोगों/जनता की सभा। मूलतः बौद्ध सामाजिक-धार्मिक संगठन जिनका वर्णन अनेक इतिहासकारों द्वारा एक गणतंत्रों के तुल्य सरकार के रूप में किया गया है।

वैदिक साहित्य : इसका अर्थ है चार वेद, यानी ऋग्, साम, यजुर्,व अथर्व वेद।

धर्मशास्त्र : लोगों, अधिकार प्राप्त पंडितों, द्वारा व्यवहार में लायी जाने वाली आचार संहिता श्रुति के आधार पर, जिसका अर्थ है ईश्वरोक्त आज्ञा या हुक्म, उन्हें लिखो।

अर्थशात्र : ज्ञान की वह शाला जिसमें भूमि अर्जन व उसके रखरखाव संबंधी चर्चा है। यह कौटिल्य की पुस्तक का शीर्षक भी है।

MAADHYAM IAS

मत्स्यन्याय : मछली विषसयक वह नियम जिसके तहत बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है।

महाजन सम्मत : इसका शाब्दिक अर्थ है वह व्यक्ति जो सभी को स्वीकार्य हो। बौद्ध राजा महाजनसम्मत कहलाता था।

जातक कथाएँ : बौद्ध-दर्शन विषयक उद्धरण जो कि कहानियों के रूप में मिलते हैं।

6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आल्टेकर, ए.एस., 1958 : *स्टेट ऐण्ड गव्र्नमैण्ट् इन एन्शेन्ट् इण्डिया,* तृतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास : बनारस।

प्रसाद, बेनी, 1927 : *थिअरी ऑफ़ गव्र्नमैन्ट् इन एन्शेन्ट इण्डिया (पोस्टवैदिक),* इण्डियन प्रैस : इलाहाबाद।

घड़हल, यू.एन., 1959 : *ए हिस्ट्री ऑफ़ पॅलिटिकल आइडियाज़, हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दूज़ पॅलिटिकॅल थिअरीज़* का संशोधित संस्करण, ओ.यू.पी. : बम्बई।

शर्मा, आर.एस., 1959 : *ऐस्पैक्ट्स ऑफ़ पॉलिटिकॅल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टिट्यूशन्ज् इन एन्शेन्ट इण्डिया,* मोतीलाल बनारसी दास : दिल्ली।

अप्पादुरई, ए., 1992 : *इण्डियन पॅलिटिकॅल थिंकिंग थ्रू दि एजिज़,* खन्ना पब्लिशर्ज़ : नई दिल्ली।

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) देखें उप-भाग 6.2.2
2) देखें उप-भाग 6.2.3
3) देखें उप-भाग 6.2.4

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 6.3
2) देखें उप-भाग 6.3.1

बोध प्रश्न 3

1) देखें उप-भाग 6.4.1 से 6.4.7 तक
2) देखें उप-भाग 6.4.8

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 6.5
2) देखें उप-भाग 6.5.1

बोध प्रश्न 5

1) देखें उप-भाग 6.6.1
2) देखें उप-भाग 6.6.2

इकाई 7 कन्फ़्यूशसवादी परम्परा

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 राजपद (Emperorship)
7.3 विद्वान्-पदाधिकारी
 7.3.1 परिक्षाएँ तथा नौकरशाही का प्राधार
 7.3.2 विभाजित निष्ठाएँ : परिवार बनाम सम्राट
7.4 राजवंशीय चक्र
7.5 कन्फ़्यूशसवादी साम्राज्यीय विचारधारा का अंत
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

कहा जाता है कि चीनी साम्राज्य तीन टाँगों पर खड़ा हुआ करता था :

- राजतंत्र;
- विद्वालन्-पदाधिकारीगण; और
- पदाधिकारियों की कन्फ़्यूशसवादी विचारधारा।

MAADHYAM IAS

इन तीनों सत्ताओं पर अलग-अलग, और उत्तरी घास के मैदानों (Steppe) में चीन के घुड़सवार, खानाबदोश पड़ोसियों के संबंध में विचार करना पड़ता है। यह हमें चीन के अनेक राजवंशों के बनने और बिगड़ने के बारे में समझने में मदद करेगा। अपने चरमोत्कर्ष पर अनेक चीनी साम्राज्यों का राज्य क्षेत्र इतना विशाल था जितना कि इतिहास में और कहीं नहीं था; और जब वे विखण्डित होते तो वहाँ व्यापक अव्यवस्था होती थी। उत्थान और पतन का यह चक्र इस महान् सभ्यता के इतिहास में दो हज़ार वर्षों में से भी अधिक तक बारम्बार देखा जा सकता है। प्रस्तुत इकाई इन प्रश्नों से संबंधित है :

- कन्फ़्यूशसवादी परम्परा में मुख्य धारणाएँ क्या थीं, और चीनी साम्राज्यीय शासन में उनकी क्या भूमिका थी?
- चीनियों और उत्तरी घास के मैदानों के घुड़सवार खानाबदोशों के बीच क्या संबंध था?
- चीनी राज्य-व्यवस्था संस्थाओं व विचारधारा की एक विषेश श्रृंखला की ओर बार-बार कैसे लौट सकी?
- जटिल, शानदार रूप से सफल साम्राज्य बारम्बार विखंडित क्यों हुए?

7.1 प्रस्तावना

ऐतिहासिक जानकारी....., सर्वदा प्रक्रियाओं की जानकारी है, घटनाक्रम के विषय में जानना नहीं, (मुदीप्ता कविराज) बल्कि तानेबानों की तर्कयंगति (logic) का पता लगाना है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कन्फ़्यूशसवाद चीनी इतिहास का हिस्सा है; और जटिल अतीत को समझने का प्रयास करते हुए हम भौगोलिक तथ्यों से शुरू करते हैं। सुविस्तृत हिमालय और उससे जुड़ी पर्वतमाला चीन को पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम स्थित भारतीय उपमहाद्वीप से अलग करती है; वृहद मध्य एशियाई घास के मैदान उत्तर में फैले हैं; प्रशान्त महासागर पूर्व में लहराता है; और भारत-चीनी प्रायद्वीप दक्षिण में स्थित है। इस पार्थक्य के बावजूद चीन की अत्यधिक समृद्धि ने हज़ारों सालों तक उत्तर से घड़सवार विजेताओं और दूर-दूर जल-थल से व्यापारियों को आकर्षित किया।

बर्फ से ढके विशालकाय पहाड़ उन महानदियों की आपूर्ति करते हैं जो देश के मानचित्र पर सर्पाकार आकृति में नज़र आती हैं, धरती पर बाढ़ लातीं है, खासकर अपने डेल्टा क्षेत्रों में। ह्वांगहो, या पीली नदी, और यांग्त्ज़े सबसे बड़ीं हैं और सर्वाधिक प्रसिद्ध भी। ह्वांगहो अपने साथ ढेरों मिट्टी/बालू आदि लाता है। जो उनके उतार पर वहीं जम जाती हैं, और इस कारण यांग्त्ज़े की भाँति वहाँ खेने की उपयुक्त ज़मीन नहीं रहती; परन्तु इन नदियों को नहरों का जाल बिछाकर बढ़ा दिया गया, जो कि तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व पश्चात् तीव्र प्रेरित सम्राटों की झोंक में आकर बनती रहीं। 20वीं शताब्दी तक जलमार्गों की बगल में यातायात किफ़ायती था और सड़कों पर कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण।

अपने गर्म दक्षिण और ठंण्डे उत्तर व पश्चिम के बीच चीन परिस्थितिकियों की एक विस्तृत व्यूह रचना प्रस्तूत करता है। यांग्त्ज़े के यिंचित मैदान चावल उत्पादन के लिए विश्व के मुख्य भूभाग रहे हैं ; चीन की और एकतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण पैदावार में शामिल हैं– गेहूं, चाय, रेशम, नमक। खनिजों की भी एक श्रृंखला लम्बे समय से कोयला, लोहा, ताँबा, टिन, चाँदी, जेड़ व खनिज तेल के उत्पादन हेतु दोहित की जातीं रहीं हैं। प्रौद्योगिकी के लिहाज से चीन 14वीं शताब्दी तक विश्व में अग्रणी रहा।

दो हज़ार से भी अधिक सालों तक चीनवासी साम्राज्यीय राज्यों के तहत रहे, तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर बीसवीं शताब्दी तक क्षेत्रीय शक्तियों ने स्वायत्तता एवं स्वाधीनता के विभिन्न मानदण्डों का दावा किया। चीनी इतिहासकार इन कालावधियों को राजतंत्रीय अक्षमता से पैदा हुई अव्यवस्था के क्षणों के रूप लिया करते थे। ऐसे काल सिर्फ़ किसी ऐसे नए राजवंश के उदय के साथ ही समाप्त हो सकते थे, जो शासन हेतु ''स्वर्ग की आज्ञा'' से सम्पन्न हो।

अनेक बार पुरोदित (re-emerged) साम्राज्यीय राज्यों ने, चीन और उससे लगे मध्य एशियाई घास के मैदानों के लिए, उनके बीच विचारधाराओं, स्रोतों, प्रथाओं व प्रेरणाओं के कुछ चिरस्थायी रूप समाविष्ट किए हैं। एक नए राजवंश की स्थापना के लिए चीन के भीतर से ही महत्त्वकांक्षी लोग सामने आ सकते थे, परन्तु अक्सर वे उत्तर से भी आये। पुनः चीन में भारत की भाँति नए राजवंशों की स्थापना उत्तर के घुड़सवार यायावर विजेताओं, अथवा चीन में उनके साम्राज्य (1276-1367) द्वारा भी की गयी। तथापि, चीन पर शासन करना उसके जटिल समाज, अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, पारिस्थितिकी, व प्रौद्योगिकी के साथ-घुड़सवार विजेताओं का काम नहीं था। उसे कुछ ख़ास की दरकार थी ; और वो विद्वानों के एक ऐसे वर्ग द्वारा प्रदान किया गया जो कन्फ़्यूशस व अन्य प्राचीन गुरुओं से शिक्षा प्राप्त थे, और जिन्होंने एक सम्राट के अधीन शासन करने की परम्परा को जन्म दिया।

बॉक्स 1

राजवंशी लेखाचित्र

नोटः चीनी भाषा के शब्द लिखने में नामों समेत, यह इकाई बेड-जाइल्स व्यवस्था का पालन करती है पर डायक्रिटिकल चिन्हों को छोड़ देती है।

काल	राजवंश	इस इकाई में उल्लेखित विभूतियाँ
11वीं से 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व	चू	राजा ईश्वर का पुत्र है उसे स्वर्ग से शासन का आदेश प्राप्त है। इसके बाद के चरण में अनेक कमोवेश स्वतंत्र राज्य।
403-221 शताब्दी ईसा पूर्व	संघर्षरत राज्य	
221-207 शताब्दी ईसा पूर्व	चिन	शिनझ्रु आडति, चीन का प्रथम सम्राट 1 विधिज्ञ राज्य व्यवस्था
206 शताब्दी ईसा पूर्व से 8 ईस्वी	पूर्ववर्ती हैन	तुड.चुड.-शू, 179-104 शताब्दी ईसा पूर्व, साम्राज्यीय कन्फ्यूशसवाद प्रतिवाहित किया।
25-220 ईस्वी	परवर्ती हैन	
221-580 ईस्वी	विभिन्न राजवंश	
589-617 ईस्वी	सुई	विद्वान पदाधिकारियों के चयन हेतु परीक्षाएं आरंभ की गयी
618-906 ईस्वी	ताड.	
907-959 ईस्वी	पांच राजवंश और दस राज्य	
960-1126 ईस्वी	उत्तरी सड.	एक सशक्त नौकरशाही अपने पहलों के मुकाबले सम्राट पर अधिक निर्भर। 1126 में उत्तरी राजधानी छोड़ने के लिए बाध्य, याड.त्ज़े के तट पर हाड.शो में साम्राज्यीय राजधानी पुनर्स्थापित की।
1127-1275 ईस्वी	दक्षिणाी सड. (तथा उत्तर में चिन)	
1276-1367 ईस्वी	मंगोल/युआन	
1368-1644 ईस्वी	मिड.	16वीं शताब्दीः यूरोप वासी आने लगे
1945-1911 ईस्वी	मांशू चिडे	19वीं शताब्दीःयूरोपीय दबाव के सामने चीन की कमजोरियां ज़ाहिर हो गयीं।

MAADHYAM IAS

विचारों का यह निकाय जिसे कन्फ़्यूशसवादी विचारधारा (बॉक्स-1) के नाम से जाना जाने लगा, शताब्दियों तक विकाय (evolve) प्राप्त करता रहा क्योंकि इसके वाहक, विद्वान पदाधिकारीगण, अपनी परिस्थितियों को सफलतापूर्वक संभालते रहे : (1) राज्य चलाने में, और (2) राज्य द्वारा नियोजित न किए जाने के समय भी अपने जीवन प्रबंधन में। इस सब को ''कन्फ़्यूशसवादी'' के रूप में देखा गया– यह सिद्धांत कि कन्फ़्यूशसवाद वो है, जो कुछ भी कन्फ़्यूशस के अनुयायी सोचते और करते थे। इसमें बहुत कुछ, बल्कि विचारों का एक सार भाग निकाय आता था, जो कन्फ़्यूशसवाद (Confucianism) को परिभाषित किया किरता था। इनमें शामिल थे :

क) राजा की सत्ता का समर्थन करते विचार– यह उन्हें राजा के प्रति आज्ञापरायण सेवा करने को वचनबद्ध करते थे और, इस प्रकार की सेवा के माध्यम से समाज में कन्फ़्यूशसवादी मानदंण्डों के प्रचार का प्रयास (देखें बॉक्स-1 और नीचे 'ग');

ख) कार्यतः अपरिमित अनन्त विस्तार को सत्य मानते हुए जटिल कार्मकाण्ड;

ग) विद्वजनों के विषय में विचारों व आदर्शों की एक प्रभावशक्ति। उक्त विचारधारा ने पदानुक्रम के मत पर, माता-पिता के प्रति भक्ति पर, और नैतिक सद्‌गुणों पर अधिक बल दिया। ये आम मानदण्ड थे, जो राज्य व परिवार दोनों के प्रति व्यवहार्य थे। सद्‌गुण पर बल इस विचार में प्रकट हुए कि एक अनुकरणीय शासक बल प्रयोग व हिंसा का सहारा लिए जाने की आवश्यकता के बग़ैर, स्वयं द्वारा प्रस्तुत उदाहरण की शक्ति से शासन करने में सक्षम होना चाहिए। व्यवहारतः इस प्रकार के उदाहरणात्मक शासक जिनकी साधुता संपूर्ण व्यवस्थित व्यवहार सुनिश्चित करती, को पाना मुश्किल काम था, और विभिन्न परिदृश्यों में बल प्रयोग व हिंसा का इस्तेमाल काफ़ी आम था।

बॉक्स 2

कन्फ्यूशसवादी विचारधारा का उदय

कन्फ़्यूशस छठी और पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में एक चीनी विचारक और विद्वान हुए हैं। उनकी व अन्य प्राचीन की शिक्षाओं (मैंसियस, 372–289 ईसा पूर्व समेत) ने शासन की चीनी परम्परा को एक सांचे में ढ़ाला हैः सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवहार के लिए और साम्राज्य की जटिल, प्रभावशाली कर्मकाण्डों की रचना करने के लिए सम्मानित मार्गदर्शकों के रूप में 1 कन्फ़्यूशसवाद ने राज्य के कार्यकलापों में नैतिकता के महत्व का प्रतिपादन किया, और शांति, मानवता और लगन जैसे मूल्यों का एक साम्राज्य पर शासन करने की विचारधारा के रूप में, यद्यपि चीनियों ने वैधिकवाद (Legalism) को पहले अपनाया।

शिह ह्युआंग–ति, प्रथम चीनी साम्राज्य चिन के संस्थापक ने 221 ईसा पूर्व में कन्फ्यूशसवादी परम्परा को उसके नीतिवाद समेत रद्द कर दिया। यहां तक उन्होंने इसकी पुस्तकों को जला डालने का आदेश दिया। इसकी बजाय उन्होंने वैधिक चिंतन में विश्वास दिखाया जोकि सख्त कानूनों, सम्राट की इच्छापूर्ति और किसी भी विरोध को बर्दाश्त न करने के साथ एक कठोर एवं प्रभावशाली राज्य की धारणा का समर्थन करता था। इसकी परिणति चौदह वर्ष बाद विद्रोह में हुई, नसीहतों का एक स्रोत इस विषय पर कि किसी राजवंश को असफलता से बचने के लिए एक राजवंश को किन बातों से बचना चाहिए। इसको कन्फ्यूशसवादियों के मध्य फिर हमेशा एक बुरे उदाहरण के रूप में याद रखा गया, यद्यपि जटिल और प्रायः परभक्षी पड़ौसियों से घिरे एक विशाल साम्राज्य के कार्यकलाप, वास्तव में अकेले कन्फ्यूशसवादी नैतिकता पर टिके नहीं रह सकते थे। साम्राज्य चलाने में कानूनी प्रवृत्तियां आम नहीं थीं, हालांकि कोई भी स्वंय को कानून वाला (Legalist) नहीं कहता था। चीन वासियों के पास एक विशाल सेना थी, और उक्त साम्राज्यीय राज्य बल प्रयोग से कभी पीछे नहीं हटा– आंतरिक अथवा बाह्य रूप से।

कन्फ्यूशसवादी परम्परा किसी भी तरह निष्क्रिय विचारों की कोई अपरिवर्तनशील संस्था नहीं रही। बिलकुल इसके विपरीत था। कन्फ्यूशस के लगभग चार शताब्दियों पश्चात् उससे जुड़े विचार धीरे-धीरे साम्राज्य वैधता-सिद्धांत में समाविष्ट किए जाने लगे। एक पूर्व कालीन राजपद, चू (11वीं से 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व) के बारे में यह प्रचार किया गया कि राजा 'ईश्वर के पुत्र' होते हैं, जिनके पास शासन करनेदका स्वर्ग से मिला आदेश होता है। चू के विघटन के बाद, आने वाली शताब्दियों (चौथी व तीसरी, ईसा पूर्व) जिन्हें

MAADHYAM IAS

'संघर्षरत राज्य' काल के नाम से जाना जाता है, में अनेक छोटे राज्यों और उनके बीच काफी संघर्ष देखने को मिला। इनमें से कोई भी अन्नय रूप से स्वर्ग का कृपा पात्र होने संबंधी चू जैसा दावा कायम नहीं कर सका– और उक्त धारणा धीरे-धीरे समाप्त हो गयी। कन्फ्यूशस एक केन्द्रीय सत्ता के अभाव वाले इस विग्रह काल में काम करते और पढ़ाते थे। इस प्रकार की सत्ता अल्पकालीन चिन साम्राज्य (221–207 ईसा पूर्व) के साथ ही स्थापित हो पायी।

चू, संघर्षरत राज्य, चिन वंशः यह हैन वंश की पृष्ठ भूमि थी इसके राजनैतिक प्रबंध चिन की व्यवस्थाओं जैसे ही थे। चिन और हैन दोनो ही सफलतापूर्वक बल प्रयोग कर सत्ता में आये फिर भी हैन सम्राट चिंतित थेः चिन वंश जैसा अंत टालने के लिए क्या करें? उनकी मुख्य समस्या थीः उन्हें यह तथ्य सही ठहराना था कि अपने पूर्वजों को हटाने में उन्होंने बल प्रयोग किया था और साथ ही यह दर्शाना था कि उनके प्रतिद्वंदियों के लिए उन्हें हैन को, हटाने के लिए बल प्रयोग अनुचित होगा। उनके विद्वान सलाहकार तिस पर उस प्रकार के स्वर्गीय आदेश को लेकर चलते रहे जिस पर कि पहले चू राजाओं ने स्वंय दावा किया था। तुड.चुड.न्शू (179–104 ईसा पूर्व) नामक एक विद्वान ने राजवंशीय स्थायित्व सुनिश्चित करने के लिए विचारों का महत्वपूर्ण संयोजन प्रस्तुत किया; परंतु यह दो या तीन शताब्दियों में विचारों एवं व्यवहारों के क्रम विकास में बस एक ही कदम था– जिसमें उन विभिन्न विद्वानों व पदाधिकारियों का योगदान था जो अनेक प्रकार के तत्वों पर ज़ोर देते थे।

सरल रूप से, इसके फ्रेमवर्क में रखे गये कुछ विचार निम्न थेः

- एक ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण, जिसमें समग्र ब्रह्माण्ड–स्वर्ग, पृथ्वी और मनुष्यों के कार्यकलाप, सभी को एक ही व्यवस्था का हिस्सा समझा जाता था। राजा की ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के सामंजस्य को बनाये रखने में निर्णयकारी समझा जाता था– उसके अपने चरित्रवान, अनुकरणीय आचार-व्यवहार के माध्यम से।
- स्वर्ग/ईश्वर सब कुछ रचता है, और मानवीय क्रियाकलापें में एक सक्रीय दिलचस्पी बनाये रखता है। जब असामान्य घटनाएं दिखायी पड़ती हैं (आकाश में कोई अपरिचित वस्तु, बाढ़ अथवा अज्ञात प्रकार का पौधा या प्राणी), ये ईश्वर द्वारा भेजे गए संकेत (omens) होते हैं। ये संकेत, जैसे की बाढ़ और सूखा, आकाश में असामान्य दृश्य–संचालन की अस्वीकृति का संकेत किए जाने के रूप में देखे जा सकते हैं, या फिर असाधारण जैविक रूपों से संबंधित खबरों की व्याख्या शासन धारी राजवंश पर ईश्वर के आशीर्वाद चिन्हों के रूप में की जा सकती है, अथवा शासन करने संबंधी नए ईश्वरीय आदेश के साथ एक नए राजवंश के सन्निकट उदय के रूप में। यदि इस प्रकार के सगुनों को विद्वानों द्वारा पहचान लिया जाए और समझ लिया जाए, तो उचित प्रत्युत्तर तैयार किए जा सकते हैं।
- स्वर्ग ताओ (Tao) की रचना करता है, यथा मानवीय क्रियाकलाप के लिए अपरिवर्तनशील मूल सिद्धांत; परंतु लोगों को अपनी विभिन्न एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों हेतु उचित तरीकों से ताओं प्रयोग करने होते हैं।

आने वाली शताब्दियों में कन्फ्यूशसवाद नामक पैकेज विकसति होता रहा। इसमें एक जटिल विचार-समूह समाहित किया गया, क्योंकि इसके अनुयायी अपनी बदलती परिस्थितियों के प्रति अपनी परम्परा में उपलब्ध विचारों को लागू करने का प्रयास करते थे।

यह कन्फ्यूशसवादी परम्परा ही थी जिसने आने वाले समय में पदाधिकारियों की राजशक्ति पर अधिकार रखा। तुड. ने एक साम्राज्य चलाने में कन्फ्यूशसवादी की शिक्षाओं के महत्व पर बल दिया, और सुझाया कि इन शिक्षाओं में पारंगत विद्वान

MAADHYAM IAS

सरकार में नियुक्त किए जाएं। सातवीं शताब्दी ईस्वी में एक कन्फ्यूशसवादी पाठ्यक्रम में परीक्षाएं पास करना प्रतिष्ठापूर्ण साम्राज्यीय नौकरशाही में प्रवेश करने के लिए और आगे बढ़ने में एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गया। सर्वाधिक महत्व, इसी कारण इन व इन से संबंधित पाठ्यक्रमों को जारी रखने, सीखने व आगे बढ़ाने को दिया गया; और इन परीक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम कन्फ्यूशसवादी सिद्धांत के लिए भी एक सशक्त माध्यम हो गया। चीन में विद्वानों को प्राप्त ऊँची प्रतिष्ठा में यह शिक्षा एक महत्वपूर्ण अवयव था, जो उस सत्ता समृद्धि से नितांत परे थी जो पद पर रहते हुए सफलता के साथ आती थी।

सुनिश्चित व्यक्ति का सम्मान शारीरिक श्रम करने वालों एवं मानसिक श्रम करने वालों के बीच भेद किए जाने का मामला था; सभी शिक्षाप्राप्त, और खासकर उनमें पदाधिकारियों को 'शासकों' के रूप में देखा जाता था, जबकि दूसरी ओर शारीरिक श्रम करने वालों को 'शासितों' के रूप में; परन्तु कारगर पदानुक्रम उससे कहीं अधिक जटिल था, जितना कि यह सरल भेदभाव बतलाता है।

चीनवासियों, और खासकर उनका सुशिक्षित वर्ग जिसमें पदाधिकारीगण आते थे, की तुलना में उत्तरी घुड़सवारों ने उनकी राजनीतिक परम्पराओं ने जनजातीय संगठन और, उससे भी बढ़कर, जनजातीय गठबंधनों हेतु व्यवस्था जुटा दी। इन स्वयं इच्छुक योद्धा घुड़सवारों के बीच गठबंधन का रास्ता निकालना आसान नहीं था; इसके लिए अनुप्राणित नेतृत्व की आवश्यकता थी। मूर्त रूप धारण करने पर ये घुड़सवार मंथर गति से चलते चीन वासियों को रौंद डाल सकते थे, कम से कम उत्तर में, ह्वांगहो के आसपास के क्षेत्र में।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) पाँच ऐसे प्रमुख पारिस्थितिक तत्त्वों की सूची बनाएँ जिन्होंनें चीनी इतिहास के घटनाक्रम को प्रभावित किया है।

....

....

....

....

....

....

2) कन्फ़्यूशसवादी विचारधारा कैसे उभरी?

....

....

....

....

....

....

3) कन्फ़्यूशसवादी साम्राज्यीय विचारधारा में मुख्य धारणाएँ क्या थीं?

....

....

....

....

....

4) चीनी इतिहास में साम्राज्यीय परिक्षाओं का क्या महत्त्व था?

....

....

....

....

....

7.2 राजपद

भारत में मुगल साम्राज्य के लिए कहा गया है कि सम्राट ही उसका ''मुख्य प्रेरणास्रोत'' होता था; साम्राज्यीय शासन कितनी अच्छी तरह काम करेगा उसकी प्रभावकारिता पर निर्भरता था। चीन में भी सम्राट एक मुख्य स्रोत की तरह ही था। चीन में विद्वान-पदाधिकारियों की कोई परम्परा नहीं थी, और 7वीं शताब्दी तक उन्हें एक व्यापक परीक्षा पद्धति के माध्यम से चूने जाने की शुरुआत हो रही थी। धन्य है उनका साझा ज्ञान, कुशलताएँ, प्रेरणाएँ व परंपराएँ जो कि वे विशालकाय साम्राज्यों (तांग, मिंग, चिंग) को चलाने हेतु अधिकारी वर्ग के विशाल तानेबानों को बनाने में सक्षम थे। उनका वेतनमान पूर्व-औपनिवेशिक भारत में रहे किसी भी वेतन मान से हर तरह से ऊँचा ही था। इस नौकरशाही के पास एक साझा विचारधारा व परपम्रा, और राजवंश के प्रति निष्ठा पर्याप्त रूप से इतनी थी कि यह अक्षम साम्राटों के रहते हुए भी काम कर सके। 12वीं शताब्दी में यह तंत्र, उत्तरी आक्रमणकारियों के दबाव के तहत उत्तरी राजधानी के हाथ से निकल जाने और नए सिरे से यांग्त्ज़े के दक्षिण को राजधानी बनाने के बावजूद जुड़ा रहा। कारणों के लिए हम आगे पढ़ेंगे, बहरहाल, जब सम्राट असफल हो गए तो साम्राज्य पर गंभीर खतरा मँडराने लगा।

फिर भी सम्राट चूँकि ''स्वर्ग का पुत्र'' था, वह तमाम वैधता का स्रोत था। एक सम्राट जिसे अपने आप पर भरोसा होता तो वह अपने हित, अथवा नज़रिये पर खतरे को भाँप कर अधिकारी-तंत्र को एक तरफ कर अपना रास्ता निकाल लेता था। शुरुआती शताब्दियों में सम्राट को बहुत हद तक वंशानुक्रमिक अभिजात्य तंत्र (Aristocracy) की सत्ता को मान्यता दे देनी पड़ती थी, जिसके भी सदस्य अग्रणी पदाधिकारीगण होते थे। सुंग (960-1275) तक आते-आते अभिजाततंत्र ऐसे शासक वर्ग को रास्ता दे चुका था जो सम्राट की चापलूसी अभिजात्यतंत्र से कहीं अधिक करता था। इसके बाद सम्राट के हाथों में और अधिक सत्ता संकेन्द्रण तथा उसका विरोध करने पर और कड़े दण्ड का प्रावधान हो गया। 15वीं शताब्दी तक सैन्सोरेट वस्तुतः ''विरोध प्रदर्शन'' संबंधी अपना पहले का काम छोड़ चुका था। वह सिर्फ़ एक निगरानी एजेन्सी बना रहा, जिससे सैन्सोरेट एक ऐसा साधन बन गया जिसे सम्राट व उसके अभिकर्त्ता नौकरशाही और व्यापक रूप से समाज पर नियंत्रण करने में प्रयोग कर सकते थे।

अपने अधिकारी वर्ग के संबंध में सम्राट कितना शक्तिशाली था इस बात में प्रकट होता था कि उसकी उपस्थिति में किस प्रकार व्यवहार करना है। राजवंशों के पास से गुज़रने पर उनसे जिस व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी, वह उत्तरोत्तर और दासोचित होता गया। तांग (618-906 ईस्वी) के काल में पदाधिकारीगण सम्राट के साथ बैठ सकते थे; सुंग (960-1275 ईस्वी) के काल में उन्हें बैठे हुए सम्राट के समक्ष खड़ा होना पड़ता था; और मिंग (1368-1644 ईस्वी) व चिंग (1645-1911 ईस्वी) के काल में उनसे अपेक्षा की जाती थी कि साष्टांग दण्डवत करें और सम्राट के सामने घुटने टेकें।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) चीन में सम्राट व उसके पदाधिकारियों के बीच क्या संबंध था?

....

....

....

....

....

7.3 विद्वान्-पदाधिकारी

7.3.1 परिक्षाएँ तथा नौकरशाही का प्राधार

MAADHYAM IAS

शासन करने के ''स्वर्ग के आदेश'' के बावजूद चीनी सम्राट साम्राज्य पर शासन करने के लिए अपने कन्फ़्यूशसवादी विद्वान-पदाधिकारियों पर निर्भर रहता था। अधिकारी-वर्ग सम्राट से अपने सद्गुण का उदाहरण रख शासन करने और साम्राज्य चलाने का काम उन पर छोड़ देने का आग्रह करता था। इस काम में कठोर कर्मकाण्ड इस प्रकार निर्दिष्ट किए गए थे कि वे समष्टि रूप में समाज के लिए सद्भावपूर्ण व्यवस्था और पदानुक्रम का भाव उत्पन्न करें। विद्वान-पदाधिकारीगण इस कर्मकाण्ड में भी निपुण होते थे।

सम्राट और पदाधिकारियों के बीच संबंध चीनी साम्राज्यीय नौकरशाही के क्रम विकास में निर्णायक भूमिका निभाता था। यह एक धीमी प्रक्रिया थी। प्रथम सहस्राब्दि-मध्य ईस्वी तक, प्रथम सम्राट के समक्ष, चीन में शासकगण पहले से ही विद्वानों को नियुक्त करते रहे थे और उनकी मंत्रणा प्राप्त करते रहे थे, परन्तु यह संबंध विशिष्ट विद्वानों के बीच होता था।

हैन साम्राज्य (206 ईसापूर्व-220 ईस्वी) ने विद्वानों को एक पदानुक्रम में सुव्यवस्थित रूप दे दिया। तथापि उसके बाद, छठी शताब्दी के अंतिम वर्षों में सुई से शुरू हो कर पदाधिकारियों के इस निकाय में भर्ती, अंशतः विशिष्ट निर्धारित पाठ्यचर्या के आधार पर अभ्यार्थियों की जाँच करते थे– हालाँकि यह पाठ्य तालिका परिर्वतन संकेतों के अधीन होती थी। परीक्षाएँ, पद हेतु भर्ती के लिए एक सदा एक सामान्य माध्यम रहीं, जो तांग के अधीन 655 ईस्वीं से पूर्व दस से कम आदमीयों के वाषिक औसत से सुंग (960-1275 ईस्वीं) के अधीन 200-240 आदमी वार्षिक औसत तक फैली थीं। ज्यादातर आदमी अन्य माध्यमों से लोक-सेवा के निचले पदों में प्रवेश पाते थे, फिर भी इन परीक्षाओं में सफलता लोगों को सुशिक्षित व्यक्ति की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उच्च पद के उच्चीकृत आसार प्रदान करती थी।

वरिष्ठ अधिकारियों को अधिकार था कि निचले स्तर के पदों के लिए अपने पुत्रों और पौत्रों को नामांकित कर सकें; कुछ तो यह वरिष्ठ पदाधिकारी की निष्ठा सेवा हेतु एक पुरस्कार होता था, और कुछ यह माना जाता था कि अधिकारियों के बेटे खुद ही अच्छे अधिकारी बनेंगे। सीढ़ी के निचले, स्थानीय पायदानों में, लगभग सरकार में शरीक होने के कई अन्य रास्ते भी थे। तदोपरांत ये लोग परीक्षाओं में बैठ सकते थे और केन्द्र सरकार में अधिक व्यापक दायित्वों वाले ऊँचे पदों हेतु पदोन्नति पा सकते थे। सेना में उत्कृष्ट प्रदर्शन करने वाले व्यक्तियों को भी कभी-कभी असैनिक (लोक) सेवा में लाया जाता था।

7.3.2 विभाजित निष्ठाएँ : परिवार बनाम सम्राट

बार-बार साम्राज्यीय विस्तार हेतु चीन की क्षमता बारम्बार एक प्रबल नौकरशाही को उत्पन्न करने की क्षमता पर निर्भर रही। विद्वान-पदाधिकारीगण कन्फ़्यूशस की शिक्षाओं की शपथ लेते थे, और उनके विचार नैतिक व्यवहार के मूल्यों को उत्साह प्रदान करते थे, जिनमें माता-पिता के प्रति भक्ति एवं आज्ञापालन भी शामिल थे। ये मूल्य चीनी संसार में अस्तित्व के दो खम्बों को मज़बूत करने में मदद करते थे : परिवार और राजपद।

प्रथमतः ये मुल्य विस्तृत परिवार को मन में स्थान देते थे, और पूर्वजों के लिए अपना सम्मान, खासकर विद्वान-पदाधिकारियों के सामाजिक स्तर में। ये वृहद् परिवार, और अक्सर गोत्र, परीक्षाओं के लिए तैयारी कर रहे युवा उच्चकांक्षियों हेतु आवश्यक मदद जुटाते थे– जो उन्हें राजबाज के देशों की ओर ले जा सकते थे। इसके अतिरिक्त, यदि कोई राजकर्मचारी साम्राज्यीय अनुकंपा से वंचित हो जाता, तो उसे अपनी तंगहाली के दिनों में परिवारी जनों के सहयोग की अपेक्षा हो सकती थी। इसी कारण अपने लिए अपने संबंधियों के विगत, और भावी, महत्त्व के चलते, एक नौकरशह अपने पद का प्रयोग, प्रायः अनुचित रूप से, अपने संबंधियों तथा स्वयं की मदद करने के लिए करता।

दूसरे, राज्य इस धारणा को बढ़ावा देता था कि साम्राज्य एक परिवार है, सम्राट उसका मुखिया : इसीलिए वह आज्ञा पालन का हक रखता है– ठीक उसी तरह जैसे कि परिवार का मुखिया। इस मूल्य के स्वीकरण ने विद्वान-पदाधिकारियों की निष्ठा और आज्ञापालन को सुनिश्चित करने में मदद की। इससे एक सशक्त साम्राज्यीय राज्य का निर्णय संभव हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

माता-पिता के प्रति भक्ति एवं आज्ञाकारिता से संबद्ध मूल्यों ने आगे चलकर एक ओर वृहद् परिवारी समूह को मज़बूती प्रदान की और दूसरी ओर, एक अधिपत्य-सूचक साम्राज्यीय राज्य को इसकी निष्पत्ति हुई। चीनी राजनीतिक व प्रशासनिक व्यक्तियों ने स्वतंत्र संगठनों के लिए, ज्यादा जगह नहीं छोड़ी– जैसा कि असंतुष्टों अथवा उत्पीड़ितों की ओर से संगठित विरोध-प्रदर्शन हेतु अनावश्यक होता।

इस सामाजिक वातावरण में, यदि आप केन्द्रीकृत सरकार की व्यवस्था हटा देते, जो कि अपनी आज्ञाओं का निष्पादन अपने राजकर्मचारियों के माध्यम से साम्राज्य के लक्ष्यों के पाने में करवाती थी, ऐसी कोई संस्था नहीं थी जो समाज के व्यवस्थित कार्यपालन को सुनिश्चित कर सकती। (यूरोप में, रोम के पतन के बाद रोमन कैथलिक चर्च ने ऐसा किया; भारत में, जाति-व्यवस्था का अपना ही स्थिरकारी प्रभाव था।) महत्त्वकांक्षा-सम्पन्न लोग अपने भाई-बंधुओं एवं पुरुष-भृत्यों के साथ रहते, हर कोई अपना ही प्रभुत्व जमाने और बातों का फैसला लड़कर तय किए जाने को इच्छुक रहता। यह स्थिति चीनी इतिहास में अनेकों बार सामने आयी।

सामूहिक कार्यों में भाग लेने के लिए ढाँचा, स्पष्टतया, केवल सम्राट के इर्द-गिर्द ही तैयार किया जा सकता था। साम्राज्य भंग हो जाने की स्थिति में, फिर,उसकी शरण में आने हेतु

एक व्यापक पूर्वानुकूलता थी जो कोई भी एक साम्राज्यीय व्यवस्था के पुनर्नवीकरण हेतु वायदे को पूरा कर सकता– एक शक्तिशली सेना-अगुआ (जिसने सुँग की स्थापना की), उत्तर से एक विजेता (शासन की यूआन परम्परा)। वे कन्फ़्यूशस की कृतियों का अध्ययन करते रहे होंगे, इस उम्मीद में कि आखिरकार साम्राज्यीय पद मिल ही जायेगा। पूर्ववर्ती राज्य-व्यवस्था के हस्तांतरण की दोष भूतपूर्व सम्राटों की व्यक्तिगत कमज़ोरियों पर लगाया जायेगा (देखें भाग 7.4)। कन्फ़्यूशस और उनकी शिक्षा सेवार्पित थे, निर्विवाद रूप से, और ऐसा ही प्रशासन में उन लोंगों का साधिकार स्थान था, जिनको इन शिक्षाओं से सम्पन्न किया गया था।

यदि चीनी राज्य की प्रवृत्ति, बावती रूप से, निरंकुश रही तो निवारण (withdrawal) और निवार्तन (resistance) के पुनरावत्त के प्रतिमान भी वहाँ रहे। इसके दो प्रमुख केन्द्र रहे। एक था जन-विद्रोह। कन्फ़्यूशसवाद शासन की विचारधारा बन चुकी थी– और वो भी उनकी जिनको अत्याचारियों के रूप में देखा जाता था। वे जिन्होने अपने उत्पीड़न के खिलाफ बगावत की, उन्होंने चीन की अन्य प्रमुख परम्पराओं में प्रतीक और विचार ढूँढ लिए : ताओवाद (Taoism) और बौद्धधर्म।

निवारण का दूसरा केन्द्र स्वयं राजकर्मचारियों के बीच हो सकता था। अनेक विद्वान-पदाधिकारियों ने अपने व्यवसाय को उच्च-बौद्धिक के रूप में देखा और उनके अनुसार एक पदाधिकारी का जीवन कभी-कभी बहुत नैराश्य पूर्ण हो सकता है। इस विचारणीय अनिश्चितता के माहौल में पदाधिकारीगण ऐसे समूह बनाने लगे जिनके सदस्य एक दूसरे की मदद करते। प्रतिद्वंद्वी समूहों की ओर से शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयाँ, आगे चलकर, कुण्ठा का एक दूसरा स्रोत बन गईं। कुछ कुण्ठित व्यक्ति पदाधिकारियों के रूप में रोज़गार से कदम मोड़ लेते थे, और स्वयं को प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने, काव्य लेखन, चित्रकला, इत्यादि के प्रति समर्पित कर देते थे यह अच्छी तरह से जानते हुए कि उन्हें मौत का भी सामना करना पड़ सकता है। न्यायोचित व्यवहार की प्रक्रिया में ऐसा आत्म-बलिदान भी कन्फ़्यूशसवादी परम्परा के अनुसार एक जीवन-बल स्रोत रहा है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कुछ विद्वान पदाधिकारीगण शक्तिसम्पन्नों को चुनौती ज़रूर दे सकते थे; उनमें से स्वयं सम्राट कभी कोई नहीं बना। उसके लिए ''स्वर्ग के आदेश'' की आवश्यकता होती, जोकि केवल युद्ध के मैदान में जीत के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता था। कन्फ़्यूशसवादियों की विचारधारा और सिखलाई ने उन्हें केवल उनकी सेवा करने के लिए तैयार किया, जो कोई भी साम्राज्यीय सत्ता हासिल कर लेता था– उत्तराधिकार के माध्यम से अथवा बलप्रयोग के माध्यम से। यही थे, साम्राज्यीय सत्ता संबंधी और कन्फ़्यूशसवादी पदानुक्रम संबंधी दो विशिष्ट सिद्धांत, जिन्होंने मिलकर चीनी साम्राज्यीय राज्य को परिभाषित किया।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) चीनी साम्राज्य अपने राजकर्मचारियों की भर्ती किस प्रकार करते थे?

....

....

....

....

2) माता-पिता के प्रति कर्त्तव्यपरायणता एवं आज्ञापालन संबंधी मूल्य चीनी साम्राज्यों की प्रगति को किस प्रकार प्रभावित करते थे?

....

....

....

....

....

....

3) चीनी साम्राज्यीय अधिकारी-वर्ग के प्रति संभावित विरोध के स्रोत क्या थे?

....

....

....

....

....

7.4 राजवंशीय चक्र

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चीन साम्राज्यीय राजनीतिक इतिहास राजवंशीय घटनाचक्रों में– पहचान्य चरणों के साथ, आगे बढ़ने की दिशा में प्रवृत्त रहा। चूँकि पढ़ा-लिखा वर्ग व अन्य लोग अपने हितों के पीछे तत्परता के साथ लगे रहे, ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हुईं कि जिन्होंने अगले चरण के निर्माण की अनुमति दे दी।

राजवंशीय संस्थापक, और कभी-कभी उसके आसन्न उत्तराधिकारीगण, प्रायः एक उल्लसित प्रेरणा के साथ काम करते थे, अपने आद्य के गति वेग को किंचित जारी रखते हुए। अपनी उत्प्रेरक शक्ति व सत्ता के साथ, एक चकितकारी पैमाने पर संसाधनों पर नियंत्रण रखते हुए, संस्थापक महत्त्वाकांक्षी योजनाओं को जारी रख सकता था : सैकड़ों किलोमीटर लंबी नाविक नहरें खुदवाना, या विशाल महल बनवाना ; दूरगामी विजय अभियान चलाना; किसी महान साम्राज्यीय पुस्तकालय अथवा प्रमुख साहित्यिक या ऐतिहासिक अध्ययनों व संकलनों संबंधी सभा को कार्याधिकार सौंपना। अल्पकालिक सुई वंश (589-617 ईस्वी) ने, सातवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, लगभग दो हजार किलोमीटर नहरें, चालीस डग चौड़ी, बलपूर्वक श्रम प्रयोग द्वारा बनाई, जिसमें महिला श्रमिकों ने भी काम किया।

इस पैमाने पर कार्य प्रबंधन करने के लिए और साम्राज्य चलाने के लिए नए सम्राट् को अपने नौकर तंत्र को गठित करने की आवश्यकता थी। दूसरी ओर, सुशिक्षित वर्ग को उम्मीद थी कि साम्राज्य चलाने के लिए उनकी सेवाएँ ली जाएंगी; और उनकी विचारधारा ने उन्हें समझाया कि साम्राट् की सेवा ही करनी चाहिए। यहाँ तक कि यह बाध्यता एक विदेशी, उत्तरी सम्राट् पर भी लागू हुई : वह व्यक्ति जो अपनी कर्मशक्तियों के बल पर शासन करेगा गुप्त रूप से भीतर ही भीतर नष्ट हो जायेगा क्योंकि उसे कागज़ी कार्यवाही के ऊँचे-ऊँचे ढेर पढ़ने पड़ेंगे, और अपने फैसले देने पड़ेगे; साथ ही अक्सर उसको अपने पदाधिकारियों के बीच कभी न समाप्त होने वाले फूटकारी झगड़े से जूझना पड़ेगा।

उक्त राजवंश के एक और आगे के दौर में, इस प्रकार की दिनचर्या से उकता कर, तत्कालीन शासनकारी सम्राट् दिल बहलावों से भी लाभ उठा सकता था— राजभवन में अनेक संगीत समारोह, काव्य या चित्रकारी, शाओवादी कर्मकाण्ड, एक उदाहरण में बढ़ईगीरी। साम्राज्य चलाने का काम वह अपने विश्वस्त पदाधिकारियों पर छोड़ दिया करता था। कभी-कभी वह अपने महल में कुछ उपकृत नपुँसकों पर भी भरोसा करता था, जिनमें वह कहीं अधिक विश्वास रखता था। ये कार्यकर्त्ता, बदले में, अपने निजी, गोपनीय कार्यों के प्रति स्वयं को समर्पित कर देते थे। परिवारिक दायित्वों संबंधी उनकी समझ उन्हें हर उपलब्ध साधन द्वारा अपने परिवारों के हितों को बढ़ावा देने के लिए अपने पद, ऊँचा या नीचा का इस्तेमाल करने को उकसाती थी। उच्च पदाधिकारीगण बड़ी-बड़ी भूसम्पत्तियाँ अर्जित कर सकते थे— यहाँ तक कि नपुंसक जन भी परिवार रखते थे : ऐसे परिवार जिनमें उनका जन्म हुआ हो; बल्कि कभी-कभी वे राजमहल में ''अनेक'' महिला भृत्यों में होते, और ''दंपत्ति'' बच्चों को गोद ले लेता ताकि कुछ-कुछ संपूर्ण परिवार जैसा बन सके— अपने सभी हितों के साथ; और नपुसंकों के लिए ऐसी कोई विचारधारा तक नहीं थी जो उनके दुष्कर्मों से उन्हें रोके।

ये पदाधिकारीगण आम तौर पर साधारण किसानों की ज़मीनों पर कब्जा कर अपनी सम्पत्तियाँ बनाते थे— जो शक्तिशाली पदाधिकारियों का विरोध नहीं कर सकते थे। चूँकि भूमिहीन निराश्रयों की कतारें बढ़ती जाती थीं, कोई बाढ़ अथवा अनावृष्टि किसी बड़े राजद्रोह को उकसाने के लिए आग में घी का काम कर देती थी। एक महान साम्राज्य का यथार्थ आकार दिक्कतें पेश करता था। आवश्यक सूचना एकत्र करना, उसके महत्त्व का मूल्यांकन करना, और उचित उपाय निकालना इस प्रकार के विशाल आकार एवं जटिलता वाले किसी समाज में धीमी प्रक्रियाएँ थीं।

इसी बीच साम्राज्य शायद अव्यवस्था के गर्त में जा रहा था— किसी नए साम्राज्य-निर्माता के लिए रंगमंच तैयार करता हुआ। चीन राजवंशी घटनाचक्र के एक दूसरे दौर में कदम रखने को था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बाक्स 3

इतिहास लेखन

चीनी साम्राज्यीय राजसभा में होने वाली घटनाएं और सम्राट व उसके राजदरबारियों के लिए आवश्यक गतिविधियों को दो हजार साल से भी अधिक तक, हर रोज, ध्यानपूर्वक देखा और अभिलिखित किया गया। इन अभिलेखों पर आधारित एक राजवंशीय इतिहास को उत्तरवर्ती राजवंश द्वारा प्रायोजित दिया गया – इस आशा के साथ कि इससे पहले के अकल्पित खतरों को टालते हुए अपनी प्रगति का लेखा चित्र तैयार करने में मदद मिलेगी, साथ से पूर्वजों के अपकर्में को देखते हुए अपने अधिकारग्रहण को सही ठहराने में थी। नए राजवंश द्वारा प्रयोजित कार्य में प्रतित राजवंश के खिलाफ पैदा किया जाने वाला स्वाभाविक जोखिम भी होता था। तिस पर भी सुशिक्षित वर्ग ने अपने अतीत के इतिहास को गंभीरता से लिया, और उनके आदर्शों ने उनके लिए उनके कार्य की गुणवत्ता के बहुत ऊँचे मानक तय किए। उनके अनुसार, इतिहास का लेखन और उसकी व्याख्या एक प्रमुख माध्यम है जिसके द्वारा सम्राट स्वयं प्रभावित होगा।

उनकी अकांक्षा पर ध्यान न देते हुए, फिर भी, इतिहास लेखन अतीत को समझने हेतु एक प्रयास के रूप में, सटीक रूप से, एक असम्बद्ध रूप में, अपने स्वयं के औचित्य प्रतिपादन के रूप में नहीं देखा गया। यह आमतौर पर विद्वान-पदाधिकारियों के लिए एक अतिरिक्त कार्य था। जिनके पास साम्राज्य के मामलों का कार्यभार भी था। उस

विशाल उधम के लिए इतिहास लेखन अभिन्न हिस्सा था, न कि कोई स्वायत्त, विशुद्ध शैक्षिक गतिविधि। विद्वानों ने इतिहास लेखन को नैतिक एवं राजनैतिक कार्यवाही का मार्गदर्शन करने वाले एक साधन के रूप में देखा।

उपलब्ध स्रोतः अभी तक अस्तित्व में हालांकि बहुत सारे हैं, खासकर प्रारंभिक अवधियों ये राजसभा में और उसके इर्दगिर्द घटनाओं पर केन्द्रित लगते हैं। ये बड़ी संख्या में प्राचीन दस्तावेजों की खोज कर 20वीं शताब्दी के दौरान समृद्ध हुए। इसमें मूलपाठ व अन्य सामग्री शामिल हैं जो कब्रों में दफ़न के साथ जमा किए गए थे और वहां सदियों तक अस्तित्व में रहे। उनके अपने मुहल्लों के बारे में काफी कुछ लिखा था, जिसमें स्थानीय इतिहास पर सामग्री शामिल थी, और इन ''स्थानीय भूगोल संबंधी कोषों'' में से हज़ारों आज इतिहाकारों द्वारा अध्ययन के लिए उपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त अपने समाज के जटिल वर्धमान अनुभवों के उत्तरस्वरूप चीनी विद्वानों व विचारकों ने एक वैचारिक आन्दोलन चलाया जोकि न सिर्फ 5वीं शताब्दी ईसापूर्व कन्फ्यूशस की पीढ़ी में ही नहीं बल्कि आने वाली शताब्दियों में भी बार बार देखा गया। देशी स्रोतों के पूरक हैं। 16वीं शताब्दी से पूर्व विदेशियों जापानियों, अरब वासियों व पारसियों और उसके बाद चीनियों के अन्तर्राष्ट्रीय छात्र समुदाय को कृतियां। यह सब मिलकर अतुल्य समृद्धि एवं जटिलता वाले एक ऐतिहासिक अभिलेख का निर्माण करते हैं।

इतिहास लेखन की चीनी परंपरा में (देखें बॉक्स-3), जब विद्वान-पदाधिकारियों ने पूर्व राजवंश का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, उन्होंने निरपवाद रूप से साम्राज्य के पतन के लिए ''पिछले बुरे साम्राट्'' और उनकी ग़लतियों की निन्दा की। चूँकि वे स्वयं विद्वान पदाधिकारी थे, वे सामान्य तौर पर अपने पूर्वजों की ग़लतियों, और बढ़ा-चढ़ा कर बताने की प्रवृत्ति को अनदेखा करने को प्रवृत्त रहते थे और ऐसे रूपायित हुआ हाल का साम्राज्य।

MAADHYAM IAS

विद्वान-पदाधिकारियों की यह मंशा शायद ही रहती हो कि कोई साम्राज्य इतना कमज़ोर हो जाए कि वह अपने आपको अधिक समय तक कायम न रख सके, क्यों कि ऐसे तो उनके पद उनसे छिन जायेंगे। फिर भी उनके कर्म सटीक रूप से यही परिणाम लाए; परन्तु यह उनके अपने तथा अपने परिवारों व गोत्रों के हितों के पीछे तत्परता से लगे रहने का एक अनाभिप्राय परिणाम था। इनको बढ़ावा देने में साम्राज्य को मटिया-मेट कर दिया गया, जो कि एक बड़े पैमाने की दृश्यघटना थी; छोटे पैमाने के वैयक्तिक कृत्यों से उसका संबंध जोड़कर देख पाना आसान नहीं था।

इस घटनाचक्र के उत्तरवर्ती दौरों में समान रूप से भागीदार जो बात थी, वो थी एक साम्राज्य प्रतिमान। एक इतना विशाल और जटिल समाज, असल में जब वह समाज इतना गतिशील हो, पूर्व घटनाओं को फिर से नहीं दोहरा सकता। वहाँ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए; परन्तु इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं से परे, जैसे कि हैन सभ्यता के एक आम विस्तार का प्रभाव, जनसंख्या वृद्धि, और एक ऐतिहासिक अभिलेख संबंधी एवं साहित्य संबंधी बढ़ता भंडार, उन सारी की सारी प्रवृत्तियों को अभिलक्षित करना मुश्किल होता जो कि ''प्रगति'' की एक स्पष्ट दिशा को साकार करती थीं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) चीन के साम्राज्यीय इतिहास में राजवंशीय घटना चक्र की रूपरेखा प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

2) किसी चीनी साम्राज्य में इतिहास लिखे जाने का क्या महत्त्व था?

....

....

....

....

....

7.5 कन्फ़्यूशसवादी साम्राज्यीय विचारधारा का अंत

लगभग दो हज़ार वर्षों तक कन्फ़्यूशसवाद ही चीन में सरकार की विचारधारा रहा। कन्फ़्यूशसवाद की राजनीतिक, नैतिक, एवं बौद्धिक सर्वोच्चता को नौवीं शताब्दी-मध्य तक कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली। उस समय तक यूरोपीय व अन्य विदेशी व्यापारिक, सुसमाचारी, व अन्य हित चीन में गहरे पैठ चुके थे। आने वाले दशकों में चीन के शासक और विद्वजन जागरुक होने लगे, उत्तरोत्तर अधिक प्रखर रूप से, कि कन्फ़्यूशसवादी परम्परा के पास पश्चिमी चुनौती, जिसमें न सिर्फ़ व्यापार शामिल था, यथा एक व्यापक कार्यक्षेत्र वाली चुनौती, जिसमें न सिर्फ़ व्यापार शामिल था, बल्कि बल-प्रयोग के साथ-साथ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी समेत विश्वसनीय ज्ञान तक पहुँच भी शामिल थी। अतः वे अपनी ही परम्परा के मोह में विभक्त होने लगे, क्योंकि उन लोगों की चीनी विद्वानों की स्थिति कुछ-कुछ ऐसी थी जैसे कि पंडितों, उलेमाओं की, और दूसरे प्रकार के पारम्परिक ज्ञान की आवश्यकता थी, साथ ही जो आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के लिए पर्याप्त हो; यद्यपि पश्चात्य ज्ञान की आवश्यकता तकनीकी विषयों में पड़ सकती थी।

अन्तिम झटका बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लगा। कन्फ़्यूशसवादी ज्ञान के प्रति व्यापक निष्ठा हेतु एक विशेष तर्क हमेशा रहा : साम्राज्यीय परीक्षाओं हेतु पाठ्यक्रम– जो कि सरकारी रोज़गार सुनिश्चित करने के लिए निर्णयकारी होती थीं। तदोपरांत, 1905 में, सरकार ने यह संबंध तोड़ दिया; अतः साम्राज्यीय परीक्षाएँ अब उम्मीदवारों के ज्ञान को कन्फ़्यूशसवादी परम्परा पर नहीं परखतीं। इसके मुख्य विषयों में महारथ हासिल करने हेतु मुख्य प्रेरणा समाप्त हो गयी, और ऐसा ही कन्फ़्यूशसवादी विचारधारा में जन हित के साथ हुआ, जो कि सरकार व समाज को संगठित करने हेतु एक मात्र संभव आधार था, यद्यपि वह चीन के इतिहास एवं परम्परा के हिस्से के रूप में सम्मान पाता रहा। आदर्शों के रूप में अपने परिवार एवं अपने पूर्वजों के प्रति समर्पण कायम रहा। एक वैकल्पिक विचारधारा हेतु चीनी खोज ने उन्हें कन्फ़्यूशसवाद तथा 1949 में महाक्रांति की ओर प्रवृत्त किया; साथ ही उसके नेतागण कन्फ़्यूशस व उनके विचारों को मन से दूर करना चाहते थे। तथापि, कुछ प्रेक्षकों का विश्वास है कि चीनी साम्राज्यीय परम्परा साम्यवादी चीन की सत्तावादी शैली में और समूहिक लोगों हेतु वैयक्तिक उद्देश्यों को वश में रखने हेतु उसकी क्षमता में प्रकट होगी।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) आधुनिक विश्व में कन्फ़्यूशसवादी विचारधारा का क्या हश्र हुआ?

....

....

....

....

....

7.6 सारांश

हमने चीनी इतिहास में साम्राज्यीय राजवंशों के उत्थान और पतन के प्रतिमान का दो आयामों के साथ-साथ अध्ययन किया :

1) उस प्रतिमान में मुख्य तत्त्व :

- सम्राट;
- उनके पदाधिकारों का निकाय;
- पदाधिकारियों की विचारधारा; और
- एक राजवंश को चुनौती देने वाले संभावित लोग, जो कि या तो उत्तरी घास के मैदानों से आ सकते थे, अथवा चीनी समाज में से; तथा

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) उस प्रतिमान में विभिन्न चरण :

- एक नए राजवंश की स्थापना;
- पदाधिकारियों के निकाय को बढ़ाना, साथ ही राज्यक्षेत्रीय विस्तार ताकि राजकर्मचारियों को वेतनमान आदि के भुगतान करने के लिए राजस्व सुनिश्चित हो;
- साम्राज्य की देखभाल, जो कि पदाधिकारियों व अन्य कार्यकर्त्ताओं द्वारा चलाया जाता था, प्रायः सम्राट के लिए एक औपचारिक भूमिका मात्र के साथ; और
- साम्राज्य के लिए परेशानियों का काल, जब अव्यवस्थाएं फैल जाया करतीं थीं, और फिर उसका अन्त, जिससे एक नए राजवंश की स्थापना हेतु उठने के लिए एक महत्त्वकांक्षी व्यक्ति का रास्ता बना।

हमने देखा कि दो हज़ार साल से, कन्फ़्यूशस से जुड़ी मातृ-पितृ भक्ति संबंधी धारणा ने, सम्राट और उसके पदाधिकारियों की भूमिकाओं व उनके बीच संबंध को परिभाषित करते हुए, एक नए राजवंश के पनपने में योगदान दिया। इसी विचार समूह ने राजवंशों के पतन में भी योगदान दिया, क्योंकि ये पदाधिकारीगण अपनी सत्ता का प्रयोग अपने परिवारों एवं गोत्रों की निजी समृद्धि को संचित करने में करते थे, जिससे राजद्रोह और अव्यवस्था को बल मिलता था। यह घटनाचक्र बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही समाप्त हो गया, जब चीन को एक अभूतपूर्व महत्त्व वाली चुनौती का सामना करना पड़ा– इस बार पश्चिमी देशों की ओर से। चीन के इतिहास ने फिर एक निर्णायक मोड़ लिया।

7.7 शब्दावली

ब्रह्माण्डीय व्यवस्था (Cosmic Order) : ब्रह्माण्ड में हर चीज़ की गहन अंतर्सम्बद्धता में विश्वास रखना, चाहे वो सितारे हों या ग्रह, वनस्पति जगत् हो या प्राणिजगत्, या फिर मानवीय कार्यकलाप।

राजवंशीय चक्र (Dynastic Cycle) : राजवंशों के बार-बार होने वाले उत्थान और पतन का एक प्रतिमान।

माता-पिता के प्रति भक्ति (Filial Piety) : यह विश्वास कि व्यक्ति अपने जीवित माता-पिता एवं मृत पूर्वजों के प्रति आज्ञापालन एवं सेवा का ऋणी है; इसमें सम्राट साम्राज्यीय परिवार का मुखिया कहा जाता था।

कर्मकाण्डवाद (Legalism) : प्राचीन चीन में एक राजनीतिक सिद्धांत जो अनभ्य कानूनों, सम्राट की इच्छा पूरी करना, एक मज़बूत और समृद्ध सम्राज्य का निर्माण, आदि के साथ एक कठोर एवं प्रभावशाली राज्य का समर्थन करता था।

स्वर्ग का आदेश (Mandate of Heaven) : चीनी इतिहास में एक लम्बा चला सिद्धांत। इसने इस आधार पर एक विजेता राजवंश द्वारा शासकों को सही ठहराया कि जीतने में उसकी सफलता यह दर्शाती है कि उसे शासन करने हेतु स्वर्ग का आदेश प्राप्त था।

विद्वान-पदाधिकारी (Scholar Officials) : चीन सरकार के राजकर्मचारीगण जो कन्फ़्यूशस की कुछ साहित्यिक रचनाओं से संबंधित उनके ज्ञान के आधार पर चुने जाते थे। यह ज्ञान अनेक, क्रम-विन्यास्त लोक सेवाओं में जाँचा जाता था।

घास के मैदान (Steppe) : समतल, घासभरे, पाले से अनढके साइबेरियाई मैदान– वर्तमान मंगोलिया– चीन की उत्तर दिशा, योद्धा घुड़सवारों की मातृ-भूमि।

अनाभिप्राय परिणाम (Unintended Consequences) : सामाजिक विद्वानों में यह धारणा कि मानवीय कार्यकलापों के अक्सर ऐसे परिणाम सामने आते हैं, जो कर्त्ता/कर्त्ती अभिकर्त्ता को अभीष्ट नहीं होते और उनका पूर्वाभास भी वह नहीं कर सकता।

मूल्य (Value) : जिसको जीवन में मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सभी प्रमुख सामान्य विश्वकोश, जैसे *एन्साइक्लॉपीडिआ ब्रिटैनिका द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ चाइना*, सभी प्रकाशित खण्ड।

ज़र्ने, ज़ैक, 1982. *ए हिस्ट्री ऑफ़ चाइनीज़ सिविलाइज़ेशन*, कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

ह्यूआंग, रे, 1990. *चाइना : ए मैक्रो हिस्ट्री*, अर्मोन्क, एन.वाई. : एम.ई. शार्पे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 7.1
2) देखें भाग 7.1 और बॉक्स 2.
3) देखें भाग 7.1 और बॉक्स 2.
4) बॉक्स 2, अंतिम पैरा, भाग 7.3 व 7.5 देखें

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 7.2 और 7.3

बोध प्रश्न 3

1) देखें उप-भाग 7.3.1
2) देखें उप-भाग 7.3.2
3) शासक 'ईश्वर का पुत्र' है, उसे स्वर्ग से शासन का आदेश प्राप्त है, आदि विषयक विचार। इसके बाद के चरण में, अनेक कामोबेश स्वतंत्र राज्य।

   एक सशक्त नौकरशाही, अपने पूर्वजों की बजाय सम्राट पर अधिक निर्भर। 1126 में उत्तरी राजधानी छोड़ने के लिए दबाव पड़ा, याङत्ज़े के तट पर हाङशो में साम्राज्यीय राजधानी पुर्नस्थापित की।

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 7.4
2) बॉक्स 3 और भाग 7.4 देखें

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 5

1) देखें भाग 7.5

इकाई 8 अरबी - इस्लामी राजनीतिक परम्पराएँ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 इस्लामी राजतंत्र का विकास
8.2.1 इस्लामी राजतंत्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
8.3 खिलाफ़त की संस्था
8.3.1 खलीफ़ा की योग्ताएँ
8.4 पुरुषों का प्राधिकार
8.4.1 खलीफ़ा के चुनाव के लिए क्रियाविधि
8.4.2 एक समय में एक खलीफ़ा
8.4.3 खलीफ़ा के प्रति निष्ठा
8.5 सारांश
8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको इस्लामी राजतंत्र की धारणा से परिचित कराया गया है। इससे गुज़रने के बाद आप निम्नलिखित को समझाने की स्थिति में हो जाएँगे :

- इस्लामी राजतंत्र का स्वरूप;
- इस्लामी राजतंत्र का विकास;
- इसकी विफलता के कारण; और
- मुलुकियत का उत्थान।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम निम्न प्रश्नों पर विचार करेंगे :

1) इस्लामी राजतंत्र किस प्रकार अस्तित्व में आया?
2) वे क्या परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण इसे स्वीकृति और लोकप्रियता प्राप्त हुई?

8.2 इस्लामी राजतंत्र का विकास

राज्य के लिए राजतंत्र का नियोजन आवश्यक है। 622 ईसवी में मदीना में इस्लामी राज्य के गठन के बाद इसका मूल्यांकन आरंभ किया गया था। यह कुरान के इस उदाहरण पर आधारित है– ''खुदा का हुक्म माने, पैगम्बर और आपके अन्दर मौज़ूद उसकी सत्ता का हुक्म माने''।

8.2.1 इस्लामी राजतंत्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उदाहरण के तौर पर, आप इस तथ्य से अवगत होंगे कि इस्लामी राजतंत्र से पहले अरब में जनजातीय राजतंत्र था। इस्लामी राजतंत्र से पूर्व व्यवस्था में विभिन्न वंश के मुखियाओं द्वारा निर्वाचित शेख अथवा सैयद उनका अध्यक्ष होता था। 622 ईसवी में मदीना में इस्लामी राज्य के गठन के बाद, इस्लामी राजतंत्र लागू हुआ। इस्लामी राजतंत्र में, राज्य और धर्म इतनी निकटता से जुड़े हुए हैं कि इन क्षेत्रों को पृथक करना बहुत मुश्किल है। तथापि, धर्म का हमेशा वर्चस्व बना रहा। इस्लाम में, यह दोनों शक्तियाँ पैगबर मोहम्मद को दी गयीं थीं। उन्हें राज्य का प्रमुख तथा धर्म का नेता घोषित किया गया था। इस्लाम के अनुसार, इसके नियम और विनियम शासक और शासित द्वारा अनुपालन करने पड़ते थे। शासक को कोई विशेष अधिकार नहीं थे।

8.3 खिलाफ़त की संस्था

632 ईसवी में पैगबर मोहम्मद की मृत्यु के बाद, खिताफ़त सत्ता में आया। खिलाफ़त का शाब्दिक अर्थ है, किसी पूर्व अधिकारी व्यष्टि अथवा ग्रुप (कौम) का उत्तराधिकार अथवा उस प्रयोजनार्थ विभिन्न पैगम्बरों के लिए कुरान में सामान्य अर्थ में यथा प्रयुक्त पूर्ववर्ती शासक का उत्तराधिकार। तकनीकी रूप से खिलाफ़त ने कुरान और सुन्नाह, जिसने पैगम्बर मुहम्मद की मौत के बाद जनता (उम्माह) के कार्यों की देखभाल करने और शरियत का शासन स्थापित करने के उद्देश्य से धर्म का प्रवर्तन किया, के आधार पर शासन की इस्लामी संस्था के गूणार्थ को ग्रहण किया। सूरा (परिषद) और इजमा (सहमति) के दो सिद्धांतों के आधार पर, मुस्लिमों ने 632 ईसवी में पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के बाद अबू बकर को पहले खलीफा के रूप में चुना।

634 ईसवी में अबू बकर की मृत्यु के बाद, उमर को खलीफा के रूप में निर्वाचित किया गया। 645 ईसवी में उमर के देहान्त के बाद उस्मान को निर्वाचित किया गया और तत्पश्चात् 654 ईसवी में उस्मान की मृत्यु होने पर अली को खलीफा के रूप में चुना गया और वह 661 ईसवी में अपनी हत्या होने तक खलीफा बने रहे। अली के देहान्त के बाद खिलाफत संस्था का अंत हो गया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) सही (हाँ) अथवा गलत के लिए (नहीं) अंकित करें।

   i) पूर्व इस्लामी राजतंत्र स्वरूप में लोकतांत्रिक था।

   ii) इस्लामी में धर्म और राजतंत्र एक अथवा वही हैं।

   iii) अबू बकर खुदा का खलीफा था।

   iv) खिलाफत 630 ईसवी से आरम्भ हुआ।

2) इस्लामी राजतंत्र के स्वरूप पर लगभग पाँच वाक्य लिखें।

....

....

....

....

....

....

....

8.3.1 खलीफ़ा की योग्ताएँ

योग्ताओं के मुद्दें पर, इसना आशारिस के अलावा लगभग सभी मुस्लिम विचारक एकमत हैं ; अन्तर मात्र विभिन्न राजनीतिक विचारकों द्वारा निर्धारित शर्तों की संख्या में हो सकता है। उदाहरणार्थ, मवार्डी ने सात शर्तें अवधारित की हैं, जबकि ईब्न खालादून उन्हें घटाकर पाँच रखते हैं। ग़ज्जाली कुछ आशोधनों के साथ उन्हीं योग्ताओं को प्रस्तुत करते हैं। उनमें अधिकांश ने इस्लामी शरिया का ज्ञान, शरीर और दिमाग की स्वस्थता, एक न्यायप्रिय चरित्र और कुरैशियन वंशानुगता (descent) को निर्धारित किया है! खलीफा की योग्ताएँ निम्नवत् हैं :

1) खलीफा मुस्लिम होना चाहिए।
2) उसे सौम्य तथा प्रौढ़ होना चाहिए।
3) उसे पुरुष होना चाहिए, क्योंकि एकमात्र पुरुष ही राजकाज की भारी जिम्मेदारियों को वहन कर सकता है।
4) वह एक स्वतंत्र पुरुष होना चाहिए न कि एक दास जो अपने कर्तव्यों का स्वतंत्रता से निर्वाह नहीं कर सकता है।
5) वह शारीरिक और मानसिक दोषों से मुक्त होना चाहिए।
6) वह इस्लाम के निर्धारित दंडों को लागू करने तथा इस्लामी राज्य की रक्षा करने और राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने में सक्षम और बहादुर होना चाहिए।
7) खलीफा के लिए न्याय एक महान पूर्वापेक्षा है।
8) उसके लिए इस्लाम का ज्ञान और उसके व्यावहारिक निहितार्थ भी आवश्यक हैं, क्योंकि इस जानकारी के बिना वह इस्लामी संकल्पनाओं और प्रथाओं के अनुसार राज्य को नहीं चला सकता है। खलीफा के कार्यालय में ग़ैर-कुरैशी का चुनाव इसे निष्प्रभावी कर देता था। इसी प्रकार, शाहरस्तानी ने भी निर्णय दिया है कि इमाम कुरैशी की जाति से जुड़ा होना चाहिए। इब्न खालादून की इस मुद्दे को लेकर चर्चा और दलीलें सम्पूर्ण परिदृश्य को इसके उचित परिप्रेक्ष्य में पेश करती हैं। इमाम हनवल के अनुसार बताया गया है, ''जब अमीर (नेता) के चुनाव का प्रश्न उठता है और हमें एक अनुभवहीन पवित्र पुरुष अथवा कम पवित्र परन्तु राजकाज में अधिक अनुभवी पुरुष के बीच चुनाव करना पड़े तो कम पवित्र और अधिक अनुभवी पुरुष को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।'' इमाम हनबल ने पैगम्बर के एक हदीस (कुरान का कथन) के द्वारा इस मत का समर्थन किया है। पैगम्बर मुहम्मद के उन साथियों को कोई प्रशासनिक स्थिति प्रदान नहीं की गई, जो अपनी पवित्रता के लिए उल्लेखनीय थे, परन्तु उन्हें प्रशासन का कोई अनुभव नहीं था। अबूज़ार ने जो पैगम्बर से कहा, के बारे में मुस्लिम कहता है, ''ठीक है आप मुझे एक सार्वजनिक कार्यालय में नियुक्त नहीं करेंगे?''. पैगम्बर ने कहा, ''अबूज़ार, तुम कमज़ोर हो और प्राधिकार एक न्यास (trust) है.'' अबूज़ार वास्तव में बहुत ही पवित्र और खुदा से डरने वाला पैगम्बर को साथी था। यह चर्चा करने योग्य है कि खरीजित खलीफा के कार्यालय को सभी मुस्लिमों के लिए खोलते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.4 पुरुषों का प्राधिकार

यहाँ एक अन्य कुरानी उद्धरण का हवाला देना अधिक उचित होगा जो शासन में पुरुष के प्राधिकार के संबंध में बहुत महत्त्वपूर्ण है। पैगम्बर के एक हदीस में घोषणा भी की गई है कि इस्लामी राज्य में जिम्मेदारियों के पद महिलाओं को नहीं सौंपे जाने चाहिए।

8.4.1 खलीफ़ा के चुनाव के लिए क्रियाविधि

कुरान और सुन्नाह में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ खलीफा के निर्वाचन का एक विशिष्ट तरीका उन लोगों से जुड़ा हुआ है जिनके कार्य स्वयं उन्हीं के बीच परिषद् द्वारा तय किए जाते हैं। यह परामर्श होता है न कि नेता चुनने के लिए एक निश्चित और निर्णायक क्रियाविधि। अधिकांश मुस्लिम राजनीतिक विचारक खलीफा का चुनाव बयात (निष्ठा की शपथ) द्वारा करने पर बल देते हैं। उनमें जो खलीफाई का पात्र हैं, उन्हें निम्न के द्वारा खलीफाई के लिए चुना जाए :

1) पैगम्बर के पदनाम द्वारा;
2) शासक प्राधिकारी के पदनाम द्वारा; और
3) वास्तविक सत्ताधारक के पदनाम द्वारा।

8.4.2 एक समय में एक खलीफ़ा

इस्लामी नीति में खलीफा मात्र एक खलीफा हो सकता है। इस मुद्दे को लेकर पैगम्बर की स्पष्ट परम्पराएँ हैं। पैगम्बर की मृत्यु के बाद 632 ईसवी में बानी सैदाह के सकूफ़ा में आयोजित बैठक भी इस मुद्दे पर सहायता करती है। उस बैठक में अन्सरों (सहायकों) द्वारा यह माँग उठाई गई थी कि खलीफा के रूप में एक अमीर अन्सरों से तथा दूसरा अमीर मुहाजिरों (प्रवासियों) से चुना जाए, परन्तु वहाँ विद्यमान मुस्लिमों द्वारा इस माँग का अनुमोदन नहीं किया गया।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

8.4.3 खलीफा के प्रति निष्ठा

इस्लामी कथाओं और प्रथाओं में खलीफा और उसकी सरकार के प्रति निष्ठा को इस्लामी राज्य के सभी नागरिकों का धार्मिक कर्तव्य बताया गया है। परन्तु यह निष्ठा सीमित और सशर्त है, क्योंकि यह केवल अच्छाई में अनिवार्य है, जिसे शरियत के आदेश की पूर्ण संस्वीकृति के रूप में माना गया है। जब तक खलीफा और इमाम सामान्यतः इस्लाम के मूल्यों का समर्थन करता है और अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को नहीं छोड़ता है, उसकी आज्ञा का पालन किया जाना चाहिए। सुराह अलनिसा, कुरान का छंद 59, अपने अनुयायियों को प्राधिकारी की आज्ञा मानने के लिए निम्न शब्दों में आदेश देता है, ''जो हम पर विश्वास करता है, अल्लाह का हुक्म पालन करे और पैगम्बर और आपके अन्दर उसकी सत्ता का हुक्म माने। यदि आपके अपने अन्दर विद्यमान किसी वस्तु के बारे में मतभेद है, तो उसे अल्लाह अथवा उसके पैगम्बर से कहो....'' सत्ताधीन आदमी में निष्ठा अल्लाह और उसके पैगम्बर में निष्ठा की मातहत है। जब तक शासक अल्लाह और उसके पैगम्बर का आदेश मानते हैं, तब तक उनका हुक्म पूरा करना मुस्लिमों का कर्तव्य है, परन्तु जब वे अल्लाह और पैगम्बर की अवज्ञा करते हैं, तब मुस्लिम उनकी आज्ञा पालन के लिए बाध्य नहीं रह जाते। कुरानी दृष्टिकोणों को पैगम्बर के उन कई कथनों से बल मिलता है जिनमें मुस्लिमों को उस शासक के आदेश का पालन नहीं करना चाहिए जो अल्लाह और उसके पैगम्बर के आदेश के विरुद्ध है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) खिलाफत से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

....

2) खलीफा होने के लिए कुछ योग्ताओं का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

3) खलीफा के प्रति निष्ठा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

....

....

....

....

....

....

....

8.5 सारांश

इस इकाई में आपने मौलिक इस्लामी राजनीतिक परम्पराओं के बारे में पढ़ा है। इस्लामिक नीति के विकास के बारे में आपको समझा दिया गया है। खिलाफत की संस्था जो पैगम्बर मुहम्मद के बाद अस्तित्व में आयी, पर इस इकाई में विस्तार से चर्चा की गई है। आपने खलीफा बनने के लिए योग्ताओं, उसके चुनाव और उसके प्रति निष्ठा के बारे में पढ़ा है। आशा की जाती है कि अब आपको अरबी-इस्लामी राजनीतिक परम्पराओं की मूलभूत बातों की कुछ समझ हो गयी होगी।

8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऑर्नल्ड, सर थॉमस डब्ल्यू., *द कैलीफेट*, लंदन, 1884

बक्शी, खुदा एस., *पॉलिटिक्स इन इस्लाम*, कोलकाता, 1920

8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) नहीं ii) हाँ iii) हाँ iv) नहीं

2) देखें भाग 8.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 8.3

2) देखें उप-भाग 8.3.1

3) देखें उप-भाग 8.4.3

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 9 यूनानी और रोमन परम्पराएँ

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 यूनानी नगर राज्यों का विकास और प्रकृति

9.3 राज्य की यूनानी अवधारणा

9.3.1 राज्य की प्रकृति संबंधित दो विचार धाराएँ

9.3.2 सुखमय ज़िंदगी के लिए राज्य की आवश्यकता

9.4 नागरिकता की यूनानी अवधारणा

9.4.1 नागरिकता संबंधी अरस्तु के विचार

9.5 संविधान की यूनानी अवधारणा

9.5.1 संविधान के अनेक प्रकार

9.5.2 एथेंस का प्रजातंत्र

9.6 क्रांति के कारण

9.7 यूनानी राजनीतिक परम्परा की उपलब्धियाँ और विफलताएँ

9.8 प्राचीन यूनान से प्राचीन रोम तक संक्रमण

9.9 ऐतिहासिक भूमिका

9.9.1 राजतंत्र की स्थापना

9.10 रोम का गणतंत्र

9.10.1 कुलीन (Patricians) और निम्न वर्ग (Plebeians)

9.10.2 जन प्रतिनिधियों का शासन

9.11 रोमन राजनीतिक संस्थाएँ

9.11.1 लोकप्रिय सभा

9.11.2 सीनेट

9.12 कानून संबंधी रोम की अवधारणा

9.12.1 कानून के स्रोत

9.13 सिसरो की देन

9.13.1 मानव स्वभाव और राज्य संबंधी सिसरो के विचार

9.14 चर्च और राज्य

9.14.1 चर्च के विचार

9.14.2 मानव और ईश्वर संबंधी संत ऑग्स्टीन के विचार

9.15 रोम की राजनीतिक परंपराओं की उपलब्धियाँ

9.16 सारांश

9.17 शब्दावली

9.18 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.19 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको प्राचीन यूनानी और रोम की सभ्यताओं द्वारा विकसित राजनीतिक परम्पराओं से भली भाँति परिचित करवाया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्राचीन यूनानी और रोम की राजनीतिक परम्पराओं की आवश्यक विशेषताओं को समझ पायेंगे;
- प्राचीन यूनानी और रोम राज्य के सिद्धांतों, संविधान और नागरिकता की व्याख्या कर पायेंगे;
- उनकी उपलब्धियों और विफलताओं का मूल्यांकन कर पायेंगे; और
- समकालीन राजनीतिक विज्ञान के संदर्भ उनकी प्रासंगिकता का आंकलन कर पायेंगे।

9.1 परिचय

इस इकाई में हम प्राचीन यूनानी और रोम राजनीतिक परंपराओं पर चर्चा करेंगे। इन परंपराओं ने पश्चिमी राजनीतिक विचारधाराओं के लिए आधार स्तंभ का काम किया तथा राज्य और नागरिकता से संबंधित अनेक प्रभावशाली विचारों का प्रतिपादन किया।

यूनानी राजनीतिक परंपरा की शुरुआत वीरता काल की समाप्ति और यूनानी नगर-राज्यों की स्थापना के बाद हुई। इसने महान राजनीतिक दार्शनिकों सुकरात, प्लैटो और अरस्तु सरीखी विभूतियों को जन्म दिया और सरकार के विभिन्न रूपों के साथ प्रयोग किया। यूनानी राजनीतिक अनुभव ने छोटे नगर-राज्यों या पोलिस (Polis) का विकास किया। ये नगर-राज्य देखने में छोटे थे, परन्तु वे राजनीतिक दृष्टि से नागरिकों की जागरुक और सक्रिय संस्था थे। यूनानी राजनीतिक परंपराओं का अंत ई.पू. चौथी शताब्दी में मैसडैनियन के आक्रमणों के परिणामस्वरूप हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जैसा कि हम इस इकाई में पायेंगे कि यूनानी राज्य और राजनीति की विचारधारा यूनानी नगर-राज्यों के अनुभवों से ही ओत-प्रोत थी।

9.2 यूनानी नगर राज्यों का विकास और प्रकृति

यूनानी नगर-राज्य विचित्र यूनानी राजनीतिक और प्रादेशिक अवस्थाओं की देन था, क्योंकि ज़मीन कम थी और उनकी उर्वर शक्ति इतनी नहीं थी जिससे विशाल जनसंख्या का भरण-पोषण हो सके। यूनानी नगर-राज्य बड़ी संख्या में जनजातियों और कबीलों के सम्मिलित होने से विकसित हुए थे। अरस्तू ने इसे 'कई गाँवों के संघ' की संज्ञा दी है। यह सिमटा और सीमित क्षेत्र, शहरी केन्द्र के चारों ओर फैला हुआ, पर्वतों, समुद्र और पड़ोसी नगर-राज्यों की प्रादेशिक सीमाओं से घिरा हुआ था। इसके नागरिक, विदेशी और गुलाम रहते थे। सिर्फ नागरिकों को ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। यूनानियों के लिए नगर-राज्य मात्र प्रदेश या मूर्त विचार नहीं था, बल्कि स्वतन्त्र व्यक्ति इसमें रहते थे।

नगर राज्य अनिवार्यत एक घिरा शहर था और राज्य परिवार, शहरी धर्म-संप्रदायों को मंदिरों, ऊँचे दर्जे के दण्डाधिकारियों के दफ़्तर और सभा-स्थलों को स्वयं में समहित करता था। यह अक्सर अपनी अपर्याप्त भूमि पर गुज़र बसर करता था। तुलनात्मक दृष्टि से एथेन्स का पूरा प्रदेश 1000 वर्ग मील और स्पार्टा के 3300 वर्ग मील की अपेक्षा यह एक

छोटा प्रादेशिक इकाई था। अन्य नगर-राज्य मुश्किल से प्रदेश के 400 वर्ग मील से अधिक क्षेत्र में फैले हुए थे। प्राचीन यूनान के एथेन्स और स्पार्टा दो प्रमुख नगर-राज्य थे और वे दो विभिन्न राजनीतिक प्रणाली के ढाँचे माने जाते थे। एथेन्स प्रजातंत्र और स्वतंत्रता और स्पार्टा त्याग और अनुशासन के लिए जाने जाते थे।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   i) प्राचीन यूनानी समाज में नागरिक........और गुलाम सम्मिलित थे।

   ii) नगर-राज्य का उदय विभिन्न.......और.......के सम्मिलित होने से हुआ।

   iii) एथेन्स प्रजातंत्र के लिए तथा स्पार्टा.......के लिए जाने जाते थे।

2) सही (हाँ) अथवा गलत के लिए (नहीं) अंकित करें।

   i) विदेशियों को यूनानी नगर-राज्यों में कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

   ii) स्पार्टा प्रजातंत्र और आज़ादी के लिए जाना जाता था।

   iii) नगर-राज्यों ने राज्य के विभिन्न रूपों के साथ प्रयोग किया।

9.3 राज्य की यूनानी अवधारणा

राज्य की संस्था ने यूनानियों के राजनीतिक जीवन को बहुत हद तक प्रभावित किया। राज्य उनके लिए सिर्फ एक भौगोलिक इकाई नहीं थी, बल्कि व्यक्तियों का समुदाय था। यूनानियों ने सदैव स्वीकारा था कि नगर-राज्य जीवन के उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक साधन था।

MAADHYAM IAS

9.3.1 राज्य की प्रकृति संबंधित दो विचारधाराएँ

प्राचीन यूनान में राज्य की प्रकृति संबंधित दो विचारधाराएँ थीं। पहली विचारधारा का मानना था कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था था। प्लैटो और अरस्तू इस मत के समर्थक थे। दूसरे मत के समर्थकों का मानना था कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था नहीं था, बल्कि लोगों के रिवाज़ों और परम्पराओं की उपज थीं।

राज्य एक प्राकृतिक संस्था इसलिए मानी जाता था, क्योंकि यह सामाजिक और ऐतिहासिक विकास, मूल्यों और उद्देश्य के संदर्भ में उच्चतम संघ था। यह परिवार से गाँवों के माध्यम से राज्य तक संघों की विकास की अंतिम अवस्था है। राज्य संपूर्ण था, वहाँ दूसरी संस्थायें उसके अंग थे। राज्य एक संपूर्ण रूप से नैतिक मूल्यों का नेतृत्व करते हुए लोगों को एकजुट रखते थे।

इस प्रकार यह नागरिकों से अविभाज्य था, क्योंकि यह सभी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता था और अपने आप में पर्याप्त था।

9.3.2 सुखमय ज़िंदगी के लिए राज्य की आवश्यकता

यूनानी मानते थे कि राज्य एक अनिवार्य संस्था था, क्योंकि सिर्फ राज्य के अंतर्गत, हम जीवन के अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर सकते थे। प्लैटो के अनुसार मात्र आदर्श राज्य में ही हम खुशहाल और संतुष्ट जीवन यापन कर सकते थे। अरस्तु मानते थे कि परिवार और गाँव का अस्तित्व जीवन की सुरक्षा तथा सहयोग के लिए था, लेकिन राज्य का अस्तित्व सिर्फ जीवन के लिए नहीं था, बल्कि सुखमय ज़िन्दगी के लिए था। राज्य मनुष्य के सर्वोत्तम अच्छाइयों और नैतिक कर्तव्यों का निर्वाहन करता था।

इस प्रकार यूनानियों के लिए राज्य मात्र प्रादेशिक या राजनीतिक इकाई नहीं था बल्कि विशेष उद्देश्यों और लक्ष्यों की एक नैतिक इकाई था। यह मनुष्य को अच्छी ज़िन्दगी जीने के लिए योग्य बनाता था।

9.4 नागरिकता की यूनानी अवधारणा

जैसा कि हम जान चुके हैं, राज्य की यूनानी अवधारणा नगर-राज्य तक और नगर-राज्य में ही सीमित है। नागरिकता का अधिकार सिर्फ स्वतंत्र व्यक्तियों को प्राप्त था। दूसरे अन्य दो वर्गों– विदेशियों और गुलामों– को नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं था। प्लैटो और अरस्तू ने नागरिकों को प्रमुख स्थान दिया था क्योंकि उन्होंने उनके साथ ही राज्य को दर्शाया था। जन्मजात नागरिकों को (माता-पिता के आधार पर) और 18 वर्ष की उम्र वालों को अधिकार प्रदान किया गया था।

9.4.1 नागरिकता संबंधी अरस्तु के विचार

अरस्तू के अनुसार नागरिकता शब्द का अर्थ प्रत्येक राज्य के संविधान के अनुसार अलग-अलग होता है। प्रत्येक राज्य के लोगों की विभिन्न कोटि और उप-कोटि थी। कुलीन तंत्र में शक्तियों का विभाजन असमान रूप से किया जाता था। लेकिन सामान्यतया, नागरिक को स्वतंत्र और समान होना चाहिए। उन्हें न्याय और सत्ता मिलना चाहिए। अरस्तू के अनुसार, नागरिकों की अच्छाइयों को स्वतंत्र व्यक्तियों के सरकार में प्रयोग किया गया था। उन्होंने स्वीकार किया कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी था, अतः उसकी प्राकृतिक इच्छा समाज के जीवन की थी। यहाँ तक कि उसे दूसरे की मदद लेने की ज़रूरत नहीं थी। नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे और वे राज्य के राजनीतिक मामलों में सक्रियता से भाग लेते थे। उनसे अधिकारों के प्रति सजग होने तथा राज्य के विभिन्न संस्थाओं की सारी गतिविधियों में भाग लेने की अपेक्षा की जाती थी।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

9.5 संविधान की यूनानी अवधारणा

संविधान किसी भी देश का बुनियादी कानून होता है और यूनान ने विश्व में सर्वप्रथम इसे विकसित किया था। यूनानियों ने संविधान के विभिन्न रूपों के साथ प्रयोग किया था। अरस्तू का कहना था कि संविधान का उद्देश्य इच्छित भाव से मनुष्य के जीवन को ढालना था। कोई भी संविधान अपने ढंग से नागरिकों पर प्रभाव डालता है। परिणामस्वरूप, नागरिकों की व्यक्तिगत और सामूहिक विशेषतायें संविधान में कार्य करती हैं। इस प्रकार संविधान का जो निमार्ण करता था, उन व्यक्तियों का संपूर्ण रूप होता था।

9.5.1 संविधान के अनेक प्रकार

प्राचीन यूनान में अनेक प्रकार के संविधान देखने को मिले। अरस्तू ने अपनी पुस्तक *पॉलिटिक्स* 158 संविधानों का अध्ययन करने के बाद लिखीं। उनके पहले प्लैटो ने

'साईकिल ऑफ चेंज' (Cycle of Change) की अपनी अवधारणा के आधार पर संविधानों के पाँच रूपों पर चर्चा की थी। उनके अनुसार, आदर्श राज्य, टिमोक्रेसी, कुलीनतंत्र, प्रजातंत्र और निरंकुशतंत्र थे जिनके बारे में अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में उन्होंने चर्चा की थी। प्लैटो सर्वप्रथम अपने आदर्श से अलग-थलग पड़ गए। दूसरी ओर, अरस्तू ने सर्वप्रथम वास्तविक राज्यों का परीक्षण किया और बाद में सावधानी पूर्वक विश्लेषण के आधार पर आदर्श राज्य की स्थापना की। उन्होंने माना कि राजतंत्र, कुलीनतंत्र तथा राजनीति राज्य के तीन प्रकार हैं, जो सामान्य अच्छाई को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। उन्होने स्वीकार किया कि निरंकुशतंत्र, कुलीतनंत्र और प्रजातंत्र सरकार के तीनों विकृत रूप हैं।

यह वर्गीकरण न्याय की अवधारणा पर आधारित था। जब संविधान की व्याख्या पदों की व्यवस्था के रूप में की जाती थी, दो प्रकार के संविधानों के बीच अंतर, जिस प्रकार पदों को स्थापित किया जाता था, उसी सिद्धांत के आधार पर उनकी व्याख्या की जा सकती थी। इस प्रकार प्रजातंत्र के पद स्वतंत्र जन्म और कुलीनतंत्र के धन के आधार पर प्रदान किये जाते थे। अरस्तू का यह मत था कि राजतंत्र साधारण संविधान का सबसे अच्छा रूप था और निरंकुश तंत्र विकृत संविधान का सबसे गलत रूप था।

यूनानियों ने आदर्श राज्य की अवधारणा को विकसित किया और इस आदर्श राज्य के आलोक में वे सभी विद्यमान राज्यों को व्यवस्थित करना चाहते थे। आदर्श राज्य का उद्देश्य सामान्य अच्छाई थी और यह नागरिकों को उनकी प्रवृत्ति और सार्मथ्य के आधार पर जीवन जीने के योग्य बनाता था।

9.5.2 एथेंस का प्रजातंत्र

एथेन्स अपनी प्रजातांत्रिक सरकार के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। एथेन्स के प्रजातंत्र को विकसित होने में बहुत समय लगा था और यह पेरिकल्स (Pericles) के काल में अपने गौरव की चरम सीमा पर पहुँचा। इस अवधि में, एथेन्स शहर की आबादी तीन लाख थी और इसकी आधी आबादी नगर में रहती थी और आधी देहात में। यह 100 डेम्स (Demes) में बंटी हुई थी, जो सामुदायिक शक्ति के केन्द्र बिन्दु थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

प्राचीन एथेन्स में, नागरिकों की सामान्य सभा, नागरिकों की उम्र 20 वर्ष से ऊपर थी, सभी प्रमुख निर्णय लेती थी। यह साल के दस बार नियमित रूप से मिलती थी और परिषद् के बुलावे पर अतिरिक्त साधारण सत्रों का आयोजन होता था। सभा के साथ-साथ 500 की परिषद् और दण्डाधिकारियों का न्यायालय भी सार्वजनिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इन संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव मतों द्वारा नहीं होता था, बल्कि संख्याओं के आधार पर होता था। उनका चुनाव एक वर्ष के लिए होता था। यूनानी सोचते थे कि संख्याओं के इस तरीके से पदों पर बहाली शासन का अनोखा प्रजातांत्रिक रूप था क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति को समानता प्रदान करता था। जनरलों का चुनाव सभा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होता था। वे कार्यपालिका का निर्माण करते थे और राज्यों के कार्यों को संपादित करते थे। उनका चुनाव दोबारा हो सकता था। जनरलों की परिषद और दण्डाधिकारियों के न्यायालय लोकप्रिय चरित्र को दर्शाते हैं। पेरिकल्स ने घोषणा की थी कि एथेन्स का प्रजातंत्र स्वतन्त्रता के लिए था और लोग सरकार के सभी निर्णयों में भाग लेते थे।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए ।

   i) अरस्तू का मानना था कि राज्य एक .... संस्था था।

   ii) राज्य का अस्तित्व जीवन के लिए नहीं था, बल्कि .... जीवन के लिए।

   iii) प्राचीन यूनान में मात्र .... राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे।

   iv) राजतंत्र .... और राजनीति सरकार के तीन रूप थे।

2) सही (हाँ) अथवा गलत के लिए (नहीं) अंकित करें।

   i) अरस्तू के अनुसार राज्य सामाजिक समझौते की देन थी।

   ii) कुलीनतंत्र में गरीब लोगों का आधिपत्य होता है।

   iii) नागरिक वह होता है, जिसके सत्ता पास हो और जो निर्णय ले सकता है।

9.6 क्रांति के कारण

यूनानी विचारकों ने राज्य क्रांति के कारणों की व्याख्या की। प्लैटो इस मत के समर्थक थे कि राज्य के संविधान में परिवर्तन इसलिए हुआ, क्योंकि जिन्होंने इसका निर्माण किया, उन लोगों की प्रवृत्ति और स्वभाव में परिवर्तन हुआ। समाज में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन संविधान में परिवर्तनों के रूप में देखने को मिला।

अरस्तू ने क्रांतियों के कारण की भली भाँति व्याख्या की। उन्होंने सामान्य के साथ-साथ विशेष कारणों का भी परीक्षण किया, जो विशेष संविधान से संबंधित थे। उनके अनुसार क्रांति का सबसे सामान्य कारण समानता की अवधारणा के प्रति उत्साह था, जो न्याय के आदर्श में शामिल थी। यदि किसी समूह को ऐसा लगा कि जिस आधिकार के वे हकदार हैं, उन संविधानिक अधिकारों का प्रयोग वे नहीं करते, तो न्याय की अपनी अवधारणा के आधार पर, वे विरोध कर सकते थे और व्याख्या को परिवर्तित करने की कोशिश कर सकते थे। उन्होंने विभिन्न राज्यों में क्रांति की पुनरावृत्ति को रोकने के तरीकों और साधनों पर विचार किया।

MAADHYAM IAS

9.7 यूनानी राजनीतिक परम्परा की उपलब्धियाँ और विफलताएँ

इसमें कोई संदेह नहीं है कि यूनानी राजनीतिक विचारधाराएँ और संस्थायें मानव इतिहास की सबसे महान उपलब्धियों में से एक हैं। यूनानियों ने सर्वप्रथम राजनीति को एक विज्ञान माना तथा नैतिकता और दर्शन से इसे अलग किया। यूनानियों ने संविधान की अवधारणा को विकसित किया और राज्य की राजनीतिक जीवन में महत्ता पर भी प्रकाश डाला। उन्होंने सरकार के प्रथम प्रजातांत्रिक रूप को विकसित किया, जिसमें नागरिकों की पूर्ण रूप से भागीदारी थी। राजनीति की यूनानी अवधारणा आवश्यक रूप से नैतिक थी, तथापि उन्होंने एक आदर्श राज्य की अवधारणा को विकसित किया, जिसमें मनुष्य अच्छी ज़िन्दगी बसर कर सकता था, वह ज़िन्दगी जो मनुष्य को सबसे अच्छा बना सकती थी।

लेकिन इन सफलताओं के साथ, कुछ विफलताएँ भी मिली। यूनानी अपनी आबादी की आधे से अधिक जनसंख्या को नागरिकता के अधिकारों को देने में असमर्थ रहे। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक विकास के क्रम को नहीं अनुभव किया, शासन की एक इकाई के रूप में नगर-राज्यों ने आन्तरिक गड़बड़ियों को रोकने के लिए संघों के निर्माण की नीति

का सहारा लिया, लेकिन वे स्थित या स्थायी राज्यों को स्थापित करने में असफल रहे। परम्परागत यूनानी विचारकों ने स्पष्ट रूप से राज्य और समाज के बीच अंतर किया, तथापि वे व्यक्तियों के हित और राज्य के हित के बीच पूरी तरह से अंतर करने में असफल रहे।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए ।

   i) एथेन्स की प्रजातंत्र .... के काल की अवधि में अपने गौरव को प्राप्त किया।

   ii) एथेन्स में चुनाव .... के आधार पर .... पर होता था।

   iii) .... था, जिन्होंने क्रांति के कारणों की चर्चा की।

   iv) यूनानियों ने .... को एक विज्ञान की तरह सर्वप्रथम विकसित किया।

2) सही (हाँ) अथवा गलत के लिए (नहीं) अंकित करें।

   i) एथेन्स की प्रजातंत्र में सामान्य सभा सर्वोच्च अधिकारियों का चुनाव करता था।

   ii) क्रांतियाँ सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन की वजह से हुई।

   iii) यूनानियों ने सर्वप्रथम सरकार की संवैधानिक रूप को विकसित किया।

3) यूनानी राजनीतिक परम्परा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ क्या थीं? पाँच पंक्ति में उत्तर दीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

....

9.8 प्राचीन यूनान से प्राचीन रोम तक संक्रमण

मैसिडैनियनों (Macedonians) के अपने साम्राज्य को यूरोप तथा एशिया में स्थापित करते ही ईसा पूर्व शताब्दी में प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों ने अपना महत्त्व खो दिया। यूनानी परम्परा के कुछ तत्त्वों को ऐलेक्ज़ेंडर और उनके उत्तराधिकारियों ने अपने शासन में शामिल किया। रोमन गणतंत्र इस काल में उभरा और एक हज़ार वर्षों तक संसार के इतिहास पर छाया रहा। रोम की सबसे प्रमुख देन विश्वव्यापी राज्य के लिए विश्वव्यापी समुदाय के सिद्धांत का प्रवर्तन था। परिणामस्वरूप, रोमन राज्य की प्रकृति मूलभूत रूप से यूनानी नगर-राज्यों से अलग था। रोम वासियों ने कानून और राज्य की अवधारणा को विकसित किया, जिसका लक्ष्य पूरी जानी-पहचानी दुनिया के समाज के विभिन्न वर्गों के बीच पहुँचाना था।

रोमन राजनीतिक इतिहास को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (1) गणतांत्रिक रोम और (2) साम्राज्यवादी रोम। अगले पृष्ठ में हम रोमन राजनीतिक परम्परा के विभिन्न पहलुओं पर विचार करेंगे।

9.9 ऐतिहासिक भूमिका

रोम के गणतंत्र का विकास ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में हुआ और इसके अंतर्गत लोकप्रिय सभाओं और सीनेट की मज़बूत संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस अवधि के दौरान, रोमन समाज के अंतर्गत (1) पैट्रिशियन (Patricians) जो उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, (2) प्लेबियन (Plebians) जो सामान्य नागरिक थे, और (3) गुलाम, आते थे। पैट्रिशियन और प्लेबियन को राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे, लेकिन अधिपत्य का पैट्रिशियन था। इस प्रकार आरंभिक रोमन इतिहास में इन दो वर्गों के बीच लगातार संघर्ष चल रहा था, क्योंकि प्लेबियन को जिस अधिकार से वंचित किया गया था, उसे वे प्राप्त करना चाहते थे। बड़े पैमाने पर प्लेबियन इन अधिकारों को प्रप्त करने में सफल हुए, लेकिन गुलामों को दासता को स्वीकारने के लिए विवश होना पड़ा। गणतंत्र का शासन दण्डाधिकारी के द्वारा चलाया जाता था, जिन्हें सीनेट के द्वारा चुना जाता था।

9.9.1 राजतंत्र की स्थापना

रोम के गणतंत्र ने अपनी गणतांत्रिक विशेषता को खो दिया, जब वे गणतांत्रिक संस्थायें साम्राज्य की समस्याओं को समाधान करने की स्थिति में नहीं थीं। वह ऑगस्टूस (Augustus) का काल था जिस वक्त गणतंत्र अंततः बिखर गया और राजतंत्र की स्थापना हुई। साम्राज्यवादी रोम की अवधि के दौरान, चौथी शताब्दी के बाद कौंस्टैन्टाईन (Constantine) ने इसाई धर्म को गले लगाया और जिससे विश्वव्यापी समुदाय की अवधारणा लोकप्रिया हुई। रोम की राजनीतिक परंपरा को सिसरो (Cicero) और सेंट ऑगस्टीन (Saint Augustine) के द्वारा समझा जाना चाहिए। जिन्होंने विश्वव्यापी भाईचारे का इसाईयत सिद्धांत को प्रकृति के नियम के उदासीन सिद्धांत के साथ संजोया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए ।

   i) प्राचीन रोमन राज्य प्रथम .... राज्य था।

   ii) गणतांत्रिक रोम में, दो वर्ग पैट्राशियन और .... थे।

   iii) प्राचीन रोम में, गणतंत्र का अंत .... के शासन काल में हुआ।

   iv) कौंन्सटैन्टाईन ने .... धर्म को गले लगाया।

2) सही (हाँ) अथवा गलत के लिए (नहीं) अंकित करें।

   i) पैट्रिशियन समाज के नियम वर्ग से ताल्लुक रखते थे।

   ii) सम्राट ऑगस्टीन ने इसाई धर्म को गले लगाया।

   iii) प्लेबियन ने पैट्रिशियन द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले अधिकारों को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

9.1 रोम का गणतंत्र

रोम की गणतंत्र की उत्पत्ति ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुई और उसने विशिष्ट राजनीतिक संस्थाओं को विकसित किया। ये संस्थायें उस काल की देन थीं जिस वक्त लोगों और राज्यों के बीच घनिष्ठ संपर्क थे। लोकप्रिय सभा और सीनेट दो प्रमुख संस्थायें थी और वे कानून के अधिनस्थ थे। प्रत्येक प्रमुख निर्णय सभा में लिये जाते थे और यहाँ तक कि महान जनरलों को भी सीनेट से विचारित जनादेश प्राप्त करना पड़ता था।

9.10.1 कुलीन और निम्न वर्ग

जैसा कि पहले बताया गया है कि रोमन समाज दो वर्गों, कुलीन और निम्न वर्ग में विभक्त था। कुलीन वर्ग आबादी के मात्र 10 प्रतिशत थे, लेकिन वे अधिकारिक शक्तियों का प्रयोग करते क्योंकि उनके पास सामाजिक प्रतिष्ठा, रीति रिवाज़, धार्मिक अधिकार और धार्मिक-संप्रदाय थे। दूसरी तरफ निम्न वर्ग अधिक संख्या में गरीब थे, जिसकी वजह से उन्हें राजनीतिक शक्तियाँ प्राप्त नहीं थीं। प्राचीन रोम में सामाजिक संबंध संरक्षक अनुयायी ढाँचे पर आधारित था। अनुयायी स्वतंत्र व्यक्ति होता था और दूसरे के संरक्षण के लिए कटिबद्ध था और इसके बदले उसे उनसे सुरक्षा प्रदान की जाती थी। अनुयायी अपने संरक्षक को अपने पास उपलब्ध हर प्रकार के साधनों से उन्हें सार्वजनिक जीवन में सहायता पहुँचाता था और संरक्षक उसे आर्थिक तथा वैधानिक समर्थन प्रदान करता था।

9.10.2 जन प्रतिनिधियों का शासन

गणतंत्र का शासन दो चुने हुए प्रतिनिधियों (Consuls) के द्वारा चलाया जाता था। आपातकाल में तानाशाह का चयन किया जा सकता था। सामान्यतया, जनप्रतिनिधि का चुनाव एक साल के लिए होता था। जन-प्रतिनिधियों को सर्वोच्च प्रशासनिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। वे सेवा के प्रधान होते थे और उन्हें कानूनों की व्याख्या और प्रयोग करने का अधिकार था। राजनीतिक गतिविधि का केन्द्रबिन्दू विधायिका नहीं थी, बल्कि कार्यपालिका थी। दोनों जन प्रधान एक दूसरे से सलाह-मशविरा लेने के बाद निर्णय लेते थे। उन्हें एक दूसरे पर वीटो का अधिकार था। अतः वे जन-विरोधी निर्णय नहीं ले सकते थे।

MAADHYAM IAS

9.11 रोमन राजनीतिक संस्थाएँ

9.11.1 लोकप्रिय सभा

लोकप्रिय सभा शायद गणतांत्रिक रोम की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था थी। इसकी पहचान रोम के लोगों से थी। लोकप्रिय सभा का जारी किया गया आदेश रोम के संप्रभु लोगों द्वारा आदेश माना जाता था। प्रस्ताव लोकप्रिय सभा और सीनेट के नाम से पास किया जाता था। सभा कानून बनाती थी, युद्ध और शान्ति का प्रस्ताव पास करती थी और सबसे महत्त्वपूर्ण, जन-प्रतिनिधियों का मनोनयन करती थी। जन-प्रतिनिधियों के नामों का प्रस्ताव सीनेटर अपने पद के आधार पर करते थे। शुरू के काल में लोकप्रिय सभा शक्तिशाली थी, लेकिन धीरे-धीरे सीनेट शक्तिशाली बन गई। ई.पू. प्रथम शताब्दी में, सीनेट ने कानून बनाने की शक्ति प्राप्त की। अंततः सभा सीनेट के द्वारा नियंत्रित होती थी, क्योंकि उनके पास सर्वोच्च प्रतिष्ठा और धन था।

9.11.2 सीनेट

सीनेट रोमन गणतंत्र की शक्तिशाली संस्था थी। प्रारंभ में सीनेट की पूरी सदस्यता तीन सौ थी, लेकिन ऑगस्टस के काल में यह बढ़कर 600 सौ हो गई। सीनेट के सदस्यों का चुनाव कुछ लोगों द्वारा होता था। गणतंत्र के अन्तर्गत सीनेट के प्रभाव और प्रतिष्ठा का, मुख्यतया, कारण इसके सदस्यों को व्यवहारिक रूप से प्रशासनिक और राजनीतिक अनुभव होना था। सीनेट एक शक्तिशाली संस्था थी। इसके पास प्रशासनिक शक्ति नहीं थी, लेकिन यह चुने हुए अधिकारियों को घरेलू और विदेश नीति, वित और धर्म पर सलाह देती थी। इसके पास युद्ध और शान्ति की घोषणा तथा विदेशों से संधि करने का अधिकार था। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के अंत तक इसकी शक्ति बढ़ी। इसे वैधानिकता प्राप्त थी और यहाँ तक महान शासकों (Generals) को भी अपने जनादेश का समर्थन इससे लेना पड़ता था क्योंकि इसे जनता का समर्थन प्राप्त था। सीनेट में असहमति होती थी, फिर संरक्षक अनुयायी का संबंध इसके कार्य कलाप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था।

रोमन सभा और सीनेट के साथ, दण्डाधिकारियों के न्यायालयों का न्याय के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

i) लोकप्रिय सभा और .... रोम की महत्त्वपूर्ण प्रजातांत्रिक संस्थायें थी।

ii) प्रारंभ के सीनेट की कुल संख्या .... थी।

iii) सभी कानून .... और .... के नाम से घोषित किये जाते थे।

iv) सामान्यतः प्रशासक (Consul) का चुनाव .... के लिए होता था।

2) सही (हाँ) अथवा गलत के लिए (नहीं) अंकित करें।

i) शुरू से ही, सीनेट रोम की सभा से अधिक शक्तिशाली थी।

ii) शासकों को निर्णय लेने से पहले एक दूसरे से सलाह मशविरा करना पड़ता था।

iii) दण्डाधिकारियों के न्यायालयों की न्यायिक प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

9.12 कानून संबंधी रोम की अवधारणा

इतिहास की रोम की सबसे बड़ी देन कानून की अवधारणा है। जिसका विकास और परिष्करण रोम के न्यायाधीशो के द्वारा किया गया था। कानून की सामान्य संस्था के लिए लैटिन शब्द 'जस' (Jus) है। जो 'लेक्स' की अपेक्षा विस्तृत और बोधशील है। रोमनों के लिए कानून का अर्थ न्यायालयों द्वारा लागू की जाने वाली कानूनों का निकाय था। रोमन काल में कानून को दो भागों, प्राकृतिक कानून और सकारात्मक कानून में विभक्त किया गया। प्राकृतिक कानून का अर्थ हमारे सामान्य मानवीय स्वभाव के द्वारा मानवता पर लागू किये जाने वाला कानून और सकारात्मक कानून का अर्थ, राज्य द्वारा लागू किया जाने वाला कानून था। रोमन प्राकृतिक नियम के महत्त्व को समझते थे और स्वीकार करते थे कि आचरण में नैतिकता, न्याय, तर्कशीलता के कुछ नियम हैं, जो सभी व्यक्तियों पर लागू होते थे। इस वास्तविकता के कारण नहीं कि वे राज्य के सकारात्मक कानून के अंतर्गत आते थे, बल्कि वे अधिकार के अंतर्गत आते थे और उन्हें हमारा सम्मान प्राप्त था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.12.1 कानून के स्रोत

रोमन इस विचार का समर्थक थे कि कानून के तीन स्रोत, लोगों के रीति-रिवाज़, विधायिकी घोषणा में और विधायिकी नियमन थे। लोगों के रीति-रिवाज़ समय के अंतराल के बाद विकसित हुए थे और उन्होंने कानून के निमार्ण में बहुत हद तक मदद की। विधायिकी घोषणा का अर्थ रोमन सभा और सीनेट के द्वारा की गई घोषणा से और बाद के वर्षों की औपनिवेशिक घोषणा से था। कानून का तीसरा स्रोत विधायिकी नियकन था, जो न्यायाधीशों के न्यायालय के निर्णय थे। निजी कानून के विशेषज्ञ व्यक्ति की राय उनसे संपर्क के दौरान ली जाती थी। उन्हें भी विधायिकी नियमन में शामिल किया जाता था। ये तीन स्रोत प्राचीन रोम के सकारात्मक कानून के निमार्ण में सहायक थे।

9.13 सिसरो की देन

सिसरो रोमन वकीलों के महात्मय में से एक थे, जो रोमन गणतंत्र को सरकार के एक स्थायी रूप में बरकरार रखना चाहते थे। सिसरो कानून की रोमन अवधारणा को विकसित करने के लिए जाने जाते थे। सिसरो ने प्राकृतिक कानून के उदासीन और राजनीतिक गतिशीलता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया और घोषित किया कि सच्चा कानून प्रकृति के तदनुरूप सही तर्क था और इसका इस्तेमाल सभी व्यक्तियों पर किया जाता था। यह शाश्वत और अपरिवर्तनशील था। उनका मानना था कि कोई विधायन भी कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता था और कोई व्यक्ति जो सही था, उसे गलत नहीं बना सकता था। अपने आदेश द्वारा, कानून लोगों को उनके कर्त्तव्य के प्रति आगाह करता था और उन्हें गलत करने से रोकता था। रोम के लिए एक कानून और एथेन्स के लिए अलग कानून नहीं हो सकता था, नहीं कोई कानून आज के लिए और कल के लिए दूसरा हो सकता था।

MAADHYAM IAS

9.13.1 मानव स्वभाव और राज्य संबंधी सिसरो के विचार

सिसरो ने कानून के सामने सभी व्यक्ति को समान माना था। सभी जाति के व्यक्तियों के पास सही और गलत में अंतर करने के लिए अनुभव और ज्ञान की समान क्षमता थी। उन्होंने प्रतिपादित किया था कि सभी व्यक्ति समान थे और उनके लिए एक ही कानून था, तो वे आपस में सभी नागरिक थे। उनका मत था कि राज्य स्थायी रूप से अस्तित्व में नहीं रह सकता था, जब तक यह इसके नागरिक का एक साथ अधिकार के सामूहिक दायित्व और पहचान के ज्ञान के प्रभाव को नहीं स्वीकारता और प्रदान करता। सिसरो राज्य को 'कामनवेल्थ' के नाम से पुकारते थे, क्योंकि राज्य एक सम्मिलित अंग था और इसकी सदस्यता सभी के लिए सामान्य थी। इसका अस्तित्व सामूहिक सहयोग और सरकार के फायदे को नागरिकों तक पहँचना था। उनका मानना था कि राज्य अपने आप और इसके कानून सदैव भगवान के कानून, नैतिक या प्राकृतिक कानून के अधीन थे।

सिसरो ने वकीलों के लम्बी रोमन परम्परा का नेतृत्व किया, उन्होंने प्राचीन रोम के कानून और न्याय के अवधारणा को परिष्कृत करने की कोशिश की।

9.14 चर्च और राज्य

रोमनों ने प्रथम शताब्दी में संसार में प्रथम विश्वव्यापी राज्य की स्थापना की। रोमन राज्य एक विशाल साम्राज्य था जिसका नियंत्रण यूरोप और एशिया के बड़े क्षेत्रों पर था। इस साम्राज्य को एक सूत्र की ज़रूरत थी, जो विभिन्न जातियों को एक साथ सम्मिलित रख सकें। सार्वमौलिक रोमन समुदाय को एक विश्वव्यापी धर्म की आवश्यकता हुई और चौथी

शताब्दी ई.पू. में सम्राट कैन्स्टैंटाइन ने ईसाई धर्म को अपनाकर इस ज़रूरत को पूरा किया। उस समय एकमात्र चर्च सार्वमौलिक उद्देश्य थे और उसके पास एक योग्य सुसंगत संगठन था, जो विभिन्न संघर्षशील लोगों तथा साम्राज्य के वर्गों को एक सूत्र में बाँध सकता था।

9.14.1 चर्च के विचार

चर्च ने आधारात्मक सत्ता का प्रतिनिधित्व किया और दावा किया कि यह एक राज्य से अलग संस्था थी और राज्य के व्यक्तियों के आध्यात्मिक मुद्दों को संपादित करने का हक स्वतंत्र रूप से प्राप्त था। राज्य से अलग राज्य लौकिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करती था और चर्च व राज्य दो अलग सत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते थे। इस अवधि में चर्च मानता था कि एक ईसाई के लिए निर्वाचित सत्ता का आदर करना अनिवार्य था लौकिक जगत में, उसे राज्य के आदेशों का पालन करना चाहिए और आध्यात्मिक जगत में चर्च के आदेशों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का नागरिक था। प्रारम्भिक ईसाई बुद्धिजीवियों ने चर्च की सत्ता की देख-रेख में अधिक अभिरूचि दिखाई थी।

9.14.2 मानव और ईश्वर संबंधी संत ऑगस्टीन के विचार

संत ऑगस्टीन ने अपनी राजनीति संबंधी पुस्तक ई. पाँचवीं शताब्दी में लिखी और दो नगर की अवधारणाओं – ईश्वर के नगर और मानव के नगर – को विकसित किया। उन्होंने माना कि दोनों के बीच प्रतिस्पर्धा थी, जैसा कि मानव की नगर अंतः प्रेरणा द्वारा प्रभावित किया जाता था और ईश्वर के नगर, स्वर्गिक शान्ति और मुक्ति पर आधारित था। एक मात्र स्वर्गिक नगर में शान्ति संभव थी और एक मात्र आध्यात्मिक राजधानी स्थायी थी। परिणामस्वरूप, मानव-मुक्ति ईश्वर के नगर की प्राप्ति में ही थी।

9.15 रोम की राजनीतिक परंपराओं की उपलब्धियाँ

MAADHYAM IAS

रोमन परम्परा ने प्राचीन यूनान और ईसाई परम्पराओं के बीच एक पुत्र की भाँति कार्य किया। रोमनवासियों ने कानून के समक्ष समानता की अवधारणा का प्रतिपादन किया और विभिन्न जातियों के लोगों के साथ विभेद नहीं किया। गणतान्त्रिक रोम ने सफलतापूर्वक राजनीतिक संस्थाओं, जैसे लोकप्रिय सभा और सीनेट का संचालन किया। उन्होंने सार्वभौमिक राज्य की अवधारणा को विकसित किया, जिसने साम्राज्य के अंतर्गत आने वाले विभिन्न समुदायों पर विचार किया। उन्होने यूनानी विशिष्टता का विरोध किया तथा कानून की अवधारणा को विकसित किया, जो सभी को न्याय प्रदान करती थी। वे नैतिकता की अवधारणा, से पूरी तरह जकड़े हुए थे। ईसाई प्रभाव के अंतर्गत रोम वासियों ने चर्च और राज्य के बीच संबंध का सीधा निर्धारण करने की कोशिश की थी।

रोमन सरकार विरोधियों को दबाने के लिए बल प्रयोग करते थे। उन्होंने दासता की परम्परा को अस्वीकार नहीं किया। वे राज्य की अवधारणा तथा राजनीतिक दायित्व के सिद्धांत का पूरी तरह से विकसित करने में असफल रहे। जो लोगों को एक साथ बाँध कर रख सके। रोमन राजनीतिक वर्ग की क्रूरता मशहूर थी। परिणामस्वरूप, रोमन साम्राज्य कभी भी राजनीतिक स्थिरता और राजनीतिक एकता के दौर से नहीं गुजरी।

बोध प्रश्न 6

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

   i) .... और .... रोम के प्राचीन .... की दो प्रमुख प्रजातांत्रिक संस्थाएँ थीं।

   ii) रोमनों के अनुसार लोगों की विधायी .... और .... व्यवस्था कानून की आधारशिला रखती थी।

2) संविधान की यूनानी अवधारणा की मुख्य विशेषतायें क्या थीं?

....

....

....

....

....

3) रोमन राजनीतिक संस्थाओं की शक्तियाँ और स्थिति कैसी थीं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

9.16 सारांश

इस इकाई में हमने विस्तारपूर्वक प्राचीन यूनान तथा रोमन राजनीतिक परंपराओं का अध्ययन किया है। हमने पढ़ा कि यूनानियों ने अति विकसित राज्य और नागरिकता की अवधारणा को विकसित किया था। यूनानियों के लिए राज्य एक प्राकृतिक संस्था थीं, जिसने जीवन और अच्छी ज़िन्दगी के लिए शर्तें विकसित करने की कोशिश की थी। उन्होंने संविधान की अति परिपक्व विचारधारा और क्रांति के कारणों या राज्य के संविधान में परिवर्तन को विकसित किया था। राजनीति की यूनानी विचारधारा नगर-राज्य की अवधारणा तक ही सीमित थी।

रोमन राजनीतिक परंपरा यूनान की अपेक्षा कम भव्य और मौलिक थी, लेकिन रोमन कानून और प्रशासन की अवधारणा को विकसित करने में श्रेष्ठ थे। उन्होंने दुनिया के विभिन्न समुदायों को एक साथ बाँधने के लिए राज्य की अवधारणा को विस्तृत किया। अतः यह एक सार्वभौमिक राज्य विश्वव्यापी समुदाय के लिए था। बाद के वर्षों में रोमनों ने चर्च और राज्य सत्ता को विभाजित किया और दोनों के लिए मानव-दायित्व के विभाजन की वकालत की।

राजनीति विज्ञान और राजनीतिक परंपरायें, प्राचीन यूनानियों तथा रोमनों द्वारा विकसित आज अत्यन्त ज्वलंत हैं, क्योंकि राज्य नागरिकता और संविधान की यूनानी अवधारणायें और कानून, सार्वभौमिक समुदाय की रोमन अवधारणायें राजनीति विज्ञान की उचित आधार को अभी भी बनाती हैं।

9.17 शब्दावली

पोलिस : पोलिस का अर्थ नगर-राज्य होता है। यह एक छोटी राजनीतिक इकाई थी। जिसमें नागरिक सक्रिय अभिरुचि रखते थे। राजनीति (Politics) शब्द पोलिस शब्द से निकला हुआ है।

एगोरा (Agora) : का अर्थ नगर-राज्य का सभा स्थल, नगर में स्वतंत्र पैदा हुए भद्रपुरुष के लिए सुरक्षित। 'एगोरा' या स्वतंत्र वर्ग का मतलब सार्वजनिक मनोरंजन से था और बाज़ार वर्ग जहाँ विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का आदान-प्रदान हो सकता था। यह एथेनियन प्रजातंत्र के लिए आवश्यक था।

डैम (Deme) : व्यवस्था की बुनियादी इकाई जिसमें सभी नागरिकों को स्वयं को नामांकन करवाना था। यूनानी सुधारक क्लीसथीन्स ने पुराने कबीलों को 'डैम' में विभाजित किया। डैम जिपकर उन्होंने नगर में संरचना की, कृत्रिम थे। प्रत्येक नागरिक डैम के नाम से जाना जाता था जिससे वह संबंधित था। अरस्तु के समय 150 डैम थे। डैम के अंतर्गत कबीला और क्षेत्रीय पहचान की संयुक्त मिसाल थी। आधुनिक राज्य में एक डैम में नामांकन मतदान रजिस्टरों में अभिलेख के समान था।

टिमोक्रसी (Timocracy) : यह प्लैटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' में वर्णित सरकार का एक रूप था। यह आदर्श राज्य के बाद संविधान का दूसरा सबसे अच्छा रूप था। प्लैटो की मान्यता थी कि टिमोक्रेसी चेतना का तत्त्व तर्क से निर्देशित होगा और शासन उनके हाथ में होगा, जो साहस का सम्मान करते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

पेरिकल्स (Pericles) : महानतम एथेनियन राजनीतिज्ञ, जिन्होंने एथेनियन संविधान को बड़े पैमाने पर लोकतंत्रीकरण किया। उन्होंने ई.पू. 446 से लेकर 432 तक एथेन्स पर शासन किया। उन्होने अपने प्रसिद्ध भाषण में, एथेन्स को 'यूनान का विद्यालय' बतलाया। वे महान सेनानायक थे, जिन्होंने एथेनियन साम्राज्य को सुदृढ़ किया।

आत्म संयम सिद्धांत : इस दर्शनशास्त्र विद्यापीठ की स्थापना ई.पू. तीसरी शताब्दी में ज़ैनों ऑफ सिटीअम (Zeno of Citium) के द्वारा की गई थी। यह विचारधारा का हेलेनिस्टीक विद्यापीठ (Hellenistic School) था। इसे स्टोआ (Stoa) के क्रीसिपॅस (Chrysippus) द्वारा पुनर्गठित किया गया था। वैरागी का मानना था कि एक दुनिया–राज्य था और दोनों ईश्वर और व्यक्ति इसके नागरिक थे। इसका एक संविधान था जो उचित तर्क पर आधारित था, व्यक्तियों को सिखाता था कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। उचित तर्क प्रकृति का कानून था, जो पैमाना प्रस्तुत करता था कि क्या उचित और ठीक था।

विश्वव्यापी समुदाय : नगर-राज्य के पतन के बाद, जो स्वन्शासी था, एक नया समाज जिसमें मनुष्य की पहचान एक व्यक्ति की तरह थी। ऐसे अन्य

व्यक्तियों के साथ भाई-चारे का संबंध स्थापित करना था। उसका विश्वास दुनिया-राज्य में सभी मानव के विश्वव्यापी भाईचारे में था, जो जाति सामाजिक और राष्ट्रीय विभाजन के बावज़ूद उन्हें एक साथ जोड़ता था। रोमनों ने ही विश्वव्यापी समुदाय की अवधारणा को विकसित किया।

9.18 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बार्कर ई. *यूनानी राजनीतिक सिद्धांत - प्लैटो और उनके पूर्वज*, ऑक्सफोर्ड 1970।

इरेनवर्ग, *'यूनानी राज्य'*, बैसिल ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड, 1966।

सैबीन जॉर्ज, 'राजनीतिक सिद्धांत का इतिहास' ऑक्सफोर्ड, 1973।

कैम्ब्रिज का प्राचीन इतिहास, खण्ड-5 संपादित, जे.बी. बरी और अन्य, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, कैम्ब्रिज, 1979।

ग्रांट एम, रोम का इतिहास, वेडिनफील्ड और निकोल्सन, लंदन, 1978।

9.19 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) विदेशी
   ii) कबीला और वंश
   iii) अनुशासन
   iv) हज़ार वर्ग मील

2) i) सही
   ii) गलत
   iii) सही

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) i) प्राकृतिक
   ii) अच्छा
   iii) नागरिक
   iv) कुलीनतंत्र

2) i) गलत
   ii) गलत
   iii) सही

बोध प्रश्न 3

1) i) पेरिकल्स
   ii) ज़्यादा
   iii) अरस्तु
   iv) राजनीति

2) i) सही

ii) सही

iii) गलत

3) सर्वप्रथम, यूनानियों ने राजनीति के विज्ञान को विकसित किया और नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों की चर्चा की। यूनानियों ने राज्य के सिद्धांत को विकसित किया और माना कि मात्र राज्य की सहायता से हम अच्छी और पूर्ण ज़िन्दगी जी सकते थे। उन्होंने संविधान की प्रकृति और राज्य में परिवर्तनों के कारणों पर प्रकाश डाला।

बोध प्रश्न 4

1) i) विश्वव्यापी

ii) प्लेबियन्स

iii) ऑगस्टस

iv) ईसाई

2) i) गलत

ii) गलत

iii) सही

बोध प्रश्न 5

1) i) सीनेट

ii) तीन सौ

iii) रोम के लोग

iv) एक वर्ष

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) i) गलत

ii) सही

iii) सही

बोध प्रश्न 6

1) i) लोकप्रिय सभा, सीनेट और गणतंत्र।

ii) रीति-रिवाज़, घोषणा, विधायन।

2) संविधान की यूनानी अवधारणा की मुख्य विशेषतायें, यूनानी मानते थे कि राजतंत्र, कुलीनतंत्र और राजनीति सरकार के तीन रूप थे और निरंकुशतंत्र, कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र उनके बिखराव थे। संविधान शक्ति का विभाजन और समाज के विभिन्न वर्गों के पदों की व्याख्या करता था। जब सामाजिक शर्तों में परिवर्तन होता था, तो संविधान में भी परिवर्तन देखा जा सकता था।

3) रोम में लोकप्रिय सभा और सीनेट, दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्थायें थी। सभी कानून और आदेश रोमन लोगों के और सीनेट नाम से जारी किये जाते थे। बाद के वर्षों में सीनेट सदस्यों (Two Consuls) का मनोनयन करती थी और युद्ध और शान्ति का निर्णय लेती थी। सीनेट एक साल में दो सदस्यों को चुनती थी, वे कार्यकारी सत्ता का निमार्ण करते थे और राज्य के मामलों की व्याख्या करते थे।

इकाई 10 पाश्चात्य : उदारवादी और मार्क्सवादी

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा के लक्षण

10.3 उदारवादी परम्परा बनाम मार्क्सवादी परम्परा

10.4 उदारवादी परम्परा के रूपान्तरण

10.4.1 क्लासिकी उदारवाद

10.4.2 नया उदारवाद

10.4.3 इच्छा स्वातंत्र्यवाद

10.4.4 समतावादी उदारवाद

10.4.5 अन्य उदारवादी रूपान्तर

10.4.5.1 देश विशिष्ट उदारवादी परम्पराएँ

10.4.5.2 संयुक्त राज्य अमेरिका में उदारवाद

10.4.5.3 महाद्वीपीय यूरोप में उदारवादी परम्परा

10.4.5.4 भारत में उदारवादी परम्परा

10.4.5.5 संयोजन में उदारवादी

10.5 मार्क्सवादी परम्परा के रूपान्तर

10.5.1 मार्क्सवाद

10.5.2 लेनिनवाद

10.5.3 माओवाद

10.5.4 अन्य मार्क्सवादी रूपान्तर

10.5.4.1 पाश्चात्य मार्क्सवाद

10.5.4.2 लैटिन अमेरिकी उदारवाद

10.5.4.3 भारतीय मार्क्सवाद

10.6 सारांश

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में उदारवादी मार्क्सवादी परम्परा पर चर्चा की गई है जो साथ रहते हुए और विश्व भर में फैले हुए उन सिद्धान्तों, सार्वजनिक संस्थाओं तथा पृथाओं को प्रस्थापित करने और संरक्षण की प्रतीक थी, जो उल्लेखनीय रूप से अन्य राजनीतिक परम्पराओं से भिन्न था। अलग-अलग लेने पर, वे विगत दो शताब्दियों में विश्व में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैचारिक विघटन की प्रतीक थी। इस इकाई से गुज़रने के बाद आप निम्न के बारे में जान पाएँगे :

- कुल मिलाकर उदारवादी मार्क्सवादी परम्परा के लक्षण;
- मार्क्सवादी परम्परा से उदारवादी परम्परा का सीमांकन;

- उदारवादी परम्परा की महत्त्वपूर्ण, विभिन्न अभिव्यक्तियों की पहचान;
- मार्क्सवादी परम्परा की महत्त्वपूर्ण, विभिन्न अभिव्यक्तियों की पहचान; और
- इन परम्पराओं द्वारा राजनीतिक सिद्धान्त और प्रथा पर छोड़े गए प्रभाव पर सुझाव देना।

10.1 प्रस्तावना

कोई भी परम्परा व्यापक रूप से (सहभाजित) उन विचारों, विश्वासों और प्रथाओं का निकाय है, जो परम्परागत हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी निरन्तरता बनी रहती है, ऐसा विश्वास है। एक परम्परा कुछ सीमा तक स्वीकृत होती है और उस विचारधारा के सापेक्ष में सार्वजनिक स्थल है, जिसमें विभाजन और समर्थन अन्तर्ग्रस्त होते हैं। तथापि, एक विचारधारा, व्यापक आधार होने पर एक परम्परा बन सकती थी और कभी-कभी समर्थन के लिए कोई परम्परा ने कुछ घटकों को अलग करके तथा शेष की अनदेखी करके एक विचारधारा बन सकती थी।

प्रायः हम उदारवादी राजनीतिक परम्परा को मार्क्सवादी राजनीतिक परम्परा के मुकाबले पर खड़ा हुआ पाते हैं। कई पहलुओं पर इन परम्पराओं की मुख्यधारा की अभिव्यक्तियाँ महत्त्वपूर्ण रूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं जिससे ऐसी स्थिति को न्यायसंगत ठहराया जा सके। तथापि, जो इन दो परम्पराओं के बीच सहयोजित हैं, उससे वे एक जैसी अथवा पूर्ववर्ती की तरह प्रतीत होती हैं। इससे उदारवादी सम्बन्ध में, कई ऐसे मुद्दे आपके चिन्तन के विषय हैं जो इन दो परम्पराओं के बीच सहयोजित मार्क्सवादी परम्परा को एक साथ लेने का औचित्य नज़र आता है। स्वयं उनके सम्बन्ध में भी उनके बीच सहभाजित दार्शनिकतावादी, ज्ञान मीमांसीय विशाल स्थान और पर्याप्त अनुबन्ध भी हैं।

जहाँ ऐसा बहुत कुछ है जो उदारवादी मार्क्सवादी परम्परा को एक अविछिन्नक बनाता है, वहीं उनके बीच प्रमुख दरारें और उनसे उद्भूत महत्त्वपूर्ण मतभेद भी हैं। वास्तव में, मतभेदों की सीमा उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियों के आर-पार बदलती रहती हैं। इसीलिए, उनमें से प्रत्येक को एक स्वतंत्र परम्परा के रूप में माना जा सकता है।

MAADHYAM IAS

एक तरफ उदारवादी परम्परा तथा दूसरी तरफ मार्क्सवादी परम्परा का गठन कैसे होता है? इन परम्राओं में से किसी एक अथवा एक साथ लेकर दोनों की सीमाएँ अवधारित करना मुश्किल है, यद्यपि इस बात पर अधिक असहमति नहीं हो सकती उनकी सापेक्ष मौलिकता का निर्माण किससे होता है। तथापि, उनके संघटकों पर थोड़ी सहमति है जो परस्पर सर्वांगसम है और वे संघटक भी हैं, जो एक को दूसरे से अलग रखते हैं।

इसके अतिरिक्त परम्पराएँ होने के नाते, न कि मात्र सिद्धान्त, उदारवादी और मार्क्सवादी परम्पराएँ अभ्यावर्तक (inclusive) हैं जिनके क्षेत्र के भीतर एक बड़ी संख्या में मुद्दों और चिन्तनों पर उनके सापेक्ष सिद्धान्तों के समीक्षात्मक रूप से प्रतिबिम्बित विचार; इन परम्राओं को बनाए रखने वाले लोगों की आदतें और चित्तवृत्तियों (Concerns); विश्व के वे विचार शामिल हैं जो जीवन के उन मार्गों पर आधारित हैं अथवा उनका समर्थन करते हैं जिनपर वे फल-फूल रहे हैं। परम्पराओं के रूप में वे इससे पहले कि हम उनका पूरी तरह अथवा कुछ भाग अथवा उनके संघटकों को अधिरोपित करने अपनी विचारित पसन्द बनाएँ, सार्वजनिक जीवन में विलय हो जाती हैं और बिना विचारे हुए तरीकों से मूर्त्त रूप धारण करती हैं।

10.2 उदारवादी-मार्क्सवादी परम्पराओं के लक्षण

हम उन लक्षणों की पहचान कर सकते हैं जो कुल मिलाकर उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा के रूप में सार्वजनिक हैं। वे परम्परा के आस-पास सहभागी होते हैं, यद्यपि वह तरीका

जिससे हम परम्परा की सीमा निर्धारित करते हैं और उसके भीतर आन्तरिक दरारें पैदा करते हैं, इन लक्षणों के हमारे संदर्श को प्रभावित कर सकता है।

उदारवादी मार्क्सवादी परम्परा विशिष्ट रूप से आधुनिक सभ्यता का एक अंग है और परिणामतः, इसके कुछ केन्द्रीय परिसरों में सार्वजनिक रूप से शामिल होती है। यह सभ्यता, कभी-कभी, पूर्व-आधुनिक सभ्यताओं के संदर्शों और संघटकों से, व्यवस्थागत और पर्याप्त रूप से, संयोजित होने का प्रयास करती है। कभी-कभी विगत में जाकर इस परम्परा के पूर्व-इतिहास का निर्माण करने का प्रयास भी किया जा सकता है। पश्चिम में कुछ विद्यार्थियों ने ग्रीकों और आरंभिक ईसाइयत से उदारवादी और मार्क्सवादी विचार जीवनयापन के तरीकों के संघटक तलाश किए हैं। इसी प्रकार, भारत में विद्यार्थियों ने बुद्ध धर्म में इस परम्परा के मज़बूत अवशेष प्राप्त किए हैं। तथापि, इससे यह परम्परा पूर्व-आधुनिक नहीं बन जाती, अपितु यह विगत से आवश्यक रूप से आधुनिक रहते हुए इसकी परतों से समान संघटक प्राप्त करती है।

उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा सामूहिक मानवीय अनुभव, कारण और तर्क-वितर्क पर आधारित है, जो रीति-रिवाज़, प्रयोग, सत्ता और ईश्वरीय ज्ञान पर आधारित पूर्व-आधुनिक राजनीतिक परम्परा से काफी अधिक आगे है। उदाहरण के लिए, मध्ययुगीन ईसाई परम्परा ने सत्य तक ले जाने वाले अपूर्वतः विशेषाधिकृत स्थल के रूप में ईश्वरीय प्राकट्य को देखा। मार्क्सवादी उदारवादी परम्परा सोच करती है कि सार्वजनिक वस्तु के निर्माण का सम्बन्ध है, ईश्वरीय प्राकट्य राज्य का स्रोत नहीं हो सकता और इसकी प्रतिस्पर्धी संकल्पनाएं अपनी निजी जानकारी के बारे में प्रतिक्रियात्मक होते हुए, उदारवादी और मार्क्सवादी परम्पराएँ पर रोक नहीं लगा पाई और इस प्रक्रिया में, अपनी निजी स्थितियों का पुनर्निरूपण करना पड़ा और वह भी ज़ोरदारी से कई बार। उन स्वतंत्रताओं ने, जो इन परम्पराओं के प्रति वचनबद्ध थीं जैसे लक्षण, अभिव्यक्ति, जानकारी और सूचना तक पहुँच आदि, अनिवार्यतः विश्वासों और मूल्यों के बहुवाद के लिए दरवाज़े पूरी तरह खोल दिए जो स्वतंत्र जाँच के अनुरूप थे। इस प्रकार, प्रतिक्रियात्मक जानकारी और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से विश्वासों और पृथाओं की बाढ़ आ गई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उदारवादी और मार्क्सवादी कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर सहमत हुये। कई पहलुओं पर, वे मानव प्राणी की एक सार्वजनिक संकल्पना और पृथ्वी पर व्यक्ति की केन्द्रिकरता में सहभागी बने। दोनों ने अपने आविष्कारों का बचाव किया। उन दोनों का विश्वास था कि स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के लिए प्रेरक राजनीतिक समुदाय ऐसे मूल्य हैं, जिनका जोरदारी से पोषण किया जाना चाहिए। उन्होंने मानव प्राणियों के बीच आवश्यक समानता और एकमात्र भूमिका कि मानव को प्रकृति में खेलने के लिए बुलाया गया है, का समर्थन किया। उन दोनों का विश्वास था कि राजनीतिक भागीदारी महान् समृद्ध जीवन की संभावनाओं को उजागर करती है। अन्ततः मानव प्राणियों को अपने सामूहिक जीवन और भाग्य का प्रभार संभालना है और इस प्रभार को पूर्ण दयालु परमात्मा अथवा सार्वजनिक संस्थाओं को दानस्वरूप नहीं सौंपा जा सकता है। तथापि, वे मुद्दों की समझ और निहितार्थों पर बुरी तरह असहमत हुए। वे प्रतिष्ठानों के प्राथमिकीकरण पर असहमत थे तथा अपने परिणामों को उन्होंने अलग-अलग प्रकार से चित्रित किया। कभी-कभी उनमें से एक ने किसी मुद्दे को अनदेखा रखा, जिसे दूसरे ने महत्त्वपूर्ण करार दिया।

कुल मिलाकर उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा ने जन-साधारण की सकारात्मक भूमिका देखी। वे जनसमुदाय को सक्रिय रूप से राजनीति के क्षेत्र में खींचने के बारे में समुत्साही थे। किन्तु जनसाधारण की संकल्पना कैसे की जाये और वे किस प्रकार अपने को अभित्यक्त करें, इस पर उनमें मतभेद थे। कभी-कभी समय के साथ उनके मत बदलते थे।

उदारवादी, जोकि प्रारम्भ में कुलीनतंत्रवाद और राजनीतिक विघटन के विरुद्ध जनसाधारण की लामबंदी को लेकर उत्साहित थे, उन्होंने एक बार पुनः इस प्रश्न पर अपने पैर घिसटने शुरू कर दिए जब वे सत्ता में थे और शासन के नियम और संविधानवाद की भाषा बोलने लगे। इसी प्रकार, मार्क्सवादियों ने आत्म-शासन की भाषा छोड़ दी और उत्तरदायित्वों की शरण ली, जैसे ही मार्क्सवादी दल सत्ता में आये।

उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा समझदारी पर निदेशित है और लोकसत्ता के आधार, फैलाव और सीमाओं को मात्र अनुकूल बनाने की बजाए निर्धारित कर रही है। कुल मिलाकर राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूलन और वह भूमिका जो इसमें अभिनीत होती थी, पूर्व-उदारवादी-मार्क्सवादी परम्पराओं के लक्षण थे।

पूर्व आधुनिक राजनीतिक परम्पराएँ स्थान और समय में सीमित थीं। इसके प्रतिकूल, उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा ने क्रियाविधिक और पर्याप्त रूप से, विश्व के संगठन और पुनर्संगठन के डिज़ाइन संस्थापित किए।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) निम्न लक्षण उदारवादी-मार्क्सवादी परम्परा के लिये समान हैं।

i) ....

ii) ....

iii) ....

iv) ....

v) ....

2) मानवीय प्रकृति की उदारवादी-मार्क्सवादी संकल्पना पर चार वाक्य लिखें।

....

....

....

....

....

....

10.3 उदारवादी परम्परा बनाम मार्क्सवादी परम्परा

जहाँ उदारवादी परम्परा और मार्क्सवादी परम्परा, कई मामलों में, उभयनिष्ठ (Common) आधार पर सहभागी हैं, वे एक-दूसरे में विलय नहीं हो सकतीं। उनके बीच महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं। इसके अतिरिक्त, ये मतभेद उस समय विशिष्ट रूप ग्रहण कर लेते हैं, जब हम एक परम्परा के अलग-अलग रूपान्तरों की दूसरे के रूपान्तरों से तुलना करते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उदारवाद मानवीय प्रकृति की एक सापेक्षत, नियत और पूर्णाकिंत धारणा को ग्रहण करता है। मानवीय प्रकृति, इस धारणा में, यौक्तिकता (Rationality) और उस माध्यम से ओतप्रोत है जो इसे पूर्ण बनाता है। दूसरी तरफ, मार्क्सवाद मानवीय प्रकृति को एक ऐतिहासिक उत्पाद के रूप में देखता है। यह सामाजिक रिश्तों जिनमें यह अवस्थित है, की भ्रमित गति में मूर्तिमान होता है और बदले में, उन महत्त्वपूर्ण सामाजिक रिश्तों को कायम रखता है। जबकि मार्क्सवाद मानवीय यौक्तिकता और उसके अभिकरण से इनकार नहीं करता, यह तर्क देता है कि वे प्रचलित सामाजिक रिश्तों द्वारा परिणत होते हैं और उन्हें ध्यान में रखता पड़ता है।

अभिकरण पर बल देते हुए, उदारवादी परम्परा प्रातः मानवीय अस्तित्व की स्वतंत्रता और समान अतीन्द्रीय स्थितियों की ओर उन्मुख होती है और वे विधिक और राजनीतिक व्यवस्था को अधिक प्राथमिकता देते हैं। चूँकि मार्क्सवादी विश्वास करते हैं कि ये मानवीय अभिकरण प्रचलित सामाजिक रिश्तों में फँसे होते हैं, वे आवश्यकता को महत्त्व देते हैं और वे घटक जो उन्हें अहम बनाते हैं, मानवीय प्राथमिकताओं को मूर्त्तरूप देते हैं और उन्हें दिशानिर्देश देते हैं। वे स्वतंत्रता और समानता का विस्तार करने के लिए प्रतिबंधों और रणनीतियों की रचना करते हैं।

मार्क्सवादी एक ऐतिहासिक सिद्धांत के प्रति योगदान करते हैं और तर्क देते हैं कि समाज परिमाणात्मक और गुणात्मक, दोनों परिवर्तनों से गुजरते हैं। पूर्ववर्ती उत्पादक बलों में वृद्धि करता है तथा तदनुरूपी राजनीतिक, विधिगत और सांस्कृतिक बदलाव होते हैं। उत्तरवर्ती प्रचलित सामाजिक तथा राजनीतिक और आर्थिक प्रबंधनों का निरूपण करता है जो ऐसे रिश्तों का समर्थन करते हैं। सामान्यतः उदारवादी सामाजिक अभिकरणों की ऐतिहासिक कथाओं को गंभीरता से नहीं लेते। इसके स्थान पर वे, परिकल्पना के तौर पर, उन्हें तथा समाज और राज्य जिसमें वे रहते हैं को सक्षम बनाते हैं, जिससे मानव प्राणी के कतिपय लक्षणों को विशेष रूप से दर्शाया जा सके, जैसाकि हॉब्बस अथवा लौक सामाजिक संविदा के गठन से पहले करते हैं।

MAADHYAM IAS

उदारवाद वास्तविकता को समझने के लिए मानवीय दिमाग के प्रति और अधिक पूर्वाभिनय (Assume) करने के लिए अभिमुख होता है। मार्क्सवाद उसके व्यक्तिपरक मूल्यांकन की बजाए वस्तुपरक यथार्थता के क्षेत्र को सीमित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त, यह उत्तरवर्ती के मुकाबले पूर्ववर्ती को प्राथमिकता देता है। तथापि, मार्क्सवाद इस बात से सहमत है कि विचार जब वे पृथाएँ बन जाते हैं अथवा लोगों के दिल और दिमाग पर काबू कर लेते हैं, स्वतंत्र अधिकारक बन सकते हैं।

उन संकल्पनाओं और वर्गों (Categories) में उल्लेखनीय अंतर है, जिनका प्रयोग मार्क्सवाद सामाजिक विश्लेषण और ऐडवोकेसी के लिए करता है; उदावाद की तुलना में। उदारवाद के लिए संकल्पनाएं और वर्ग, जैसे कि''मानवीय'' अधिकार और स्वतंत्रता, असैनिक समाज, प्रतिनिधित्व, शक्तियों का पृथकीकरण, जनमत, न्याय और समानता उसके निरूपण के प्रति संकेन्द्रिक हैं। तथापि, मार्क्सवाद का अपना फ्रेमवर्क संकल्पनाओं के निकाय के रूप में है, जैसे वर्ग और वर्ग संघर्ष, उत्पादन की स्थितियाँ, उत्पादन गठजोड़ और उत्पादक बल, आधार और बृहद ढांचा अधिक विनियोग, राज्य क्रांति और संक्रमण।

मार्क्सवाद समाज की मौलिक इकाइयों के रूप में सामाजिक वर्गों पर बल देता है। यह व्यष्टि अभिकरण को पूरी तरह कम नहीं आँकता, अपितु सामाजिक वर्गों के प्रति ऐतिहासिक भूमिका आरोपित की जाती है। कुल मिलाकर, उदारवाद, व्यष्टिगत युक्तिसंगत अभिकर्ता को विशेषाधिकार प्रदान करता है और उसको सार्मथ्य देता है कि वह स्वतंत्र निर्णय ले और अपना जीवन व्यतीत करे।

मार्क्सवाद एक वर्ग विभाजित समाज में चल रही प्रक्रियाओं की ओर ध्यान आकर्षित करता है, जो मानव जीवन के विकास पर रोक लगाता है और उसे विकृत कर देता है तथा मानव प्राणियों को समृद्ध संभावनाओं अथवा उनके जीवन पर अन्वेषण करने से वंचित रखता है। सामान्यतः उदारवाद व्यक्तियों को सहभागी आकांक्षाओं के सीमित क्षेत्र तक बांधे रखता है और उन्हें जिस प्रकार के इंसान वे बनना चाहते हैं, अपनी स्वतंत्रताओं का प्रयोग करते हुये उसके लिए आजाद छोड़ देता है।

कुल मिलाकर, उदारवाद की तुलना में मार्क्सवाद मानव कार्यों और प्रकृति से उनके संबंध के एक व्यापक विश्लेषण प्रदान करने के लिए अग्रसर होती है।

मार्क्सवाद इतर-विश्व (Other worldly) नहीं है। यह विश्व को हमारे अंत और उद्देश्यों के बारे में आगाह करता है। तथापि, इसमें कतिपय आध्यात्मिक तलाश शामिल है क्योंकि यह वस्तुओं को स्वतंत्र रूप से अवधारित करके स्वयं की समृद्ध रचना निर्धारित करता है। जहाँ उदारवाद के भीतर परिव्याप्त विचारों की लड़ी है, जो इस विश्व में मानवीय संघर्ष को सीमित करती है, यह मानव प्राणियों के लोकोत्तर और इतर-विश्व के संघर्षों को समायोजित करने के लिए अधिकाधिक खुला है। उदारवाद आसानी से आध्यात्मिक तथा विश्वेतर तलाश के लिए अधिक स्थान उपलब्ध करता है।

मार्क्सवाद ऐसी स्थिति का समर्थक है जहाँ कोई शोषण न हो और जहाँ समुदाय की संरचना स्वयं की समृद्ध स्थिति के साथ-साथ चलें। इसका ऐतिहासिक सिद्धांत एक पूँजीवादी समाज में जो इस प्रकार के अंत की ओर अग्रसर हो, वर्ग संघर्ष के तरीके पर विचार करता है। उदारवाद विभिन्न प्रकार की असमानताओं का समर्थन करते समय स्वतंत्र इच्छा के साथ उनका सतुंलन बनाए रखने का प्रयास करता है। अशोषण और अप्रपीड़न पर आधारित समाज के पीछे संघर्ष करने की बजाए विद्यमान समाज का सुधार करना इसका लक्ष्य है। समुदाय उदारवादी कल्पना की संकेन्द्रिक नहीं है। तथापि, विचारों के एक विशिष्ट निकाय के रूप में समुदायवाद के उदय से, उदारवाद बड़े तौर पर समुदाय तक पहुँचने का प्रयास कर रहा है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मार्क्सवादियों के पास संक्रांतिक निरूपण (Revolutionary Transformation) की एक भलीभाँति संरचित और भावप्रवण संकल्पना है। उदारवादी विद्यमान मानवीय स्थितियों को शाश्वत और स्थायी बनाने के लिए प्रवृत्त होते हैं और यदि वे राजनीतिक सुधारवाद को अंशदान करते हैं, यह अंतिम प्रयास के रूप में संकीर्णता से परिगत होता है। मार्क्सवादियों के लिए संक्रान्तिक निरूपण को सामाजिक रिश्तों में बदलाव के हिसाब से कार्यसूची में स्थान दिया जाता है, जबकि उदारवादियों के लिए यह अधिकारों और न्याय की रक्षा में नैतिक कार्रवाई है।

मार्क्सवादी और उदारवादी राज्य की भूमिका और आवश्यकता की संकल्पना पर एक-दूसरे से मतभेद रखते हैं। उदारवादी राज्य को अपरिहार्य बुराई के रूप में स्वीकार्य करते हैं। इसको नकारने से इसे भोगने की अपेक्षा अधिक हानि होती है। मार्क्सवादी समाज में अखंडनीय वर्ग प्रतिरोधवाद की स्थिति में उद्भूत एक ऐतिहासिक उत्पाद के रूप में राज्य को मानते हैं। समाज का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हुए, यह समाज के ऊपर शासन करता है और अभिभावी वर्गों के हितों को सुनिश्चित करता है। वे तर्क देते हैं कि राज्य वर्ग संघर्षों और वर्ग संबंधों के विघटन से मलीन हो जाएगा।

उदारवाद ने ऐतिहासिक रूप से पूँजीवाद के साथ निकट का रिश्ता कायम किया है। उदारवाद के कतिपय रूपान्तर जैसे उत्कृष्ट उदारवाद, पूँजीवाद के विकास के शुरुआती चरणों के साथ निकटता से अंतर्ग्रसित हैं। उदारवाद की कतिपय प्रवृत्तियाँ, जैसे विधि के

समक्ष व्यापार और व्यवसाय की स्वतंत्रता तथा समानता पूँजीवाद के लिए किसी मामले में तर्क देने के लिए प्रभावी रूप से नियोजित की जाती हैं। सामान्य मानवीय स्थितियों और सहभाजित नागरिकता को अपनी अपील करके, यह वर्ग संबंधों की अनदेखी करता है और उसके द्वारा वर्ग संघर्ष अभिभावी बना रहता है। यद्यपि उदारवाद को पूँजीवाद से अलग रखा जा सकता था, ऐसा करने में इसे, कम से कम अभी तक, सफलता नहीं मिली है क्योंकि जिस तरह के अधिकारों का वायदा किया जाता है, वो अधिकार उत्पादक संसाधनों की अपेक्षा निजी अधिकारों की अधिक महत्त्व देते हैं। वास्तव में, मार्क्सवाद पूँजीवाद के उन्मूलन के प्रति वचनबद्ध है और आधुनिक समाज की अधिकांश बुराइयों को देखता है, जो उसके पूँजीवाद के साथ संबंध के कारण हैं।

उदारवादी रूपांतरों की तुलना में मार्क्सवाद के विभिन्न रूपांतरों के बीच प्रमुख मतभेद भी हैं। मार्क्सवादी परम्परा के कई बार के रूपांतरों ने स्वयं को अपने प्रवर्त्तक पूर्वजों की सम्पत्ति के विश्वस्त धारकों के रूप में माना। लेनिनवाद ने मार्क्स और एंजिलस के अनन्य वारिस होने का दावा किया। इसी प्रकार, माओवाद ने स्वयं को मार्क्स, एंजिल्स और लेनिन की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया। तत्पश्चात्, उदारवादी रूपांतरों में मुश्किल से स्वयं को पूर्ववर्त्ती रूपांतरों के विश्वस्त स्वरों के रूप में दावा करते हैं। वे दार्शनिक और नैतिक सहज संबंध का दावा करते हैं न कि वफादार निरन्तरता का।

मार्क्सवाद के विभिन्न रूपांतरों पर उदारवादी रूपांतरों की तुलना में एक विशिष्ट विचारक की गहन रूप से छाप लगी है। अतः मार्क्सवाद की विशिष्टता प्रायः उनके प्रसिद्ध प्रवर्त्तक के नाम पर चलती है।

मार्क्सवाद परंपरा में, यद्यपि अनुवर्ती ने परंपरा की अनन्य वसीयत का स्वयं के लिए दावा किया, वे वस्तुतः वृद्धिगत रूप से अनन्य हो गए। इस छवि के साथ कि यह प्रामाणिक की प्रतीक थी, सहयोजित इस प्रकार की अनन्यता से दावा करने वालों के बीच में संघातिक संघर्ष हुए। तथापि, उदारवादी परम्परा ने आंतरिक मतभेदों और संघर्षों पर एक बड़ी कार्रवाई की अनुमति दी। एक की जीत से दूसरे का उन्मूलन संभव नहीं था। मार्क्सवादी रूपांतर, सभी का प्रतिनिधित्व करने के उनके दावे के बावजूद, सीमित हो गए, जबकि उदारवादी रूपांतर परंपरा के सच्चे और विशाल धारकों के रूप में आवश्यक रूप से स्वयं की दावेदारी के बिना, विशाल परम्परा कायम करने में सक्षम थे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) उदारवादी और मार्क्सवादी परम्परा के बीच पाँच महत्त्वपूर्ण अंतर लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

2) मानव स्वतंत्रता के प्रति उदारवादियों और मार्क्सवादियों के बीच अंतर बताते हुए तीन वाक्य लिखिए।

....

....

....

....

....

10.4 उदारवादी परम्परा के रूपान्तरण

उदारवादी परंपराओं में अनेक परिवर्तन हुए, क्योंकि इसके सह-सयोजकों (internal Coordinates) ने चुनौतियों और समालोचनाओं के परिणामस्वरूप विभिन्न महत्त्वपूर्ण महत्ता प्राप्त कीं। इसमें अतिरिक्त, इससे अनेक क्षेत्रीय परिवर्तन हुये, इसकी विविध विचारधारा और सामाजिक संदर्भों के अन्तरपृष्ठ के कारण।

10.4.1 क्लासिकी उदारवाद

जॉन लॉक (1632-1704), जहाँ तक इस रूपांतर का संबंध है, एक केन्द्रीय आकृति है। उसका विचारों और मनोभावों के एक सापेक्षतः संसक्त निकाय के साथ, विलय हुआ। इसने अब तक अभ्यस्त तरीकों की तुलना में उल्लेखनीय विभिन्न तरीकों से सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया के मार्ग की ओर उन्मुक्त किया और उसका दिशा निर्देशन किया। इसने विभिन्न मानदंडों और मूल्यों को लोगों के मन में बिठाया और उन्हें प्रोन्नत किया। इसने लोक संस्थाओं के लाक्षणिक गुणों का वर्णन किया तथा उन्हें अपने स्वयं के सिद्धांतों की संतीक्षा (Scrutiny) के अधीन कर दिया। इसने इसके विचारों और मनोभावों द्वारा उत्प्रेरित जीवन की राह और आम जानकारों को लोकाचार बनाने का प्रयास किया। इसने इस कार्यसूची को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरक तत्त्वों को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा की और इसके लिए, उपलब्ध वसीयतों (Legacies) पर ध्यान दिया।

क्लासिकी उदारवाद ने कतिपय व्यष्टिगत अधिकारों जैसे जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति और सम्पत्ति पर ध्यान दिया, जबकि इन अधिकारों की बोधगम्यता पर महत्त्वपूर्ण मतभेद थे, प्राकृतिक नियम जिसने मानवीय सत्ता को सूचित किया, की अभिव्यक्ति के रूप में उनकी बोधगम्यता के लिए प्रबल प्रवृत्ति थी। कई विचारकों, जिन्होंने इस रूपांतर को स्वीकार किया था, का तर्क था कि मानव सत्ता को समाज में बदला गया तथा उसे एक सामाजिक संविदा के माध्यम से एक सार्वजनिक इच्छा और प्राधिकार के तहत नियंत्रित किया गया। इस प्रकार के रचना विन्यास में, मानवीय प्रकृति को संघात्मक बंधनों और संबंधों में और के माध्यम से गठित करने के बजाए पूर्व-सामाजिक के रूप में ग्रहण किया गया। मानवीय प्रकृति को इस रूपांतर के द्वारा एक समय रहित और सार्वभौमिक मानदण्ड के माध्यम से एक ऐतिहासिक और संदर्भाधीन एकांतवास से हटाकर एक रूप दिया गया। क्लासिकी उदारवाद, विशेषकर इसके रूपांतर का विश्वास था कि निजी सम्पत्ति नागरिक समाज द्वारा पैदा नहीं की गई थी, अपितु वह इससे पहले नागरिक समाज और राज्य को इसमें हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं था। इस रूपांतर में, स्वतंत्रता में प्रतिरोध न होने की स्थिति में नकारात्मक अनुभव के रूप ग्रहण की गई थी।

क्लासिकी उदारवाद ने नागरिक समाज और राज्य को मूल रूप से अधिकारों के संरक्षक के रूप में देखा। अतः राज्य कुछ अन्य मूल्यों को प्रोन्नत करने के नाम पर अधिकारों में दखल नहीं दे सकता था, अथवा अधिकारों के क्षेत्र पर सीमा अधिरोपित नहीं कर सकता था, जब तक अधिकारों के संरक्षण को स्वयमेव ऐसी दखलंदाजी की आवश्यकता न हो। इसने एक सीमित शासन का समर्थन किया। इसने शासन को सीमाओं के भीतर रखने के लिए कई तरीकों का प्रस्ताव किया। अधिकारों के क्षेत्र ने एक नागरिक समाज को जन्म दिया जो कि विभिन्न संघों और समूहों से बना था और राज्य की गतिविधि पर निरन्तर नियंत्रण और निगरानी रखता था। विभिन्न स्वतंत्रताओं के होने से नागरिक समाज शासन के विभिन्न अंगों पर अविरल और सतत निगरानी रखने में सक्षम हुआ। एक प्रतिनिधि विधायिका, शक्ति का पृथकीकरण, सार्वजनिक प्राधिकार का फैलाव सुनिश्चित करना और आवधिक निर्वाचन इस रूपांतर के मनोभाव के केन्द्र में थे। इसने बहुमत के शासन की बजाए बहुमत की सहमति स्वीकार की। इसने अपने मत के द्वारा अपनी प्रतिनिधिक-प्राथमिकता को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक प्रौढ़ की अपेक्षा की। वास्तविक प्रतिनिधित्व, अर्थात्, इस प्रकार कार्य करने के लिए हकदार लोगों का प्रतिनिधित्व, पर्याप्त था।

इस रूपांतरण का आर्थिक प्रतिस्थायी युक्त बाज़ार और अहस्तक्षेप नीति थी। वस्तुतः, उत्कृष्ट उदारवाद प्रशंसनीत तौर पर उभरते हुए नागरिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति पर अपने स्वभावगत बल, सीमित और औपचारिक स्वीकृत स्वतंत्रता तथा व्यापार की स्वतंत्रता पर बल के साथ एक विचारधारा के रूप में रास आया। बाज़ार में अभिव्यक्त विनिमय की स्वतंत्रता विनिमय दर उत्पाद के उचित मूल्य नियत करने के लिए वांछित थी। इसके अर्थानुसार, राज्य को मुकाबले रखा गया था।

10.4.2 नया उदारवाद

नये उदारवाद के कई विचार, जिन्होंने स्वयंमेव 19वीं शताब्दी के अंत तक उदारवाद के एक विशिष्ट रूपांतर के रूप में समेकन किया, आरंभ में ज़ौं ज़ाक रूसो (1712-1778) द्वारा व्यवस्थित किए गए। उनके लिए स्वतंत्रता मात्र चुनिन्दा स्वतंत्रता नहीं थी, अपितु लोगों की रचनात्मक योग्यता है जो मानव की सत्ता को महसूस कर सके। समुदाय के कार्यों में भागीदारी से किसी एक की जिम्मेदारी पर एकमात्र संसाधन, जिसकी समाज-पूर्व राज्य में मौजूदगी दर्ज की जा सकती थी, के प्रति सामूहिक संसाधनों को रखकर पर्याप्त रूप से रचनात्मक संभावनाओं का विस्तार किया। राजनीतिक समुदाय और उसकी प्रक्रियाओं में सहभागिता से वास्तविक इच्छा को तलाश करने तथा विगत और विलम्बित विशेषाधिकारों की आकस्मिकताओं को बहा देने की क्षमता आई।

नया उदारवाद, जर्मन ज्ञान जागरण (Enlightenment) के विचार, विशेषकर, एम्मैनुएल कान्त और एफ. डब्ल्यू. जी. हेगल के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। कान्त ने एक वास्तविक, और बुद्धिपरक व्यक्तित्व, जिन्हें वह इन्द्रियों द्वारा उत्तेजित किए जाने पर इच्छाओं द्वारा प्रेरित-एक उन्नत और एक अवनत व्यक्तित्व के रूप में मानते थे, के बीच अंतर किया। उन्नत आत्मा स्वतंत्रता का सही मार्ग था। कान्त के लिए सच्ची स्वतंत्रता पराधीनता की अधीनता से स्वतंत्रता थी। कान्त ने लिखा, ''ऐसी स्वतंत्रता कठोरतम स्थिति अर्थात् लोकोत्तर भाव से स्वतंत्रता'' कही जाती है।

यह शुद्ध स्वायत्त बुद्धिपरक इच्छा की स्वतंत्रता है, जो सही तौर पर शुद्धतः औपचारिक नैतिक नियम जो स्वयं पर लागू किया जाता है, के अनुसार है। रुचि की संतुष्टि अथवा सीमाओं की बाधा ऐसी स्वतंत्रता पर बाधा नहीं है। अपितु प्रत्येक ऐसी बात है, जो शुद्ध कारण के आधार पर नैतिक जीवन में बाधा डालती है। हेगल ने कान्त की स्वतंत्रता को

MAADHYAM IAS

एक सामाजिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति देने की माँग की। उसका तर्क था कि विशेष और सीमित प्रयत्न के क्षेत्र में अभिव्यक्त स्वतंत्रता स्वयमेव स्वतंत्रता के रूप में भ्रमित करती है। उन्होंने तर्क दिया :

> ''राज्य, एक सम्पूर्ण नैतिकता है, जो वास्तविकता का वह स्वरूप है जिसमें व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता होती है और वह उसका आनन्द लेता है, परन्तु उसके पहचाने जाने की शर्त पर, उस पर विश्वास करके यह इच्छा करनी पड़ती है जो सर्वनिष्ठ है।''

थॉमस हिल ग्रीन (1836-1882) ने नये उदारवाद रूपांतर की रचना विन्यास किसी अन्य की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित किया। उन्होंने राजनीतिक समुदाय की गुणवत्ता और उसकी संस्थाओं की ओर ध्यान आकर्षित करके उत्कृष्ट उदारवाद की शब्दावली को उलट क्रम में करने का प्रयास किया, जिससे उस तरह की प्राथमिकता के लिए सक्षम हो जाएँ जो वैसा करना चाहे/ उनका तर्क था कि ऐसा समुदाय जिसका अपना कानून और शासन है और जो ताकत पर विश्वास नहीं करता अपितु अपने नागरिकों की सहमति पर विश्वास करना है, स्वतंत्रता के लिए अपरिहार्य शर्त है। ऐसे समुदाय के सदस्य एक-दूसरे के प्रति आभार महसूस करते हैं और यह ऐसे चिन्तन और समर्थन हैं, जिससे कोई भी उस प्रकार की रुचियाँ कर सकता है जो वह चाहता है। इस अनिवार्यता के अधीन नागरिक राज्य और अन्य नागरिकों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को स्वीकार करते हैं, क्योंकि इस प्रक्रिया में उनके निजी जीवन और स्वतंत्रता में सम्मान प्राप्त होता है और उसे प्रोन्नत किया जाता है।

नए उदारवादियों के लिए स्वतंत्रता ऐसा मूल्य है, जिसका पोषण किया जाना चाहिए। तथापि, इस प्रकार के मूल्य को बनाए रखने के लिए विशेष प्रकार का राज्य और समाज पूर्व शर्तें हैं। स्वतंत्रता के लिए नैतिक रूप से निर्मित व्यष्टियों की आवश्यकता होती है और सामाजिक संस्थाएँ ऐसे व्यष्टियों का निर्माण संभव बनाती है। ये संस्थाएँ वस्तुतः अपने सदस्यों के क्रियाकलाप की अभिव्यक्ति हैं।

MAADHYAM IAS

ग्रीन की व्यवस्था में अधिकार और कानून स्वतंत्रता के अंतरंग थे। अधिकार उन स्वतंत्रताओं की रक्षा करते हैं, जिसे व्यष्टि और सामाजिक ग्रुप अपने लिए दावा करते हैं और उसकी दूसरों को संस्वीकृति देते हैं। कानून में, राजनीतिक हितों से ऊपर उठ रहे हैं और प्रतिबंधों को लागू कर रहे हैं। विधितंत्र नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है। राज्य बाधाओं को दूर करता है और नैतिक विकास के पक्ष में हालात तैयार करता है। राज्य एक समाज के मात्र सरकारी और कानूनी संस्थाएँ ही नहीं है, अपितु नागरिकों और स्वतंत्र संघों को शामिल करता है, जो शासकीय निर्णयों और नीतियों के निर्माण और कार्यान्वयन में भागीदारी निभा रहे हैं।

नये उदारवाद ने मानव स्वभाव को काल रहित होने की बजाए गतिपूर्ण होने के लिए पुनःसंकल्पना की। मानव स्वभाव विशिष्ट प्रकार के नियमों द्वारा सुगठित अथवा कुगठित होता है तथा उस पोषण का समर्थन करता है तथा बदले में उसका और उन नियमों का पोषण करता है, उस प्रकार की माननीय सत्ता को प्रतिबिम्बित करता है जो उनको स्थायित्व प्रदान करती हैं।

नये उदारवाद ने आर्थिक प्रतिरोधवादी नीतियों, कल्याण उपायों और धन के पुनः वितरण के लिए मार्ग खोल दिया। इसमें बेरोज़गारी और गरीबी की समस्याओं से निपटने के लिए दलीलें और न्याययुक्तता मुहैया कराई गई। उसने और अधिक समानतावाद तथा सहकारी समाज की माँग की। ह्रष्ट-पुष्ट नागरिक वर्ग के निर्माण के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में संस्थाओं के स्वास्थ्य पर नए उदारवादियों द्वारा ज़ोर देना एक राज्य के निर्माण के लिए एक शक्तिशाली स्पंदन था।

10.4.3 इच्छा स्वातंत्र्यवाद

विगत तीन दशकों में, अर्थव्यवस्था और समाज में राज्य की भूमिका को सीमित और परिगत करने तथा बाज़ार की भूमिका का मूल्यांकन करने के लिए सतत प्रयास किया गया है। इससे उदारवाद का इच्छास्वातंत्र्यवाद नामक एक रूपस्तर प्रचलन में आया है। यह स्वतंत्रता बनाम अन्य मूल्यों की प्राथमिकता का दावा करता है। यह उदारवाद की बाज़ार के अस्तित्व के साथ अनुक्षेप सीमा तक संकीर्ण बनाता है, जिसमें यह स्वतंत्रता का मूर्त रूप देखता है। इच्छास्वातंत्र्यवाद के कुछ प्रसिद्ध वक्ता हैं रॉबर्ट नॉज़िक, मिल्टन फ्रीडमैन और एच.ए. ह्येक।

इच्छास्वातंत्र्यवादी कल्याणकारी राज्य की तलाश करते हैं जो उनके विचार में 'असीमित' हो चुका है। यह उस समय कार्य करता है, जब उसे पता चलता है कि नागरिकों के लिए क्या अच्छा है, बजाए इसके कि नागरिक निर्णय करें कि उनमें से प्रत्येक के निजी हेतु क्या अच्छा है। यह शासनों के प्रति उन बहुमतों द्वारा संकटापन्न है, जो लूट-खसोट, मुनाफे के विभाजन के लिए विभिन्न ग्रुपों के साथ सौदेबाजी तय करके सत्ता हासिल करने के लिए अपभ्रष्ट कार्यों में लग चुके हैं। बहुमत का शासन विभिन्न अल्पसंख्यक हितों के गठबंधन पर आधारित शासन बन गया है। इच्छास्वातंत्र्यवादी, इस प्रकार, उदारवाद को बहुमत के शासन से अलग करने के लिए संघर्षरत हैं।

ऐसी स्थिति के विरोध में जहाँ सरकारें जैसा उचित समझती हैं, किसी भी प्रकार का कानून बनाने के लिए स्वतंत्र हैं, वहाँ इच्छास्वातंत्र्यवादी इस बात का पक्ष लेते हैं कि लोगों को चयन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए (मिल्टन फ्रीडमैन और उनकी पत्नी द्वारा एक पुस्तक का शीर्षक 'फ्री टू चूज़' है)। वे एक ऐसे अल्पतम राज्य की माँग करते हैं जो खेल के नियमों को अवधारित करने, उनका पंचाट करने तथा उन्हें लागू करने के लिए पूर्णतः चिन्तित होंगे। वे नैतिक हकदारी को उस राज्य से हटाकर समाज निर्माण करने वाले व्यष्टियों को अन्तरित करना चाहते हैं, जो इस पर स्वयं के लिए अनाधिकार चेष्टा करने लगता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सम्पत्ति का अधिकार, जिसे इच्छा स्वातंत्र्यवादी एवं समागम का मामला मानते हैं, उनके द्वारा स्वतंत्रता के मध्य में माना जाता है। एफ.ए. हयेक का कहना था :

> ''जो कुछ हमारी पीढ़ी भूल चुकी है वह यह है कि निजी सम्पत्ति की व्यवस्था स्वतंत्रता के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिभूति है, जो केवल उन्हीं के लिए नहीं जो सम्पत्ति के मालिक हैं, अपितु बमुश्किल उनके लिए कम होगी जो इसके मालिक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि उत्पादन के साधनों का नियंत्रण स्वतंत्र रूप से कार्यरत लोगों के बीच विभाजित कर दिया जाता है, क्योंकि हमारे ऊपर किसी की पूर्ण सत्ता नहीं है और हम व्यष्टियों के रूप में निर्णय ले सकते हैं कि हमें स्वयमेव क्या करना है।'' (एफ.ए. हयेक, द रोड टू सर्फडम, लंदन, रूट लैज, 1944, पृ.78)

इच्छास्वातंत्र्यवादी स्वतंत्रता, बाज़ार, नीतियों तथा उपायों के दक्ष अनुपालन के मध्य एक अखंडनीय बंधन स्थापित करने का प्रयास करते हैं। वे महसूस करते हैं कि स्वतंत्रता का अस्तित्व अदूरदर्शनीय तथा अप्राक्कथनीय की संभावना छोड़ देता है, जिसके ऊपर विज्ञान और सभ्यता निर्भर करती हैं। वे तर्क देते हैं कि सर्वाधिक उपयोगी ज्ञान वह है जो जन्मजात विकेन्द्रीकृत है और त्वरित अनुयोजन के लिए व्यक्ति के पास उपलब्ध होता है, न कि योजनाकारों के पास। भूमिस्थ स्थिति में परिवर्तनों से व्यापक रूप से निरूपित योजनाएँ अप्रचलित हो जाती हैं। एक व्यष्टि सुसंगत और उचित जानकारी से बेहतर सुसज्जित होता है और उसे कल्याणकारी राज्य लालफीताशाही की अपेक्षा अधिकतम

प्रयोग में लाता है। बाज़ार सुसंगत जानकारी का प्रसारण करके युक्तिसंगत आबंटनीय निर्णयों को सहज बनाते हैं। उनके अनुसार बाज़ार स्वतंत्र अधिकारियों के रूप में जो अपने रणक्षेत्र में स्वयमेव स्वतंत्र रूप से बातचीत करते हैं, बल प्रयोग नहीं कर सकता है। अतः एक स्वतंत्र व्यवस्था के फलने-फूलने के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि कानून का शासन प्रचलित रहे, अपितु यह सुनिश्चित करता है कि बाज़ार सहिष्णुतापूर्वक भली-भाँति कार्य करता रहे।

10.4.4 समतावादी उदारवाद

उदारवाद का एक महत्त्वपूर्ण रूपांतर जो हाल के वर्षों में सन्निबद्ध हुआ है, समतावादी उदारवाद रहा है। जॉन रॉल्स की *ए थ्यौरी ऑफ जस्टिस* (1971) और *पॉलिटीकल लिबरलिज़्म* (1893) में प्रस्तुत अग्रणी रचना ने इस परिप्रेक्ष्य के विस्तार के लिए महान् योगदान किया है। *ए थ्यौरी ऑफ जस्टिस* उपयोगितावाद की समीक्षात्मक है, जो लोकनीति और संस्थाओं की निष्पक्षता का निर्धारण करने के लिए निबल सकल संतुष्टियों (Net Aggregate Satisfactions) को नियोजित करता है। राल्स महसूस करते हैं कि ऐसी स्थिति से उस बहुसंख्यावाद जो अधिकारों के द्वारा उपयोगिता को प्राथमिकता नहीं देता, के स्वरूप का समर्थन करने वाली प्राथमिकता से पूर्व अच्छाई का निर्धारण करके और दूसरों की संतुष्टि के लिए मानव व्यक्तियों को सहायक बनाने के लिए प्रवृत्त होने से स्वतंत्रता को कम आँकने का जोखिम बना रहता है।

उपयोगितावाद के सिद्धांत के विरुद्ध और इम्मानुएल कांत के नैतिक सिद्धांत पर कटाक्ष करते हुए रॉल्स तर्क देते हैं कि न्यायप्रिय व्यवस्था "अपने अंत से पहले स्वयं" और "भलाई से पहले अधिकार" के सिद्धांतों के आधार पर होनी चाहिए। यह स्वयं ही है जो विचारों और रुचियों के माध्यम से व्यक्ति का मार्ग अवधारित करते हुए कतिपय पूर्व-प्रदत्त माना जाता है, चूँकि यह हमारे क्रियाकलाप को निमंत्रित करने वाले कतिपय पूर्व लक्ष्यों के प्रति वचनबद्ध नहीं होता। रॉल्स ऐसे सिद्धांतों के सूत्रीकरण के लिए सामाजिक संविदा युक्ति का आश्रय लेते हैं जिन सिद्धांतों पर अपनी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को आधार प्रदान करने के लिए सभी सहमत हो सकते हैं। ये सिद्धांत हैं : (1) प्रत्येक व्यक्ति को सर्वाधिक व्यापक मौलिक स्वतंत्रता, जो दूसरों के लिए समान स्वतंत्रता के अनुरूप हो, का समान अधिकार है, (2) सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रताएँ इस क्रम में व्यवस्थित की जाएँ कि वे दोनों (क) न्यूनतम लाभ प्राप्त को अधिकतम लाभदायक हों तथा (ख) उन कार्यालयों और स्थितियों से जुड़ी हों, जो अवसर की निष्पक्ष समानता के शर्तों के अधीन सभी के लिए खुली हों। इनमें प्रत्येक सिद्धांत के अपने परिमाण होते हैं। प्रथम सिद्धांत विशिष्ट अधिकारों और कर्तव्यों को जन्म देती है जैसे बोलने की स्वतंत्रता, सभा, अंतश्चेतना, (Conscience) व्यक्तिगत सम्पत्ति और मतदान और कार्यालय बनाने के संबंध में राजनीतिक स्वतंत्रता। दूसरा सिद्धांत धन और शक्ति का निष्पक्ष वितरण विनियमित करता है। रॉल्स इन सिद्धांतों के आधार पर एक संवैधानिक, विधिक, न्यायसंगत और नागरिक जीवन का प्रस्ताव करता है।

राजनीतिक उदारवाद में, रॉल्स, को लगता है कि *ए थ्यौरी ऑफ जस्टिस* में उनके द्वारा प्रस्तुत संकल्पना में उन्होंने बहुलता को हिसाब में नहीं लिया है, अपितु जीवन के युक्तिसंगत व्यापक लक्ष्यों की ओर ध्यान दिया है जो आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में प्रचलित हैं। इस प्रयोजनार्थ वह निष्पक्षता के तौर पर स्वतंत्र-अचल विचार को न्याय के रूप में देखने का प्रस्ताव करता है जिस पर जिंदगी के युक्तिसंगत तरीके सहमत हैं और उसके ह्रास, एक अतिव्याप्त आमराय पर पहुँचता है। तदनुसार, वह दोनों सिद्धांतों में संशोधन करते हैं जो कि *ए थ्यौरी ऑफ जस्टिस* में एक सीमा तक प्रस्तावित किया। ये सिद्धांत तीन घटकों पर ज़ोर देते हुए उदारवाद के समानतावादी स्वरूप का समर्थन करते हैं और उसकी

अभिव्यक्ति करते हैं। ये तीन घटक हैं : (क) राजनीतिक स्वतंत्रताओं के उचित मूल्य की प्रतिभूति जो उनके शुद्ध औपचारिक मूल्य के अनुरूप नहीं है; (ख) अवसर की निष्पक्ष समानता और (ग) भिन्नता का सिद्धांत जिसके अनुसार सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को समायोजित करना, ताकि न्यूनतम लाभ प्राप्त करने वालों को अधिकतम लाभ उद्भूत हो।

10.4.5 अन्य उदारवादी रूपान्तर

10.4.5.1 देश विशिष्ट उदारवादी परम्पराएँ

उदारवादी परम्परा के रूपांतर जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, विचारों/विश्वासों तथा मूल्यों के आर-पार महत्त्व और संबंध तथा परिणामों जो उनसे भिन्न रूप से सामने आते हैं, का बोध कराते हैं। रूपांतरों ने विभिन्न समाजों में अपनी निजी विशिष्ट छाप छोड़ी। इनमें से कुछ समाजों ने दूसरों के संबंध में कतिपय रूपांतरों की महान् सापेक्षता का प्रदर्शन किया। उदाहरणार्थ, नए उदारवाद ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर और कई वर्षों तक आज़ादी के बाद देश की नीतियों पर भारी प्रभाव कायम किया। विभिन्न देशों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और उनकी संवैधानिक, विधिक और राजनीतिक अभिव्यक्तियों ने इनमें से कुछ रूपांतरों को घरेलू बना दिया जिससे उनकी उदारवादी परम्पराएँ बड़े तौर पर स्वदेशी बन गईं।

10.4.5.2 संयुक्त राज्य अमेरिका में उदारवाद

उदारवाद के अमेरिकी रूपांतर ने विचारों के कतिपय विशिष्ट निकाय को सामने रखा, जिसने वर्षानुवर्ष उदारवाद के विभिन्न रूपांतर जो प्रचलित हो गए थे के साथ अन्तर-क्रिया की। संयुक्त अमेरिका में, प्रतिनिधित्व का अधिकार ब्रिटेन की तरह वास्तविक नहीं था तथा यह राजनीतिक समुदाय के हितों से न जुड़कर कुल मिलाकर निर्वाचन क्षेत्र और उसके मतदाताओं की चिन्ताओं से जुड़ा हुआ था। इसके अतिरिक्त, प्रतिनिधित्व पद्धति के माध्यम से लोगों की 'बेहतर किस्म' की पहचान करने पर बल दिया गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका में, सम्पत्ति और स्थानीय हितों पर बल देना अपेक्षाकृत अधिक मज़बूत था। इसके अलावा, शासन ने ब्रिटेन में दृश्यमान अहस्तक्षेप नीति सिद्धांत की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका में उसे अधिकाधिक प्रतिरोधवादी शर्तों पर ग्रहण किया था। उसी समय, लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा, जिसे लोगों ने राजनीतिक समुदाय के रूप में निरंतर प्रयोग किया और उसका संरक्षण किया, संयुक्त राज्य अमेरिका में गहरे तक बैठ गई। उदारवाद की संस्थागत जटिलता पर भी विभिन्न तरीकों से ज़ोर दिया गया। विभेदक संप्रभुता जिसने स्थानीयवाद को बढ़ावा दिया और केन्द्रिकता के खतरे को कम किया, ने ब्रिटेन की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्र रूप से अधिक जोर दिया। नागरिक संघों और संयुक्त राज्य अमेरिका में उनके राजनीतिक महत्त्व का महान् फ्रैंच राजनीतिक दार्शनिक, एलेक्सिस ऐ, तॉकवी द्वारा उल्लेख किया गया। उन्होंने इसे लोकतांत्रिक तानाशाही के प्रति प्रतिभार के रूप में देखा, जिसे उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका में संभाव्य खतरे के रूप में महसूस किया।

> ''यदि मानवों को सभ्य बने रहना है कि अथवा ऐसा होना है तो एक-दूसरे के साथ जुड़ने की कला का उसी अनुपात में संवर्द्धन और सुधार होना चाहिए जिस अनुपात में समानता की शर्तों का विस्तार होता है'', (ए.द. तौकवि, डैमोक्रेसी इन अमेरिका, न्यूयार्क, रैण्डम हाउस, पृ. 118)

अमेरिकी उदारवाद ने बहुलवाद के अपने लाक्षणिक विचार को उखाड़ फेंका। इसका तर्क था कि राज्य भी अनेक संघों में एक संघ है, जो एक विशेष समय पर व्यक्ति को कार्यरत

करता है। वही दूसरे भी संगठन हैं जिनके साथ व्यक्ति अपने हितों और वफादारियों के सापेक्षतः बँध जाता है तथा प्रत्येक संघ अपने निजी चुनिंदा क्षेत्र में उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार, राज्य के पास कोई अधिभासी शक्तियाँ नहीं होती और उसे अन्य संघों के साथ कार्य करना आवश्यक हो जाता है।

10.4.5.3 महाद्वीपीय यूरोप में उदारवादी परम्परा

महाद्वीपीय यूरोप में उदारवादी परम्परा जटिल और परतदार है। फ्रांस में पूर्व रूसी उदारवादी परम्परा कतिपय विशिष्ट प्रबल प्रभाव वाली थी। वोल्टैयर की रचना में भाषण, विश्वास, संघ और प्रैस की विभिन्न स्वतंत्रताओं की घोषणा की गई थी। प्रकृतितंत्रवादियों ने ज़ोरदारी से बाज़ार की स्वतंत्रता का तर्क दिया। दार्शनिकों ने सभी पुरुष और महिलाओं के एक बंध के द्वारा संयुक्त करने की युक्ति पर बल दिया। फ्रांस में एक शक्तिशाली नागरिक-गणतांत्रिक परम्परा भी थी, जिसने कई बार उदारवादी प्रतिष्ठानों और कार्यवृत्तों से हाथ मिलाया।

रूसो की सम्पूर्ण लोकतंत्र की संकल्पना और वह सम्बन्ध जो उन्होंने इसके और स्वतंत्रता के बीच स्थापित किया, गुटों और हितचिंतक ग्रुपों के गठन के प्रतिकूल हो गए। गुटों ने हिमायती संस्थाओं का समर्थन किया और वे आमराय का वास्तविक इच्छा के साथ सामंजस्य नहीं बिठा सके। फ्रैंच राज्य जिसे आमराय का धारक माना गया था, नागरिकों के साथ सीधा संबंध रखने वाला माना गया था। नागरिकों और राज्य के बीच अन्य कोई हित नहीं थे। उसके प्रतिकूल, अमेरिकी शैली का बहुलवाद ऐसे हितों के दावे के साथ फला फूला था।

महाद्वीप के अन्य हिस्सों में उदारवाद ने प्रबलतापूर्वक बुद्धिवादियों की अधिछवि ग्रहण की। जर्मनी में यह स्थिति विशेष रूप से थी। इसे राजतंत्र संघीय विघटन के विरूद्व निर्देश दिया गया और गिरजाघर का विश्वाशों और नैतिक चरित्र पर प्रभुत्व।

MAADHYAM IAS

परम्परा और राष्ट्रवाद के बीच संबंध उभयभावी बना रहा। जब उदारवाद ने स्वँयमेव संघीय विघटन का निर्देश देते हुए। स्वँयमेव राजतंत्र और गिरजाघर को समेकित किया, यह प्रायः राष्ट्रवाद के साथ गया और इसने उदारवाद के रूपांतर को समेकित किया जिसे उदारवादी कहा गया। परन्तु, गिरजाघर और परम्परागत हितों द्वारा समर्थित राष्ट्रवाद का एक रूप उभरा जिसने स्वँयमेव उदारवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध निर्देश दिया।

10.4.5.4 भारत में उदारवादी परम्परा

भारत में एक उदारवादी धरोहर है जो अब से लगभग 200 वर्ष पहले से चली आ रही है। इस परम्परा में कुछ विशिष्ट चरण हैं। इसने भारत में राष्ट्रीय परियोजना के अंतरंग के रूप में सामाजिक सुधारों का आह्वान किया, जिसे उसी समय उदारवादी के रूप में स्वीकार कर लिया गया। भारत में उदारवादियों का तर्क था कि देश में विद्यमान सामाजिक संस्थाएँ अधिकारों और स्वतंत्रताओं की प्राप्ति के लिए प्रेरक नहीं थीं। सामाजिक सुधारों का उद्‌देश्य जाति प्रथा और लिंग संबंधों में सुधार करना था। उन्होंने स्वँयमेव प्रचलित बुराइयों जैसे सतीप्रथा, विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक और निरअक्षरता के विरुद्ध निर्देश दियां। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के विपरीत भारतीय उदारवाद ने उत्साह से संवैधानिक सुधारों की मांग की। संवैधानिकवाद भारत में उदारवादी परियोजना का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ बन गया। उदारवादियों ने भारत में अस्पृश्यता के अस्तित्व पर दोषारोपण किया और उसके तत्काल उन्मूलन की माँग की। वे एक शासकीय परिसर के पक्ष में थे जहाँ सत्ता विभिन्न अंगों के बीच आबंटित और विकेन्द्रीकृत, दोनों हों। धर्मनिरपेक्षवाद भारत में उदारवादी

परियोजना के लिए अंगभूत था। इसने माँग की कि धर्म को राज्य के कार्यों के साथ न जोड़ा जाए, किसी धर्म को दूसरे धर्म के ऊपर प्राथमिकता न दी जाए और राज्य धार्मिक मामलों में तटस्थ बना रहे। तदनुसार, सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार भी भारत में उदारवादी धरोहरों में जड़ जमाए हुए हैं।

भारत में उदारवादी परियोजना में एक मज़बूत राज्य अन्तर्ग्रस्त था, जिसने नागरिकों और समूहों को उन उद्देश्यों और मूल्यों का अनुसरण करने के योग्य बनाया, जिन्हें उन्होंने अपना निजी माना और जो उनकी परियोजना के अधिकांश लक्षणों के अनुरूप थे। ऐसा राज्य शक्तियों के विभाजन और वितरण तथा उनके विकेन्द्रीकरण और भारत की महान् विविधता को दुहरा करने के लिए ताना-बाना बुनने में उलझ गया। नागरिकों के साथ समान व्यवहार को ग्रुपों और समुदायों के विभेदीकृत (Preferential) माना गया; उन ग्रुपों और समुदायों के साथ व्यवहार जिसे एक प्रकार या अन्य प्रकार से नुकसान उठाना पड़ा।

भारत में उदारवादी परियोजना राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की माँगों के साथ विषम स्थिति में विद्यमान है। इसने अपने नागरिकों से अन्य सभी को समान सम्मान देने की माँग करते हुए असाधारण माँगें की जो अपरिहार्य रूप से, विशेषकर युगों पुरानी वंशानुक्रम संबंधों और जीवन के अनन्य तरीकों के संदर्भ में विभेदक सम्मान की सूचक हैं।

भारत में उदारवादी परम्परा के विस्तार के उपरोक्त तीन मामले अंतिम नहीं हैं। तथापि, वे रंग-बिरंगे स्वागत का प्रदर्शन करते हैं जो इस परम्परा को विश्वभर में प्राप्त हुआ।

10.4.5.5 संयोजन में उदारवादी

प्रमुख तरीकों जिनसे उदारवाद को स्वीकार्य होने में सफलता मिली है, में से एक तरीका यह है कि जीवन के रंग-बिरंगे परिप्रेक्ष्यों और तरीकों को सहयोजित कर दिया जाए। 'उदारवादी सामुहिकतावाद' जैसे हाल ही में हुए संयोजनों के सापेक्षतः 'उदारवादी लोकतंत्र' और 'उदारवादी राष्ट्रवाद' जैसी व्यापक रूप से स्वीकृत व्यवस्थाओं के ऐसे संयोजनों की एक चकित करने वाली संख्या है। ऐसे सभी प्रयोगों में, शब्द 'उदारवादी' के समान लक्ष्य नहीं हैं। अपितु, इसने गहनरूप से संदर्भयुक्त अर्थ प्राप्त किया हुआ है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) राज्य के संबंध में क्लासिकी उदारवाद और नए उदारवाद के बीच अंतर तीन वाक्यों में लिखें।

....

....

....

....

2) निम्नलिखित मुद्दों के संबंध में उदारवादियों के अभिगम पर दो वाक्य लिखें :

i) लोकहितकारी राज्य ii) बहुमत का शासन

iii) निजी सम्पत्ति iv) बाज़ार

3) उदारवादी परम्परा के लिए जॉन रॉल्स के तीन महत्त्वपूर्ण योगदानों पर चर्चा करें।

i)

ii)

iii)

4) अमेरिकी उदारवाद के तीन लाक्षणिक स्वरूपों की पहचान करें।

i)

ii)

iii)

5) उदारवादी परम्परा के चार लक्षण लिखें जो भारत में प्रचलित हुए।

....

....

....

....

....

10.5 मार्क्सवादी परम्परा के रूपान्तर

उदारवादी परम्परा की तरह मार्क्सवादी परम्परा की भी अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं, क्योंकि इसने बदलते हुए संबंधों के विशाल निकाय को प्रतिपादित और स्पष्ट किया तथा यह विशिष्ट और असमान रूप से विकसित समाजों पर लागू की गई। इस परम्परा के निम्नलिखित रूपांतर उल्लेखनीय हैं :

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

10.5.1 मार्क्सवाद

मार्क्सवाद विचार और समाज के उस निकाय का हवाला देता है जिसके 19वीं शताब्दी के द्वितीय अर्द्धशतक से पूँजीवाद समाज के विरुद्ध निर्देशित सुधारवादी बल सामने आये। इन सुधारवादी बलों का प्रमुख मज़दूर वर्ग था। कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने इस विचार के केन्द्रीय को अभिव्यक्ति दी तथा उभरते हुए समाजवादी आन्दोलन को मूर्त्त रूप दिया। उनके दोस्त और साथी, फ्रीडरिच एंजिल्स (1820-1895) इस प्रयास में उसके जीवन भर भागीदार रहे।

विचार के एक प्रकार के रूप में, मार्क्सवाद जर्मन आदर्शवाद, ब्रिटेन में संकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और काल्पनिक समाजवाद के विभिन्न प्रकारों, समालोचना करके प्रतिपादित किया गया था। कि जो अलग-अलग समय पर प्रचलित रहे। इसने वैज्ञानिक समाजवाद होने का दावा किया और तर्क किया कि समाजवादी प्रथा सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध निर्देश देती है और इसका केवल श्रमजीवी वर्ग द्वारा नेतृत्व किया जा सकता है। इसने विकासों का निरूपण किया जिनके कारण पूँजीवादी विधि से उत्पादन हुआ, इसको सूचना देने वाले विभिन्न संबंधों को अलग-अलग किया तथा इन संबंधों का कायाकल्प करने में मज़दूर वर्ग की भूमिका का सुझाव दिया। पूँजीवाद के असमान विकास की स्थिति में, इसने विभिन्न देशों में मज़दूर वर्ग की भूमिका को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखा। कुछ मामलों में, यह

लोकतांत्रिक क्रांति के लिए गठबंधन का मुखिया हो सकता था और कहीं और, समाजवादी क्रांति के गठबंधन का।

मार्क्स ने अपनी सामाजिक बोधगम्यता को एक विशिष्ट दार्शनिक और ज्ञानमीमांसीय, आधार पर आगे बढ़ाया जिसे उन्होंने *भौतिकवादी द्वंद्ववाद* पुकारा और जिसे लोकप्रियता से *द्वंद्वात्मक भौतिकवाद* के रूप में जाना जाता है। उन्होंने 'स्व' (Being) और सोच के मध्य भेद किया और उत्तरवर्ती के मुकाबले पूर्ववर्ती को प्राथमिकता दी। इस परिप्रेक्ष्य की कुछ लक्षणात्मक विशेषताएँ इस प्रकार थीं : सत्ता का रूप अन्तर्सम्बन्धित परन्तु विरोधाभासी है। वास्तविकता का अन्तर्सम्बन्धित और विरोधाभासी लक्षण अपनी विभेदक और असमान अभिव्यक्तियों को प्राप्त कर लेता है और इसके रूपांतर का मार्ग प्रशस्त करता है। रूपांतरण दो प्रकार के होते हैं : प्रथम परिमाणात्मक है, जिसमें वास्तविकता का मूल लक्षण परिवर्तित नहीं होता है। दूसरा सत्ता के मूल लक्षण को बदल देता है, क्योंकि सत्ता के गठन के आंतरिक विरोधाभास उभर आते हैं और इसका नए सिरे से पुनर्गठन होता है। तथापि, नये विरोधाभास उस समय भी होते हैं जब परिमाणात्मक परिवर्तन होता है। वस्तु के गठन में होने वाले विरोधाभासों के प्रकार की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, अपितु उसे जानने की आवश्यकता होती है। लेनिन ने बाद में इसे ''सजीव स्थिति का सजीव विश्लेषण'' का नाम दिया।

मार्क्स ने मानवीय सत्ता को इस प्रक्रिया में स्वयमेव श्रम करते हुए, सृजन करते हुए और मनोरंजन करते हुए देखा। अपने श्रम से, मानव सूचनात्मक रूप से स्वयं को प्रकृति के साथ उलझाता है और दूसरे मानवों के साथ संबंध बनाता है, साहचर्य और कामासक्त। जब तक उत्पादक बल कम विकसित थे, प्रत्येक को उत्पादक रूप से व्यस्त होना पड़ा, ताकि अपनी जीविका में वृद्धि कर सकें। तथापि, उत्पादन के साधनों के विकास से श्रमिक वर्ग की उत्पादकता में वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप तत्काल आवश्यकताओं के अतिरिक्त फालतू उत्पादन हुआ। तथापि, इस फालतू उत्पादन का एक निश्चित सामाजिक समूह द्वारा विनियोग किया गया। परिणामस्वरूप, उत्पादन करने वालों और फालतू उत्पादन का विनियोग के बीच वर्ग संबंध और प्रतिद्वंद्वी वर्ग बने। मार्क्स और एंजिल्स ने कतिपय अन्य विरोधाभासों जैसे शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच तथा शहर और गाँव के बीच, को असमाधेय रूप से उपरोक्त विरोधाभासों के साथ जुड़ा हुआ पाया। समाज में प्रतिद्वंद्वी वर्ग होने पर, राज्य प्रतिद्वंद्वी वर्ग पर नियंत्रण रखने के लिए उभरकर सामने आता है और उसके द्वारा समाज का पुनर्निर्माण किया जाता है। तथापि, इस तथ्य के होते हुए कि समाज का पुनर्निर्माण कतिपय अभिमानी रिश्तों के आधार पर होता है, राज्य अभिमानी वर्गों के बराबर योग्यता वाली एजेंसी बन जाता है।

मार्क्स का तर्क है कि विभिन्न समाज उस समय उत्पादन के अनेक तरीकों से गुजरे हैं, जब तक पूँजीवाद का उदय नहीं हुआ। उत्पादन की स्थिति उस अर्थव्यवस्था से निर्मित होती है जो उत्पादक बलों के विशिष्ट संयोग और उत्पादों के बीच संबंधों अथवा उत्पादन संबंधों से बनी होती है। राजनीति, कानून, धर्म और संस्कृति के क्षेत्र अंतरंग रूप से आधार से जुड़े होते हैं और इसके द्वारा मूर्तिमान होते हैं। वह उन्हें अधिरचनाएँ मानते हैं। *ए कंट्रीव्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटीकल इकॉनॉमी* की अपनी प्रस्तावना में, वह कहते हैं :

> ''अपनी सत्ता के सामाजिक उत्पादन में, मनुष्य अपरिहार्य रूप से कतिपय संबंध जोड़ता है जो अपनी इच्छा के लिए स्वतंत्र होते हैं, नामतः उत्पादन के भौतिक बलों के विकास में एक दी हुई स्थिति के उपयुक्त उत्पादन के संबंध। उत्पादन के इन संबंधों का सम्पूर्ण मिलन समाज की आर्थिक संरचना, वास्तविक आधार, का गठन करता है जिसके ऊपर एक विधिगत और राजनीतिक अधिरचना उद्भूत होती है और जिसके प्रति

MAADHYAM IAS

सामाजिक चेतना के निश्चित स्वरूप प्रतिक्रिया करते हैं" (के. मार्क्स, *ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटीकल इकॉनॉमी*, मॉस्को प्रोग्रेस पब्लिकेशन, 1970, पृष्ठ 20)।

मार्क्स का तर्क है कि उत्पादन की विशिष्ट स्थिति में पकड़े गए सामाजिक अधिकर्ता उत्पादक बलों के विकास के लिए कार्य करते हैं। तथापि, जब यह प्रचलित उत्पादन संबंधों के भीतर करना संभव नहीं होता है, वहाँ वे उत्पादन संबंधों को बदलने के लिए अग्रसर होते हैं, जिससे अवक्षेपक क्रांतिकारी रूपांतरण होता है।

मार्क्स के लिए पूँजीवाद प्रतिद्वंद्वी वर्ग संबंधों की अंतिम मुद्रा है। उत्पादन की यह मुद्रा उत्पादन बलों का उस सीमा तक विकास करती है, जिसे पहले सोचा न गया हो। यह एक ऐसी स्थिति भी है जो सारे विश्व को उत्पादन के दूसरी मुद्राओं के सभी विद्यमान घटकों को अपने नियंत्रण में लाते हुए संवृत्त कर लेती है। उत्पादन की इस स्थिति में मौलिक वर्ग विरोधाभास श्रमिक वर्ग और व्यापारी वर्ग के बीच है। एक पूँजीवादी समाज के भीतर अन्य वर्ग और समूह हैं। वे उत्पादन बलों के विकास के दौरान मौलिक वर्गों में नए गुण पैदा करना शुरू कर देते हैं। मार्क्स का तर्क था कि क्रांतिकारी रूपांतरण के लक्ष्य के लिए श्रमिक वर्ग अथवा किसान वर्ग में नए गुण आना आवश्यक है।

मार्क्स का तर्क था कि पूँजीवाद आवधिक संकट के लिए संदेशनशील है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादक बलों की भारी हानि होती है। उन्होंने यह भी महसूस किया कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ, मज़दूर वर्ग का विकास भी होता है जो आरंभ में उत्तरवर्ती द्वारा निर्धारित शर्तों पर सौदेबाजी करता है। तथापि, चूँकि वर्ग संबंधों में खटास आती है, मज़दूर वर्ग पूँजी द्वारा नियत शर्तों से बँधे रहने के लिए और अधिक तैयार नहीं होता। जब उत्पादक बलों का और विकास, अर्थात् राज्य को समग्र तुष्टि देने वाले कार्यों की स्थिति सुनिश्चित नहीं की जा सकती, तब राजनीतिक रूप से संगठित वर्ग विद्यमान राज्य सत्ता पर अपना आक्रमण करेगा और उसे श्रमिक वर्ग की तानाशाही से प्रतिस्थापित करेगा। इस प्रकार राजनीतिक परिवर्तन समाजवाद के चरण की शुरुआत करेगा जो पूँजीवादी संबंधों का कम मूल्यांकन करते हुए साम्यवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

मार्क्स ने साम्यवाद को उत्पादन के एक तरीके के रूप में देखा जहाँ उत्पादक बल सम्पूर्ण समुदाय से संबंध रखते हैं और उत्कृष्ट स्तर तक उनका विकास होता है, जिससे उसके सभी सदस्यों में प्रत्येक की माँगें पूरी हो सकें। इससे मानव सत्ता उस प्रकार के कार्य को करने के लिए स्वतंत्र होती है जिसे करने में उन्हें आनन्द आता है और उसे जीवन की प्रथम आवश्यकता के रूप में मानते हैं। इस प्रकार का समाज, उनके अनुसार "प्रत्येक की अपनी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक के लिए उसकी आवश्यकता के अनुसार" सिद्धांतों से नियंत्रित होता है। मार्क्स को सोचना था कि जब तक मज़दूर की आवश्यकता रहेगी, स्वतंत्रता नहीं आ सकती। मात्र साम्यवाद से ही मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वतंत्र हो सकता है।

साम्यवाद केवल इस प्रकार के युगों पुराने विरोधाभासों को समाप्त कर प्राप्त किया जा सकता है, जैसे शहर और गाँव तथा शारीरिक और आर्थिक श्रम। इससे श्रम का विभाजन समाप्त होगा। मार्क्स का विचार था कि साम्यवाद से समुदाय का विघटन होने के साथ समाज का उत्कृष्ट विकास होगा।

मार्क्सवाद ने उस समय विद्यमान समाजवाद की गंभीर समालोचना की माँग की जो उनके अनुसार यूरोपीयन आदर्शों पर आधारित था। इसके लिए क्रांतिकारी पृथा संकल्प का कार्य नहीं है और इसे यूँ ही, कभी भी आरंभ नहीं किया जा सकता। इसके लिए उचित सामाजिक हालातों की परिपक्वता की आवश्यकता होती है। तथापि, वर्ग स्वँयमेव किसी समाज के विरोधाभासों का प्रतिफल और विस्तार दोनों का प्रतिबिम्ब था।

10.5.2 लेनिनवाद

मार्क्सवादी विचारों के आधार पर, सामाजिक दल कभी-कभी विद्यमान दलों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए आगे आए, ये दल क्रांतिकारी परिवर्तन के द्वारा विद्यमान सामाजिक रिश्तों के तीव्र रूपांतरण के लिए कटिबद्ध थे। संयोगवश, इस चरण पर उदारवादी लोकतंत्र भी श्रमिकों के लिए एक बड़ी संख्या में अधिकारों को प्रदान कर रहे थे और दिनोंदिन अन्तर्विष्ट (Inclusive) होते जा रहे थे। एक कार्य जिसका नवजात सामाजिक दलों को सामना करना था, वह था उदारवादी लोकतंत्र के साथ अपने संबंधों को परिभाषित करना था। सामाजिक दल और श्रमिक संघों द्वारा संगठित अन्दोलन, सहकारी मीडिया और चुनावों के मध्य संबंध की भी समस्या थी। इस चरण में प्रचलित पूँजी के स्वरूप में भी तीव्र परिवर्तन हुए थे। इन परिवर्तनों से मार्क्सवादी विचार निकाय किस प्रकार प्रभावित होंगे। यह समाजवादी दलों के समक्ष एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा था। 19वीं शताब्दी के अंत में तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में, हम बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलनों को देखते हैं जो अपनी राष्ट्रीयता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इन राष्ट्रवादी संघर्षों के साथ सामाजिक आंदोलन के रिश्तों का अभी आंकलन करना था; और अंततः चूँकि समाजवाद विश्वभर में पूँजीवाद के द्वारा असमान स्वरूप ग्रहण कर रहा था, क्रांति की स्थिति तथा उसके लिए उचित रणनीति विचार हेतु महत्त्वपूर्ण मुद्दे थे।

इन चुनौतियों के सामने, हम सुधार की एक प्रबल लहर जो समाजवादी आंदोलन के भीतर विकसित हो रही थी को पाते हैं, जिसको इस आंदोलन के आरंभ में एक महत्त्वपूर्ण विचारक और जर्मन समाजवादी दल के नेता एडवर्ड बर्नस्टीन ने अभिव्यक्ति प्रदान की। उन्होंने मार्क्सवाद के सुधार की माँग की क्योंकि इसके अधिकांश सिद्धांत पुराने हो गए थे। उसने श्रमिकवादी अन्तर-राष्ट्रीयवाद पर प्रश्नचिह्न लगा दिया और मज़दूरों को राष्ट्र राज्य के भीतर शामिल करने की माँग की। वह अपने दल से आन्दोलन का नेतृत्व कराना नहीं चाहते थे, अपितु जर्मन समाजवादी दल ने समाजवादी क्रांति को उदारवादी लोकतांत्रिक क्रांति की कार्यसूची की निरन्तरता और उसके फैलाव के रूप में देखा।

MAADHYAM IAS

लेनिन ने इस स्थिति में हस्तक्षेप किया और इन सभी प्रश्नों के लिए एक चारित्रिक जबाव तैयार करने का प्रयास किया। लेनिन ने श्रमिक वर्ग के क्रांतिकारी लक्ष्य से उदारवादी लोकतंत्र को अलग किया तथा तर्क दिया कि श्रमिक वर्ग स्वँयमेव उदारवादी लोकतंत्र के फ्रेमवर्क का विस्तार करके अपना उद्धार नहीं कर सकती। उन्होंने उदारवादी लोकतंत्र के रूप से संबंध विच्छेद का आह्वान किया। उनकी सुप्रसिद्ध रचना *ह्वाट इज टू बीडन* में, उन्होंने तर्क दिया कि श्रमिक वर्ग का आंदोलन समाजवादी दल के नेतृत्व के बिना पूँजीवाद के चक्र में फँस जाएगा। अतः उन्होंने आंदोलन से एक स्वायत्त दल की माँग की जो कुल मिलाकर मज़दूर वर्ग के आंदोलन को क्रांतिकारी नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम हो। लेनिन ने स्वीकार किया कि पूँजीवाद के स्वरूप में भारी परिवर्तन हुए थे। ऐसे परिवर्तन मार्क्स को उस समय उलब्धता नहीं थे जब उन्होंने पूँजीवाद पर लिखा। तथापि, पूँजीवाद पर मार्क्स के विचारों पर अर्हता प्राप्त करने के स्थान पर, उन्होंने तर्क दिया कि इन परिवर्तनों ने मार्क्स के विश्लेषण की पुष्टि की। उन्होंने पूँजीवाद में हो रहे महान् परिवर्तनों को साम्राज्यवाद का नाम दिया, जिसने उसमें अंतर्निहित विरोधाभासों के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए दरवाज़े खोल दिए। लेनिन ने प्रपीड़ित राष्ट्रीयताओं और प्रपीड़क राष्ट्रवाद के बीच अंतर किया। उनका तर्क था कि प्रपीड़ित राष्ट्रीयताएँ प्रभावी राष्ट्रवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रही हैं और ये साम्राज्यवाद एजेंट है। अतः, उन्होंने मज़दूर वर्ग के नेतृत्व वाले क्रांतिकारी आंदोलन और प्रपीड़ित राष्ट्रीयताओं के बीच भूमंडलीय एकता का आह्वान किया।

लेनिन का तर्क था कि पूँजीवाद के असमान विस्तार से सजीव स्थिति जो एक क्रांतिकारी आंदोलन प्रत्येक देश में झेलता है, के सजीव विश्लेषण की आवश्यकता थी। उन्होंने रूस

लिए के एक ऐसा विश्लेषण भेजा और रूस के लिए क्रांतिकारी निरूपण का पुनः मसौदा तैयार किया। साम्राज्यवाद के उनके विश्लेषण के आधार पर, लेनिन ने तर्क दिया कि यद्यपि रूस पश्चिमी यूरोप की तरह औद्योगिकीकृत नहीं हुआ था और कुल जनसंख्या में मज़दूरों का अनुपात कम था, रूस में उत्पादक बलों के और आगे विकास की कोई संभावना नहीं थी। यह साम्राज्यवादी नेटवर्क में अधिकाधिक अन्तर्विष्ट किया जाएगा। उन्होंने साम्राज्यवाद की कड़ी में रूस को सबसे कमजोर सम्बन्ध माना क्योंकि सभी विरोधाभास वहाँ केन्द्रित थे : यहाँ कृषक क्रांति नहीं हुई थी; इसका बुर्जुआ वर्ग कमजोर था; इसके राज्य तंत्र कुलीनतंत्रवादी थे; नागरिक स्वतंत्रताएं कम थी और यह राज्य विदेशी पूँजी पर बुरी तरह निर्भर था जबकि उसी समय इसने महान् सत्ता होने की महत्त्वाकांक्षाओं का पोषण किया।

लेनिन ने देखा कि बुर्जुआ वर्ग आन्दोलन के विकास और साम्राज्यवाद की माँगों के तहत अपने उदारवादी दावों को ध्वस्त कर रहा था। इसके कारण उसने विद्यमान राज्य उपस्करों को हिंसात्मक रूप से उखाड़ फैंकने की आवश्यकता पर बल दिया, जिससे मज़ूदूर वर्ग द्वारा शक्ति के प्रयोग का अवसर मिल सके।

लेनिन ने उदारवादी प्रयास के अधीन प्रभावित राजनीतिक सत्ता के संस्थानीकरण के उपायों को नकार दिया। उन्होंने महसूस किया कि उसके प्रतिनिधित्व के तरीके, सत्ता का पृथकीकरण और आवधिक चुनाव राजनीतिक सत्ता से जनसाधारण को अलग रखने के लिए अभिप्रेत थे। उन्होंने तर्क दिया कि सोवियत साम्राज्यवाद के अधीन सत्ता के अंग होने चाहिए। सभी शक्तिओं को सोवियत में संकेन्द्रित होना था और क्रांतिकारी जन समुदाय को अपने कार्यों के संचालन में सीधा संबंध बनाना चाहिए। विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का समर्थन किया जहां लघु उद्योग बड़े उद्योग का स्थान लेगा। उन्होंने तथापि, जब विकेन्द्रीकरण और लालफीताशाहीकरण ने क्रांतिकारी लाभों को खा लेने की आशंका दिखाई, लेनिन ने श्रमिक-कृषक गठबंधन के स्वायत्त संगठन का आह्वान किया जिससे क्रांतिकारी जवाबदेही की प्रक्रियाओं पर काबू पाया जा सके। इन अभिगमों में विरोधाभासी उदाहरण थे, जिसे उभरते हुए रूसी राज्य के क्रांतिकारी के विश्वास से आगाह कराना था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.5.3 माओवाद

माओ-जे-डाँग ने उपनिवेशों और उपनिवेशवादी प्रभुत्व के अध्यधीन लोगों के परिप्रेक्ष्य में क्रांतिकारी परिवर्तन पर मौलिक प्रश्न उठाए। आमतौर पर उपनिवेशी प्रभुत्व ने अपने समर्थन में सामाजिक आधार के रूप में संघवाद तथा प्रतिक्रियावादी बलों के समर्थन को सूचीबद्ध किया। उपनिवेशों में पूँजीवाद का थोड़ा बहुत स्वायत्त विकास हुआ था। उसमें मात्र शक्तिहीन बुर्जुआ वर्ग ही नहीं था, अपितु अपेक्षाकृत नगण्य श्रमिक आधार भी था। उन हालातों में एक बुर्जुआ वर्ग का एक विशिष्ट क्षेत्र उभरा जिसने स्वँयमेव साम्राज्यवादी पूँजी का मध्यस्थ होने के नाते पालन-पोषण किया। माओ ने इसे कॉम्प्रेडोर बुर्जुवा का नाम दिया। इसके अतिरिक्त, उपनिवेशवादी प्रभुत्व के स्वरूप के बारे में मतभेद थे, कुछ पूर्णरूपेण उपनिवेश तथा शेष अर्द्ध-उपनिवेश थे। माओ ने उपनिवेशवाद के तहत संस्कृति के मुद्दे पर ध्यान आकर्षित किया जिसमें प्रजा के लोगों की भाषायी जड़ें, विश्वास और आदतें साम्राज्यवादी संस्कृति के अंतर्गत सीमान्तीकरण तथा अधीनता के अध्यधीन थे।

उन्होंने तर्क दिया कि इन समाजों में क्रांतिकारी कार्य का स्वरूप एक नए प्रकार के लोकतंत्र को सामने लाना था, जिसे उन्होंने 'नए लोकतंत्र' (New Democracy) का नाम दिया। माओ के लिए, यह नागरिक मध्यस्थता का बदल हुआ स्वरूप था। उन्होंने महसूस किया कि इस क्रांति से जनसमुदाय को युगों पुराने बंधनों से मुक्त हो जाना चाहिए, जो अपने

निजी बंधन मुक्ति का मार्ग अवधारण करने के लिए अपनी ऊर्जा को निर्मुक्त करने तथा अपनी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए अध्यधीन थे। इसके लिए एक राष्ट्रवादी संस्कृति बनाम साम्राज्यवादी संस्कृति को प्रोन्नत करने के लिए सचेत प्रयास अपेक्षित था।

ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन कौन कर सकता है? माओ का तर्क था कि नागरिक/बुर्जुआ वर्ग चीन में इस क्रांति का नेतृत्व नहीं कर सकते हैं और पूँजीवाद के अधीन एकमात्र वर्ग जो ऐसा कर सकता है, मज़दूर वर्ग था। परन्तु चीन में औद्योगिक मज़दूर वर्ग की उपस्थिति के कारण, यह तभी संभव हो सकता है जब इसे दृढ़ता के साथ ग़रीब किसान वर्ग से जोड़ दिया जाए और कृषक क्रांति का नेतृत्व किया जाए। इस प्रकार, साम्यवादी दल का काम क्रांति के अग्रणी के रूप में कृषक क्रांति लाना था।

ऐसी खेतिहर क्रांति शहरी क्रांति पर ध्यान केन्द्रित करके नहीं लाई जा सकती है, इसके लिए ग्रामीण क्रांति की ओर जाना पड़ेगा तथा संघर्षरत खेतिहर वर्ग से हाथ मिलाना होगा। उन्होंने महसूस किया कि चीन में विद्यमान हालातों में उभरता हुआ शहरीकरण मात्र जोखिम उठाना था।

इस प्रकार की कृषक क्रांति कैसे लाई जाए? उनके अनुसार बताई गई रणनीति में क्षेत्रों को स्वतंत्र करना और स्वतंत्र क्षेत्रों की ओर बढ़ना एक दीर्घकालिक सशस्त्र संघर्ष शामिल था। आरंभिक चरणों में उन्होंने शत्रु पर हमला करने के लिए गुरिल्ला तरकीबों से युद्ध करना उपयुक्त समझा।

माओ ने कृषक क्रांति की रणनीति पर काफी विस्तार से चर्चा की। इसमें स्वँयमेव भूमिहीन और ग़रीब किसानों को दृढ़ता के साथ आधार बनाना, मध्यम वर्ग के किसानों को शामिल करना तथा जहाँ तक संभव हो सके, अमीर किसानों का समर्थन प्राप्त करना शामिल थे। उन्होंने यह तर्क भी दिया कि क्रांति के शत्रु को ध्यान में रखते हुए कृषक रूपांतरण के लिए पहचाने गए मुद्दों में ये संशोधन की आवश्यकता थी।

MAADHYAM IAS

अतः एक प्रमुख परिवर्तन जिसकी माओ ने घोषणा की यह थां क्रांतिकारी दृश्य का शहरी क्षेत्रों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर स्थानांतरण; मज़दूर-कृषक गठबंधन की नयी धुरी की स्थापना चला और कृषक रूपांतरण के लिए विशेष रणनीति का सुझाव दिया गया।

माओ का तर्क था कि नए लोकतंत्र की स्थापना के लिए इस प्रकार की रणनीति प्राप्त करने के लिए कतिपय चालकीय बाह्य शर्तों की आवश्यकता थी। उन्होंने महसूस किया कि सोवियत संघ का अस्तित्व ऐसी ही शर्त थी। अन्यथा, कृषक स्वरूप विरोधी बलों द्वारा दबा दिया जाता। माओ के लिए, नया लोकतंत्र उदारवादी लोकतंत्र की तुलना में लोकतंत्र का एक भिन्न स्वरूप था। उदारवादी लोकतंत्र का रुझान पूँजीवाद की तरफ था। जबकि नये लोकतंत्र का रुझान समाजवाद की तरफ था। नया लोकतंत्र साम्राज्यवाद की शर्तों के अधीन उपनिवेशों/अर्धउपनिवेशों के लिए उचित स्वरूप था और यह समाजवादी पूँजीवाद के लिए समर्थक शर्तों का सृजन करेगा।

माओ का द्वितीय प्रमुख नवीकरण, समाजवादी रूपांतरण की बोधगम्यता में अन्तर्निहित है। इस संबंध में वह महत्त्वपूर्ण रूप से रूसी आदर्श से अलग हो गये। उनका तर्क था कि समाजवाद के अधीन, प्राथमिकता मात्र उत्पादक बलों के विकास की बजाए उत्पादन संबंधों के रूपांतरण में अन्तर्हित होनी चाहिए। समाजवाद पूँजीवाद और साम्यवाद के लिए संक्रमण स्थिति है। इस सम्पूर्ण चरण के दौरान, पूँजीवादी दिशा और साम्यवादी दिशा के बीच वर्ग संघर्ष है। यह संघर्ष मात्र पुराने पूँजीवादी रिश्तों के पुनरुत्थान के लिए नहीं किया जाना चाहिए। अपितु, पूँजीवादी रिश्तों के विरुद्ध, जो अविचल रूप से समाजवाद की विरोधाभासी स्थिति से उभरती है।

उनका तर्क था कि विद्यमान सरकार, दल अथवा सामाजिक रिश्तों में सार्वजनिक कार्यों के ऊपर अपने प्रत्यक्ष और सामूहिक नियंत्रण का दावा विकास की अपेक्षा, शक्ति के प्रश्न पर ही होनीाचाहिए। सांस्कृतिक क्रांति समाजवाद के निर्माण के लिए समाजवाद की शर्तों के अधीन एक राजनीतिक क्रांति के रूप में देखा गया।

माओ ने तर्क दिया कि समाजवाद के विकास को पूँजीवाद विकास के प्रतिबिम्ब के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए जनसमुदाय के पीछे निष्क्रिय प्रक्रिया को खोलते हुए। यह ऐसी प्रक्रिया होनी चाहिए जिसमें जनसमुदाय प्रत्यक्ष रूप से भागीदार बनेगा और विकास का रास्ता तय करेगा। जनसमुदाय की मुक्त सृजनता को समाज से खुली अभिव्यक्ति प्राप्त होनी चाहिए और उसे लालफीताशाही रूप के अध्यधीन नहीं होनी चाहिए।

उन्होंने महसूस किया कि राज्य उपस्कर (Apparatus) और विकास कार्यसूचियों को समाजवाद के अन्तर्गत प्रमुख परिवर्तन और पुनःउदीयमान होने चाहिए। यह आवश्यक है कि कृषि और उद्योग का विकास किया जाना चाहिए, परन्तु उन्हें आपस में एक-दूसरे का पोषण करने और सम्पूरन की आवश्यकता है। अतः यह अपेक्षा की गई थी कि समाजवाद के अधीन स्वयं तुष्ट तथा स्व-शासन के रूप में, कम्यून (Commune) का विकास किया जाना चाहिए तथा तदनुसार उसे संसाधन तथा मान्यता दिये जाने चाहिए।

माओ का तर्क था कि समाजवाद के अधीन यह आवश्यक है कि शारीरिक और मानसिक श्रम तथा शहर और गाँव के बीच अन्तर खत्म किया जाना चाहिए। श्रमिक अभियान इसलिए आरंभ किए गए थे जिससे प्रशासन और पेशा करने वाले कुछ घंटे तक शारीरिक श्रम कर सकें।

माओ के लिए, सांस्कृतिक क्षेत्र समाजवाद के अंतर्गत बहुत निर्णायक को चुका था, अर्थात् यह साम्यवाद की गति निर्धारित करता था, जोकि इस पर निर्भर था कि इसे कितना महत्व दिया गया।

MAADHYAM IAS

उन्होंने महसूस किया कि कन्फ्यूशस के मध्यमार्गीय मूल्य अतिवादियों का संतुलन बनाने के लिए अभिप्रेत थे, ना कि क्रांति के मज़बूत करने के लिए।

इन विचारों से चीन में विस्तृत विक्षोभ हुआ। माओ में अभिव्यक्त क्रांतिकारी जोश डैंग ज़ियाओ पिंग द्वारा आरंभ किए गए आधुनिकीकरण की नीति से माओ की मृत्यु के बाद, नियंत्रित किया गया।

10.5.4 अन्य मार्क्सवादी रूपान्तर

मार्क्सवाद ने कई अन्य रूपांतर दिए जो मुद्दों के सीमित अथवा अधिक व्यापक समाधान के साथ अनेक देशों में विशिष्ट परंपराओं के रूप में अभी तक कायम हैं। इनमें से कुछ प्रस्ताव सैद्धांतिक स्तर पर ही बने रहे और वे कभी भी प्रभावी रूप से अमल में नहीं ला सके।

10.5.4.1 पाश्चात्य मार्क्सवाद

विद्वानों ने पाश्चात्य मार्क्सवाद की एक विशिष्ट परंपरा की कुछ पहचान की है। तथापि, यह बुद्धिजीवियों, राजनीतिक दलों, विचारों के रुझान, मज़दूर वर्ग क्रांतिकारी पहलों और पूर्ण पहलवाजिओं और व्यष्टिगत साक्ष्यों के एक रंग-बिरंगे निकाय की रचना का संगठन है। इसकी धरोहर गहरे तक विखंडित, विरोधपूर्ण और विरोधाभासी भी है। जहाँ इसने चुनावों, जनसमुदाय के आंदोलनों और सशस्त्र विद्रोहों के माध्यम से सत्ता हथियाने का प्रयास किया है, इसका प्रमुख निवेश बौद्धिक और नागरिक प्रवृत्तियों को आकृति प्रदान

करना तथा पूँजीवाद की स्थायी समालोचना विकसित करने में सन्निहित है। इस परंपरा के कुछ महत्त्वपूर्ण संवाददाता/प्रवक्ता हैं– रोज़ा लक्समबर्ग और कार्ल लीबनेएट, जॉर्ज लुकाक्स और कार्ल कॉर्श, एंटोनिओ ग्राम्सी और ज़्याँ पॉल सात्र, थिओडॉर एडोर्नो और हरबर्ट मार्कयू, वॉल्टर बैंजामिन और बर्टोल्ड ब्रेट तथा हाल के वर्षों में, लुईस एल्थूज़ैर, माइकल फूंको और यूर्गे हैबरमास। इससे भारी संख्या में इस विचार के विभिन्न विद्यालय खुल गए हैं जैसे कॉसिल कम्यूनिज़्म, ऑस्ट्रो-मार्क्सिज़्म, द फ्रैंकफर्ट स्कूल और स्ट्रक्चरल मार्क्सिज़्म। इस परम्परा के कुछ क्षेत्रों में लियॉन ट्रॉट्स्की का सुस्पष्ट प्रभाव है। हाल के वर्षों में क्रांतिकारी महिलावाद इस परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण निवेश रहा है। इसकी कुछ अवस्थितियों और रुझानों में मनोविश्लेषण, विशेष रूप से सिग्मंड फ्रॉड के प्रबल अवशेष पाए जा सकते हैं। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण उल्लेखनीय हैं :

i) इसने सामाजिक आंदोलन के समक्ष महत्त्वपूर्ण मुद्दों के रूप में सामाजिक रिश्तों के अन्यताभाव, खपतीपने (Fetishization) और वस्तुकरण की पहचान की।

ii) वह पूँजी के प्रभाव में बुद्धिपरक कारण के हास और अवरुद्धता को लेकर काफी आशंकित हैं।

iii) इसने वर्चस्व, दमन, निग्रहता और सीमांतीकरण के विरुद्ध संघर्ष पर ज़ोर दिया। अपसंरचनाओं के संदर्भ में और विशेषकर सांस्कृतिक क्षेत्र की ओर। इसने अधीनस्थ संस्कृतियों तथा रचनात्मक संभावनाओं, जिन्हें वे वर्चस्व के विरुद्ध और पूर्व विकल्पों के उलझाव की प्रतिस्पर्द्धा में पाते हैं, की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

iv) इसने समाजवादी लोकतंत्र की प्रोन्नति के प्रति प्रबल वचनबद्धता तथा उदारवादी लोकतंत्र से शिक्षा प्राप्त करने के लिए महान् संवेदनशीलता का प्रदर्शन किया है। इसने राजनीतिक मूल्यों जैसे स्वतंत्रता और अधिकार के प्रति भारी संवेदनशीलता प्रकट की है। इसने लोकतांत्रिक मानदंडों के असम्मान तथा स्वतंत्रता और अधिकारों पर लगाए गए प्रतिबंधों के लिए कुछ समाजवादी क्षेत्रों की गहन आलोचना की है।

v) इसने पश्चिम में वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करके क्रांतिकारी समाजवादी आंदोलनों की विफलता की दुर्दशा का मुकाबला करने का प्रयास किया है। एंटोनियो ग्रामसी, इटेलियन मार्क्सवादी, की रचना इस संबंध में अग्रणी बनी हुई है। वे अधीनस्थ की सहमति से अधिभावी वर्गों के वर्चस्व के मुद्दे पर खोज करते हैं। इन वैकल्पिक व्याख्याओं ने नागरिक समाज, विचारधारा और लोकप्रिय संस्कृतियों के रणक्षेत्र में हस्तक्षेत्र की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो मार्क्सवादियों द्वारा शुरुआती रूपांतरों में प्रस्तावित स्थिति से पर्याप्त भिन्न है।

vi) पश्चिमी मार्क्सवाद ने मज़दूर वर्ग के राजनीतिक प्रभुत्व के प्रयोजनार्थ विशाल आंदोलनों और लोकप्रिय लामबंदी पर बल दिया है। क्रांतिकारी हिंसा पर बल जो हमें लेनिनवाद और माओवाद में मिलता है, इस रूपांतर में अपेक्षाकृत कम दृश्यमान है।

10.5.4.2 लेटिन अमेरिकी उदारवाद

विकसित विश्व, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अपने रिश्तों में प्रदर्शित पराधीनता और शोषण लैटिन अमेरिकी मार्क्सवाद में एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण रहा है। अर्थव्यवस्था और सत्ता का स्थानीय ढाँचा जो पराधीनता और शोषण के प्रस्तुतीकरण में दुस्संधि करता है, अपनी जनश्रुति में प्रबलता से चित्रित होता है। वर्चस्व प्रणाली के प्रस्तुतीकरण में राज्य की निग्रही भूमिका के होते हुए, लैटिन अमेरिकी मार्क्सवाद ने राजनीतिक सत्ता के पथ पर कब्जा करने में अध्यधिक ध्यान दिया है। सशस्त्र संघर्ष और विरोध इस केन्द्रीयता के अपरिहार्य परिणाम रहे हैं।

MAADHYAM IAS

लैटिन अमेरिका में कैथोलिक गिरजाघर एक शक्तिशाली मौजूदगी है। मार्क्सवादी संगठनों के तत्त्वावधान में सुधारवादी आन्दोलनों में प्रायः गिरजाघरों द्वारा तत्परता दिखाई गयी है। इस दिशा में एक प्रमुख प्रयास धर्मशास्त्र के एक रूपांतर का निर्माण करना है, जिसे 'उदारवादी धर्मशास्त्र' (Liberation Theology) का नाम दिया गया।

10.5.4.3 भारतीय मार्क्सवाद

लम्बे समय तक भारतीय मार्क्सवाद ने सोवियत तथा चीनी मार्क्सवाद से मार्गदर्शन में आश्रय लिया। तथापि, इसने निम्नलिखित मुद्दों पर अपनी निजी कोशिश करने का प्रयास किया है :

i) इसने भारतीय राष्ट्रवाद के साथ सामंजस्य बिठाने का प्रयास किया है, जिसके गठन में इसने चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी से विपरीत कोई विशेष भूमिका नहीं निभाई।

ii) जन आन्दोलन, विशेषकर जिन्होंने अपने उद्देश्यों के अहिंसक प्राप्ति की घोषणा की, भारतीय राष्ट्रवाद के मध्य में रहे हैं। मार्क्सवाद इस पैमाने पर मुश्किल से ही आन्दोलनों में प्रस्तुत हुआ है। भारतीय साम्यवाद इन आन्दोलनों में भली-भाँति प्रस्तुत होते समय और उनमें से कुछ को अपने नेतृत्व में अग्रणी के रूप प्रस्तुत करते समय पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है।

iii) भारतीय साम्यवाद ने संसदीय लोकतंत्र का विरोध किया और इसके समक्ष बड़ी संख्या में सैद्धांतिक मुद्दे उठाए हैं। तथापि, वर्षानुवर्ष, यह चुनावी व्यावहारिकतावाद के भीतर पूर्णरूपेण अवशोषित होने से स्वयं के बचाव का प्रयास करते समय, अपनी माँगों के प्रति स्वयं को समायोजित करता रहा है।

iv) महान् भारतीय विविधता, विकास के असमान स्तर और बहुलवाद भारतीय साम्यवाद के समक्ष उसे विभिन्न दिशाओं में खींचकर और समय-समय पर विघटन पैदा करके महान् चुनौतियाँ पेश की हैं। अब तक, इन सामाजिक वास्तविकताओं से निपटान के लिए इसने थोड़ी व्यावहारिक क्षमता का प्रदर्शन किया है, यद्यपि इसने इस प्रयोजनार्थ राजनीतिक गठजोड़ अथवा गठबंधन बनाने के लिए महान् पटुता का परिचय दिया है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जांच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) मार्क्स के पूँजीवाद समाज के विश्लेषण पर संक्षेप में आठ वाक्य लिखे।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) पश्चिमी मार्क्सवाद के चार विशिष्ट लक्षण बताएँ।

....

....

....

....

....

3) ऐसे तीन मुद्दों पर चर्चा करें जिन्हें लेकर भारतीय मार्क्सवाद ने कुल मिलाकर अपना निजी रास्ता तय किया है।

....

....

....

....

....

10.6 सारांश

उदारवादी मार्क्सवादी परम्परा ने कुल मिलाकर विश्व का जो गठन एवं पुनर्गठन किया है, अभी तक किसी परंपरा ने नहीं किया है। आमतौर पर यह विश्वास किया जाता है कि उदारवादी परंपरा मार्क्सवादी परंपरा के प्रति शत्रुभाव रखती है। इस इकाई में उन मुद्दों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है जो सर्वश्रेष्ठ हैं और उन मूल चिंतनों का जिनसे परस्पर सहयोजित परिणाम निकलते हैं। फिर भी, उदारवादी परंपरा मार्क्सवादी परंपरा से उल्लेखनीय रूप से भिन्न है और इनके प्रति बड़ा अन्याय होगा, यदि वे एक-दूसरे के साथ टकराकर समाप्त हो जाए। इस इकाई में इन परंपराओं के बीच मतभेदों पर विशेष रूप से चर्चा की गई है।

कोई एक समान उदारवादी परंपरा नहीं है। हम उदारवादी परंपरा के कई रूपांतरों के बारे में सोच सकते हैं। इस इकाई में एक तरफ उसके केन्द्रीय सिद्धांत में परिवर्तन पर आधारित कुछ महत्त्वपूर्ण रूपांतर तथा दूसरी तरफ, एक राजनीतिक समुदाय द्वारा इस परम्परा के विनियोजनों की रूपरेखा उपलब्ध कराई गई है। प्रथमतः हमने क्लासिकी उदारवाद पर विचार किया है। दूसरे, हमने अमेरिकी उदारवाद और महाद्वीपीय उदारवाद पर चर्चा की है। मार्क्सवादी परंपरा में भी समय-समय पर प्रमुख परिवर्तन हुए हैं। यह इकाई उस परंपरा की रूपरेखा जिसे मार्क्स और ऐंजिल्स ने आरंभ किया, इस धरोहर को लेनिनवादी पुनर्गठन और इस परंपरा के माओवादी रूपांतर को मुहैया कराती है। इस परंपरा के विनियोजन के संबंध में, हमने इस परंपरा के पश्चिमी यूरोपीयन, लैटिन अमेरिकी और भारतीय रूपांतरों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एविनेरी एस., *द सोशल एण्ड पॉलिटीकल थॉट आफ के. मार्क्स*, कैम्ब्रिज, सीयूपी, 1968।

कार्र ई.एच., *द बॉल्शेविक रिवॉल्यूशन*, लंदन, पैंग्विन, 1966।

MAADHYAM IAS

शएन जेरोम, *माओ एण्ड द चाइनीज़ रिवॉल्यूशन*, ऑक्सफोर्ड, ओयूपी, 1965।

क्लेंडिन, एफ., *कम्यूनिस्ट मूवमेंट : फ्रॉम कॉमिनटेर्न टू कॉमिनफोर्म*, लंदन, पैंग्विन, 1975।

घोष, एस., *मॉडर्न इण्डियन पॉलिटीकल थॉट*, न्यू दिल्ली, एलाइड, 1984।

होण्डुज एन., *लेनिन'स पॉलिटीकल थॉट*, लंदन, मैकमिलन, 1977।

हार्टज़ एल., *द पॉलिटीकल ट्रेडीशन इन अमेरिका : एन इंटरप्रिटेशन आफ अमेरिकन थॉट सिंस द रिवॉल्यूशन*, न्यू यॉर्क, हार्कोर्ट, 1955।

कॅरोल के. एस., *द सैकिण्ड चाइनीज़ रिवॉल्यूशन*, लंदन, जोनाथन कैफे, 1975।

कैमिलिका डब्ल्यू., *लिबरलिज़्म, कम्यूनिटी एण्ड कल्चर*, ऑक्सफोर्ड, क्लारेंडन, 1989।

लुसिओ कोलेट्टी, *फ्रॉम रिवॉल्यूशन टू लेनिन*, दिल्ली, ओयूपी, 1978।

मैकफेर्सन सी. बी., *द लाइफ एण्ड टाइम्स आफ लिबरल डेमोक्रेसी*, ऑक्सफोर्ड, ओयूपी, 1977।

साल्वेडोरी मासिमो, *कार्ल कौत्स्की एण्ड द सोशलिस्ट रिवोल्यूशन*, लंदन, न्यू लेफ्ट बुक्स, 1979।

स्ट्रॉस एल., एण्ड आई. गोप्से, (संपादिम्त), *हिस्ट्री ऑफ पॉलिटीकल फिलोस्फी*, शिकागो, रेण्ड मेक'नॅली, 1977, (दूसरा संस्करण)।

विनथ्रोप, (सं.), *लिबरल डेमोक्रेसी थ्यौरी एण्ड इट्स क्रिटिक्स*, लंदन, क्रूम हेल्म, 1983।

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 10.2 व 10.3
2) देखें भाग 10.2 व 10.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 10.2 व 10.3
2) देखें भाग 10.2 व 10.3

बोध प्रश्न 3

1) देखें उप-भाग 10.4.1 और 10.4.2
2) देखें उप-भाग 10.4.3
3) देखें उप-भाग 10.4.4
4) देखें उप-उपभाग 10.4.5.2
5) देखें उप-उपभाग 10.4.5.4

बोध प्रश्न 4

1) देखें उप-भाग 10.5.1
2) देखें उप-उपभाग 10.5.4.1
3) देखें उप,-उपभाग 10.5.4.1

इकाई 11 राज्य का अर्थ और प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देष्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 राज्य और उसके उद्‌भव (Derivations)
11.3 राज्य का अर्थ और परिभाषा
  11.3.1 राज्य के तत्त्व
  11.3.2 राज्य व अन्य संस्थाओं के बीच भेद
  11.3.3 क्या यह भेद वास्तविक है?
11.4 राज्य की प्रकृति : विभिन्न सिद्धांत
  11.4.1 उदारवादी सिद्धांत
  11.4.2 मार्क्सवादी सिद्धांत
  11.4.3 गाँधीवादी सिद्धांत
11.5 सारांष
11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.7 बोध प्रष्नों के उत्तर

11.0 उद्देष्य

इस इकाई में आप पायेंगे सभी मानव संस्थाओं में सर्वोपरि, यानी राज्य, जो कि राजनीति-विज्ञान का मुख्य संबद्ध विषय है। 'राज्य' शब्द के प्रयोगों में इतनी ज़्यादा विविधता है कि यह भ्रम पैदा करता है। इस प्रकार, जैसे राष्ट्र, देष, समाज व सरकार जैसे राज्य के पर्यायों की तुलना में राज्य के मूल लक्षणों एवं सिद्धांतों पर प्रकाष डालने का प्रयास किया जाता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- राज्य शब्द के अर्थ व उद्‌भव को समझ सकें और उसके मूल लक्षण जान सकें;
- राज्य का उसके विभिन्न पर्यायों से भेद कर सकें; और
- राज्य की प्रकृति के विषय में प्रमुख सैद्धान्तिक ढाँचे को समझ सकें।

11.1 प्रस्तावना

जैसा कि पहले ज़िक्र किया गया, राजनीति-विज्ञान का अध्ययन करने के तरीकों में से एक है राज्य का उसके सभी विविध विष्वरूपों में अध्ययन करना। परन्तु राज्य शब्द को अक्सर अंधाधुंध रूप से किसी सामान्य प्रवृत्ति अथवा किसी आदमी के स्वास्थ्य की, उसके मानस की अथवा उसकी आर्थिक स्थिति की ''अवस्था'' जैसी किसी जानकारी को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता रहा है। राजनीति-विज्ञान में भी, इसको विभिन्न अल्पान्तरों के साथ प्रयोग किया गया है; सरकार, संस्था अथवा उसकी अवयव इकाइयों के एक पर्याय रूप में। अतः, राज्य क्या 'है', यह प्रगति में सहायता करता है अथवा उसे रोकता है, कितने अधिकार राज्य के पास होने चाहिए और मानवीय कार्यकलाप के किन क्षेत्रों में, यह अन्य विद्यमान संस्थाओं से किस प्रकार भिन्न है और राज्य की प्रकृति के विषय में सही-सही व्याख्या क्या है?

प्राचीन एथेन्स के समय से ही ये प्रष्न राजनीति दार्षनिकों का दिलचस्प विषय रहे हैं; तथापि, राजनीति-सिद्धांत से संबंधित आधारभूत कारणों को खोज निकालने के सचेत प्रयास प्राचीन यूनानियों के साथ, पष्चिमी दुनिया में शुरू हुए। इस प्रकार, इस अवधारणा को इस शास्त्र-विद्या के एक मूल विषय के रूप में समझना लाज़मी हो जाता है।

11.2 राज्य और उसके उद्‌भव (Derivations)

जैसा कि कहा गया है, राजनीति-विज्ञान का एक पहलू है राज्य के साथ क्रिया-व्यापार, जो कि सभी मानव संस्थाओं में सर्वोपरि है। यूनानियों ने 'पॉलि' (polis) शब्द का प्रयोग किया जिसके अनुसार शहर-राज्य (city-state) अंग्रेजी शब्द 'सिविता' (civitas) के सबसे ज़्यादा करीब से मेल खाता है, जिसका भी अर्थ 'जन कल्याण' के द्योतन के साथ यही है। जर्मनों ने 'स्टेटस' (states) शब्द का प्रयोग किया जो कि उक्त शब्द-पद का भाग मात्र है। आधुनिक शब्द 'स्टेट' (state) जर्मनों द्वारा पूर्व-प्रयुक्त ''स्टेटस'' (status) से ही निकला है। राजनीति-विज्ञान में ''स्टेट'' (यथा राज्य) शब्द सर्वप्रथम निकोलो मैकाइवली द्वारा प्रयोग किया गया। इस प्रकार, यह स्पष्ट हो गया कि राज्य शब्द सोलहवीं शताब्दी से पहले बहुत अधिक प्रचलित नहीं था। मध्यकालीन यूरोप के एक बड़े हिस्से में रहने वाले लोग आधुनिक राज्य की परिकल्पना से अनभिज्ञ थे। आगे चलकर यह शब्द प्रसिद्ध हो गया और उसने प्राधिकार संबंधी एक पक्षपातषून्य अर्थ ग्रहण कर लिया।

11.3 राज्य का अर्थ और परिभाषा

चूँकि राज्य राजनीति-विज्ञान के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण संघटक है, 'राज्य' शब्द का क्या तात्पर्य है संबंधी एक स्पष्ट जानकारी आवष्यक है। सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही मानव जाति किसी न किसी प्रकार के प्राधिकरण के अधीन रही है। यह प्राधिकरण अपनी प्रकृति में बदलता रहा है और अपना काम संगठन के विभिन्न रूपों के माध्यम से करता रहा है। राजनीतिक जीवन की ठोस अभिव्यक्ति में इन भेदों के तले प्रयोजन की एक व्यावहारिक पहचान देखी जा सकती है; और अनावष्यक तत्त्वों एवं उन परिवर्तनों की उपेक्षा करके जो समय, स्थान व परिस्थितियों की माँग की वजह से होते हैं, हम अन्य संगठनों से भिन्न, राज्य का नितान्त सार पा सकते हैं।

पारिभाषिक शब्दावली के निमित्त विचार से, अब हम यह पूछ सकते हैं कि राज्य है क्या? राज्य की परिभाषाएँ, जैसा कि जर्मन लेखक शुल्ज़ ने कहा, असंख्य हैं। स्वभावतः ये परिभाषाएँ उनके लेखकों के मतों से रंजित हैं और उस दृष्टिकोण से प्रभावित हैं, जिससे राज्य को समझा जाता है। समाजवादीजन इसे एक सामाजिक दृष्यघटना मानते हैं, जबकि विधिवेत्ताजन राज्य को एक कानूनी संस्था के रूप में आदर देते हैं; अन्तरराष्ट्रीय कानून विषयक लेखकगण कुछ निष्चित तत्त्वों पर ज़ोर देते हैं, जिनको राजनीति-वैज्ञानिक अनदेखा करते हैं, और अन्ततः दार्शनिक लेखकगण अपनी परिभाषाओं को दुर्बोध शब्दों में प्रतिपादित करते हैं। तथापि, हमें यह याद रखना चाहिए कि राज्य एक गूढ़ संकल्पना भी है और एक ठोस संगठन भी, यथा भौतिक तत्त्वों से पहचाना जाने वाला। इस प्रकार, सभी भावों में, राज्य का अर्थ निम्नलिखित लिया जा सकता है :

i) व्यक्तियों का एक संगठन, यथा एक संगठित इकाई के रूप में देखी जाने वाली मानव जाति;

ii) एक निष्चित क्षेत्र के राजनीतिक रूप से संगठित लोग;

iii) सार्वजनिक कानून का एक संगठन जो कि किसी समूह अथवा अधिवासी-समुदाय (population) के विरुद्ध हिंसा-प्रयोग पर एकाधिकार का पक्षपाती हो;

iv) एक संगठन जो आंतरिक मामलों में अपना कार्य संस्थाओं के एक एकीकृत समूह, जिसे सरकार कहते हैं, के माध्यम से करता है।

11.3.1 राज्य के तत्त्व

राज्य, जैसा कि पहले कहा गया, एक ठोस वस्तु के रूप में भी देखा जा सकता है और एक गूढ़ विचार के रूप में भी। एक ठोस वस्तु का मतलब है कि यह एक विषिष्ट मानव-समूह अथवा संस्था है और गूढ़ अर्थ में देखे जाने पर यह एक विधिगत विषिष्टता रखने वाला निगम है। राज्य, इसी कारण, भौतिक और पराभौतिक अथवा आध्यात्मिक, दोनों तत्त्वों से मिलकर बनता है। ये तत्त्व हैं :

i) एक मानव-समूह, यथा अधिवासी-समूह (जनसंख्या)

ii) एक क्षेत्र जहाँ पर वे स्थायी रूप से निवास करते हैं (राज्यक्षेत्र)

iii) आन्तरिक प्रभुसत्ता एवं बाह्य नियंत्रण से स्वतंत्रता (सम्प्रभुता)

iv) एक राजनीतिक संगठन अथवा एजेंसी जिसके माध्यम से अधिवासी-समूह की सामूहिक इच्छा व्यक्त की जाती है, यथा शासन-प्रणाली (सरकार)

राजनीति-विज्ञान के छात्रों को, इस प्रकार, यह समझना चाहिए कि इन तत्त्वों में से किसी एक का भी अभाव राज्य को अकृत कर देता है; सभी को अवष्य ही एक साथ होना चाहिए। राज्य जनता नहीं होता, न ही देष, न ही सरकार, अपितु ये सब होता है और इसके अतिरिक्त, राज्य में वह एकता ज़रूर होनी चाहिए जो उसे एक विषिष्ट एवं स्वाधीन राजनीतिक सत्ता बनाती है। ये लक्षण सभी राज्यों के लिए सर्वमान्य हैं, उनकी ऐतिहासिक रूप से विषिष्ट अभिव्यक्तियाँ जो चाहे हों। उदाहरण के लिए, यह बात यूनानी शहर राज्यों, मध्यकालीन राज्यों, आधुनिक राजतंत्र एवं राज्यों के उन सभी प्रकारों पर लागू होती हैं जो आज विद्यमान हैं– उदारवादी लोकतंत्र, फ़ौजी तानाषाही एवं साम्यवादी शासन। अतः चार तत्त्वों की यह व्याख्या सभी राज्यों के लिए एक जैसी है; यह, हालाँकि राज्य के सामाजिक-राजनीतिक अर्थ पर स्पष्ट रूप पर प्रकाष नहीं डालती।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

11.3.2 राज्य व अन्य संस्थाओं के बीच भेद

आम आदमी राज्य और अन्य कई संस्थाओं, जैसे समाज, राष्ट्र व अन्य, के बीच कोई भेद नहीं करता। परन्तु, राज्य का विधिज्ञ दृष्टिकोण, जो यह कहता है कि राज्य एक कानून-निर्मात्री सत्ता है, राज्य व अन्य संस्थाओं के बीच भेद करता है।

राज्य और समाज के बीच भेद नितान्त आवष्यक है क्योंकि समाज राज्य से कहीं अधिक बड़ा होता है। एक समाज में, सभी सामाजिक संस्थाएँ व सामाजिक संबंध शामिल होते हैं, जबकि राज्य के तहत समाज का मात्र एक पहलू आता है। राजनीतिक विषयक अनेक आदर्षवादी एवं अद्वैतात्मक (monistic) लेखकों ने समाज व राज्य के बीच कोई भेद नहीं किया है। परन्तु, उदारवादी लेखक इस प्रकार का भेद करते हैं और दावा करते हैं कि राज्य समाज का सेवक है और समाज के ही भीतर होता है; कि समाज राज्य से अधिक पुराना है और राज्य की भाँति चार तत्त्व नहीं रखता; राज्य एक उच्च रूप से संगठित संप्रभुतासम्पन्न संस्था है, जबकि समाज असंगठित भी हो सकता है और प्रभुसत्तासम्पन्न नहीं होता; राज्य कोई जन्मजात संस्था नहीं होता, जबकि समाज होता है। बहुवादियों ने राज्य व समाज के बीच भेद की हमेषा महत्त्व दिया है, क्योंकि वे राज्य को महज एक संस्था के रूप में ही मानते हैं, समाज के विषिष्ट हितों को साधने के लिए समाज की अन्य संस्थाओं के समान ही।

सरकार राज्य के अवयवों में से एक होती है, परन्तु ये दो शब्द, राज्य व सरकार, एक-दूसरे के लिए अंधाधुंध रूप से प्रयोग किए जाते रहे हैं। लेकिन वस्तुतः, सरकार राज्य का एक एजेंसी मात्र है जिसके माध्यम से सामूहिक इच्छा को प्रतिपादित किया जाता है, अभिव्यक्त किया जाता है और कार्यान्वित किया जाता है। स्थिरता, संप्रभुता एवं विस्तीर्णता के लिहाज से, राज्य सरकार की बजाय ये सब चीजें रखता है। यह भी ग़ौर करना ज़रूरी है कि राज्य को अभी हाल ही में विकसित हुई संस्था माना जाता है, जबकि सरकार बहुत पुरानी है। यहाँ तक कि सबसे पुरातन मानव समाजों ने भी सरकार का कोई प्रारंभिक रूप विकसित किया होगा ताकि समुदाय के आम जीवन पर नियंत्रण रखा जा सके। इसी कारण, सरकार राज्य के अस्तित्व हेतु एक आवष्यक शर्त तो है, परन्तु यथेष्ट (sufficient) नहीं।

बहुवादीजन राज्य व समाज की अन्य संस्थाओं के बीच कोई भेद नहीं करते और दृढ़तापूर्वक यह कहते हैं कि राज्य समाज की किसी भी अन्य संस्था की तरह ही है। परन्तु, आमतौर पर, राज्य अपनी संप्रभुता के कारण अन्य सामाजिक संस्थाओं से भिन्न होता है। हर उदारवादी लोकतंत्र में, राज्य संप्रभुता के भौतिक यंत्र जैसे पुलिस, सेना, नौकरशाही और जेल अधिक मज़बूत हो गए हैं। आज, एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य के पास अत्यधिक भौतिक सत्ता होती है, ताकि विद्रोहों को कुचला जा सके, जो कि अन्य संस्थाओं के पास नहीं होती।

राज्य और राष्ट्र/नागरिकताओं के बीच भेद एक बड़े विवाद का विषय रहा है क्योंकि आधुनिक राज्य राष्ट्र-राज्य भी हैं। परन्तु राजनीति-विज्ञान के छात्रों को राज्य और राष्ट्र के बीच मुख्य अन्तर समझना चाहिए, जो कि यह है कि राष्ट्र का आधार मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक एकता है जबकि राज्य का आधार भौतिक एवं राजनीतिक एकता है। राष्ट्र पूँजीवाद के विकास के साथ उभरे, जबकि राज्य उसके पहले से ही विद्यमान था। राज्य के अनिवार्य तत्त्व राष्ट्र की पूर्व-षर्तें नहीं हैं।

11.3.3 क्या यह भेद वास्तविक है?

MAADHYAM IAS

राज्य का विधिज्ञ दृष्टिकोण एक विधिसंगत अवधारणा के रूप में राज्य एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं के बीच भेद करता है। परन्तु कल्याणकारी राज्यों के उद्‌गमन के साथ ही, राज्य व समाज के बीच अंतर लुप्तप्राय हो गया; राज्य व सरकार के बीच भेद महज एक तकनीकी भेद है और सरकार, सभी व्यावहारिक उद्देष्यों से, राज्य के समकक्ष ही है। इसी प्रकार, राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ ही, राष्ट्र व राज्य के बीच अंतर कोई ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं रहे और राज्य व अन्य संस्थाओं के बीच मतभेद बहुवादियों द्वारा धो डाले गए।

राज्य की गतिविधियों को अवष्य ही समग्र समाज के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। राज्य को उस सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र के रूप में लिया जाना चाहिए, जो कि जनसंख्या, निष्चित क्षेत्र, सरकार व संप्रभुता रखने वाली पूर्ण स्थायी वैध संस्थाओं में कुछ निष्चित प्रकार्यों, गतिविधियों व प्रक्रियाओं के निष्पादनार्थ समाज में प्रचलित हो। कानून बनाने की सर्वोच्च सत्ता एक राजनीतिक प्रणाली है जो स्थिरता व संतुलन कायम रखने, नीति-निर्माण करने एवं समाज में आम कल्याणकारी कार्यों को करने संबंधी प्रकार्यों को निष्पादित करती है।

बोध प्रष्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राज्य शब्द से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) राज्य व अन्य संस्थाओं के बीच अंतर बताएँ। क्या यह भेद वास्तविक है?

....

....

....

....

....

....

11.4 राज्य की प्रकृति : विभिन्न सिद्धांत

राज्य की अनेक दृष्टिकोणों से कल्पना की गई है। हर सिद्धान्ती राज्य को अपनी ही शास्त्र-विद्या के शब्दों में समझता और परिभाषित करता है। हर एक ने राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, क्षेत्र, प्रकार्य व उद्देष्यों के संबंध में अपना ही सिद्धांत दिया है। ये सिद्धांत प्रायः रूप और अर्थ में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इस इकाई में राज्य की प्रकृति के विषय में हम विभिन्न सिद्धांतों से दो-चार होने का प्रयास करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

11.4.1 उदारवादी सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति संबंधी उदारवादी सिद्धांत की जाँच-पड़ताल करने से पहले, कुछ जानकारी स्वयं उदारवाद के ही विषय में प्राप्त करना ठीक रहेगा। 16वीं और 17वीं शताब्दियों में नए पूँजीवादी वर्ग (मध्यवर्ग) का उदय हुआ, उदारवाद की धारणा उन प्रतिक्रियात्मक बलों के खिलाफ़ एक प्रगामी (progressive) विद्रोह के रूप में सामने आयी जिनका प्रतिनिधित्व सामन्तवाद, चर्च और राजतंत्र करते थे। यह व्यक्ति के अधिकारों व स्वतंत्रता पर आधारित लोगों की सहमति संबंधी मान्यता हेतु एक आवाज़ थी। व्यक्ति-संबंधी इसकी अवधारणा 'पुरोगामी व्यक्ति' (posessive individual) की अवधारणा थी और यह लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना हेतु एक राजनीतिक आन्दोलन था।

यह सिद्धांत मनुष्य की उदारवादी धारणा पर आधारित है जो अपने स्वयं की स्वतंत्र इच्छा रखने वाले, इस संसार में एक स्वतंत्र अभिकर्त्ता रूपी संबंध है, वह व्यक्तियों, उनके स्वभाव, गतिविधियों, रुचियों एवं उद्देष्यों को आपेक्षित भूमिका दिलवाता है। राज्य को एक आवष्यकता, एक संस्था –□बुरी हो या भली –□के रूप में देखा जाता है, जो समाज में कानून व व्यवस्था, शान्ति व न्याय कायम कर सके। राज्य समग्र समाज के आम हित को साधने के लिए होता है। इसको मानव-कल्याण की एजेंसी के रूप में देखा गया है, जोकि व्यक्ति के जीवन और संपत्ति को सुरक्षित करेगा। इसको मनुष्य के नैतिक और सामाजिक विकास में योगकारी माना जाता है। उदारवाद राज्य ओर समाज के बीच भेद करता है और कहता है कि राज्य समाज के लिए है, न कि समाज राज्य के लिए।

राज्य के प्रकार्यों पर उदारवादी दृष्टिकोण समय-समय पर बदलते रहे हैं। 17वीं शताब्दी के दौरान, पूँजीवादी वर्ग – जिसने उदारवाद का समर्थन किया– की आवश्यकताएं भिन्न थीं और 18वीं, 19वीं व 20वीं शताब्दियों के दौरान, इस वर्ग की आवष्यकताएँ बदलीं, जिससे समाज में राज्य की एक भिन्न भूमिका आवष्यक हो गई। 18वीं एवं आरम्भिक 19वीं शताब्दी का सैद्धान्तिक उदारवाद, जो अल्पतम प्रकार्यों वाले नकारी राज्य का समर्थन करता था, 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं आरम्भिक 20वीं सदी में आधुनिक उदारवाद में बदल गया जिसने कल्याणकारी प्रकार्यों वाले सकारी (positive) राज्य का समर्थन किया।

सैद्धान्तिक उदारवाद को अन्य नामों से भी जाना जाता है, यथा 'लेज़-फ़े' (liassez-faire) अथवा पुलिस राज्य सिद्धांत, अथवा व्यक्तिवाद सिद्धांत जो राज्य को एक आवष्यक बुराई मानता है। आवष्यक, मनुष्य के स्वार्थपरक स्वभाव के कारण और बुरा, क्योंकि यह स्वार्थपरक स्वतंत्रता का शत्रु है। राज्य और वैयक्तिक स्वतंत्रता को एक-दूसरे के विपरीत के रूप में देखा जाता है और सैद्धान्तिक उदारवाद व्यक्ति की गतिविधियों के क्षेत्र को बढ़ाकर और राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र को घटाकर उसको अधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है। राज्य का कार्य है व्यक्ति को भौतिक सुरक्षा प्रदान करना ताकि वह राज्य हस्तक्षेप के बिना अपने व्यक्तित्व को विकसित कर सके। संक्षिप्ततः, इसका अर्थ है अल्पतम राज्य प्रकार्य एवं अधिकतम वैयक्तिक स्वतंत्रता। ऐडम स्मिथ ने एक आर्थिक आधार पर इसका समर्थन किया और बैन्थम ने एक नैतिक और राजनैतिक आधार पर। तदोपरांत उदारवाद अथवा आधुनिक उदारवाद को 'कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत' 'संषोधनवादी (Revisionist)' अथवा 'सुधारवादी (Reformist) उदारवाद' भी कहा जाने लगा। यहाँ, राज्य को महज एक आवष्यक बुराई नहीं समझा जाता, बल्कि यह भी माना जाता है कि राज्य सामाजिक कल्याण के अनेक कार्य कर सकता है, सन्तुलन ला सकता है और जनसाधारण की सामाजिक-आर्थिक माँगों को पूरा कर सकता है। अनेक विचारकों मिल, फ़्रीमैन, हॉब्हाउस, लिण्डसे, कीन्स, टॉनी, कोल, बार्कर, लास्की एवं मैकाइवर ने राज्य के सकारी कार्यों संबंधी सिद्धांत दिया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस प्रकार, उदारवादी राज्य के बढ़ते लोकतंत्रीकरण ने सभी वयस्कों को मताधिकार दिलवाकर राज्य को अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप की नीतियाँ शुरू करने के लिए मज़बूर कर दिया। इसका अर्थ कराधान एवं राज्यीय अनुदान के माध्यम से सम्पन्नतरों से अल्पसम्पन्नों को संसाधन हस्तांतरित करना भी है। अल्पतम राज्य से भिन्न, जो उदारवादी राज्य का मूल स्वरूप था, कल्याणकारी राज्य से अपील की गई कि जनकल्याण को अपना मुख्य कार्य-व्यापार बनाये। कल्याणकारी राज्य महज एक चुनावी दबाव का जवाब नहीं था, बल्कि आम जनता के बीच उनकी शक्ति संबंधी चेतना जगाने हेतु प्रत्युत्तर भी था, जो मज़दूर संघों जैसी संस्थाओं एवं जनमत के माध्यम से व्यक्त हुआ। परन्तु कल्याणकारी राज्य को सैद्धान्तिक अल्पतम राज्य से एक क्रांतिक परिवर्तन के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसकी बजाय, हमें इसको जनता को अधिकतम रियायत जाने के एक प्रयास के रूप में देखना चाहिए जो कि एक उदारवादी, पूँजीवादी बाज़ार अर्थव्यवस्था की आवष्यकताओं के अनुरूप हो।

उदारवाद, 20वीं सदी के अंतिम वर्षों में, नव-उदारवाद के एक नए रूप में बदल चुका है। इसको सैद्धान्तिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विचारों की ओर लौटने के रूप में लिया जा सकता है। नव-उदारवादी लक्ष्य है 'राज्य की सीमाओं की ओर वापसी', संक्षेप में कि अनियमित पण्य (market) पूँजीवाद से दक्षता, वृद्धि और व्यापक सम्पन्ता आयेगी। राज्य का नव-उदारवादी दृष्टिकोण फ़्रेड्रिक हयेक एवं मिल्टन फ़्रीडमैन जैसे अर्थषास्त्रियों तथा रॉबर्ट नोज़िक जैसे दार्षनिकों के लेखों में देखा जाता है।

बोध प्रश्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राज्य के उदारवादी सिद्धांत संबंधी विषिष्ट लक्षण क्या है.?

....

....

....

....

....

....

2) सैद्धान्तिक उदारवादी सिद्धांत क्या है?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

11.4.2 मार्क्सवादी सिद्धांत

राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य के उदारवादी सिद्धांत की एक समीक्षा, और उसके एक विकल्प के रूप में उभरा। यदि उदारवाद कामगार वर्ग का एक सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धांत था, तो मार्क्सवाद स्वयं पूँजीवाद आर्थिक व्यवस्था का परिणाम था।

उदारवादी दृष्टिकोण से, राज्य सामाजिक अनुबंध, स्वीकृति एवं सर्वसम्मति का परिणाम है, और कानून व्यवस्था कायम करके एवं न्याय व कल्याणकारी सेवाएँ मुहैया करके समग्र समुदाय का आम हित साधने के लिए है। जबकि मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार, राज्य वर्ग-विभाजन एवं वर्ग-संघर्ष का परिणाम है और एक वर्ग-विषेष का ही हित साधता है, क्योंकि सभी वर्गों का कोई एक ही हित/सर्वमान्य हित नहीं हो सकता। यह राज्य को अस्वीकार करता है, अपनी अल्पावष्यकता वर्गों की विद्यमानता से जोड़ता है, और सुझाव देता है कि एक क्रांति और एक वर्गरहित समाज की स्थापना द्वारा राज्य की संस्था को नष्टकर दिया जाए। आपको पता होना चाहिए कि सामाजिक विज्ञानों में, ''मतैक्य मॉडल'' और ''विवाद मॉडल'' से संबंधित बहस एक लम्बे समय तक गर्म रही। मतैक्य मॉडल जिस पर उदारवाद आधारित है, दृढ़तापूर्वक कहता है कि समाज व सामाजिक संस्थाओं, राज्य समेत, का आधार सहयोगी (shared) आस्थाएँ, हित, आदर्ष एवं संस्थाएँ हैं। विवाद सिद्धांत विवाद व संघर्ष को महत्त्व देता है और यह निष्कर्ष निकालता है कि राज्य व अन्य कई संस्थाएँ विवाद का ही परिणाम हैं।

चलिए, राज्य की प्रकृति, प्रकार्य एवं विधिसंगत के विषय में मार्क्सवादी मान्यताओं का ध्यानपूर्वक विष्लेषण करते हैं, जिनको कार्ल मार्क्स ने 'दास-कैपिटल' व 'द क्रिटिक ऑफ

द गोथा प्रोग्राम' समेत अपनी अनेक कृतियों के माध्यम से तैयार किया। यद्यपि मार्क्स ने स्वयं राज्य का अलग से कोई सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया, राज्य-संबंधी विचार-विमर्ष मार्क्स के लगभग सभी लेखों में बिखरा पड़ा है। मार्क्स उत्पादन के पूँजीवादी ढंग संबंधी ऐतिहासिक विष्लेषण में व्यक्त थे, अतः वह राज्य सरीखे विषिष्ट विषयों पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सके। परन्तु एन्जेल्स व अन्य मार्क्सवादी विद्वानों व क्रांतिकारियों ने इस पहलू पर लिखा है।

राज्य-संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत की मुख्य बातों पर राजनीति-विज्ञान के छात्रों का ध्यान आवष्यक है। मार्क्स ने अपने आरम्भिक लेखों में यह स्पष्ट किया कि एक वर्ग की संगठित शक्ति है जो बहुसंख्यक कामगार वर्ग पर प्रबल राजनीतिक प्रभुत्व-स्थापन नियमों के माध्यम से दूसरे को, यथा आर्थिक रूप से प्रबल अल्पसंख्यक वर्ग को दबाती है। मार्क्स ने राज्य को एक संक्रमित और पराश्रयी सामाजिक बल माना और 'पृथ्वी पर ईष्वर का प्रयाण' (March) के रूप में राज्य संबंधी हेगेल की धारणा को अस्वीकार किया। उन्होंने राज्य को कभी भी समाज में विवाद समाप्त करने वाले और एकता व सामन्जस्य लाने वाले किसी ऊँची नैतिकता के रूप में नहीं लिया। राज्य उनके अनुसार, कभी न तो समाज के बराबर था न ही उससे ऊपर, वरन् ऐतिहासिक विकास की किसी निष्चित अवस्था में महज उसका परिणाम था। इस प्रकार, मार्क्स एक आम सैद्धान्तिक ढाँचे में और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में विष्वास करते हैं जिसे 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक अधिक सामान्य सैद्धान्तिक तंत्र है, जिससे ऐतिहासिक विकास संबंधी अधिक स्पष्ट सिद्धांत जन्मा है, जिसको 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (Historical Materialism) अथवा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहते हैं।

मार्क्सवादी कहते हैं कि सभी दृष्यघटनाएँ, जिनका हम अपने मस्तिष्क एवं चेतना से बाहर अनुभव करते हैं, भौतिक, साकार और यथार्थ होती हैं। साथ ही, सभी दृष्य घटनाएँ विवादों की ओर ले जाते और फिर, अन्ततः विकास के एक ऊँचे स्तर की ओर उठते आन्तरिक प्रतिवादों से अभिलक्षित होते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को मार्क्स द्वारा 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' नाम दिया गया है। इसी कारण, किसी भी दृष्य घटना को समझने के लिए हमें उस तरीके को अवष्य समझना चाहिए जिसमें वह बदलती है।

इस प्रकार, राज्य-संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य को महिमान्वित नहीं करता; यह एक वर्ग-रहित समाज में, उसके पतन, उसके तिरस्कार का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार, नीतियाँ और राज्य उस अधिरचना (super structure) का हिस्सा हैं जो एक प्रदत्त समाज की आर्थिक व्यवस्था अथवा उत्पादन रीति पर आधारित है। राज्य की उत्पत्ति संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत भी राज्य व नीतियों के इस आम दृष्टिकोण पर आधारित है।

राज्य वर्गों में विभाजित समाज और उनके बीच संघर्षारंभ के साथ जन्मा। राज्य की उत्पत्ति संबंधी ऐतिहासिक विष्लेषण यह है कि राज्य किसी भी सूरत में समाज पर थोंपी गई कोई सत्ता नहीं है; बल्कि, यह विकास की एक निष्चित अवस्था में समाज की एक रचना है जो उसके साथ विवादों में फँसा होता है। राज्य, इस प्रकार, समाज में वर्गों के जन्म और वर्ग-संघर्ष के साथ जन्मा और एक प्रभावी वर्ग के हाथों में एक शोषण-साधन मात्र है। राज्य की मदद से, शासक वर्ग आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों पर अपनी सत्ता कायम रखते हैं।

बोध प्रष्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राज्य-संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत को अपने शब्दों में स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

11.4.3 गाँधीवादी सिद्धांत

चलिए, अब यह देखने का प्रयास करते हैं गाँधीजी ने राज्य की प्रकृति को किस प्रकार परिकल्पित किया। इसकी सूक्ष्म रूप से जाँच करने से पहले, हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि गाँधीवादी परिकल्पना उदारवादी व मार्क्सवादी पहलुओं में पायी जाने वाली राज्य-संबंधी अवधारणा के साथ समानताएँ व भिन्नताएँ दर्षाती है। हम यह भी ग़ौर कर सकते हैं कि यद्यपि यह राज्य विषयक भारतीय विचारधारा से जन्मी है, यह इस विषय पर कुछ पाष्चात्य विचारों का भी प्रभाव दर्षाती है।

सबसे पहले, गाँधीजी राज्य की आवष्यकता को स्वीकार करते हैं; यद्यपि अहिंसा के एक समर्थक के रूप में वह यह ज़रूर देखते हैं कि राज्य का निहितार्थ है हिंसा-प्रयोग अथवा अवपीड़न। ऐसा इसलिए है कि गाँधीजी इस विचार को मानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः अहिंसात्मक है और कि यह आदर्ष अर्थ में मनुष्य पर लागू होता है। एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से, वह इस बात से सहमत हैं कि राज्य की कुछ आवष्यकताएं होती हैं क्योंकि व्यवहारतः, मनुष्य में अहिंसा और सामाजिकता संबंधी आदर्ष गुण नहीं भी हो सकते। परन्तु यह बात कहकर, गाँधीजी यह भी बात रखते हैं कि हिंसा की एक संस्था के रूप में राज्य सीमित अवष्य होना चाहिए। अन्य शब्दों में, गाँधी जी अल्पतम राज्य को मानते हैं।

दूसरे, गाँधीजी का सुझाव है कि राज्य कुछ कसौटियों के आधार पर सीमित होना चाहिए। एक ओर, राज्य का प्राधिकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर आधारित किसी व्यवस्था द्वारा घटा दिया जाना चाहिए, जिसमें राज्य से नीचे स्तर के समुदायों के पास ज़्यादा स्वायत्तता और केन्द्रीय राज्य से स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस प्रकार की स्वायत्तता संबंधी एक इकाई ग्राम समुदाय होनी चाहिए। उस समुदाय को स्वयं एक सर्वसम्मति की प्रक्रिया द्वारा ग्रामीण समुदाय को प्रभावित करने वाले सभी निर्णयों को तय करना चाहिए। गाँधीवादी दृष्टिकोण यह है कि जहाँ तक कि महत्वपूर्ण स्थानीय समुदाय संबंधी निर्णय उस स्तर पर लिए जाते हैं, केन्द्रीय राज्य अल्पतम होगा, जो समग्र अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत सम्पूर्ण क्षेत्र की रक्षा, विदेष-संबंध एवं समग्र राज्यक्षेत्र को प्रभावित करने वाली कोई भी अन्य समस्याएँ से अनुमानतः सम्बद्ध रहेगा। रीति-रिवाजों व परम्पराओं के माध्यम से समग्र समाज में निहित नैतिक मानदण्डों द्वारा गाँधीवादी विचार में राज्य की शक्ति भी अल्पकृत होती है।

तीसरे, और केवल अहिंसात्मक रूप से, राज्य वैयक्तिक ''सद्विवेक'' (Conscience) अथवा ''अन्तर्आत्मा की आवाज़'' से उठती नैतिक चुनौतियों द्वारा भी परिसीमित है। अपनी महान् श्रेण्य कृति, *हिन्द स्वराज*, में उन्होंने कहा कि इस तरह की राज व्यवस्था जिसमें राजनीतिक शक्तियों को एक बड़ी संख्या में स्व-षासन ग्राम समुदायों में विभाजित कर दिया जाता है, स्वराज शासन प्रणाली है। गाँधीजी का दावा था कि यह भारत में सदियों

MAADHYAM IAS

में चलकर विकसित हुई एक ईमानदारी से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था है। तथापि, गाँधीवादी राज्य को उसकी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं से विलग नहीं किया जा सकता। इसी कारण, स्वराज अथवा स्व-षासन संबंधी संकल्पना आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं को छूती है। स्वयं ग्रामीण समुदाय के भीतर, गाँधीजी व्यक्तियों से ऊपर समूहों के महत्त्व पर ज़ोर देते हैं।

इस प्रकार, गाँधीजी को एक अराजकतावादी कहना ग़लत होगा, यदि उससे तात्पर्य एक ऐसे विचारक से है जोकि राज्य की आवष्यकता से इंकार करता हो। निष्चिततः, वह राज्य को परिसीमित करते हैं, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह इससे छूट देते हैं। अल्पतम राज्य का मामला यह है कि इसमें अल्पतम हिंसा शामिल है, और इसका अर्थ स्वराज-संबंधी गाँधीवादी राजनीतिक सिद्धांत की स्वीकृति भी है। जबकि वैयक्तिक सद्विवेक पर गाँधीवादी राजनीतिक सिद्धांत की स्वीकृति भी है। जबकि वैयक्तिक सद्विवेक पर गाँधीजी का ज़ोर वैयक्तिक अधिकारों पर उदारवादी महत्त्व दिए जाने जैसा ही है, इसको वैयक्तिक अधिकार की धारणा से अलग समझा जाना चाहिए। गाँधीवादी अधिकार व्यक्ति को व्यक्तिवाद के उदारवादी आधार पर नहीं, बल्कि नैतिक आधार पर दिए जाते हैं; यथा यह दावा कि नैतिक रूप से कार्य करना हमारा कर्त्तव्य है। सत्याग्रह-संबंधी गाँधीवादी धारणा अथवा विरोध-प्रदर्षन संबंधी राजनीतिक कार्यवाही अथवा असत्य का विरोध एक नैतिक अधिकार एक कर्त्तव्य है, और गाँधीवादी राज्य भी इस प्रकार की कार्यवाही का उद्देष्य है।

गाँधीजी की राज्य-संबंधी अवधारणा मार्क्सवादी राज्य से इस संदर्भ में मिलती-जुलती है कि दोनों ही राज्य को एक हिंसा-तंत्र के रूप में लेते हैं। अपने नैतिक पहलू के मद्देनज़र, गाँधी भी कर्त्तव्यों पर ज़ोर देते हैं, न कि अधिकारों पर। इसके अलावा गाँधीवादी राज्य वैयक्तिक इच्छाओं की सामूहिकता संबंधी किसी धारणा की बजाय एक नैतिक, साम्यवादी मतैक्य पर ज़्यादा आधारित है। अनेक तरीकों से, गाँधीवाद राज्य राज्य का एक विषिष्ट रूप से भारतीय रूप है। आज, गाँधीवादी तत्त्व पंचायतीराज अथवा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण संबंधी आदर्षों की धारणा में प्रतिबिम्बित होते हैं। वस्तुतः भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण मुद्दों में से एक यह रहा है कि राज्य का गांधीवादी स्वरूप भारत में प्रस्तावित किया जा सकता है? यदि हाँ, तो किस हद तक?

MAADHYAM IAS

राज्य-संबंधी इन तीन पहलुओं का संक्षेपण करते हुए, हम कह सकते हैं कि उदारवादी राज्य वैयक्तिक अधिकारों पर आधारित होता है; कि मार्क्सवादियों के अनुसार, राज्य वर्ग-प्रभुत्व व वर्ग-षोषण पर आधारित होता है; और गाँधीवादी राज्य एक नैतिक व साम्यवादी सर्वसम्मति पर आधारित होता है।

बोध प्रष्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) राज्य के गाँधीवादी सिद्धांत संबंधी विषिष्ट लक्षणों को विस्तार से बताएँ।

....

....

....

....

....

2) राज्य के गाँधीवादी सिद्धांत के साथ उदारवादी अथवा मार्क्सवादी सिद्धांत की तुलना करें और उसके बाद भेद दर्षायें।

....

....

....

....

....

....

11.5 सारांष

अब तक, ऊपर राज्य-संबंधी विभिन्न धारणाओं का विष्लेषण किया गया, जो यह निष्चित करती हैं कि राज्य एक ऐतिहासिक सत्ता है। इसका अर्थ, प्रकृति, प्रकार्य व कार्यक्षेत्र समय व परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ बदले हैं। तथापि, एक स्थिति तय है कि चूँकि समाज विविध समूहों, हितों व विवादों का समूह है, राज्य समग्र समाज के आम हितों के उन्नयन (promotion) और अभिव्यक्ति हेतु एक मंच बना हुआ है।

राजनीति को सामाजिक प्रक्रियाओं के एक आयाम के रूप में समझा जाना चाहिए, न कि महज राज्य और सरकार संबंधी अध्ययन के रूप में। उदारवादी दृष्टिकोण से, राज्य महज प्रभुत्व सम्पन्न कानून-निर्मात्री शक्तियाँ। कानूनों को लागू करने हेतु अवपीड़क शक्ति रखने वाली कोई कानूनी संस्था नहीं है, बल्कि इसका सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है समाज की सेवा करना और समाज में अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक माँगों को पूरा करना। जबकि मार्क्सवाद ने राज्य की वर्ग प्रवृत्ति पर ज़ोर दिया, उसने यह दृढ़तापूर्वक कहा कि समाज का आधार नींव का ढाँचा होता है – यथा, उत्पादन रीति समाज में वर्ग निर्धारित करती है – और इसी पर आधारित है समाज की सांस्कृतिक, नैतिक व राजनीतिक अधिरचना। यह, उनके अनुसार, एक अवपीड़क साधन है जो समाज के एक विषिष्ट प्रभावषाली आर्थिक वर्ग से ताल्लुक रहता है। दूसरी ओर, गाँधीवादी राज्य लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के आदर्षों के साथ, एक नैतिक व साम्यवादी सर्वसम्मति पर आधारित है।

इन सभी विभिन्न पहलुओं में, राज्य की आवष्यकता बेहद महसूस की जाती है। राज्य को चाहे एक वर्ग-संगठन के रूप में देखा जाए अथवा एक सत्ता-तंत्र के रूप में, या फिर एक आवष्यक या अनावष्यक बुराई के रूप में, अथवा कल्याणकारी राज्य के रूप में, अथवा जीवन के नितांत आधार के रूप में, वह अपनी ऐतिहासिक विकास के विभिन्न चरणों के दौरान अपना उद्देष्य पूरा करता है।

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

असिरवथ्म, एड्डी, *पॉलिटिकॅल थिअरी*, दी अपर इण्डिया पब्लिषिंग हाउस प्रा. लिमिटेड, लखनऊ, 1984

जैन, एम.पी., *पॉलिटिकॅल थिअरी : लिबरल एण्ड मार्क्सियन*, ऑथरज़ गिल्ड पब्लिकेषन्ज़, नई दिल्ली, 1979

मैकाइवर, आर.एम., *द माडर्न स्टेट*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, लंदन, 1976

रे, अमल एवं मोहित भट्टाचार्य, *पॉलिटिकॅल थिअरी : आइडियाज़ एण्ड इन्स्टिट्यूषन्ज़*, वर्ल्ड प्रैस, कोलकाता, 1985 (नया संस्करण देखा जा सकता है)

11.7 बोध प्रष्नों के उत्तर

बोध प्रष्न 1

1) देखें भाग 11.2, 11.3 और उपभाग 11.3.1

2) देखें उपभाग 11.3.2 और 11.3.3

बोध प्रष्न 2

1) देखें उपभाग 11.4.1

2) देखें उपभाग 11.4.1

बोध प्रष्न 3

1) देखें उपभाग 11.4.2

बोध प्रष्न 4

1) देखें उपभाग 11.4.3

2) देखें उपभाग 11.4.3

MAADHYAM IAS

इकाई 12 संप्रभुता

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देष्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 संप्रभुता की प्रकृति
12.3 संप्रभुता क्या है?
12.4 संप्रभुता के लक्षण
12.5 संप्रभुता संबंधी धारणा का विकास
12.6 विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता
12.7 संप्रभुता का स्थान निर्धारण
  12.7.1 राजतंत्र की संप्रभुता
  12.7.2 प्रजा की संप्रभुता
  12.7.3 संप्रभुता : संविधान-निर्माण शक्ति के रूप में
  12.7.4 कानून-निर्माण शक्ति संबंधी संप्रभुता
12.8 डी ज़ॉर और डी फैक्टो संप्रभुता
12.9 संप्रभुता विषयक सीमाएँ
  12.9.1 नैतिक सीमाएँ
  12.9.2 संवैधानिक सीमाएँ
  12.9.3 अन्तरराष्ट्रीय सीमाएँ
12.10 संप्रभुता-सिद्धांत विषयक आलोचनाएँ
12.11 सारांष
12.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.13 बोध प्रष्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.0 उद्देष्य

इस इकाई में आप पढ़ेंगे राजनीति-विज्ञान में प्रयुक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवधारणा के विषय में, यथा संप्रभुता यानी संप्रभुता के विषय में। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- संप्रभुता की अवधारणा को समझ सकें और उसकी प्रकृति व लक्षणों को जान सकें;
- इस सिद्धांत की उत्पत्ति को तलाष कर सकें और इसका स्थापन व विविधताओं को स्पष्ट कर सकें;
- संप्रभुता की अवधारणा के विरुद्ध अभिलक्षित तीखी आलोचनाओं का विवेचनात्मक रूप में मूल्यांकन कर सकें; तथा
- आज के विष्व में इस अवधारणा का औचित्य जान सकें।

12.1 प्रस्तावना

इससे पहले कि हम संप्रभुता की संकल्पना का विष्लेषण करें, हमें राजनीति के अर्थ, राजनीति के साथ अन्य सामाजिक विज्ञानों के संबंध एवं राज्य के अर्थ के बारे में पूरी समझ

होनी चाहिए। उदारवादी दृष्टिकोण राजनीति को विवाद निपटाने, एकता कायम करने हेतु एक सामाजिक प्रक्रिया मानता है : समाज की आम भलाई के लिए और शान्तिपूर्व। मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति को समाज में वर्ग-सम्बंधों एवं वर्ग-संघर्षों का एक अध्ययन मानता है। इसी प्रकार, राज्य को एक संस्था के रूप में लिया है, जो कि समाज में ये सभी कार्य निष्पादित करता है। एक बुनियादी प्रष्न यहाँ यह उठता है – राज्य ये सभी कार्य किस प्रकार करता है? इस प्रष्न के उत्तर में, यह कहा जा सकता है कि वह ये सभी कार्य किसी प्राधिकार अथवा अवपीड़क शक्ति की मदद से करता है, जिसे संप्रभुता कहा जाता है। यदि समाज में विवाद हैं और इन विवादों को सुलझाने के लिए एक अवपीडक शक्ति है, तो अनेक प्रश्न उठते हैं– यह किसी अवपीड़क शक्ति क्या है? इसका स्वभाव क्या है? इसके आधार क्या हैं? एक संकटग्रस्त, वर्ग-विभाजित समाज में यह एकता कैसे कायम कर सकती है? राज्य को यह सम्पूर्ण शक्ति रखनी चाहिए अथवा इसको समाज की अन्य संस्थाओं के साथ बाँट लेना चाहिए? ये सभी प्रष्न किसी न किसी तरीके से संप्रभुता के मुद्दे से जुड़े हैं, जिनको हम इस इकाई में देखेंगे।

12.2 संप्रभुता की प्रकृति

राज्य का राज्य से, किसी राज्य का उसके नागरिकों से, और एक नागरिक का दूसरे नागरिक से संबंध केवल उस लक्षण की एक अतिरिक्त चर्चा के बाद ही समझा जा सकता है, जो राज्य को अन्य सभी संगठनों से अलग करता है, उसकी संप्रभुता। एक अन्य कसौटी है कानून की प्रकृति, चूँकि उस रूप में ही राज्य की संप्रभुता स्वयं को अभिव्यक्त करती है।

संप्रभुता की अवधारणा ही आधुनिक राजनीतिक-विज्ञान का आधार है। यह सभी कानूनों की वैधता में निहित होती है और सभी अन्तरराष्ट्रीय संबंधों को तय करती है। इसकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है : जब लोगों का एक स्वतंत्र समूह एक ऐसी सरकार के माध्यम से संगठित किया जाता है जो कानून बनाती व लागू करती है, तो राज्य अस्तित्व में आता है। इस समूह के भीतर इच्छा और शक्ति की सर्वोच्चता आवष्यक है। इसको अपने में अवष्य ही एक ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का निकाय शामिल करना चाहिए जिनके आदेषों का पालन होता हो और जो, आवष्यकता पड़ने पर, बल-प्रयोग के माध्यम से उन आदेषों को निष्पादित करा सकें। ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का निकाय संप्रभुता का प्रयोग करता है, और ऐसे आदेषों को कानून कहा जाता है। स्पष्ट रूप से, संप्रभुता के लिए कोई भी कानूनी सीमा नहीं हो सकती, क्योंकि उसका मतलब होगा एक उच्चतर कानून-निर्मातृ निकाय, और पलटकर वही संप्रभु होगा। राज्य, इसी कारण, कानूनी रूप से संप्रभु होता है।

असीमित कानूनी शक्ति रखते हुए, राज्य व्यक्तियों को कुछ निष्चित अधिकार व विषेषाधिकार प्रदान करता है और अपनी स्वयं की गतिविधियों हेतु सीमाएँ निर्धारित करता है। एक राज्य अपने प्रदेषों को एक बड़े पैमाने पर स्वायत्तता दे सकता है अथवा अपने स्थानीय प्रखण्डों को व्यापक शक्तियाँ दे सकता है, और यदि वह किसी भी समय इन प्रतिनिधि शक्तियों को कानूनन वापस ले सकता हो तो भी संप्रभुता अपने पास रख सकता है।

आन्तरिक व बाह्य संप्रभुता के बीच प्रायः भेद किया जाता है। लेखक, खासकर अन्तरराष्ट्रीय कानून पर लिखने वाले, कभी-कभी आंतरिक संप्रभुता के संबंध में कहते हैं कि यह एक राज्य के क्षेत्रफल की जनसंख्या के संदर्भ में कानून बनाने और लागू करने का किसी अधिकार है, और बाह्य संप्रभुता अन्य राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने व कायम रखने

MAADHYAM IAS

का अधिकार, जिसमें युद्ध-घोषणा व शान्ति-प्रयास शामिल हैं। बाह्य संप्रभुता संबंधी अवधारणा आपत्तिजनक है, क्योंकि इसका निहितार्थ है कि एक राज्य अन्य राज्यों के सामने संप्रभु अधिकार रखता है, जो कि सत्य नहीं है। अन्य लेखक बाह्य संप्रभुता को किसी अन्य राज्य कार्रवाई संबंधी अपनी पूर्ण स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबंध लगाने पर राज़ी होते हैं, उनकी संप्रभुता को समाप्त नहीं करते, क्योंकि उनको लागू करने हेतु कोई भी प्रकार कानूनी बाध्यकारी प्राधिकरण नहीं होता। यदि कोई राज्य आन्तरिक रूप से संप्रभु है, तो उसे बाह्य रूप से कानूनन आवष्यक होना अनिवार्य है। संप्रभुता में, सटीक रूप से कहे जाने पर, एक राज्य के उसके अधिवासियों के साथ आन्तरिक संबंध होते हैं; यह एक संवैधानिक कानून का शब्द है, न कि अन्तरराष्ट्रीय कानून का। यह एक कानूनी अवधारणा है और इसमें सिर्फ़ सकारी कानून होते हैं।

अन्तिम विष्लेषण में, संप्रभुता या तो बल-प्रयोग अथवा सर्वसम्मति पर अथवा इन दोनों के मिश्रण पर आधारित होती है। लोग आज्ञापालन करते हैं क्यों कि वे मानते हैं कि ऐसा करना वान्छित है। निरंकुष राज्यों में, लोग भयवष आज्ञापालन करते हैं, जबकि लोकतांत्रिक राज्यों में बहुसंख्य लोग सर्वसम्मति से आज्ञापालन करते हैं। बल-प्रयोग सिर्फ़ कुछेक लोगों के लिए चाहिए होता है जो आज्ञापालन से इंकार करते हैं। अपनी आज्ञाओं के समर्थन एवं आज्ञापालन की हेतु बल रखना ही राज्य को अन्य सभी संस्थाओं से अलग करता है और उसे संप्रभु बनाता है।

12.3 संप्रभुता क्या है?

राज्य की अवधारणा की भाँति ही, संप्रभुता भी ऐतिहासिक परिस्थितियों में परिवर्तनों से गुज़री है। 18वीं व 19वीं शताब्दियों के दौरान, संप्रभुता कानूनी अवधारणा मतलब पूरा करती होगी, परन्तु हमारे समय में नहीं करती। राज्य अकेले कानून अथवा आज्ञा के आधार पर अपना काम नहीं चला सकता। आज पुराने जमाने के शासक की नितांत सत्ता के स्थान पर संप्रभुता लागू करने हेतु जनमत पर काबू करने की शक्ति आ गई है। इसकी वैधता सामाजिक विवाद निपटाने, व्यवस्था लागू करने और समुदाय के आम हित साधने हेतु उसकी क्षमता पर अधिक निर्भर है। यह बात राज्य के प्राधिकार संबंधी एक उचित समझ प्रदान करती है। इसका प्राधिकार उसकी अवपीड़क शक्ति की बजाय आज्ञापालन करने हेतु जनसाधारण की इच्छा पर अधिक निर्भर होता है। यही है संप्रभुता का उदारवादी अर्थ। तथापि, उदारवादी जन राज्य की अवपीड़क शक्ति को पूरी तरह नहीं ठुकराते, और यह मत रखते हैं कि सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को बचाने के लिए, आावष्यक होने पर, इसका प्रयोग विधिसंगत हो सकता है।

बहरहाल, संप्रभुता का एक और दृष्टिकोण भी है, जो संप्रभु को समाज के एक वर्ग-विषेष का दूसरे पर अधिकार मानता है। यह विचार समाज के एक वैज्ञानिक विष्लेषण पर आधारित है और मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, राज्य और संप्रभुता एक आर्थिक रूप से उस प्रबल वर्ग की सत्ता है, जो उसे अपने हित वृद्धि के लिए प्रयोग करता है। मार्क्सवाद का सुझाव है कि एक पूँजीवादी राज्य में संप्रभुता को एक समाजवादी क्रांति द्वारा नष्ट कर किया जाना चाहिए और इसके स्थान पर कामगार वर्ग की संप्रभुता लानी चाहिए –□यथा, सर्वहारा की तानाषाही। एक वर्गरहित समाज में राज्य समाप्त हो जाएगा। एक वर्ग-रहित समाज में, संप्रभुता, जो कि एक वर्ग सत्ता है, का कोई स्थान नहीं होगा।

वर्तमान शताब्दी में, कुछ बहुवादियों व आचरणषास्त्रियों (Behaviouralists) ने संप्रभुता की एक नई व्याख्या दी है। बहुवादी अवधारणा के अनुसार, किसी समाज में सत्ता राज्य

में केन्द्रीकृत नहीं होती, बल्कि विभिन्न संस्थाओं व समूहों में बँटी रहती है। आचरणषास्त्रियों का कहना है कि एक लोकतांत्रिक समाज में, सत्ता एक प्रतिस्पर्धारत अनेक संख्यक अभिजात वर्ग द्वारा बाँट ली जाती है। इस प्रकार, एक लोकतांत्रिक सत्ता को विकीर्ण माना जाता है, न कि केन्द्रीकृत।

बोध प्रश्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता क्या है?

....

....

....

....

....

....

2) संप्रभुता की प्रकृति संबंधी व्याख्या अपने शब्दों में कीजिए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.4 संप्रभुता के लक्षण

इकाई के इस भाग में, हम संप्रभुता-संबंधी अनेक मुख्य लक्षणों पर चर्चा करेंगे, जो राज्य के आज्ञापालन हेतु नागरिकों के लिए उसे अनिवार्य बनाते हैं। संप्रभुता के लक्षण संक्षेप में निम्न प्रकार कहे जा सकते हैं:

1) **चरमता :** इसका अर्थ है कि राज्य में इससे बढ़कर कोई भी वैध सत्ता नहीं हो सकती, और राज्य की सर्वोच्च कानून-निर्मात्री सत्ता के लिए कोई कानूनी सीमा नहीं हो सकती। यह इस अर्थ में चरम है कि यह किसी अवरोध, कानूनी अथवा कोई अन्य, के अधीन नहीं है। एक सभ्य समाज में, यद्यपि संप्रभु द्वारा पारित कानून सभी संस्थाओं व नागरिकों पर बाध्यकारी होते हैं, फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि राज्य की संप्रभुता पर कोई व्यावहारिक प्रतिबंध नहीं है। कुछ निष्चित स्वयं-स्थापित सीमाओं, आन्तरिक अथवा बाह्य, को कानूनन प्रतिबंधों के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। ये सीमाएँ राज्य की ''चरम'' प्रकृति द्वारा काबू में रखी जाती हैं।

2) **सर्वव्यापकताः** राज्य की संप्रभुता राज्य में हर व्यक्ति और व्यक्तियों की हर संस्था तक विस्तृत होती है। राजनयी प्रतिनिधियों के उदाहरण में प्रतीतमान अपवाद (exceptional) है एक अन्तरराष्ट्रीय षिष्टाचार, जिसे राज्य किसी भी समय हटा सकता है।

3) **स्थायित्वः** राज्य की संप्रभुता तब तक कायम रहती है जब तक कि राज्य स्वयं अस्तित्व में रहता है। वे जो इसका प्रयोग करते हैं बदल सकते हैं, और सम्पूर्ण राज्य पुनर्संगठित हो सकता है; परन्तु संप्रभुता, कहीं भी रहे, डटी रहती है। सिर्फ़ राज्य के विध्वंस द्वारा ही संप्रभुता को नष्ट किया जा सकता है।

4) **अभाज्यताः** इसका निहितार्थ है कि किसी राज्य में सिर्फ एक ही संप्रभुता हो सकती है। संप्रभुता को विभाजित करना उसे नष्ट करना है। उसकी शक्तियों का प्रयोग विभिन्न सरकारी अंगों में विभाजित किया जा सकता है, परन्तु संप्रभुता एक इकाई है, ठीक वैसे जेसे राज्य एक इकाई है। संख्या में उतने में ही राज्य हो सकते हैं जितने कि संप्रभुताएँ। किसी विभाजित संप्रभुता का अर्थ है, एक शाब्दिक विरोध।

संप्रभुता-संबंधी अभाज्यता सिद्धांत की विभिन्न दृष्टिकोणों से तीखी आलोचना हुई है। अन्तरराष्ट्रीय कानून पर लिखने वाले संप्रभु राज्यों का पक्ष लेते हैं, जैसे कि संरक्षित राज्य। विभाजित संप्रभुता संबंधी सिद्धांत अधिकतर अमेरिकी विचारकों द्वारा रखा गया, जो संयुक्त राज्य अमेरिका को राष्ट्रीय सरकार को प्रदत्त अधिकारों के लिहाज से संप्रभु के रूप में, और राज्यों को उनके लिए आरक्षित उन अधिकारों के लिहाज से संप्रभु मानते थे। जर्मन लेखकों ने जर्मन साम्राज्य के बनने के समय इस सिद्धांत को पुनरुज्जीवित किया, परन्तु अब इसको छोड़ दिया गया है। किसी संघीय व्यवस्था में विभाजित राज्य में विद्यमान संप्रभुता संप्रभुता नहीं है, बल्कि विभिन्न सरकारी अंगों के बीच एक संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार वितरित अपनी विभिन्न शक्तियों का प्रयोग संप्रभुता है। अभी हाल में, विभाजित संप्रभुता सिद्धांत उन बहुवादियों द्वारा पुनरुज्जीवित किया गया है जो इस बात से इंकार करते हैं कि राज्य अकेले ही संप्रभु है और जिनका कहना है कि राज्य में अन्य संस्थाएँ, जैसे कि चर्च अथवा आर्थिक समूह, अपने विषिष्ट हितों के विषय पर संप्रभु हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

12.5 संप्रभुता संबंधी धारणा का विकास

संप्रभुता की धारणा का संबंध अरस्तू से जोड़ा जा सकता है, जिसने राज्य की 'सर्वोच्च शक्ति' के विषय में लिखा। रोम के वकीलों व मध्यकालीन लेखक, हालाँकि, संप्रभुता की प्रकृति संबंधी एक कुछ-कुछ अस्पष्ट ओर अस्तव्यस्त धारणा रखते थे। मध्य युग में, आधुनिक अर्थ में राज्य का अस्तित्व नहीं था। सामन्तवाद एक सरकारी व्यवस्था थी जो व्यक्तिगत गठबंधन पर आधारित थी। तथापि, सामन्ती अभिजात्य धर्मयुद्धों व अपने निजी झगड़ों के कारण कमज़ोर हो गए थे। उनकी कमज़ोरी का लाभ उठाकर, राज्य अपनी शक्ति व महत्त्व को बढ़ाता रहता था जब तक कि वह राज्य में सर्वोच्च न बन जाए। तदोपरांत, जैसे ही लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया कि सरकार एक स्वामी की बजाय एक एजेंट है, संप्रभुता राज्य की बजाय स्वयं राज्य में लागू कर दी गई।

उदयीमान राष्ट्रीय राज्य व उसके विभिन्न आंतरिक व बाह्य प्रतिद्वन्द्वियों—सामन्ती शासकों, पोप समुदाय व पवित्र रोमन साम्राज्य – के बीच संघर्ष ने ही संप्रभुता संबंधी आधुनिक सिद्धांत को जन्म दिया। 16वीं सदी में ज़ां बोंदा प्रथम लेखक थे जिन्होंने संप्रभुता की प्रकृति व लक्षणों पर विस्तार से चर्चा की। राज्य को उसके सभी नागरिकों पर सर्वोच्च और किसी भी प्रकार के बाह्य दबावों से युक्त माना गया। इस धारणा को आगे हॉब्स द्वारा विकसित किया गया जिन्होंने इसकी निरंकुश शक्तियों को सही ठहराया। रूसो भी सहमत

थे कि संप्रभुता चरम और असीमित होती है, यद्यपि उन्हेंने इसे लोगों की आम इच्छा में तलाष किया। अन्ततः, जॉन ऑस्टिन के लेखों में, संप्रभुता संबंधी कानूनी सिद्धांत का सर्वाधिक विस्तारपूर्वक प्रतिपादित विष्लेषण मिला। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि हरेक राज्य में, एक निर्णनयकारी निकाय अवष्य होता है जोकि कानूनन असीमित होता है और उसकी आज्ञाएँ अकेले ही कानून बनाती है। यह सिद्धांत आधुनिक ज्यूरिसप्रुडेंस हेतु आधार प्रदान करता है, हालाँकि इसकी अनेक लेखकों ने आलोचना की है।

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता के विषिष्ट लक्षणों को इंगित कीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) संप्रभुता संबंधी अवधारणा के विकास का सूत्रबद्ध वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.6 विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता

राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर समझना आवष्यक है।

विधिसंगत यानी कानूनी संप्रभुता संप्रभुता को सर्वोच्च कानून-निर्मात्री शक्ति के रूप में सामने रखती है; यथा, उच्चतम आदेष जारी करना। वह न तो नैतिक कानूनों द्वारा बाध्य है और ना ही प्राकृत कानूनों द्वारा। संप्रभु द्वारा बनाए गए कानून सभी द्वारा अनिवार्य रूप से पालन किए जाने होते हैं। परन्तु तब प्रष्न यह उठता है कि आधुनिक राज्य में यह कानूनी संप्रभुता कहाँ होती है? एक संघीय राज्य में, विधायिका राज्यों को सौंपे गए विषयों पर कानून नहीं बना सकती है, क्योंकि संविधान के अनुसार शक्तियां केन्द्र और राज्यों के बीच विकेंद्रित होती हैं। इस प्रकार कानूनी संप्रभुता विधायिका में स्थित नहीं होती है। यहाँ तक कि ब्रिटिश संसद भी जहाँ कि राज्य/रानी न्यायालयों द्वारा अनियंत्रित कानून बना

सकते हैं, भी जनमत एवं नैतिक व अन्य कानूनों द्वारा बाध्य है। अधिक विस्तृत रूप से, नैपोलियन, हिटलर व मुसोलिनी जैसे तानाषाहों के पास भी असीमित कानून-निर्माण शक्तियाँ नहीं थीं। इस प्रकार, वास्तविक राजनीतिक जीवन में, कानूनी संप्रभुता, किसी भी कानून को बनाने के अविवादित सर्वोच्च शक्ति के रूप में, आमतौर पर देखने में नहीं आती।

इस प्रकार, फिर से तफसीलवार कहने पर, कानूनी संप्रभुता निर्णायक एवं निष्चित होती है, कानून बनाने की सर्वोच्च व असीमित शक्तियाँ रखती है, उसके कानूनों का सभी द्वारा पालन किया जाता है व उसमें दण्ड अथवा अवज्ञा शामिल होती है, और अन्ततः चूँकि यह साथी कानूनी अधिकारों का मूल स्रोत होती है, अकेले इसी के पास कानून-निर्माण शक्ति होती है। कानूनी संप्रभुता का सबसे स्पष्ट बयान ऑस्टिन के संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत में पाया जाता है।

अब, हम देख चुके हैं कि विधिसंगत संप्रभुता सर्वसत्ता का महज एक कानूनी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। प्रत्येक समाज में, कानूनी संप्रभुता के पीछे एक अदृष्य शक्ति होती है। इस अदृष्य शक्ति को राजनीतिक संप्रभुता के नाम से जाना जाता है, जो कि जन सभाओं, जुलूसों व प्रदर्षनों जैसे अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। यदि विधिसंगत संप्रभुता के कानून अनैतिक हों तो राजनीतिक संप्रभुता की यह असंगठित शक्ति विधिसंगत संप्रभुता को झुकने पर मजबूर कर सकती है। इस प्रकार, राजनीतिक संप्रभुता अनदेखी और अधिक महत्त्वपूर्ण आज्ञा होती है। यही सतर्क व सचेत लोगों की क्रांतिकारी शक्ति होती है।

इतिहास ने कानूनी संप्रभुता को समाप्त कर देनी वाली इस क्रांतिकारी राजनीतिक संप्रभुता के अनेक उदाहरण पेष किए हैं; यथा 1917 में रूस के ज़ार निकोला को लेनिन की राजनीतिक संप्रभुता द्वारा अपदस्थ कर दिया गया, चीन के चियांग काइ-षेक को माओ-ज़िदोंग के नेतृत्व द्वारा बरबाद कर दिया गया, और इसी प्रकार की घटनाएँ ईरान, दक्षिण अफ्रीका व रोडेषिया में निरंकुष शासनों के विरुद्ध हुईं। इस संप्रभुता का भय ही कानूनी संप्रभुता को दृढ़ और सतर्क रखता है। यदि कानूनी संप्रभुता को कायम रहना है, तो उसको राजनीतिक संप्रभुता के अंतरंग सहयोग से ही काम करना होगा।

MAADHYAM IAS

एक प्रतिनिधि लोकतंत्र में, कानूनी व राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है, क्योंकि जनता के प्रतिनिधि (सरकार) ही कानूनी संप्रभु होते हैं और निर्वाचक राजनीतिक संप्रभु। परन्तु एक प्रत्यक्ष लोकतंत्र में, यह अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, कारण यह है कि प्रजाजन (राजनीतिक संप्रभु) कानूनी संप्रभु भी होते हैं, क्योंकि वे स्वयं कानून बनाते हैं। चीन व रूस जैसे समाजवादी देषों में, संगठित जन-संगठनों के माध्यम से भागीदारी कानूनी व राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर समाप्त करने के लिए पर्याप्त होती है। तथापि, निरंकुष राज्यों में, यह अंतर बहुत स्पष्ट हो जाता है –□पुलिस, सेना, कारागार, लाठी, गोली आदि कानूनी संप्रभुता दर्षाते हैं; और जनता, उनके संगठन, जन-आन्दोलन व संघर्ष, हड़तालें, प्रदर्षन आदि। राजनीतिक संप्रभुता प्रबल होती है। परन्तु एक वर्ग-विभाजित समाज में यह नितांत असंभव है, क्योंकि दोनों वर्गों – सम्पत्ति धारकों व सम्पत्ति रहित – के वर्ग-हित पूरी तरह से विपरीत होते हैं।

बोध प्रष्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) विधिसंगत एवं राजनीतिक संप्रभुता के बीच अंतर बताएँ।

....

....

....

....

....

....

12.7 संप्रभुता का स्थान निर्धारण

राजनीति-सिद्धांत में सबसे जटिल प्रष्नों में एक, राज्य में संप्रभुता की स्थापना संबंधी है। अब, जब हम यह जानते हैं कि संप्रभुता राज्य का सारतत्त्व है, वह अन्य राज्यों से आंतरिक व बाहय स्वतंत्रता दर्षाती है और इसमें व्यक्तियों पर कानूनी सर्वोच्चता शामिल है, इसके स्थान-निर्धारण का प्रष्न अब भी अनुत्तरित है। इसके लिए अनेक उत्तर प्रस्तावित हैं, जिन पर अब हम नज़र डालेंगे।

12.7.1 राजतंत्र की संप्रभुता

राज्य की संप्रभुता सोलहवीं सदी में सम्राट् की शक्ति से पहचानी गई। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए, राजाजन संघर्ष छेड़ते थे, जिससे संप्रभुता की अवधारणा ने जन्म लिया। जब प्रतिद्वन्द्वियों पर सफलता मिल जाती थी, तो संप्रभुता राजाओं को प्रदान कर दी जाती थी। राजा संप्रभु होता था और यह भी कहता था, ''मैं ही राज्य हूँ''। इस सिद्धांत ने राजा को सम्पूर्ण कानून व प्राधिकार का स्रोत बना दिया, वह कोई ग़लती नहीं कर सकता था; अधीनस्थों को सकारी आज्ञापालन दर्षाना होता था। तथापि, आधुनिक लोकतंत्र क्रांतियों के रास्ते सामने आया व इस प्रकार, इस सिद्धांत को समाप्त कर दिया और राजागण सरकार के अमहत्त्वपूर्ण भाग बन गए।

12.7.2 प्रजा की संप्रभुता

इस सिद्धांत को जन-संप्रभुता सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता था, जिसका अर्थ था कि प्रजा ही सर्वोच्च सत्ता रखती है और प्रजाजन ही सभी शक्तियों का स्रोत हैं। इसका मतलब है कि राज्यों की संप्रभुता न तो ईष्वर पर आधारित है और न ही आरक्षित सत्ता पर, प्रत्युत प्रजा की इच्छा पर आधारित होती है। जन-संप्रभुता हेतु माँग 15वीं सदी में परिषदी आन्दोलन (Conciliar Movement) के समर्थकों द्वारा चर्च के प्राधिकार संबंधी विरोध स्वरूप उठायी गई। परन्तु आधुनिक युग में, यह रूसो के नाम से जुड़ी है, जिसने 18वीं शती में इसका समर्थन आम-इच्छा संबंधी अपने सिद्धांत में किया। जन-संप्रभुता के सिद्धांत ने फ्रांसीसी सम्राट् को अपदस्थ कर दिया, वह अमेरिकी क्रांति का कारण बनी और निरंकुषता के विरुद्ध सभी क्रांतियों के पीछे ज्वलंत धारणा रही है। यह सिद्धांत यूरोप को राजतंत्रों का कब्रिस्तान बनाने के लिए भी जिम्मेदार है। इस प्रकार, जन-संप्रभुता यूरोप में एक सषक्त क्रांतिकारी विचार के रूप में उभरी है। यह सिद्धांत ही प्रस्तुतः सभी आधुनिक लोकतंत्रों का आधार है।

लेकिन जन-संप्रभुता सिद्धांत के साथ खास दिक्क़त (मान्यता) है इसका यह मानना कि समस्त जनता एक ही इच्छा रखती है। यह सिद्धांत यह नहीं मानता कि समाज वर्ग-विभाजित है और कि विभिन्न वर्गों के हित एक-दूसरे के विपरीत हैं। एक वर्ग-विभाजित

समाज में दो इच्छाएँ होती हैं –□एक शोषणकारी धनी वर्ग की और दूसरी शोषित ग़रीब वर्ग की। ये इच्छाएँ कभी भी नहीं मिल सकतीं और जैसे कि, समग्र जनसाधारण एक ही इच्छा नहीं रख सकता है। इस बात के मद्देनज़र, जन-संप्रभुता सिद्धांत अस्पष्ट और अनिर्णयकारी हो जाता है। कानूनी दृष्टिकोण से, जन-संप्रभुता सिद्धांत महज एक कल्पितकथा है, क्योंकि वह आज के राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं में फिट नहीं बैठता। लोकतंत्र के अभिजात्य सिद्धांत ने सिद्ध किया है कि जन-संप्रभुता आधुनिक लोकतंत्रों में भी एक नकली सिद्धांत है। कुछ लेखकों के अनुसार, जन-संप्रभुता को निर्वाचकगण अथवा निर्वाचकगण की बहुसंख्या में खोजा जा सकता है और दूसरों के अनुसार, इसको असंगठित जनसाधारण में खोजा जा सकता है। परन्तु यह दृष्टिकोण वस्तुतः सत्य नहीं है। जनता की संप्रभुता चुनावों में व्यक्त नहीं होती, बल्कि यह लोगों के क्रांतिकारी संघर्षों एवं जन-आन्दोलनों में व्यक्त होती है। एक वर्ग-विभाजित समाज में, जन-संप्रभुता शासक वर्ग द्वारा परिचालित की जाती है अथवा वह उसे कुचलने का प्रयास करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जन-संप्रभुता लोक-सत्ता को राज्यीय संप्रभुता का आधार मानती है। इस सिद्धांत ने जनतंत्रों को हिलाकर रख दिया, परन्तु यूरोपीय लोकतंत्रों एवं वर्ग-विभाजित समाजों में यह सिद्धांत ज़्यादा तर्क-संगत नहीं है। यूरोपीय संसार में जन-संप्रभुता संबंधी 18वीं सदी के सिद्धांत ने स्वयं को वर्तमान शती में मध्यवर्ग के संप्रभुता सिद्धांत में बदल लिया है।

12.7.3 संप्रभुता : संविधान-निर्माण शक्ति के रूप में

जन-संप्रभुता सिद्धांत ने जब राजसी संप्रभुता को उखाड़ फेंकने व लोकतांत्रिक सरकारें स्थापित करने संबंधी अथवा काम पूरा कर लिया, तो संप्रभु सत्ता संबंध फिर से परखा गया। उन्नीसवीं शती में यह काम अनेक कानूनज्ञों का था, जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संप्रभुता उस व्यक्ति/व्यक्तियों के निकाय में पायी जाती है जो राज्य का संविधान रचते हैं अथवा जो एक बार संविधान बन जाने के बाद, उसमें संषोधन संबंधी कानूनी अधिकार रखते हैं। इस सिद्धांत ने, जो कि अनिवार्य रूप से स्वभावतः विधिवेत्तावादी है, निम्न परिणाम दिए : किसी राज्य में सर्वोच्च कानून उसका संविधान होता है। सिद्धांतों का यह निकाय सरकार का ढाँचा तैयार करता है, उसके अधिकारों की रूपरेखा बनाता है, और राज्य के उसके नागरिकों के साथ संबंध समंजित करता है। इस प्रकार, सरकार संविधान द्वारा अपनी शक्ति में मर्यादित रहती है, और उस निकाय की तुलना में निम्न स्थिति पर रहती है जो इस बुनियादी कानून को बना या बदल सकता है। जो कोई भी संविधान रचता है राज्य का सर्वोच्च कानून बनाता है और अपनी स्पष्ट इच्छा व्यक्त करता है; इसी कारण वह संप्रभु हो सकता/सकती है। कुछ राज्यों में, राष्ट्रीय विधायिका इस शक्ति का प्रयोग करती है; अन्य में, संविधान-निर्माण हेतु एक विषेष साधन अथवा एक विषेष प्रक्रिया-क्रम की आवष्यकता होती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मगर इस सिद्धांत की प्रतीयमान वैधता के मूल पर एक अधिक गंभीर आपत्ति की जाती है। संविधान-संषोधनकारी अंग के पास कानूनन असीमित शक्ति नहीं होती जो कि संप्रभुता का सारतत्त्व है। यह कानूनी रूप से केवल एक काम कर सकता है और वह है संविधान का संषोधन। इस अधिकार के परे जाने का अथवा कोई अन्य कानून बनाने का कोई भी प्रयास सत्ता का एक ग़ैर-कानूनी अनधिकार ग्रहण होगा। हम, इस प्रकार, एक स्वतंत्र और विषिष्ट कार्य-संचालन हेतु कानूनन परिसीमित रहते हुए संप्रभु निकाय संबंधी तुलनात्मक भिन्नता रखते हैं। संविधान-निर्मात्र निकाय, इसीलिए, संप्रभुता नहीं होता। यह महज सरकार का एक भाग होता है, जिसके पास सरकार के विभिन्न अन्य अंगों के बीच संप्रभुता शक्ति के समस्त प्रयोग को पुनर्वितरित करने संबंधी सीमित, पर महत्त्वपूर्ण, प्रकार्य को करने का कानूनी अधिकार होता है।

12.7.4 कानून-निर्माण शक्ति संबंधी संप्रभुता

यह सिद्धांत संप्रभुता को कानून के अनुसार सरकार में सभी कानून-निर्मात– निकायों के कुलयोग में ढूँढता है। राज्य में सभी निकाय, राज्येच्छा की अभिव्यक्ति में स्वयं को कानूनी रूप से बाँटते हुए संप्रभु भी होते थे। इनमें शामिल थे : न्यायालय (क्योंकि वे कानून रचते थे), प्रषासनिक पदाधिकारीगण (चूँकि उनके पास विवेकाधिकार थे), निर्वाचक (क्योंकि वे मामले चुनावों व जनमत-संग्रह के माध्यम से निबटाते थे) ओर ऐसे ही अन्य विषेष निकाय। यह सिद्धांत राज्य व सरकार प्रत्येक को एक इकाई समझता है और संप्रभुता दोनों में निहित होती है, परन्तु प्रयोग सरकार द्वारा की जाती है। इस प्रकार, समग्रता में, राज्य एक इकाई है परन्तु इसका अधिकार प्रयोग सरकार के अनेक अंगों के बीच बाँटा जाना होता है। इस प्रकार, यह सिद्धांत जन-संप्रभुता संबंधी सिद्धांत की अस्पष्टता और भ्रमात्मक सोच से बचता है। संप्रभुता अन्ततोगत्वा राज्य में ही रहती है, परन्तु उसकी सरकार द्वारा निर्मित और प्रदत्त कानूनों के माध्यम से ही संप्रभुता अभिव्यक्त की जा सकती है।

12.8 डी ज़ॉर और डी फैक्टो संप्रभुता

संप्रभुता का यह पहलू अन्तरराष्ट्रीय कानून द्वारा लागू किया गया है। जब कभी भी किसी देष में राजनीतिक उथल-पुथल होती है अथवा कोई गृह-युद्ध होता है अथवा कोई इस प्रकार की स्थिति हो जाती है तो हमारे पास दो प्रकार की सरकार होती हैं – वैध सरकार, जो निर्मूल कर दी गई हो और नयी सरकार, जो यद्यपि वैध नहीं है पर वास्तविक सत्ता रखती है। इस प्रकार की स्थिति में, (कौन-सी) सत्ता को मान्यता वाली माना जाये का प्रष्न उठता है। वैध संप्रभुता ऐसी सर्वसत्ता है जो राज्य को उच्चतम आदेष जारी करने हेतु कानूनन सक्षम है। इसको संप्रभु-षक्ति प्रयोग का कानूनी अधिकार होता है और जन-साधारण का स्वीकार्य। एक वास्तविक (डी फ़ैक्टो) संप्रभुता ऐसी सर्वसत्ता है जिसके पास वास्तविक शक्ति होती है और जो उससे सहमत होने के लिए वास्तविक आदेष रखती है। उसका प्राधिकार शारीरिक बल और नियंत्रण में निहित होता है। वह एक राज्यापहरण करने वाला राजा, एक तानाषाह, एक पादरी, एक पैगम्बर, अपना एक करिष्माई नेता हो सकता है। इन किसी भी उदाहरणों में, उसकी शक्ति कानून में नहीं वरन् शारीरिक बल व वास्तविक नियंत्रण में निहित होती है।

संप्रभुता के वास्तविक प्रयोग संबंधी उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। सन् 1649 में, इंग्लैण्ड में क्रौम्वैल लम्बे समय से स्थायी संसद को भंग करके वास्तविक संप्रभु बन गया। नैपोलियन डायरैक्टॅरि को समाप्त कर फ्रांस का वास्तविक संप्रभु बना। सन् 1917 में, ज़ार निकोला को रूसी जनता द्वारा अपदस्थ कर दिया गया और वास्तविक संप्रभुता लैनिन के नेतृत्व में बोल्षविक पार्टी के हाथों में आ गई। इसी प्रकार, 1949 में माओ-ज़ेदौंग के नेतृत्व में, वैध संप्रभु चियांग काइ-षेक को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा हटा दिया गया, और वहाँ उसके नेतृत्व में समाजवादी राज्य वास्तविक बन गया। सन् 1975 में बांग्लादेष, 1976 में अर्जेन्टीना व लेबनान, 1977 में व फिर 2001 में पाकिस्तान, 1978 में अफ़गानिस्तान, 1979 में ईरान एवं 1980 में युगांडा में फ़ौजी तख़्ता-पलट के कारण इसी प्रकार की स्थितियाँ पैदा हुईं। किसी देष में जब कोई गृह-युद्ध होता है तो इसी तरह की स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

एक वास्तविक संप्रभु आगे चलकर एक वैध संप्रभु भी बन सकता है, क्योंकि उसके पास वास्तविक सत्ता होती है। वास्तविक संप्रभु का हमेषा यह प्रयास होता है कि स्वयं को एक वैध संप्रभु में तब्दील कर ले। चूँकि वास्तविक सत्ता वास्तविक संप्रभुता में ही निहित होती है, वह अपना दावा जतलाने और आगे चलकर एक कानूनी संप्रभुता के रूप में मान्य होने के लिए एक बेहतर स्थिति में होता है।

MAADHYAM IAS

तथापि, कुछ न्यायषास्त्री यह कहते हैं कि संप्रभु महज एक कानूनी अवधारणा है और वास्तविक एवं वैध संप्रभु के बीच भेद एक राजनीतिक गल्प कथा (Fiction) है, क्योंकि एक वास्तविक संप्रभुता का प्राधिकार अवैध होता है। परन्तु यह एक बात अवष्य समझ लेनी चाहिए, यथा वास्तविक एवं वैध के बीच भेद अधिकार प्रयोग के संबंध में ही होता है। यह बात मुख्यतः अन्तरराष्ट्रीय कानून एवं लोकतंत्र के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। यह प्रष्न एक राज्य में केवल किसी क्रांति, राज्य-विप्लव, गृह-युद्ध, आदि के उदाहरण में ही महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि ऐसे मामलों में संप्रभुता हेतु बहुत अधिक संख्या में राजनीतिक दावे उभरकर आते हैं।

बोध प्रष्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता संबंधी विभिन्न स्रोतों को सूचीबद्ध करें।

....

....

....

....

....

....

2) संप्रभुता संबंधी किन्हीं दो स्रोतों का वर्णन करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

....

12.9 संप्रभुता विषयक सीमाएँ

हम पहले ही काफी विस्तार में यह चर्चा कर चुके हैं कि संप्रभु ही बिना किसी कानून प्रतिबन्ध के राज्य की सर्वोच्च सत्ता होती है। परन्तु यथार्थ व्यवहार में, कुछ सीमाएँ हैं, जो उसकी शक्तियों के प्रयोग को सीमित कर सकती हैं अथवा उन्हें ऐसा करना चाहिए।

12.9.1 नैतिक सीमाएँ

अनेक पूर्वकालीन लेखकों का दावा था कि संप्रभु दैवी कानून द्वारा, प्राकृत-कानून द्वारा अथवा नैतिक कानून द्वारा मर्यादित है। वे आमतौर पर धर्म, नैतिकता एवं न्याय के सिद्धांतों को स्वीकार करते थे, जो कि निस्संदेह संप्रभु के प्रयोग को प्रभावित करते हैं। परन्तु ईष्वरीय एवं प्राकृत कानूनों की मानव अभिकर्त्ताओं द्वारा व्याख्या की जानी आवष्यक होती

है; वे अपने आप किसी संप्रभुता का प्रयोग नहीं करते। वे कानूनी मर्यादाएँ नहीं बल्कि उस बौद्धिक वातावरण का एक भाग मात्र हैं, जिसमें कानून बनाए जाते हैं। वे संप्रभु पर सिर्फ़ इस अर्थ में प्रतिबंध लगाते हैं कि एक अनुभव-सम्पन्न राज्य ऐसे कानून लागू नहीं करेगा जो आमतौर पर स्वीकृत नैतिकता व न्याय संबंधी विचारों के विरुद्ध हों, विरोध के कारण ऐसे कानून पैदा होंगे जो उन्हें लागू करने में परेशानियाँ, यहाँ तक कि क्रांति, की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। केवल ऐसे ही कानूनों को एक आम रायषुमारी द्वारा समर्थन दिया जाता है जिनको सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है। आधुनिक राज्यों में, जीवन के अनेक पहलुओं को सरकारी हस्तक्षेप से छूट प्राप्त है, और कोई भी राज्य जो मानव जीवन के कुछ निष्चित संबंधों में हस्तक्षेप हेतु अपनी कानूनी शक्ति का प्रयोग करने का प्रयास करेगा, उसे भारी विरोध का सामना करना पड़ेगा और यहाँ तक कि एक क्रांति के माध्यम से उसे उखाड़ फेंका भी जा सकता है।

12.9.2 संवैधानिक सीमाएँ

कुछ लेखकों ने दावा किया है कि संप्रभुता राज्य के संविधान द्वारा परिसीमित होती है। वे बुनियादी अथवा संवैधानिक कानून और सरकार द्वारा बनाए गए आम कानूनों के बीच भेद करते हैं —□पूर्ववर्ती को उच्चतर कानून मानते हैं, और परवर्ती को तभी वैध मानते हैं जब वह पूववर्ती के अनुसार हों। इस दृष्टिकोण से, दो आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। राज्य की संप्रभुता संविधान द्वारा परिसीमित नहीं है, क्योंकि राज्य जब भी चाहे अपने संविधान में कानूनन संषोधन कर सकता है। अपने आप थोंपी गई और मर्ज़ी से हरा देने योग्य सीमा कोई वास्तविक अथवा कानूनी सीमा नहीं होती। संविधान द्वारा जो परिमित है वह राज्य अथवा उसकी संप्रभुता नहीं है, बल्कि राज्य की सरकार है। परन्तु अपनी संप्रभु शक्तियों के एक वैध व्यवहार-वितरण हेतु यह प्रावधान स्वयं संप्रभुता पर कोई सीमा-निर्धारण नहीं करता।

दूसरी ओर, एक उच्चतर कानून और एक निम्नतर कानून जैसी कोई चीज़ नहीं होती। कानून उस व्यवस्था उस समस्या के महत्त्व में भिन्न हो सकते हैं जिनसे उनका संबंध हो। दोनों ही राज्य की संप्रभु शक्ति का वही हिस्सा प्रयोग करते हैं जो कि इसकी संगठन-संबंधी कानूनी व्यवस्था उन्हें सौंपती है। संविधान स्वभाव व उद्देष्य में अन्य कानूनों से भिन्न होता है, परन्तु कानूनी वैधता में नहीं होता। अन्य कानूनों के तरह ही, यह राज्य की संप्रभु इच्छा की एक अभिव्यक्ति होता है, न कि उस पर लगाया गया कोई प्रतिबन्ध।

12.9.3 अन्तरराष्ट्रीय सीमाएँ

आज अनेक लेखक यह दावा करते हैं कि किसी राज्य की संप्रभुता अन्तरराष्ट्रीय कानून के नियमों द्वारा और उन संधियों व समझौतों द्वारा परिसीमित होती है, जो वे अन्य राज्यों के साथ करते हैं। संप्रभुता के यथार्थ, न्यायषास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार, ये सीमाएँ कानूनन बाध्यकारी नहीं हैं। ये स्वैच्छिक, स्वयं लागू की गई सीमाएँ हैं, जो कि एक राज्य कानूनन अस्वीकार कर सकता है, और कोई भी कानूनी प्राधिकरण ऐसा नहीं होता जो उन्हें बलपूर्वक लागू करे। राज्यों को अवष्य ही, अन्तिम विष्लेषण में, अपने अधिकारों एवं दूसरों राज्यों के प्रति दायित्वों का निर्णायक होना चाहिए। वे अपनी संधियों को अस्वीकार कर सकते हैं, अन्तरराष्ट्रीय कानून के नियमों को स्वीकार करने में बाध्यता से इंकार कर सकते हैं, और अन्तरराष्ट्रीय कानूनों संबंधी अपनी व्याख्या की रक्षार्थ युद्ध की घोषणा कर सकते हैं। अन्तरराष्ट्रीय कानून इस अर्थ में कानून नहीं है कि अधीनस्थों पर थोंपी जा सकने वाली यह एक निर्धारित संप्रभु की इच्छा है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

यदि, कुछ लेखक मानते हैं, यह वर्तमान प्रवृत्ति एकीकृत नियंत्रण वाले एक अन्तरराष्ट्रीय संप्रभु संगठन के विकास की ओर हो, तो परिणाम एक विष्व संप्रभु राज्य होगा, जिसके पास कानून बनाने व लागू करने का अधिकार होगा। उस स्थिति में, जिसे अब हम अन्तरराष्ट्रीय कानून कहते हैं कानून होगा, परन्तु तब यह अन्तरराष्ट्रीय नहीं रहेगा, क्योंकि यह एक विष्व-राज्य की एकीकृत इच्छा होगी। जिसको अभी बाह्य संप्रभुता कहते हैं, का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, क्योंकि उसको विष्व व्यवस्था की आन्तरिक संप्रभुता द्वारा हड़प लिया जाएगा। अधिकांष लेखक, हालाँकि, यह मानते हैं कि संप्रभु राष्ट्रीय राज्यों के आधार पर अन्तरराष्ट्रीयवाद विकसित करने के लिए, वर्तमान परिस्थितियों में, यह अधिक व्यवहार्य होगा। यदि यह किया जाना है, तो बाह्य-संप्रभुता संबंधी पारम्परिक सिद्धांत एवं राज्यों की समानता को अवष्य ही आधुनिकीकृत किया जाना चाहिए ताकि अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण की एक निष्चित मात्रा को ही अनुमति मिले।

12.10 संप्रभुता-सिद्धांत विषयक आलोचनाएँ

राज्य के सारतत्त्व के रूप में संप्रभुता संबंधी संकल्पना की बेहद तीखी आलोचना की गई है। लेखकों का एक वर्ग यह तर्क देता है कि राज्य के अस्तित्व के लिए संप्रभुता आवष्यक नहीं है, लेखकों का एक अन्य वर्ग इस बात से इंकार करता है कि संप्रभुता ही कानून का स्रोत है, तिस पर भी एक अन्य वर्ग इस तथ्य को ठुकराता है कि संप्रभुता ही राज्य का अनन्य स्वत्व है और यह तर्क देता है कि संप्रभुताओं के बाहुल्य से ही विभिन्न संस्थाएँ सम्पन्न होती हैं।

लेखक जो यह कहते हैं कि संप्रभुता आवष्यक नहीं है, तर्क देते हैं कि राज्य अंषतः संप्रभु हो सकते हैं और राज्य-पद की कसौटी ही शासनाधिकार है। ये बेहद जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के थे और वे राज्य-पद के दावे पर तो सहमत हुए, पर पूर्ण संप्रभुता पर नहीं। यहाँ तक कि आज के राजनीतिक निकाय, जिनके पास अपना संविधान और सरकार है, पूर्णतः संप्रभु नहीं है। कुछ लेखक इस सिद्धांत को व्यर्थ और खतरनाक मानते हैं क्योंकि यह असीमित अधिकारों की ओर प्रवृत्त करता है; जबकि अन्य लेखक राज्यीय संप्रभुता संबंधी धारणा की तीखी आलोचना करते हैं, क्योंकि उनकी इच्छा राज्य के सिवा अन्य संस्थाओं को पूर्ण स्वायत्तता देने की है; अन्य इसलिए कि उनकी वैयक्तिक स्वतंत्रता में रुचि है। राज्यीय संप्रभुता की तीखी आलोचना आधुनिक राज्य के सरकारी संगठन में कुछ दोषों को इंगित करने में महत्त्वपूर्ण है, जो संप्रभुता अधिकार-प्रयोग में अड़चन डालते हैं।

हाल ही के बीते वर्षों में, न्यायषास्त्रियों द्वारा आलोचना की तुलना राज्य संप्रभुता से की गई है जो कि कानून की सर्वोच्च और एकमात्र स्रोत होती है। इस अवधारणा को कि राज्य की संप्रभुता प्राकृत कानूनों द्वारा वैध रूप से परिसीमित होती है, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि राज्य उन सिद्धांतों को परखता और अनुभव करता है। ऐसी सीमाएँ कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं होतीं, बल्कि सिर्फ़ स्वयं सीमाकारी होती हैं। इसका अर्थ कोई संप्रभुता पर प्रतिबंध नहीं है।

इस अवधारणा की एक और तीखी आलोचना के अनुसार, सर्वोच्च प्राधिकार हेतु राज्य का दावा आज के जटिल संसार में वास्तविक तथ्यों के अनुसार नहीं है। उन्होंने राज्य पर संदेह किया, एक स्वतंत्र एवं एकीकृत संप्रभुता के सिद्धांत का विरोध किया और अन्य अभिकरणों के लिए सामाजिक नियंत्रण के एक अधिक बड़े हिस्से की माँग की। इस प्रकार की आलोचना का उद्देष्य प्राधिकार के विकेन्द्रीकरण और अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता पर ध्यान देना था।

आज, आर्थिक हितों की वृद्धि, और आर्थिक संघों की शक्ति ने उनके और सरकार के विद्यमान अंगों के बीच प्राधिकार संबंधी विवाद पैदा कर दिए हैं। राज्य अपने संगठन व कानून को नई परिस्थिति के अनुसार एकदम अनुकूलित नहीं कर लेता। ऐसे वक्त में, राज्य का निरंकुष और असीमित प्राधिकार संबंधी सिद्धांत ख़तरनाक और अवांछित लगता है। इस कारण से, बहुवाद ही स्वाभाविक दृष्टिकोण है। बहुवादी लोग एक तेज़ी से बदलती सामाजिक व्यवस्था में राजनीतिक जीवन के वास्तविक तथ्यों के अध्ययन की आवष्यकता पर ज़ोर देते हैं। इस संबंध में राज्य द्वारा अति-हस्तक्षेप का ख़तरा और राजनीतिक तंत्र में अधिक वैध मान्यता दिए जाने की वान्छनीयता की ओर इषारा करते हैं।

तथापि, यह समस्या राज्य के उचित आन्तरिक संगठन एवं उसकी कार्यवाहियों के उचित कार्यक्षेत्र संबंधी है, और इसका अर्थ राज्य-संप्रभुता संबंधी सिद्धांत का परित्याग नहीं है। कहीं तो सर्वोच्च कानूनी नियंत्रण संबंधी कोई संगठन होना चाहिए और वैसे काफ़ी कुछ राज्य ही अपनी कार्यवाहियों की सीमित कर सकता है अथवा अपने आंतरिक प्राधार को पुनर्संगठित कर सकता है, एक संप्रभु राज्य फिर भी कायम है। यहाँ तक कि भूमण्डलीकरण के इस वर्तमान युग में की, जब राज्य संप्रभुता को प्रतीयमानतः विभिन्न अधि-राष्ट्रीय अभिकर्त्ताओं से ख़तरा है।

बोध प्रष्न 5

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता नैतिकता द्वारा किस प्रकार परिसीमित है?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) संप्रभुता विषयक संवैधानिक अथवा अंतरराष्ट्रीय प्रतिबंधों पर विचार-विमर्ष करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

3) उन आधारों पर सूक्ष्म दृष्टि डालें जिन पर संप्रभुता की तीखी आलोचना की गई है।

....

....

....

....

....

....

12.11 सारांष

इस इकाई में, हमने संप्रभुता की अवधारणा पर एक सिद्धांत दृष्टि डाली, जिसका अनिवार्यतः अर्थ है कि राज्य किसी प्राधिकार प्रभाव की मदद से अपने सभी कार्यों को निष्पादित करता है। इसके लक्षणों में आते हैं –□चरमता, जिसका अर्थ है कोई आंतरिक अथवा बाह्य सीमाएँ नहीं; सर्वव्यापकता, जिसका अर्थ है राज्य में हर व्यक्ति पर उसका अधिकार; स्थायीत्व, जिसका अर्थ है राज्य के बने रहने तक उसकी निरन्तरता; और अभाज्यता, जिसका अर्थ है सिर्फ़ एक ही प्रभुसत्ता होती है।

संप्रभुता आमतौर पर उदयीमान राष्ट्रीय राज्यों के बीच विवाद के कारण जन्मी। जब राज्य को उसके सभी नागरिकों पर सर्वोच्च के रूप में मान लिया गया, संप्रभुता की अवधारणा चरम और असीमित के रूप में सिद्ध हो गयी। तथापि, संप्रभुता के विचार की एक भिन्न ढाँचे में व्याख्या की गई। कानूनी संप्रभुता को एक सर्वोच्च कानून-निर्यात– शक्ति के रूप में समझा गया, जो कि किसी कानून से नहीं बँधी थी। इसके कानून सभी द्वारा पालन किए जाने थे और इसमें दण्ड और अवज्ञा शामिल थे। ऑस्टिन इस धारणा के मुख्य व्याख्याता थे। दूसरी ओर, राजनीतिक संप्रभुता जनसाधारण की क्रांतिकारी शक्ति थी जो किसी भी वैध संप्रभु को नष्ट कर सकती थी। अतः, एक प्रतिनिधि लोकतंत्र में, वैध संप्रभुता को राजनीतिक संप्रभुता के साथ अन्तरंग सानिध्य में काम करना पड़ता था। अन्यथा, क्रांतिकारी राजनीतिक संप्रभुता द्वारा वैध संप्रभुता के समाप्त होने का ख़तरा होता था।

संप्रभुता का अर्थ यह भी लगाया जाता है कि प्रजाजन के पास सर्वोच्च सत्ता है और कि वे ही सभी शक्तियों के स्रोत हैं। रूसो ने अठारहवीं शती के दौरान आम इच्छा संबंधी अपनी सिद्धांत-व्याख्या में इसका समर्थन किया था। यह सिद्धांत ही आधुनिक लोकतंत्रों का इतिहास है। लोकप्रिय संप्रभुता सिद्धांत इस बात की मान्यता देता है कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में संप्रभु शक्तियाँ व्यापक रूप से वितरित हैं और एक बड़ी संख्या में नागरिकों द्वारा प्रयोग की जाती हैं।

हर राज्य संप्रभु शक्ति का प्रयोग कुछ निष्चित भौतिक एवं वैचारिक तंत्रों की सहायता से करता है। भौतिक तंत्र वे हैं जो राज्य की संप्रभुता को एक भौतिक रूप में अथवा एक वास्तविक दृष्य रूप में प्रभावी बनाते हैं। वैचारिक तंत्र वे हैं जो आम जनता में आज्ञापालन की आदत डालते अथवा उनको अभ्यस्त बनाते हैं और एक ऐसा माहौल पैदा करते हैं, जिसमें संप्रभुता की दिषा में लोगों की सहमति प्राप्त की जा सकती है। राज्य का भौतिक तंत्र आज्ञापालन हेतु शारीरिक बल प्रयोग करता है और, इस प्रकार संप्रभु आदेष को प्रभावी बना देता है। वैचारिक तंत्र संप्रभु को आम जनता में आज्ञापालन का मानस बनाकर और वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था को वैधता प्रदान कर प्रभावी बनाता है।

वर्तमान शती सभी सत्तावादी विचारों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया वाली शताब्दी है। संप्रभुता का बहुवादी दृष्टिकोण संप्रभुता के कानूनी, पारम्परिक, एकसत्तावादी, निरंकुष, ऑस्टिनवादी सिद्धांत के विरुद्ध और उस फासिस्ट, असीमित, सम्पूर्ण राज्य के सिद्धांत के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जिसका समर्थन हेगेल जैसे आदर्षवादी दार्षनिकों एवं नीत्ज़से, त्रीत्सके व बर्नहार्डी जैसे राज्य व राजनीति संबंधी सत्ता-विचार के समर्थकों द्वारा किया गया। इसको राज्य की नितान्त केन्द्रीकृत संप्रभुता के विरुद्ध प्राधिकार के विकेन्द्रीकृत हेतु एक सषक्त आवाज़ कहा गया। यह 19वीं सदी के अन्तिम दषकों एवं 20वीं सदी के आरम्भ में उच्चतम और सर्वोच्च सत्ता के रूप में लेते थे। इस प्रकार, बहुवाद असीमित राज्य व संप्रभुता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था; यह राज्य की निरंकुषता एवं उसकी निरंकुष संप्रभुता पर एक प्रहार था; यह राज्य की संप्रभुता को काबू करने, सीमित करने व विभाजित करने हेतु एक आवाज़ था; यह राज्य के विरुद्ध अधिकारों व सत्ता की माँगों को पूरा करने हेतु श्रमिक, आर्थिक, धार्मिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं वं संघों का एक आन्दोलन था।

12.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रे, अमल एवं मोहित भट्टाचार्य, *पॅलिटिकॅल थिअरी : आइडियाज़ एण्ड इंस्टीट्यूषन्ज़,* द वर्ल्ड प्रैस, 1985 (नया संस्करण देखें)

राफैल, डी.डी., *प्रॉब्लम्स ऑफ पॅलिटिकॅल फ़िलोसॅफी,* मैकमिलन, लन्दन, 1985

अप्पाओद्रे, ए., *द सब्स्टॅन्स ऑफ पॅलिटिक्स,* ओ.यू.पी., दिल्ली, 1985

आसिरवथम्, एड्डी, *पॅलिटिकॅल थिअरी,* दि अपर इण्डिया पब्लिषिंग हाउस, 1984

12.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रष्न 1

1) देखें भाग 12.1 से 12.3

2) देखें भाग 12.1 से 12.3

बोध प्रष्न 2

1) देखें भाग 12.4

2) देखें भाग 12.5

बोध प्रष्न 3

1) देखें भाग 12.6

बोध प्रष्न 4

1) देखें भाग 12.7 और उपभाग 12.7.1 से 12.7.4

2) देखें उपभाग 12.7.1 से 12.7.3

बोध प्रष्न 5

1) देखें उपभाग 12.9.1

2) देखें उपभाग 12.9.1 और 12.9.3

3) देखें भाग 12.10

इकाई 13 राज्य, नागरिक समाज और समुदाय

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देष्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 अर्थ और संबंध
    13.2.1 राज्य और नागरिक समाज
    13.2.2 लोकतंत्र और नागरिक समाज
    13.3.3 समुदाय और नागरिक समाज
13.3 नागरिक समाज के चारित्रिक लक्षण
13.4 सारांष
13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.6 बोध प्रष्नों के उत्तर

13.0 उद्देष्य

इस इकाई में आप पायेंगे कि नागरिक समाज के सिद्धांत और राज्य व समुदाय के साथ उसका संबंध। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- नागरिक समाज के अर्थों और सिद्धांतों को जान सकें;
- उसकी उत्पत्ति के कारण समझ सकें;
- नागरिक समाज और समुदाय के बीच संबंध पूरी तरह समझ सकें; तथा
- लोकतंत्र के लिए नागरिक समाज के महत्त्व का मूल्यांकन कर सके।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.1 प्रस्तावना

राज्य, नागरिक समाज और समुदाय संबंधी अवधारणाएँ सामाजिक विज्ञानों में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, खासकर राजनीति-विज्ञान संबंधी की प्रकृति में। लोकतंत्र, अधिकार, नागरिकता, सामाजिक पूँजी आदि विषयक कोई भी बहस इन तथ्य घटनाओं से ही जुड़ी होती है। विषिष्ट और सार्वत्रिक अधिकारों के बीच क्या संबंध है? नागरिक जन अपने अधिकारों का उपभोग करने में, बुनियादी तरक्की लाने में किस प्रकार सक्षम हैं, उस भूमिका पर निर्भर करता है जो कि राज्य, नागरिक समाज और समुदाय अदा करते हैं। लोकतंत्र व विकास के प्रति उनके औचित्य विषयक विरोधीभासी मत हैं। इस इकाई में आप इन अवधारणाओं व उनके बीच संबंधों को समझेंगे।

13.2 अर्थ और संबंध

13.2.1 राज्य और नागरिक समाज

राज्य के अर्थ और प्रकृति के विषय में आप इकाई 11 में पहले ही पढ़ चुके हैं। हम उसकी पुनरावृत्ति नहीं करेंगे। इस भाग में हम सीधे नागरिक समाज और राज्य के बीच संबंधों की प्रकृति पर चर्चा करेंगे। राज्य राजनीति-सिद्धांत में उल्लिखित सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है। जैसा कि आप जानते हैं, राज्य समाज की अन्य संस्थाओं से भिन्न होता है, यथा सरकार, नागरिक समाज, समुदाय राष्ट्र आदि से। उदारवादी परम्परा

के अनुसार, राज्य से अपेक्षा होती है कि वह समाज के विकास में आने वाली बाधाएँ दूर करे, साथ ही समाज-कल्याण हेतु उपाय भी मुहैया कराये। दूसरी ओर, मार्क्सवादी परम्परा राज्य को धनी वर्गों के अन्धभक्त के रूप में देखती है। नागरिक समाज की अवधारणा को लोकप्रियता मिलने के साथ ही नागरिक समाज से राज्य के संबंध ने फिर से राजनीति-सिद्धांत संबंधी बातचीत में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

अभी हाल में, खासकर 1980 के दषकोपरांत, नागरिक समाज की अवधारणा ने राजनीति-सिद्धांत विषयक संलाप में एक विषेष स्थान बनाया है। विकास सामाजिक बदलाव पर अभिलक्षित अपने संगठनों, प्राधार व विचारधारा को लेकर नए सामाजिक आन्दोलनो के उदय तथा पूर्वी यूरोप और पूर्व-सोवियत संघ में विकास ने नागरिक समाज में रुचि जगायी है। ये दोनों घटनाक्रम राज्य की विष्वसनीयता और समांतर सत्ता-केन्द्रों के उद्‌गमन में ह्‌वास (erosion) को दर्षाते हैं। नागरिक समाज की उत्पत्ति क्रम-विकास काफी कुछ उसके राज्य के साथ संबंध की वजह से हुआ है। जैसा कि आप ऊपर पढ़ चुके हैं, नागरिक समाज और राज्य के बीच संबंध की प्रकृति राजनीति-सिद्धांत में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

नागरिक समाज की ओर हाल ही में गया ध्यान सामाजिक आन्दोलन उद्‌भेदन (eruption) अथवा राज्य के जन-असंतोश में भी देखा जा सकता है। नागरिक समाज वह स्थान है, जो समुदाय और राज्य के बीच होता है। इसका प्रतिनिधित्व उन संस्थाओं, गैर-सरकारी संगठनों के लोगों, पार्षद विद्वानों, बुद्धिजीवियों द्वारा किया जाता है जो समाज में लोकतंत्र की स्थापना हेतु प्रयास करते रहते हैं। चूँकि नागरिक समाज संस्थाएँ राज्य और समुदाय के बीच स्थित होती हैं और राज्य का विरोध करती हैं, उन्हें आमतौर पर ऐसी संस्थाएँ कहा जाता है जो राज्य से दूर होती हैं। नागरिक समाज को संपूरक के साथ-साथ कभी-कभी राज्य संस्थाओं के लिए एक अनुकल्प के रूप में माना जाता है। सभ्य समाज के निर्माण का आधार धर्मनिरपेक्ष होता है। जाति और नातेदारी अनुबंध, धर्म अथवा जनजातीय संघटन आदि नागरिक-समाज निर्माण के आधार नहीं होते। नीरा चंधोक के अनुसार, मूल संबंधों पर आधारित ये संगठन वस्तुतः ''नागरिक समाज विरोधी'' आन्दोलन होते हैं।

MAADHYAM IAS

इससे पहले कि हम आगे बढ़े, यह गौर करना जरूरी है कि अठारहवीं शताब्दी तक पुरानी यूरोपीय परम्परा में, राज्य और नागरिक-समाज शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग किए जाते थे। डोमिनीक कोला ने नागरिक समाज की अवधारणा का इतिहास खोजा और पाया कि यह 16वीं व 17वीं शताब्दियों में अतिधर्मान्धता के खिलाफ एक अवधारणा के रूप में इस्तेमाल की जाती रही। उस ज़माने में, राज्य ही था जो एक अधिकारों की संस्था के रूप में चर्च का विरोध करता था। इसका मतलब कि राज्य एक नागरिक समाज के रूप में कार्य करता था अथवा उनके बीच कोई भेद नहीं था। नागरिक समाज राज्य का ही एक पहलू था। (जो कि चर्च के खिलाफ था)। यह वस्तुतः आने वाले समय में ही हुआ कि इनको दो भिन्न सत्ताओं के रूप मे जाना जाने लगा।

यह तथ्य कि क्या कोई नागरिक समाज होता है अथवा नहीं, उस संबंध की प्रकृति पर निर्भर करता है जो वह राज्य के साथ रखता है। इससे राजनीति-सिद्धांत में अनेक प्रष्न उठे। राज्य नागरिक समाज से कनिष्ठ है अथवा वरिष्ठ? क्या इनमें से एक दूसरे के बगैर रह सकता है? वे एक दूसरे के हितों के प्रति विद्वेशी होते हैं अथवा समर्थक? नागरिक समाज के मुकाबले राज्य किसके हित का काम करता है? मूल रूप से चार पहलू हैं, जो राजनीति-सिद्धांत में इन प्रष्नों से वास्ता रखते हैं – तोकेवियन, लॉकियन, हेगेलियन और मार्क्सवादी। तॉकवि अपनी पुस्तक – *डेमोक्रेसी इन अमेरिका* – में अमेरिका में लोकतंत्र की विद्यमानता और फ्रांस में उसके अभाव के लिए कारणों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। वह

पाते हैं कि दोनों देषों में यह राज्य का स्वभाव ही है जिस पर लोकतंत्र की विद्यमानता अथवा उसका अभाव निर्भर करता है।

यह अमेरिका में विद्यमान था, क्योंकि वहाँ एक उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य ने लोगों की संस्थाओं के निर्माण को अनुमति दी थी, जिसने उनके बीच परस्पर विष्वास की विद्यमानता को इंगित किया। जैसा कि आप अगले भाग में पढ़ेंगे, संस्था संबंधों का बनना एक नागरिक समाज का संकेत है। नागरिक समाज बदले में लोकतंत्र को प्रतिबिम्बित करता है। फ्रांस में, तॉकवि कहते हैं, कि अमेरिका से भिन्न, राज्य की स्वेच्छाचारी शासन अथवा अलोकतांत्रिक प्रवृत्ति के कारण वहाँ नागरिक संस्था अथवा समाज का अभाव था।

इंग्लैंड के 17वीं सदी के विचारक जॉन लॉक के उदाहरण में, राज्य व नागरिक समाज के बीच संबंध को इन दो सत्ताओं के बीच संबंधों के लिहाज से देखा जा सकता है –□ प्राकृत अवस्था में और प्राकृत-अवस्था उपरांत। एक सामाजिक संविदावादी विचारक के रूप में, लॉक का विष्वास था कि राज्य एक अनुबंध का परिणाम है, जो उन व्यक्तियों के बीच किया गया था, जो प्राकृत अवस्था में रह रहे थे। वे कुछ निष्चित अधिकारों का उपयोग करते थे, जो उनके लिए प्रकृति द्वारा आवष्यक बनाए गए थे। परंतु ऐसा कोई प्राधि ाकरण नहीं होता था जो व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा कर सके, उन्हें सुरक्षा प्रदान कर सके अथवा उनके कार्य-व्यापारों को नियमित कर सके। इस प्रकार का प्राधिकरण राज्य ही हो सकता था, जो उस सामाजिक अनुबंध से जन्मा था जो लोगों ने एक दूसरे से किया था। इस अनुबंध के माध्यम से, प्राकृत अवस्था वाला राजनीतिक समाज एक नागरिक समाज में बदल गया था। लॉक, दरअसल, नागरिक और राजनीतिक को अदल-बदल कर प्रयोग करते हैं। लॉक के नागरिक और राजनीतिक समाज के बीच भेद करना कठिन है। हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि लॉक के अनुसार नागरिक समाज उन अधिकारों को सुनिष्चित करने के लिए ही बनाया गया था, जो प्राकृत अवस्था में पहले ही प्राप्य थे। जैसा कि नीरा चन्धोक कहती हैं, लॉक का ''राजनीतिक समाज'' प्राकृत के मुकाबले एक ''नागरिक अवस्था'' था। नागरिक अथवा राजनीतिक समाज उन अधिकारों की रक्षार्थ बनाया गया था, जो लोगों ने प्राकृत अवस्था से उत्तराधिकार में प्राप्त किए थे। (देखें गुरप्रीत महाजन इसकी व्याख्या किस प्रकार करती हैं)।

MAADHYAM IAS

जर्मन दर्षनिक हेगेल ने सबसे ज़्यादा क्रमबद्ध रूप से नागरिक समाज और राज्य के बीच संबंध का अध्ययन किया है। अपनी पुस्तक 'फिलौसॅफ़ि ऑफ राइट्स' में हेगेल नागरिक समाज को नैतिक जीवन के अवसरों में से एक मानते हैं, अन्य दो हैं परिवार और राज्य। नागरिक समाज को परिवार और राज्य दोनों से भिन्न माना जाता है। परिवार में, हेगेल का दावा है, विषिष्ट हित एक नैसर्गिक एवं अचिंतनषील एकता में अनुभवातीत होते हैं और सदस्यों के बीच कार्य-सम्पादन, प्रेम और गंभीर दिलचस्पी, द्वारा निष्चित होता है; जबकि राज्य में, व्यापकता को संस्थागत किया जाता है, क्योंकि नैतिक जीवन का सर्वोच्च रूप 'नैतिक विचार की वास्तविकता' ही है। नागरिक समाज, तुलनात्मक रूप से, विषिष्टता का, अपनी निजी आवष्यकता पूर्ति की चिंता में डूबे स्वयं प्रयासरत व्यक्ति का, क्षेत्राधिकार है। इस अवस्था में, परिवार का लोकाचार, यथा नैसर्गिक प्रेम और परहितपरता, अनेकीकृत हो जाता है; परन्तु समान रूप से, यहीं व्यापकता का सिद्धांत, जिसको कि राज्य मूर्त रूप देने आता है, एक भ्रूणीय रूप में पाया जाता है।

परिवार की अंचितनषील चेतना से चैतन्य नैतिक जीवन के बीच एक महत्त्वपूर्ण चरण के रूप में नागरिक समाज ऐसा स्थल बन जाता है, जहाँ इस हेगेलियन दार्षनिक चिंता की विषिष्टता द्वारा व्यापकता मध्यस्थ हो– का अनुभव किया जा सकता है।

मार्क्सवादी परम्परा में नागरिक समाज धनी वर्गों, पूँजीवादी वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। तथापि, नागरिक समाज के लिहाज से मार्क्सवादी परम्परा में दो दृष्टिकोण हैं। एक है, पारम्परिक दृष्टिकोण (Classical Approach)। यह मार्क्स से संबंधित है, जिन्होंने नागरिक-समाज विषयक हेगेलियन पहलू को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त किया, परन्तु उन्होंने स्वयं व्यवस्था पर परिप्रष्न करने हेतु विष्लेषण को आगे बढ़ाया। मार्क्स के अनुसार, यह मात्र पृष्ठभूमि नहीं है, जहाँ एक व्यक्ति का निहित स्वार्थ दूसरे व्यक्ति के निहित स्वार्थ को पूरा करता है; यह ऐसा स्थान है जहाँ अनावष्यक श्रम का विनियोजन होता है। ऐतिहासिक चरण से आगे जरूर बढ़ना चाहिए। परन्तु मार्क्स, हेगेल से भिन्न, इस संभावना से इंकार करते थे कि कोई वर्तमान संस्था यह काम कर सकती है। नागरिक समाज को स्वयं में से यह नया अभिकरण खोजना चाहिए, ताकि वह अहंकार व स्वार्थ, शोषण एवं मानवता से आगे बढ़ सके। और इस क्षेत्र की प्रकृति के मद्देनज़र इस परिवर्तन को क्रांतिकारी होना पड़ता है। केवल तभी व्यक्ति को समाज और राज्य से जोड़ा जा सकता है। क्रांतिकारी परिवर्तन नागरिक समाज को विनीत बनाने का संगठनकारी सिद्धांत बन जाता है।

मार्क्सवादी आदर्ष में दूसरे स्थान पर है ग्राम्सियन परम्परा। ग्राम्सी, हालाँकि अर्थव्यवस्था समेत, निजी अथवा गैर-राज्यीय क्षेत्र का संदर्भ लेने के लिए 'नागरिक समाज' का प्रयोग करते हैं, नागरिक-समाज संबंधी उनका चित्रण मार्क्स के वर्णन से बहुत भिन्न है। ग्राम्सी का मुख्य प्रस्ताव यह है कि राज्य को नागरिक समाज के बोध के बिना नहीं समझा जा सकता है। ग्राम्सी के अनुसार, नागरिक समाज महज कोई वैयक्तिक आवष्यकताओं का क्षेत्र नहीं है वरन् संगठनों का क्षेत्र है, और युक्तियुक्त आत्म-नियमन व स्वतंत्रता की संभावना रखता है। ग्राम्सी इसके जटिल संगठन पर ज़ोर देते हैं, क्योंकि 'जीवों की समष्टि' को आमतौर पर 'निजी' कहा जाता है जहाँ आधिपत्य और 'स्वैच्छिक सहमति' सुव्यवस्थित रूप में होते हैं। जबकि मार्क्स राज्य और नागरिक समाज के बीच अलगाव पर ज़ोर देते हैं, ग्राम्सी यह तर्क देते हुए दोनों के बीच अंतर्सम्बन्ध पर ज़ोर देते हैं कि हाँ राज्य शब्द के साधारण, संकीर्ण प्रयोग का अभिप्राय सरकार से हो सकता है, संकुचित रूप से सरकार के रूप में समझे जाने वाले राज्य को अवपीड़क राज्य-तंत्र द्वारा अभिपुष्ट प्रबल वर्ग के आधिपत्य द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाता है। ग्राम्सी के अनुसार, राजनीतिक समाज वह स्थान है, जहाँ राज्य का अवपीड़क तंत्र कारागारों, न्याय-प्रणाली, सषस्त्र सेनाओं व पुलिस में संकेन्द्रित रहता है। नागरिक समाज वह 'स्थान' है जहाँ राज्य षैक्षणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक पद्धतियों व अन्य संख्याओं के माध्यम से सत्ता के अदृष्य, अमूर्त व जटिल रूपों को प्रवलित करने के लिए काम करता है। वस्तुतः राज्य की अवज्ञा करने को ग्राम्सी द्वारा नागरिक समाज के आत्म-नियामक सहजगुणों के सम्पूर्ण विकास संबंधी शब्दों में पुनर्परिभाषित किया गया है।

इसका सबसे पहले जान लॉक के लेखों में उल्लेख किया गया था। जैसा कि पहले जिक्र किया गया, उन्होंने बताया कि यह नागरिक समाज प्राकृत अवस्था के एक नागरिक समाज में परिवर्तित हो जाने के फलस्वरूप उभरा। उन्होंने नागरिक समाज को प्राकृत अवस्था और राजनीतिक समाज से अलग माना। यह नागरिक समाज अनुबंध के परिणामस्वरूप उभरे लोक प्राधिकरण द्वारा बनाए गए कानूनों के मार्फत राजनीतिक समाज में बदल जाता है। नागरिक समाज एक (राजनीतिक) समाज है, जहाँ व्यक्तियों के अधिकारों को प्राथमिकता मिलती है। नागरिक समाज इस अर्थ में अन्य संस्थाओं से भिन्न होता है कि पूर्ववर्ती से भिन्न, यह व्यैक्तिक अधिकारों को प्राथमिकता देता है। इसका स्थान राज्य से बाहर नहीं है, बल्कि यह (नागरिक समाज) राज्य की विद्यमानता से ही उभरा है। इसका मतलब कि वे लोग जो प्राकृत अवस्था में रह रहे थे, जीवन-स्वतंत्रता व स्वामित्व के नैसर्गिक अधिकारों का उपभोग कर रहे थे, एक आम जन-प्राधिकरण के तहत एक सामाजिक अनुबंध में

शामिल हुए, जो कि एक ऐसे न्यायोचित समाज की स्थापना के लिए एक दूसरे के साथ हुआ था, जिसमें हर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जा सकती थी। इस लोकप्राधिकरण को जनता अथवा नागरिक समाज विषयक कानून बनाने का अधिकार होता है। यह नागरिक-समाज प्राकृत अवस्था से भिन्न था, जहाँ लोग समान नैसर्गिक अधिकारों का उपभोग करते थे परन्तु उन्हें दोशियों को दण्डित करने का कोई अधिकार नहीं था। सामाजिक अनुबंध तैयार किए जाने से पहले समाज एक अनागरिक समाज के रूप में विद्यमान था। इस प्रकार, नागरिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जब हेगेल ने नागरिक समाज के विचार का विस्तार किया, लॉक के विचार को लगभग दो सदियाँ बीत चुकी थीं। परन्तु इन दो विचारकों द्वारा अभिकल्पित अवधारणाओं के बीच भेद थे। लॉकियन व्यवस्था में खास महत्त्व, व्यक्तियों के विषिष्टतावादी अथवा आत्मपरक अधिकारों को दिया गया है। वह विषिष्टतावादी अथवा व्यक्तिनिष्ठ अधिकारों एवं सार्वभौम अधिकारों के बीच संबंधों के विषय में कुछ भी नहीं कहते। जैसा कि पहले जिक्र किया गया, हेगेल दूसरी ओर यह मानते हैं कि कोई नागरिक समाज केवल तभी अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है, जब समाज में नैतिक व्यवस्था हो। नैतिक व्यवस्था का, उनके अनुसार, अर्थ है व्यक्तिपरक और सार्वत्रिक कानूनों के सामन्जस्य में अस्तित्व। व्यक्तिपरक कानून समुदायों में जन्म लेते हैं, और उस समुदाय की विषिष्टता से ताल्लुक' रखते हैं, यथा उसकी परम्पराओं, रीति रिवाज, समुदाय में प्रत्येक सदस्य का स्थान, बड़ों से उसके संबंधों, पुरोहितों, महिलाओं की स्थिति, आदि से। ये विषिष्टतावादी होते हैं। दूसरी ओर, सार्वत्रिक कानून राज्य के उन कानूनों से संबंध रखते हैं, जो उस राज्य के लिखित अथवा अलिखित संविधान में प्रतिष्ठापित होते हैं। ये कानून व्यक्तियों के अधिकार संबंधी सार्वभौम सिद्धांतों पर आधारित होते हैं, यथा समानता, स्वतंत्रता, स्वामित्व एवं बंधुत्व। यदि सार्वत्रिक और व्यक्तिपरक अधिकार एक साथ अस्तित्व में होते हैं, कोई भी उनके बीच व्याप्त भेदों के बावज़ूद दूसरे को अस्वीकार नहीं करता है। वस्तुतः तभी समाज में एक नैतिक व्यवस्था कायम होती है। इसका, हेगेल की नजर में, अर्थ है कि सह-अस्तित्व की ऐसी व्यवस्था में नागरिक समाज कायम रहता है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

नागरिक समाज की अवधारणा को बीसवीं सदी में फिर से लोकप्रियता मिल गयी। 1980 के दषक में पूर्व-सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के विघटन ने इस अवधारणा में रुचि फिर से जगाई। राज्य की विफलता के कारण उसमें विष्वास खोने से नागरिक समाज में रुचि फिर से जगी। राज्य की धारणा टूटने लगी, ज्यादा सटीक रूप से, बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इसको राज्य के एक विकल्प के रूप में देखा जाने लगा।

साथ ही, चूँकि मार्क्सवादीजन नागरिक समाज को अन्धभक्त और असमान एवं विभेदकारी वर्ग-संबंधों को बढ़ाने में योगकारी मानते हैं, गैर-मार्क्सवादी जन नागरिक समाज को राज्य की विफलता हेतु एक रामबाण मानते हैं। नागरिक-समाज संबंधी गैर-मार्क्सवादी आदर्ष, जो इसे राज्य के एक विकल्प के रूप में देखते हैं, लोकतंत्र के सहकारी प्रतिरूप से संबंध रखते हैं।

बोध प्रष्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) नागरिक समाज से आप क्या समझते हैं? राज्य के साथ इसके संबंध पर सूक्ष्म दृष्टि डालें।

....

....

....

....

....

....

2) नागरिक समाज संबंधी अवधारणा का क्रम-विकास प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

....

13.2.2 लोकतंत्र और नागरिक समाज

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

लोकतंत्र और नागरिक समाज एक दूसरे से अवियोज्य (inseparably) रूप से जुड़े हैं। एक स्वस्थ उदारवादी लोकतंत्र को जीवट और ऊर्जा से भरपूर नागरिक समाज के सहयोग की आवष्यकता होती है। जैसा कि पूर्व भागों में उल्लेख किया गया, लोकतंत्र-नागरिक समाज अन्तर्संबंध विषय-विषेष का आधार तॉकवि के अमेरिकी राजनीति विषयक उत्कृष्ट लेखों में देखा जा सकता था।

हाल के वर्षों में अनेक विद्वान हुए हैं, जिन्होंने इस लोकतंत्र-नागरिक समाज संबंध को लोकतंत्र के विभिन्न प्रतिरूपों में विकसित किया है। इस प्रकार एक प्रतिरूप है, 'लोकतंत्र का संस्थागत प्रतिरूप' जैसा कि सुनील खिलनानी, पॉल ट्रस्ट एवं बेंजामिन बार्बर द्वारा विकसित किया गया। उनके अनुसार, सत्ता का विकेन्द्रीकरण ही नागरिक समाज के निर्माण का आधार है। सत्ता की विकेन्द्रीकृत इकाइयाँ न्यास, संस्था व लोकतंत्र की ओर अभिनत होती हैं। परन्तु लघुतर समुदायों के निर्माण का आधार सर्वधर्म समभावी समानता है, न कि आरोप्य (ascriptive)। इस परिप्रेक्ष्य के समर्थक राज्य के केन्द्रीकृत प्राधिकार के आलोचक हैं, जिसको कि वे बहुत अधिक प्रभावषाली मानते हैं। वे अपनी उम्मीदें समुदायों अथवा पष्चिमी लोकतंत्रों में विकेन्द्रीकरण से जोड़ते हैं। नागरिक समाज का परिप्रेक्ष्य उस साहित्य से जुड़ा है, जो समाजवादी समाजों के पतन के चलते, खासकर पूर्वी यूरोप में, उद्‌गमित हुआ। यहाँ, नागरिक समाज सर्वसत्तात्मक राज्य के मुकाबले उभरकर आया। व्यक्तिजनों के अधिकार, जिनका सर्वसत्तात्मक राज्य-व्यवस्था के दौरान अतिक्रमण किया गया था, नागरिक समाज में सुरक्षा प्रदान किए जाएँगे, ऐसा सोचा गया।

नागरिक समाज की विद्यमानता किसी समाज में लोकतंत्र के विस्तार क्षेत्र को भी इंगित करती है; यथा औपचारिक लोकतंत्र जैसे चुनाव, बहुदलीय प्रणाली अथवा एक लोकतांत्रिक संविधान। इसी के साथ, यहाँ इसका अर्थ लोकतांत्रिक प्रतिमानों व मूल्यों की विद्यमानता भी होता है, जैसे एक दूसरे की संस्कृति व दृष्टिकोणों की सहिष्णुता के साथ मतभेदों का

सहअस्तित्व। गैलनर के अनुसार, लोकतंत्र की सांस्थानिक धारणा नागरिक समाज की सांस्थानिक धारणा के मुकाबले कम बोधगम्य है। नागरिक समाज विवाद और बहस का एक अखाड़ा है। नीरा चन्धोक कहती हैं, कि नागरिक समाज एक ऐसा स्थल है, जहाँ व्यक्तिजन एक दूसरे के सहयोग से अपने प्रतिमान तय करते हैं। यह उनके जीवन में बसता है, जो अपने पर राज्य थोपे जाने पर आपत्ति करते हैं। वे राज्य से अपने सवालों को जवाब माँगते हैं। नागरिक समाज का हर समूह अपनी निर्दिष्टता, यथा संस्कृतिक को कायम रखने का हकदार होता है। जो स्वतंत्रता व समानता के सिद्धांतों पर आधारित होती है। मनोरंजन मोहन्ती के अनुसार, नागरिक समाज संगठनों को ''प्राणी समाज'' कहा जा सकता है, क्योंकि ये संस्थाएँ राज्य पर संदेह करती हैं और एक समतावादी और लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाने के लिए कठोर प्रयास करती हैं।

नव-तॉकवियन लोगों की एक नयी पीढ़ी, जिनमें सबसे प्रसिद्ध हैं रॉबर्ट पुट्नम, ने 1990 के दषक से लोकतंत्र की आधारषिला के रूप में नागरिक समाज की अवधारणा को पुनरुज्जीवित किया। पुटनम ने 'सामाजिक पूँजी' (social capital) नामक एक अवधारणा को लोकप्रिय बनाया, जिसका अर्थ है ''सामाजिक संगठनों के अभिलक्षण, यथा आस्था, प्रतिमान और नेटवर्क''। लोकतंत्र व सामाजिक पूँजी के बीच संबंध उत्तर व दक्षिण इटली भर में स्थानीय सरकारों के विभिन्न कार्यनिष्पादन संबंधी पुट्नम के प्रसिद्ध अध्ययनों में से एक से निकला है। इनकी पुस्तक का दावा है कि उत्तर इटली ने आमतौर पर दक्षिण इटली की अपेक्षा बेहतर संस्थागत कार्यनिष्पादन को प्रोत्साहन दिया, क्योंकि यहाँ परिस्थितियाँ ऐतिहासिक रूप से उन नागरिक मामलों में अधिक जन-भागीदारों से जुड़ी हैं, जो समाज में बेहतर अन्तर्वैयक्तिक एवं सांस्थानिक विष्वास की उपलब्धता से स्वयं उत्पन्न हुईं।

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) लोकतंत्र का संघीय स्वरूप क्या है?

....

....

....

....

....

....

2) नागरिक समाज विषयक रॉबर्ट पुट्नम के विचारों पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

13.2.3 समुदाय और नागरिक समाज

समुदाय आदिकालीन तथ्यों पर आधारित संबंधों से जुड़े लोगों का एक समूह है, यथा, धर्म, नाते, पारिवारिक बंधन, जाति, आदि से जुड़े लोगों का समूह। ये व्यक्तियों के लिए नियम तय करते हैं, जो समुदाय का निर्माण करते हैं। व्यक्तियों व नागरिकों के अधिकारों के बारे में समुदाय के नियमों की प्रकृति राजतंत्र व समाज की प्रकृति को दर्षाती है। समुदाय के नियम एकनिष्ठवादी होते हैं, जबकि राज्य के नियम सर्वमुक्तिवादी होते हैं। नियमों की दो श्रृंखलाओं के बीच यदि कोई विवाद होता है, तो राज्य-व्यवस्था की लोकतांत्रिक इमारत ढह जाती है। परन्तु यदि दूसरी ओर, एक समाज में व्यक्तियों के अधिकार राज्य के अधिकारों के अनुरूप होते हैं, राज-व्यवस्था लोकतांत्रिक गुण-दोशों का प्रतिनिधित्व करती है। समुदाय राज्य और नागरिक समाज के बीच स्थित होता है। समाज के भीतर व्यक्तियों – महिलाओं, अलाभांवित समूहों, अल्पसंख्यकों आदि – के लोकतांत्रिक अधिकारों की स्थिति राज्य, नागरिक समाज और समुदाय संबंधी तीनों ही संस्थाओं की प्रकृति पर निर्भर करती है।

समुदाय और नागरिक समाज के बीच भेद विषयक समाजषास्त्रीय बहस फर्डीनैंड टोनीस की पुस्तक में अपने विषुद्धतम, सुड़ौलतम और जटिलतम रूप में दिखाई पड़ती है। टोनीस ने इनको 'यथार्थ अथवा सहज जीवन' तथा 'काल्पनिक अथवा यांत्रिक प्राधार' – जमेन्षाफ (Gemeinschaft) तथा जसैलषाफ (Gesellschaft) कहा। टोनी के शब्दों में, जमेन्षाफ पुराना होता है; जसैलषाफ नया होता है। ग्रामीण जीवन में लोगों के बीच समुदाय ज़्यादा सषक्त और ज़्यादा जीवन्त होता है; यही एक साथ रहने का टिकाऊ और खरा ढंग है। जमेन्षाफ के मुकाबले, जसैलषाफ (समाज) अस्थायी और सतही होता है। तदनुसार, जमेन्षाफ (समुदाय) को एक जीवित प्राणी के रूप में समझा जाना चाहिए, जसैलषाफ को एक यांत्रिक समूह और एक पुरातन कला या षिल्प रचना के रूप में।

एक लेख 'इन सर्च ऑफ सिविल सोसाइटि' में सुदीप्तो कविराज दो द्वैदाष्यों (dichotomis) के बीच एक संबंध बताते हैं – एक ओर राज्य और नागरिक समाज के बीच और दूसरी ओर नागरिक समाज और समुदाय के बीच। तृतीय- विष्व राजनीति संबंधी अनेक प्रकार के विष्लेषणों में इन दो अलग-अलग तर्कों के बीच महत्त्वपूर्ण संबंध हैं। यह दावा किया गया है कि एक आधुनिक संवैधानिक राज्य के ठीक संचालन के लिए एक विषिष्टता आवष्यक होती है, न सिर्फ समाज में राज्य व अन्य संगठनों के बीच, बल्कि जसैलषाफ जैसे सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित किए जाने वाले गैर-राज्यीय संगठन में भी।

13.3 नागरिक समाज के चारित्रिक लक्षण

नागरिक समाज के इतने विविध विष्लेषण हैं कि यह शब्द भ्रामक लगने लगता है। अतः नागरिक समाज के लक्षणों पर एक अभिदृष्टि विषय को पूरी तरह समझने में मदद कर सकती है। डायमण्ड के अनुसार, नागरिक समाज के लक्षण इस प्रकार ब्यौरेवार प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

प्रथम, नागरिक समाज ही संगठित सामाजिक जीवन का कार्यक्षेत्र है, जो कि सार्वजनिक स्वैच्छिक, स्वयं-उत्पन्न, कम-से-कम अंषतः स्वयं-समर्थक, राज्य से स्वतंत्र और एक कानूनी व्यवस्था अथवा साझा नियमों की श्रृंखला द्वारा बाध्य होता है। यह आमतौर पर ''समाज'' से इस बात में भिन्न होता है कि इसमें एक सार्वजनिक क्षेत्र में सामूहिक रूप से काम करने वाले नागरिक शामिल होते हैं।

दूसरे, नागरिक समाज निजी उद्देष्यों की बजाय सार्वजनिक उद्देष्यों से संबंध रखता है। यह निजी क्षेत्र और राज्य के बीच खड़ी एक मध्यवर्ती दृष्य-घटना है। इस प्रकार, यह संकुचित समाज को बहिष्कृत करता है : वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन तथा अन्तर्मुखी सामूहिक कार्य; और यह आर्थिक समाज को बहिष्कृत करता है : वैयक्तिक व्यापार-समवायों के लाभार्जन करते उद्यम।

तीसरे, नागरिक समाज किसी न किसी तरह राज्य से संबंध रखता है, परन्तु राज्य का नियंत्रण अपने हाथ में लेने का प्रयास नहीं करता; वह ''पूरी की पूरी राज-व्यवस्था पर शासन'' करने का प्रयास नहीं करता।

चौथे, नागरिक समाज के दायरे में बहुवाद और वैविध्य भी आता है। इसमें आर्थिक, सांस्कृतिक, सूचनात्मक व शैक्षणिक हित समूह, विकासात्मक, विषयोन्मुखी एवं नागर समूहों सहित, औपारिक व अनौपचारिक संगठनों का एक विस्तृत क्षेत्र आता है। इसके अतिरिक्त, नागरिक समाज में वो भी आता है, जिसे थॉमस मेत्ज़र ''वैचारिक पण्यक्षेत्र'' (ideolgical marketplace) कहते हैं, यथा सूचना व विचारों का प्रवाह, जिसमें वो शामिल हैं जो राज्य का मूल्यांकन और आलोचना करते हैं।

पाँचवे, चौथे से यह बात सामने आती है कि नागरिक समाज किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की सम्पूर्ण हित-शृंखला का प्रतिनिधित्व करने का प्रयास नहीं करता। इसकी बजाय भिन्न-भिन्न समूह भिन्न-भिन्न हित-पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा उनको अपने दायरे में लाते हैं।

छठे, नागरिक समाज को नागरिक समुदाय की अधिक स्पष्ट रूप से लोकतंत्र को बढ़ावा देती दृष्य-घटना से अलग समझा जाना चाहिए। डायमण्ड का तर्क है कि नागरिक समुदाय नागरिक समाज के मुकाबले एक अधिक विस्तृत और अधिक संकीर्ण संकल्पना दोनों हैः अधिक विस्तृत इस लिहाज से कि इसमें संस्थाओं के सभी प्रकार (संकुचित समेत) आते हैं; अधिक संकीर्ण इस लिहाज से कि इसमें सिर्फ दायित्वों के इर्द-गिर्द समतल रूप से संरचित संस्थाएँ ही होती हैं जो कि कमोबेष अन्योन्य, सहकारी, सम्मित और विष्वासपूर्ण होती हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रष्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) नागरिक समाज और समुदाय के बीच अंतर विषयक फर्डीनैंड टोनीस के क्या विचार हैं?

....

....

....

....

....

....

....

2) नागरिक समाज के मूल लक्षणों का ब्यौरेवार विवरण दें और वर्णन करें।

....

....

....

....

13.4 सारांष

नागरिक समाज, जिसका मूल हालाँकि लॉकियन परम्परा में है, ने बीसवीं सदी में जाकर लोकप्रियता हासिल की, जो कि पूर्व-यूरोपीय समाजवादी शासन की समाप्ति के आलोक में हुआ।

लॉक से परे, पूर्ववर्ती विचारक जिन्होंने नागरिक-समाज संबंधी धारणा के विकास में योगदान दिया, वे थे — तॉकवि, हेगेल और मार्क्स। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को और अधिक विस्तार देते हुए हेगेल ने इसको एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया।

नागरिक समाज को ऐसे कुछ लक्षणों के ब्यौरेवार विवरण के शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है जो कि आप इस इकाई में पढ़ चुके हैं।

एक ओर नागरिक समाज के बीच संबंधों और दूसरी ओर राज्य, लोकतंत्र और समुदाय की भी चर्चा की गई है।

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंधोक, एन., *स्टेट एंड सिविल सोसायिटी*, नई दिल्ली : सेज, 1995

कोहेन, जे. और अरैटो, *ए. सिविल सोसायिटी एंड पॉलिटिकल थ्योरी*, कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, 1992

हेंस, जैफ., *डैमोक्रैसी एंड सिविल सोसायिटी इन द थर्ड वर्ल्ड*, क्रैम्ब्रिज : पॉलिसी प्रेस, 1997

MAADHYAM IAS

13.6 बोध प्रष्नों के उत्तर

बोध प्रष्न 1

1) देखें भाग 13.2

2) देखें भाग 13.2

बोध प्रष्न 2

1) देखें उपभाग 13.2.2

2) देखें उपभाग 13.2.2

बोध प्रष्न 3

1) देखें उपभाग 13.2.3

2) देखें भाग 13.3

इकाई 14 सत्ता और प्राधिकार

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सत्ता : संकल्पना का अर्थ

14.2.1 सत्ता व अन्य सदृश्य प्रसंगों के बीच भेद

14.2.2 सत्ता के निहित अर्थ

14.3 सत्ता सिद्धांत

14.3.1 उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांत

14.3.2 मार्क्सवादी सिद्धांत

14.3.3 सत्ता पर माइकल फूको के विचार

14.4 प्राधिकार क्या है?

14.5 प्राधिकार का वर्गीकरण

14.6 सत्ता व प्राधिकार संबंधी धारणाओं के बीच भेद

14.6.1 प्राधिकार के निहित अर्थ

14.7 सारांश

14.8 शब्दावली

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पायेंगे मौलिक अनुसंधान का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रः यथा सत्ता और प्राधिकार। यही है राजनीतिक विचारधारा का केन्द्रीय विषय। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- सत्ता की अवधारणा को विभिन्न शाखा-विन्यासों में समझ सकें
- सत्ता व संबंधित विषयों के बीच भेद कर सकें
- प्राधिकार की संकल्पना को स्पष्ट कर सकें और उसके प्रकार पहचान सकें
- सत्ता व प्राधिकार के सापेक्ष अर्थ को समझ सकें।

14.1 प्रस्तावना

हाल ही में, राजनीति-सिद्धांत के क्षेत्र में सत्ता की धारणा का बड़ा महत्त्व हो गया है। ऐसा इसलिये है, क्योंकि राजनीति का अर्थ 'राज्य और सरकार संबंधी अध्ययन' से बदल कर 'सत्ता का अध्ययन' हो गया है। सत्ता ही विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य होता है। अन्तरराष्ट्रीय संबंधों में, सत्ता ही अपने महत्त्वपूर्ण हित को बढ़ावा देने के उद्देश्य से अन्य राज्यों के व्यवहार को प्रभावित अथवा नियंत्रित करने हेतु किसी राज्य की क्षमता है। सत्ता क्षमता में अनुमति व दबाव के प्रयोग में कौशल व तकनीकों के साथ-साथ अन्य राज्यों पर आधिपत्य जमाने हेतु मनाने, धमकाने अथवा कोई कार्य ज़बरदस्ती करवाने की क्षमता भी शामिल है। बेल्जियम और स्विट्ज़रलैण्ड संभवतः समान रूप से सुमेलित (matched) हैं,

परन्तु बेल्जियम और अमेरिका के बीच बेमेल स्पष्ट है। कुछ राज्यों का स्वरूप 'सम्पन्नों' वाला है और दूसरों का 'विपन्नों' वाला। पूर्ववर्ती भली प्रकार सत्ता-गुण सम्पन्न हैं, जबकि परवर्ती ''सम्पन्नों'' के विरुद्ध अपनी स्थिति बेहतर बनाने का प्रयास करते हैं। यह परिस्थिति सत्ता को संघर्ष करने संबंधी उसका अनिवार्य गुण प्रदान करती है।

हम सब जानते हैं कि एक व्यापक अर्थ में सत्ता क्या है। यूँ तो हम इसे अपने जीवन में हर जगह पाते हैं, फिर भी इसको परिभाषित करना मुश्किल है। सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धांत देते समय, बरहाल, हम सत्ता व प्राधिकार की संकल्पनाओं को अधिक सटीक और स्पष्ट बनाने का प्रयास करते हैं। इन आधारभूत संकल्पनाओं व परिभाषाओं को लेकर ही हम तदोपरांत राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अन्य जटिल संकल्पनाओं को समझ सकते हैं।

14.2 सत्ता : संकल्पना का अर्थ

सत्ता को जीवन के विभिन्न स्तरों पर देखा जाता है - सरकारी प्रशासन, नौकरशाही, चुनाव, परिवार व समाज की संरचनाओं में। स्कूल में ग़लती करने वाले किसी छात्र को एक अध्यापक द्वारा डाँटे जाने, एक शक्तिशाली राज्य द्वारा अपने पड़ोसी अथवा किसी आतंकवादी संगठन द्वारा किसी ठिकाने पर बम बरसाये जाने के खिलाफ़ युद्ध किये जाने के उदाहरणों में सत्ता का प्रयोग होता है। अतः यह देखना बहुत ज़रूरी हो जाता है कि इन उदाहरणों में सटीक रूप से क्या सर्वमान्य है और वे किस प्रकार इस संकल्पना को सही ठहराते हैं।

राजनीति-सिद्धांत में सत्ता ही केन्द्रीय विषय है, चाहे वह उस कानून में लिपटी हो जो योग्यता प्रदान करता है अथवा उस प्राधिकार में जो स्वेच्छापूर्वक उसकी आज्ञापालन करता है और उसे कायम रखता है। सत्ता शक्ति है, जो कानून के नाम पर राज्य द्वारा प्रयोग की जाती है। सत्ता राजनीति-सिद्धांत के प्रति केन्द्रिक है, क्योंकि वह राज्य के विषय में गंभीर होती है, जो कि शक्ति है। यह एक ऐसी विचारधारा है, जो यथार्थवादियों से सम्बद्ध है। दूसरी ओर, वे विधिवेत्तागण जो राज्य को एक न्यायिक संस्था मानते हैं, दावा करते हैं कि राज्य से जुड़े अनिवार्य और उत्तम बल की धारणा यादृच्छिक (arbitrary) नहीं है; वरन् यह योग्यताप्राप्त बल है; और आसान शब्दों में, यह 'कानून के नाम पर' प्रयोग किया जाने वाला बल है। कारण यह है कि राज्य निश्चित प्रक्रियाओं व विदित नियमों के अनुसार प्रयुक्त सत्ता की धारणा से निकट से जुड़ा है। इस प्रकार, सत्ता कानून की भाषा में व्यक्त बल है; यह एक नियमित और एकरूप रीति में योग्यताप्रदत्त और व्यक्त बल है।

सत्ता की संकल्पना को और अधिक पुष्ट करने के लिए कानूनज्ञों ने राज्य की संकल्पना को उसे कुछ अनिवार्य सहजगुणों के साथ पहचान कर परिष्कृत किया है। अब इसके अनुसार, राज्य एक राजनीतिक समाज है और किसी प्रदत्त राजनीतिक समाज में, एक सर्वोच्च सत्ता होती है [सूमा पोटैस्टा (Summa Potestas), जैसा कि रोमन कानूनज्ञ सिसरो इसे पुकारते हैं] जिससे यह कानून उद्भूत होता है। यह सर्वोच्च सत्ता, जिसकी व्याख्या जॉन ऑस्टिन 'सम्प्रभुता' के रूप में करते हैं, राज्य को अन्य संस्थाओं से भिन्न करती है। सम्प्रभुता की संकल्पना का निहितार्थ यह है कि निर्णायक प्राधिकार सत्ता ही है। मुख्य बात यह है कि राज्य के भीतर एक संप्रभु सत्ता होती है जो, चाहे प्रजा के पास हो या फिर राजा के पास, कानून का स्रोत होती है। यह कानून द्वारा शर्तबन्द सत्ता होती है, चाहे उनके दृष्टिकोण से जिनके ऊपर यह प्रयोग की जाती है अथवा सत्ता के वास्तविक धारक के दृष्टिकोण से।

MAADHYAM IAS

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जिसको यहाँ स्पष्ट किये जाने की ज़रूरत है, यह है कि संप्रभु सत्ता बलपूर्वक शासन को एक कानूनवत् शासन में बदल देती है। इस प्रकार हॉब्स राज्य को कोई बलप्रयोग की दृश्यघटना नहीं मानते हैं; वरन् एक सत्ता की दृश्यघटना मानते हैं, जिसकी संप्रभुता ही सर्वोच्च और सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। 'असभ्यावस्था' से 'सभ्य समाज' की ओर अवस्थान्तर गमन ही उस बलपूर्वक शासन से अवस्थान्तर गमन है, जहाँ कानून संबंधी कोई सुरक्षा नहीं होती, जहाँ मानवीय संबंध सुरक्षित होते हैं। साथ ही, ठीक जिस प्रकार राज्य विशुद्ध बलप्रयोग नहीं है, अतएव हॉब्स के अनुसार संप्रभुता मनमानी इच्छा नहीं है। संप्रभु प्रतिनिधि को लोगों की सुरक्षा मुहय्या कराने का दायित्व सौंपा जाता है। इस कारण से वह उस यथार्थ कारण की अवहेलना नहीं कर सकती है, जिसके लिये उसे संप्रभुता सौंपी गई है। इस प्रकार, प्राधिकरण, न कि आदतन आज्ञापालन, ही है जो संप्रभु बनाता है, जो बलप्रयोग को सत्ता में बदल देता है।

दो सदियों बाद, एलैक्ज़ैंडर हैमिल्टन ने पूछा, 'सत्ता क्या है, बस कुछ करने की योग्यता अथवा मानसिक शक्ति?' बीसवीं सदी-मध्य में, हैरॅल्ड लैसवैल और अब्राहम कप्लान ने सत्ता का अर्थ इस प्रकार लगाया – 'कृत्य... अन्य कार्यों को प्रभावित अथवा निर्धारित करते'। उसके कुछ ही समय पश्चात्, रॉबर्ट डाल ने सत्ता को इस रूप में परिभाषित किया – किसी दूसरे से कुछ करवाने की एक कर्ता की योग्यता ताकि परवर्ती 'अन्यथा न करे'। उसी समय, हालाँकि, हन्ना अरेन्द्त ने दावा किया कि सत्ता निस्संग अभिकर्त्ताओं अथवा कर्त्ताओं की ज़ायदाद नहीं, बल्कि एक साथ मिलकर काम करने वाले समूहों अथवा समष्टियों की है।

जहाँ तक कि दूसरे लेखकों के दृष्टिकोणों का संबंध है, यह निश्चित रूप से इस संकल्पना का अर्थ अनेक पहलुओं में समझने में मदद करती है। फ्रेड्रिक के अनुसार, सत्ता 'एक विशेष प्रकार का मानवीय संबंध है', जबकि टॉनी के लिए, 'यह एक व्यक्ति अथवा समूह की क्षमता है, जिससे वह अपनी मर्ज़ी के मुताबिक दूसरों के व्यवहार को संयत करता है'। जबकि साम्यवादी नेता माओ ज़िडोंग सत्ता के बारे में सोचते थे कि ''बन्दूक की नली से निकलती है'', गाँधी जी, शान्ति के अग्रदूत, इसे प्रेम और सत्य की शक्ति के रूप में लेते थे। सत्ता यानी शक्ति को विभिन्न आधारों पर विभिन्न बातों का श्रेय दिया जाता है। उदाहरण के लिए, हम आर्थिक शक्ति, सैन्य सत्ता, दिमागी ताकत, राजनीतिक/कार्यकारी सत्ता और सामाजिक शक्ति/सामर्थ्य की बात करते हैं। इन सब शक्ति-भेदों में प्रधान विषय का अर्थ है, 'योग्यता' अथवा 'क्षमता'। बहरहाल, हम एक सर्वमान्य व्यापक परिणाम निकालते हैं कि, सत्ता उन बाह्य प्रभावों व दबावों का कुल योग है जो किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को एक अपेक्षित दिशा में चला सकती है।

14.2.1 सत्ता व अन्य सदृश्य प्रसंगों के बीच भेद

सत्ता का सटीक सम्पृक्तार्थ उस वक्त मुश्किल हो जाता है, जब यह शब्द अनेक संबद्ध विषयों के साथ अन्तर्विनिमेय (inter-changeable) हो जाता है, यथा नियंत्रण, प्रभाव, प्राधिकार, बलप्रयोग, प्रभुत्व, दमन इत्यादि। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि यह राजनीति-विज्ञान के छात्रों के लिए भ्रम पैदा कर सकती है, सत्ता व संबद्ध विषयों के बीच भेद के मुख्य बिंदुओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जैसे कि पहले चर्चा की गई, सत्ता ही जीतने की क्षमता है, अथवा व्यक्ति की दूसरों पर नियंत्रण करने की योग्यता। ऐसा करने में सत्ता धोखा, दाँवपेच, चालबाज़ी जैसे तत्त्वों पर आधारित हो सकती है, अथवा कानूनी एवं संवैधानिक प्रक्रियाओं से भी व्युत्पन्न की जा सकती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कुछ नहीं, केवल एक सत्ता-संघर्ष संबंधी अभिव्यक्ति है।

MAADHYAM IAS

बलप्रयोग, दूसरी ओर, सत्ता से भिन्न होता है। सत्ता की क्रूरतम अभिव्यक्ति यही है। शारीरिक बलप्रयोग में शामिल तकनीकें हैं - निग्रह (restraint), दमन, धमकी, डाँट-डपट, भयदोहन (blackmail), आतंकवाद और सैन्य प्रभुत्व। अतः सत्ता को अव्यक्त बलप्रयोग कहा जाता है, जबकि बलप्रयोग अभिव्यक्त सत्ता है।

यदि बलप्रयोग एक सिरे पर खड़ा है तो, **प्रभाव** दूसरे सिरे पर। यह सत्ता के उदात्तीकरण (sublimation) को दर्शाता है। यह सामाजिक प्रतिष्ठा, बौद्धिक व आत्मिक गौरव, उच्च नैतिकता, इत्यादि के कारण हो सकता है। अतः, जबकि प्रभाव विश्वासोत्पादक होता है, सत्ता दमनकारी होती है।

अब **प्राधिकार** की धारणा पर आते हैं, जो कानूनी व परंपरागत प्रतिबंधों के माध्यम से सत्ता के नीति-संगतीकरण एवं वैधीकरण को इंगित करता है। यह अनिवार्य रूप से संस्थागत विधिसंग्रह है, जिसके भीतर एक माध्यम रूप में सत्ता-प्रयोग को आयोजित किया जाता है और विधि-सम्मत बनाया जाता है। प्राधिकार की संकल्पना संबंधी एक विस्तृत विश्लेषण इस इकाई में तदोपरांत किया जायेगा।

अंततः, सत्ता से संबद्ध एक विषय के रूप में **नियंत्रण** की बात भी अपना भिन्न लक्षण रखती है, जो सत्ता से भिन्न है। नियंत्रण एक भिन्न प्रकृति का हो सकता है - जैसे विधायी, कार्यकारी, न्यायिक, वित्तीय इत्यादि। नियंत्रण के मुकाबले सत्ता अधिक प्रचण्ड होती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि 'सत्ता' शब्द के अर्थ में इस भिन्नता के कारण ही इसका व्यापक अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

14.2.2 सत्ता के निहित अर्थ

अब तक जो चर्चा की गई उसके अनुसार, सत्ता की संकल्पना विषयक कुछ निहितार्थ एकत्र किए जा सकते हैं :

MAADHYAM IAS

- सत्ता को महज़ एक राजनीतिक अथवा आर्थिक ढाँचे में नहीं सीमाबद्ध किया जा सकता; यह एक व्यापक रूप में सामाजिक दृश्यघटना है।
- प्रभाव, नियंत्रण, प्राधिकार, प्रतिष्ठा, अधिकार इत्यादि जैसी अन्य संकल्पनाओं से सत्ता की भिन्नता हमें सत्ता-संबंधी संकल्पना को अधिक सटीक रूप से और बारीकी से समझने में सक्षम बनाती है, जो राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हो जाता है।
- सत्ता अव्यक्त बल है, बल सुव्यक्त सत्ता है, और प्रधिकार संस्थापित सत्ता है।
- सत्ता विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूप में दिखाई पड़ती है, चाहे वो एक औपचारिक संगठन के रूप में हो, या फिर एक अनौपचारिक संगठन में अथवा एक संगठित/असंगठित समाज में।
- सत्ता संख्याओं (विशेषतः बहुमत), सामाजिक संगठन एवं स्रोतों के सम्मिलन में बसती है। यही है सत्ता का स्रोत।

14.3 सत्ता सिद्धांत

यह कहना कि राज्य एक संप्रभुसत्ता है, यह कहना है कि इसके नियमों, विनियमों एवं कानूनों के पास एक अंतिम प्राधिकार है। किसी भी अधिक निर्णायक नियम-समूह के लिए उनके विरुद्ध कोई अपील नहीं होती। दूसरे शब्दों में, राज्य के भीतर अन्य संस्थाओं द्वारा

बनाए गए नियम राज्य के शासन प्राधिकार के अधीन होते हैं। संप्रभुता का यह सत्ता-सिद्धांत लोकतंत्र में विश्वास रखने वाले राजनीति-सिद्धांतियों द्वारा माना जाता है, क्योंकि राजनीति के किसी भी औचित्य को जिसके लिए हमें राजनीतिक संप्रभुता संबंधी संकल्पना की आवश्यकता होती है, कानूनी प्रधिकार की बजाय सत्ता के शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। कानूनी संप्रभुता राज्य को एक अन्तिम कानूनी प्राधिकार मानती है।

नैतिक दृष्टिकोण से, हम यह कहते हैं कि राज्य के कानूनों के पास अन्तिम प्रधिकार नहीं होता, यदि व्यक्ति का विवेक यह कहता है कि उसे कोई कानून विशेष नहीं मानना चाहिए, तब एक नैतिक दृष्टिकोण से, वह आज्ञापालन का हकदार है; कारण यह है कि अधिकतर नीतिगत मामलों में अन्तिम प्राधिकार अन्तःकरण ही होता है, जब वह एक उच्चतर कानून, प्रकृति के कानून, हेतु अपील करता है। उदाहरण के लिए, जब यूनानी तानाशाह क्रेयन ने एण्टीगोन को अपने मृत भाई को दफ़नाने से रोका, तो उसने इस आधार पर इस आदेश की अवहेलना की कि उच्चतर कानून, प्रकृति का कानून, कहता है कि मृत का सम्मान किया जाना चाहिए। विवेकपूर्ण आपत्ति पर चर्चा यह दर्शाती है कि 'सत्ता का अर्थ सिर्फ व्यक्ति की इच्छा पूरी किए जाने की योग्यता ही नहीं, बल्कि बलप्रयोग की धमकी देकर ऐसा किए जाने की योग्यता भी है'।

निष्कर्ष में, हम कह सकते हैं कि राज्य की संप्रभुता, राजनीति के प्रयोजन से, अवपीड़क की सत्ता की सर्वोच्चता के रूप में परिभाषित की जानी चाहिए, न कि कानूनी प्रधिकार के रूप में। क्योंकि, जो संप्रभु है, वही अपने दावे को **प्रमाणित** कर सकता है, और राज्य निश्चित रूप से ऐसा करता है क्योंकि वह सशस्त्र बल की सत्ता रखता है।

सत्ता-सिद्धांत को जैसा कि पहले कहा गया है, हॉब्स के 'लिवाइअॅथॅन' में पहली बार शानदार अभिव्यक्ति मिली। हॉब्स का कहना है कि आदमी सत्ता और अधिक से अधिक सत्ता की इच्छा रखता है, जो व्यक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा का मूल कारण बन जाता है। परन्तु साथ ही, मनुष्य शान्तिपूर्वक रहना चाहता है, ताकि उस सत्ता का उपभोग कर सके जो उसके पास है। अतः वह एक सर्वमान्य सत्ता के अधीन रहने की आदत डाल लेता है। हॉब्स के बाद हेगैल ने अंतरराष्ट्रीय नैतिकता संबंधी सभी नीतिशास्त्रों को एक तरफ किए जाने की हद तक राज्य की संप्रभु सत्ता की निर्मुक्ति की। वर्तमान सदी में इस सिद्धांत के अग्रणी पक्षधरों में प्रोफ़ेसर एच.जे. मॉर्गेन्थउ का उल्लेख किया जा सकता है, जिनका कहना है कि राजनीति और कुछ नहीं बस सत्ता हेतु संघर्ष है। सत्ता-सिद्धांत ने अपनी ठोस अभिव्यक्ति पाई जब इटली के तानाशाह बेनितो मुसोलिनी ने यह घोषणा की कि 'न कुछ राज्य के विरुद्ध, न कुछ उससे ऊपर' जिसने फासीवाद की विचारधारा को जन्म दिया।

सत्ता-सिद्धांत संबंधी ऊपर दिए गए पूरे विश्लेषण में, सत्ता केवल एक राजनीतिक अर्थ में ही बोल कर व्यक्त की जाती है। तथापि सत्ता में स्वयं उसके भीतर काफी कुछ और भी शामिल है, जैसे आत्मा, मन, और किसी के विचारों की शक्ति। संदर्भ इस प्रसंग में महात्मा बुद्ध से गाँधीजी तक कहीं से भी लिए जा सकते हैं, जिन्होंने विश्व में अपनी विचारशक्ति और विचारधारा से अवगत कराया।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) राजनीति-सिद्धांत में सत्ता की संकल्पना किस प्रकार की गई है? स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

2) क्या सत्ता में बलप्रयोग हमेशा शामिल होता है?

....

....

....

....

....

....

14.3.1 उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांत

उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांत में सत्ता को विकासात्मक और निष्कर्षात्मक क्षमताओं के साथ पहचाना गया है। दूसरे शब्दों में, सत्ता का अर्थ है मानवीय क्षमताओं के प्रयोग और विकास संबंधी योग्यता। इसके दो पहलू हैं, निष्कर्षात्मक और विकासात्मक, जिनको क्रमशः नैतिक और आनुभाविक आयाम कहा जा सकता है। चूंकि किसी व्यक्ति द्वारा अपनी क्षमताओं का प्रयोग व विकास किए जाने की योग्यता ''सत्ता'' बन जाती है, इसको मनुष्य की विकासात्मक शक्ति कहा जा सकता है और यह एक गुणात्मक लक्षण लिए होती है। इसके अलावा, आदमी को अपनी क्षमताओं का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए, ताकि वह दूसरों से लाभ प्राप्त कर सके। यह बात निष्कर्षात्मक शक्ति की धारणा की ओर अभिमुख करती है। यहाँ हम देखते हैं कि सत्ता का उदारवादी सिद्धांत राजनीतिक सत्ता संबंधी धारणा को मुद्रा-शक्ति से जोड़ता है। चुनाव, प्रचार, अनुनय, नियंत्रण आदि सभी मुद्रा-शक्ति की भूमिका से ही नियंत्रित होते हैं। यही कारण है कि लाखों लोगों की नियति अक्सर राष्ट्र की मुद्रा पर एकछत्र अधिकार रखने वाले दर्ज़न भर परिवारों द्वारा ही नियंत्रित की जाती है। तथापि, यह सिद्धांत लोकतंत्र के आधिक्यीकरण पर भी ज़ोर देता है, ताकि मानवहित-परायणता मूल्यों को नुकसान न पहुँचे।

14.3.2 मार्क्सवादी सिद्धांत

मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति और अर्थशास्त्र को सत्ता-साधन के माध्यम से जोड़ता है। मार्क्स ने राजनीति-सत्ता को उन लोगों के पास होने के रूप में देखी, जो उत्पादन-साधनों पर नियंत्रण रखते हैं, न कि श्रम बल के पास जिसका ऐसे उत्पादन-साधनों पर नियंत्रण थोड़ा-सा अथवा बिल्कुल नहीं है। यह ''उत्पादन संबंध'', इसीलिए राजनीतिक सत्ता वितरण को निर्धारित करता है। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में, मार्क्स और एंजिल्स कहते हैं कि तथाकथित राजनीतिक सत्ता महज़ एक वर्ग द्वारा दूसरे दूसरे को दबाये जाने का संगठित रूप है और दूसरे, राजनीतिक सत्ता ही व्यापक और प्रभावी शक्ति है, जो एक प्रबल वर्ग एक सभ्य समाज में अपने प्राधान्य को कायम और बचा कर रखने में प्रयोग करता है।

इसके अतिरिक्त, वर्ग-सत्ता ''स्वयं राज्य द्वारा कब्जा किए जाने की ओर प्रवृत रहती है, और उसको खुशी-खुशी समर्पित भी कर देती है; उन्नत पूँजीवाद वाली सामान्य परिस्थिति में भी, राज्य उस प्रबल वर्ग द्वारा किए जाने वाले अधिक से अधिक प्रकार्यों को अपने अधीन कर लेता है, जिसका इन प्रकार्यों के निष्पादन में एक बड़ा योगदान होता है''।

इस प्रकार, मार्क्स राजनीतिक सत्ता और विद्यमान सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के बीच एक घनिष्ट एकीकरण पाते हैं और यह अस्थायी है - राज्यहीन और वर्गहीन समाज के उदय के साथ ही यह गायब हो जायेगा।

14.3.3 सत्ता पर माइकल फूको के विचार

एक उपदेश और व्यवहार के रूप में 'सत्ता' के विषय में ग़लतफहमियाँ और भ्रांतियाँ फैली हैं। इस संबंध में माइकल फूको के लीक से हटकर सत्ता-संबंधी विश्लेषण का वास्ता दिए जाने की आवश्यकता है, ताकि अनेक स्थानों पर संबंधों में व्यक्त, एक प्रवाह के रूप में सत्ता के गहन निहितार्थों को प्रस्तुत किया जा सके।

''सत्ता'' की सामाजिक दृश्यघटना हेतु फूको का पहुँच मार्ग निम्नलिखित उद्धरण में स्पष्ट दिखाई देता है :

''हमें यह नहीं पूछना चाहिए कि क्यों कुछ लोग हावी होना चाहते हैं, वे किसकी फिराक में रहते हैं, उनकी समस्त रणनीति क्या है? हमें इसकी बजाय यह पूछना चाहिए कि वर्तमान अधीनीकरण के स्तर पर उन निरंतर और निर्बाध (uninterrupted) प्रक्रियाओं के स्तर पर घटनाक्रम कैसे चलता है, जो हमारी देहों को अधीन बनाती हैं, हमारे हाव-भाव को संचालित करती है, हमारे व्यवहार आदि को प्रेरित करती हैं। दूसरे शब्दों में, स्वयं से यह पूछने के बजाय कि अपने उदात्त पार्थक्य (lobtyisolation) में संप्रभु हमें कैसा प्रतीत होता है, हमें यह खोजने का प्रयास करना चाहिए कि ऐसा कैसे हुआ कि जनता प्राणियों, बलों, ऊर्जाओं, वस्तुओं, इच्छाओं, विचारों आदि की बहुलता के माध्यम से क्रमशः, उत्तरोत्तर, वस्तुतः और भौतिक दृष्टि से गठित हुई।''

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

फूको, इस प्रकार, सत्ता की संप्रभुता-केन्द्रिक (हॉब्सियन) धारणा से उसकी ओर चलते हैं, जिसे वह ''अनुशासनात्मक शक्ति'' अथवा सत्ता की सूक्ष्म क्रियाविधियों के नाम से पुकारते हैं - प्रभुत्व की तकनीकें एवं चालें - जो, अनुशासनात्मक जुल्मों की एक घनिठता से जुड़ी झँझरी के रूप में, सामाजिक निकाय को एक स्थिर अवस्था (एक प्रसामान्यीकरण वाला समाज – a society of normalization) प्रदान करती हैं।

राज्य इस स्थिति में एक अलौकिक परा-शक्ति बन जाता है, जो अनेक व अनिश्चित सत्ता-संबंधों की एक पूरी श्रृंखला में जड़ से जमा होता है, और जैसा कि फूको दावा करते हैं, ''राज्य उन सत्ता-संबंधों की एक पूर्ण संख्या के संहिताकरण में रहता है, जो उसके कार्यव्यापार को संभव बनाते हैं''।

फूको के विश्लेषण ने समाज में सत्ता पर नज़र रखने के नए तरीके सुझाए हैं, उतने नहीं जितने कि प्रभुत्व और अधीनीकरण के सामाजिक रूप से विन्यस्त संबंधों के रूप में एक न्यायविधान-संबंधी संकल्पना सुझाती है।

फूको के अनुसार, आम बोलचाल में, सत्ता को ह्रासवादी (reductionist) दृष्टि से देखा गया है। यही है, सर से पाँव तक अवलोकन जिसमें सत्ता को हमेशा एक प्रभावशाली बल और एक दृश्यमान व वास्तविक परा-शक्ति के रूप में देखा गया है। वे लोग जो शीर्ष पर

सत्ताधारक हैं, पक्षपाती रूप से अनेक राजनीतिक तंत्रों व युक्तियों - विशेष तकनीकों, ज्ञान, राजनीतिक सत्ता के विहित क्रियाकलापों - का लाभ उठाने में लगे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, उनके पास सत्ता के साधन होते हैं जिन तक उनकी पहुँच उनकी सामरिक स्थिति के कारण होती है। एक वरिष्ठ दफ़्तरशाह, अपने ओहदे की वजह से किसी योजना को आसानी से मंजूर करा सकता है, अथवा यदि किसी बात से वह संतुष्ट न हो तो उसे रुकवा सकता है।

फूको के विश्लेषण में, सत्ता-संबंधी सभी दृश्य घटनाओं का श्रेय विद्यमान सत्ता-तंत्रों को देना एक प्रकार का अयथार्थवादी ह्रासवाद है। सत्ता, उनकी दृष्टि में, वह और वहाँ नहीं है, जैसा कि लोग सोचते हैं। वास्तव में, यह विभिन्न स्रोतों की एक भीड़ से आते विभिन्न प्रवाहों की व्यवस्था करती सैकड़ों सूक्ष्म प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति है। ह्रासवादी दृष्टिकोण इस बात को नहीं मानता कि ''राज्य अपने तंत्रों की संपूर्ण सर्वशक्तिशालिता के वास्ते, वास्तविक सत्ता-संबंधों के पूरे क्षेत्र को घेर पाने में सक्षम होने से दूर है, और इसके अतिरिक्त... राज्य अन्य, पहले से ही विद्यमान, सत्ता-संबंधों के आधार पर नहीं चल सकता है''।

सत्ता की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए हमें संप्रभुता की न्यायविधान संबंधी-इमारत, राज्य तंत्रों व साथ चल रही विचारधाराओं के परे जाना पड़ता है। इसकी बजाय ध्यान प्रभुत्व स्थापन एवं सत्ता के भौतिक संचालकों पर दिया जाना चाहिए। हमें अधीनीकरण के प्रकार एवं स्थानीकृत व्यवस्थाओं के सुझाव व उपयोगों पर और राजनीतिक तंत्रों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

फूको इस सत्ता को ऐसी 'ग़ैर-संप्रभु सत्ता' कहते हैं, जो संप्रभुता के विधान से बाहर रहती है। यह अनुशासनात्मक सत्ता होती है, जो सामाजिक निकाय की सम्बद्धता को सुनिश्चित करने के आशय से अनुशासनात्मक बलप्रयोगों की एक करीब से जुड़ी झँझरी का आकार ले लेती है। जैसा कि फूको ने उपदेश दिया : ''हमें सत्ता के अध्ययन में लिवाइॲथन मॉडल से दूर रहना चाहिए। हमें कानूनी संप्रभुता और राज्य संस्थाओं के सीमित क्षेत्र से निकलना चाहिए और इसकी बजाय सत्ता-संबंधी अपने विश्लेषण को प्रभुत्व स्थापना की तकनीकों व दाँव-पेंचों के अध्ययन पर आधारित करना चाहिए...।''

MAADHYAM IAS

14.4 प्राधिकार क्या है?

राजनीतिक वास्तविकताओं को समझने के लिए हमें राज्य के तीन पहलुओं का ज्ञान होना चाहिए - बल, सत्ता, और प्राधिकार। राज्य की धारणा हमें सत्ता का स्मरण कराती है, जो निश्चित प्रक्रियाओं व ज्ञात नियमों के अनुसार प्रयोग की जाती है। राज्य कानून के नाम पर प्रयोग किया जाने वाला बल ही तो है। बल उस समय सत्ता बन जाता है, जब राज्य के कानूनों द्वारा निर्धारित की गई निश्चित प्रक्रियाओं द्वारा उसके व्यवहार से यादृच्छिकता के तत्त्व को हटा दिया जाता है। निश्चित नियमों के अनुसार प्रयुक्त इस सत्ता की मान्यता इन नियमों के अधीनता-स्वीकरण हेतु बाध्यता की मान्यता को इंगित करती है। इस अर्थ में 'राज्य' शब्द इन बाध्यताओं हेतु एक संदर्भ शब्द प्रदान करता है। यह महज एक ऐसे बल को इंगित नहीं करता, जो वास्तविक रूप से अस्तित्व में है, अथवा यह सत्ता जो कुछ निश्चित नियमों के अनुसार स्वयं का अनुभव कराती है, बल्कि एक प्राधिकरण को इंगित करता है जो प्राधिकार-प्राप्त एवं व्यवहार में न्यायोचित माना जाता है।

14.5 प्राधिकार का वर्गीकरण

जर्मन समाजवादी मैक्स वैबर ने एक आधुनिक राज्य में प्राधिकार के स्रोतों का एक त्रिआयामी वर्गीकरण प्रस्तुत किया। ये हैंः युक्तिसंगत-विधिसंगत, परम्परागत और चमत्कारिक प्राधिकार।

युक्तिसंगत-विधिसंगत प्राधिकार स्पष्ट है और आदेश देने व उन्हें मनवाने का अधिकार रखता है। ऐसा वह सोच-समझकर बनाए गए उन नियमों की व्यवस्था के भीतर रखे गए कार्य के आधार पर करता है, जो हमारे अधिकारों व कर्त्तव्यों को तय करते हैं। दफ़्तरशाही युक्तिसंगत-विधिसंगत प्राधिकार का सबसे अच्छा उदाहरण है। जब कोई नागरिक एक दफ़्तरशाह के प्राधिकरण को स्वीकार करता है, वह ऐसा और किसी कारण से नहीं बल्कि उन शक्तियों के कारण करता है जो एक कानूनी व्यवस्था के द्वारा उस अधिकारी को प्रदान की गई हैं। पद जो कि व्यक्ति धारण करता है, महत्त्वपूर्ण है, न कि व्यक्ति-विशेष स्वयं।

परम्परागत प्राधिकार वहाँ होता है जहाँ एक व्यक्ति, जैसे कि राजा अथवा कबीले का सरदार, चिरकालिक परंपरा के अनुसार शासन के एक उच्च पद पर आसीन है और उसका आज्ञापालन किया जाता है, क्योंकि हर व्यक्ति परम्परा की अलंध्यता (sanctity) को स्वीकार करता है। धार्मिक प्राधिकार इसी प्रकार का होता है।

करिश्माई अथवा चमत्कारिक प्राधिकार उन असाधारण व्यक्तिगत गुणों के स्वत्व पर आधारित होता है, जो किसी व्यक्ति को एक नेता स्वीकार किए जाने की वजह होते हैं। इनमें संत-सुलभ साधुता वाले गुण हो सकते हैं, जो अपने स्वामी को धार्मिक प्राधिकार प्रदान करते हैं अथवा असाधारण वीरता, विचार-शक्ति, भाषण-कला संबंधी श्रेष्ठ गुण होते हैं जो राजनीति में, युद्धों में व अन्य प्रकार के उद्यमों में निष्ठापूर्ण समर्पण वाला एक अनुयायी दल बना देते हैं। करिश्माई नेता के पास ईश्वरीय कान्ति एवं असाधारण गुणों का वरदान होता है। लैनिन अथवा महात्मा गाँधी ने अपनी स्थिति अपने चमत्कार और गुणों के कारण ही बनाई। तीन स्रोतों में से पहले दो एक ही समूह में आते हैं - जहाँ अभिकर्त्ता प्राधिकार-स्रोत भिन्न हैं। यहाँ स्रोत की समालोचना बिना अभिकर्त्ता की आलोचना किए बिना की जा सकती है और अभिकर्त्ता, इसी कारण, एक सापेक्ष रूप से स्थिर अवस्था का आनन्द उठाता है। परन्तु करिश्माई प्राधिकार के मामले में, स्रोत और प्राधिकार अभिकर्त्ता एक ही होते हैं। इस कारण से, स्रोत के खिलाफ़ कोई भी आलोचना साथ ही अभिकर्त्ता के खिलाफ़ भी जा सकती है। अतएव, यहाँ अभिकर्त्ता किसी स्थिर अवस्था का आनन्द नहीं उठाता। एक करिश्माई प्राधिकार संस्थानीकरण किए जाने की प्रवृत्ति रखता है। इसी को वैबर 'चमत्कार का नित्यक्रमबद्धीकरण' (routinization of charisma) कहते हैं।

वैबर, तथापि, यह मानते थे कि इन श्रेणियों में कोई भी शुद्ध रूप में नहीं है। ब्रिटिश पद्धति प्राधिकार के परम्परागत एवं युक्तिसंगत-विधिसंगत स्रोतों का एक मिश्रण है। भारत में वैबर ने युक्तिसंगत-विधिसंगत प्राधिकार को करिश्माई प्राधिकार से जोड़ा।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) प्राधिकार के विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) सत्ता सिद्धांत के उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण किस प्रकार भिन्न हैं?

....

....

....

....

....

....

14.6 सत्ता व प्राधिकार संबंधी धारणाओं के बीच भेद

''सत्ता'' और ''प्राधिकार'' की संकल्पनाएँ परस्पर संबंधित हैं। परन्तु इसमें एक भेद किया जाना आवश्यक है। दोनों शब्द भिन्न गुण धर्मों को दर्शाते हैं। परन्तु उनकी तार्किक व्याकरण गलत समझे जाने के कारण मुश्किल पैदा हुई है। तथपि, यह भिन्न नहीं, बल्कि उन सम्बद्ध हस्तियों के नाम हैं, जिनमें से एक न एक पर हम किसी न किसी प्रकार निर्भर रहते हैं।

जब हम किसी मंत्री को ये या वो करने का अधिकार दिए जाने की बात करते हैं, हमारा आशय उसे प्राधिकार दिए जाने से होता है। जाँ बोदां अपनी पुस्तक **द सिक्स बुक्स ऑफ रिपब्लिक** में कहते हैं, ''संप्रभुता राज्य की निरंकुश और शाश्वत सत्ता होती है, यथा, शासन की सर्वोच्च सत्ता।'' उनका विवेचन यह छाप छोड़ता है कि संप्रभुता का अर्थ शब्द के सहज भाव में सत्ता ही है। यदि निरंकुश सत्ता से बोदां का अभिप्राय प्रभावी आदेश जारी करने की योग्यता से है, सटीक रूप से इसे **सत्ता** कहा जायेगा। यदि उनका अभिप्राय हक़दारी अथवा आदेश जारी करने और उनका पालन कराए जाने के अधिकार से ही है, तो उसे **प्राधिकार** कहा जायेगा। संप्रभुता की उनकी यह व्याख्या स्पष्ट करती है कि उनका अभिप्राय प्राधिकार से है, जबकि ''निरंकुश सत्ता'' संबंधी उनकी अभिव्यक्ति का प्रयोग पूववर्ती का संकेत देती है।

प्रोफ़ेसर राफ़ैल अपनी पुस्तक **प्राब्लम ऑफ द पॅलिटिकॅल फ़िलोसॅफ़ि** में ''सत्ता'' शब्द के तीन भिन्न अर्थ लगाते हैं। प्रथम, सत्ता अथवा शक्ति का सबसे व्यापक अर्थ सहज रूप से **योग्यता** ही है। हम डायनॅमो की शक्ति, राजनीतिक शक्ति अथवा इच्छा शक्ति के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करते हैं। दूसरे, हम सत्ता की बात एक सामाजिक संदर्भ में करते हैं, जब हम सत्ता को योग्यता के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में लेते हैं, यथा **दूसरे लोगों से वह काम कराने की योग्यता जो हम उनसे करवाना चाहते हैं।** कोई व्यक्ति दूसरों से वह काम कराने के योग्य हो सकता है जो वह करना चाहता है, क्योंकि वह एक विशेष पद पर आसीन है, अथवा क्योंकि वह, उनके इंकार करने पर उनके लिए मुश्किल पैदा करने की शक्ति रखता है। ये दो उदाहरण राजनीतिक सत्ता व्यवहार को दर्शाते हैं और विवाद की स्थितियों से दूसरा प्रसिद्ध है। तीसरे, दमनकारी सत्ता होती है, जो हम दूसरों की अनिच्छा होने पर उनसे वह काम करवाने के लिए उच्च बल प्रयोग करने की धमकी का प्रयोग करते हैं, जो हम करवाना चाहते हैं। चूँकी दमनकारी सत्ता राजनीतिक संघर्ष में इतनी विख्यात है कि ''सत्ता'' शब्द, जिसका अर्थ पहले किसी भी प्रथम की योग्यता था, बाध्यकरण से जुड़ गया है।

इस प्रकार, ''सत्ता'' शब्द के तीन अर्थ होते हैं जो ऊपर उल्लिखित हैं, और इसको सशक्तीकरण के साथ अथवा उसके बग़ैर प्रयोग किया जा सकता है। जब हम किसी को कानूनी शक्तियाँ देने की बात करते हैं, तो अक्सर 'सत्ता' का अर्थ 'प्राधिकार' लेते हैं। एक सत्ताधारक व्यक्ति के पास एक पद-विशेष होता है (यथा, एक मंत्री अथवा एक राष्ट्रपति); इसका मतलब है कि उसके पास प्राधिकार है और इस स्थिति की बदौलत वह दूसरों से उस काम को कराने मे समर्थ है, जो वह उन्हें करने को कहता है; उसकी सत्ता प्रयोग का प्रधिकार ही है। यही करण है कि 'सत्ता' शब्द का प्रयोग 'प्राधिकार' का अर्थ बताने के लिए किया जा सकता है।

14.6.1 प्राधिकार के निहित अर्थ

प्राधिकार किसी काम को करने का अधिकार है। अधिकार के दो अर्थ हैं : 1) यहाँ, कार्यवाही का अधिकार और 2) प्रापण (recipience) का अधिकार। कार्यवाही का अधिकार कुछ करने का हक है; उदाहरण के लिए, हड़ताल करने का कर्मचारी का हक़ और तालाबंदी करने का नियोक्ता का हक़। इस अर्थ में, अधिकार एक आज़ादी है। प्रापण का अधिकार कुछ करने का एक दावा है; उदाहरण के लिए, यदि 'ए' को पचास रुपये का हक है, जो 'बी' को उसे चुकाने हैं, यह 'ए' का अधिकार है कि 'बी' से पचास रुपये प्राप्त करे। यह 'ए' का अधिकार 'बी' के विरुद्ध है और यह कर्ज चुकाने की 'बी' की बाध्यताओं से ताल्लुक रखता है।

अब, आदेश देने का प्राधिकार ही प्रापण का अधिकार है। उदाहरण के लिए, जब एक मंत्री विधान द्वारा विनियमन करने हेतु प्राधिकृत (अथवा सशक्तीकृत) है, यह न सिर्फ उसे कुछ करने की अनुमति देता है (यथा, वह कार्यवाही का अधिकार रखता है) वरन् नागरिकों पर एक दायित्व भी डालता है कि वे उसके द्वारा किए गए विनियमन को सुनिश्चित करें। इस प्रकार, उसका प्राधिकार उसे उनको जारी करने का अधिकार प्रदान करता है।

MAADHYAM IAS

दोनों अर्थों में - कुछ करने का अधिकार और आज्ञापालन कराने का अधिकार - प्राधिकृत होने का अधिकार एक सुविधा है और इसी प्रकार सत्ता भी। अन्य लोगों से वह कराने का अधिकार जो कोई व्यक्ति चाहता है, इस तथ्य पर आधारित हो सकता है कि वह विशेष पद धारण करता है। उस पद को रखने के आधार पर ही वह व्यक्ति अन्य लोगों की कुछ आवश्यकताएँ पूछने का अधिकार रखता है, और वे उस काम को करते हैं, जो वह चाहता है, क्योंकि वे उसके प्राधिकार को स्वीकार करते हैं। अपना प्राधिकार और दूसरों द्वारा इसकी स्वीकृति ही वह चाहता है। हम इसीलिए प्राधिकार को मान सकते हैं कि वह दूसरे लोगों से वह काम करवाने की एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता या शक्ति है, जो कोई व्यक्ति उनसे करवाना चाहता है। यह विशिष्ट योग्यता या शक्ति दमनकारी सत्ता के समकक्ष है। दमनकारी बल लोगों से वह काम करने का एक तरीका है, जो कोई व्यक्ति चाहता है; यह सत्ता का एक विशिष्ट रूप है। प्राधिकार रखना, बशर्ते वह स्वीकृतिप्राप्त हो, उसका दूसरा रूप है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) राजनीति में प्राधिकार का निहितार्थ क्या है?

....

....

....

....

....

....

2) क्या सत्ता और प्रधिकार परस्पर सम्बद्ध हैं? उनका संबंध स्पष्ट करें और दोनों के बीच भेद पर प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

....

14.7 सारांश

सत्ता, इस प्रकार, राजनीतिक-सिद्धांत में मुख्य संकल्पनाओं में से एक है। यह दूसरों पर नियंत्रण करने की योग्यता है और उनसे वह करवाती है जो कोई व्यक्ति चाहता है। यह नियामक व आनुभविक, दोनों होती है; यथा, यह एक तथ्य भी है और साथ ही एक मूल्य भी, जो पालनीय है। यह बहुत व्यापक शब्द है जो संबद्ध विषयों, जैसे प्राधिकार, प्रभाव, नियंत्रण इत्यादि, के साथ पहचाना जाता है। यह राजनीतिक वैधता के मामले में अभिन्न रूप से जुड़ा है। विधिसंगत सत्ता प्राधिकार है। दूसरी ओर, प्रभाव एक अधिक व्यापक शब्द है, जिसमें दण्डात्मक कदम नहीं उठाये जा सकते। सत्ता परिणामतः प्रभाव का एक विशेष उदाहरण है।

MAADHYAM IAS

14.8 शब्दावली

आनुभविक : रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के तथ्यों व गतिविधियों पर आधारित।

उदात्तीकरण : सद्गुणों को धारण कर बदलाव लाना।

यादृच्छिक : दूसरों की राय पर ध्यान दिए बग़ैर उन पर सत्ता प्रयोग।

दमनकारी : बाध्यकारी, अवपीड़क।

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

फ्रैड्रिक, कार्ल जे.: 1958, *ऑथॉरिटि* (कैम्ब्रिज, मैसाश्यूसैट्सःहार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस)

बाल, ए.आर.: 1978, *मॉडर्न पॉलिटिक्स एण्ड गवर्नमैण्ट* (लण्दन : मैकमिलन)

डाल, रॉबर्ट ए.: 1976, *मॉडर्न पॉलिटिकॅल ऐनैलिसिस* (एंजेलवुड क्लिफ़्स, नई जर्सी : प्रेंटिस हाल)

रे एवं भट्‌टाचार्य : 1968, *पॅलिटिकॅल थिअरी : आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स* (कलकत्ताः वर्ल्ड प्रैस)

वर्मा, एस.पी.: 1975, *मॉडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी* (दिल्ली : विकास)

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) राजनीतिक-सिद्धांत में सत्ता एक व्यापक अर्थ है। सत्ता भौतिक, राजनीतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक, नैतिक अथवा बौद्धिक हो सकती है। मोटे तौर पर कहे जाने पर, यह व्यक्ति की दूसरों पर नियंत्रण करने की योग्यता है।

2) सत्ता को अव्यक्त बल कहा जा सकता है, जबकि बल एक सुव्यक्त शक्ति होता है।

बोध प्रश्न 2

1) परम्परागत, युक्तिसंगत-विधिसंगत, और करिश्माई।

2) उदारवादी दृष्टिकोण राज्य को पहले से ही एक ऐसी संस्था मानकर चलता है, जो जनता के सभी वर्गों की सेवा करती है। यह सभी नागरिकों को समानता की भी गारण्टी देता है; कानून में, वोट देने के अधिकारों में। यह राज्य को एक समदर्शी संस्था मानता है। राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य के ऐतिहासिक क्रमविकास में विश्वास रखता है, जो कि इसी समाज की उपज होता है जिसमें वह अस्तित्व रखता है। यह शासकों के वर्ग लक्षणों को दर्शाता है। यह समाज के वर्ग-विभाजन में भी विश्वास रखता है। उनके अनुसार राज्य विवादों का कोई निष्पक्ष विवाचक (पंच) नहीं है, क्योंकि वह शासक वर्ग का पक्षधर होता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) प्राधिकार किसी काम को करने का अधिकार है। अधिकार के दो अर्थ हैं :

   i) कार्यवाही का अधिकार, और

   ii) प्रापण का अधिकार।

2) सत्ता और प्राधिकार दो भिन्न, परन्तु सम्बद्ध अस्तित्वों के नाम हैं जिनमें से एक न एक पर किसी न किसी तरह से व्यक्ति निर्भर करता है। जब किसी को कानूनी सत्ता सौंपने की बात करते हैं, तो ''सत्ता'' को अक्सर ''प्राधिकार'' का अर्थ लगाने के लिए प्रयोग किया जाता है।

इकाई 15 वैधता

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.1.1 सार्वजनिक एवं राजनीतिक प्राधिकार की प्रकृति का संदर्भ

15.1.2 प्राधिकार वैध सत्ता है

15.1.3 प्राधिकार और वैधता, दोनों व्याख्यात्मक एवं नियामक

15.1.4 राजनीतिक दायित्व की समस्या

15.2 एक ऐतिहासिक समझ की ओर

15.2.1 राजनीतिक प्राधिकार की दैवी अवधारणा

15.2.2 17वीं सदी : दैवी अवधारणा को चुनौतियाँ

15.2.3 सामाजिक संविदा सिद्धांत

15.2.4 मौंतस्क्यु के वैधता विषयक वैकल्पिक दृष्टिकोण

15.2.5 रूसो : मौंतस्क्यु से आगे प्रयास

15.2.6 कार्ल मार्क्स के विचार

15.3 मैक्स वैबर और प्राधिकार-व्यवस्था संबंधी उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या

15.3.1 वैबर और उनका वैधता में विश्वास

15.3.2 वैबर के आदर्श निदर्श (Types)

15.3.3 डैविड बीथम द्वारा मैक्स वैबर की आलोचना

15.4 हैबरमास और वैधीकरण संकट

15.4.1 संकट प्रवृत्तियाँ

15.4.2 संकट के दौरान राज्यीय कार्रवाई

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.0 उद्देश्य

प्राधिकार और वैधता संबंधी धारणाएँ राज्य, राजनीति और सभ्य समाज के ज्ञान से अभिन्न हैं। हमें मनस्थ कर लेना चाहिए कि प्राधिकार और वैधता उस रीति को दर्शाते हैं, जिसमें राजनीतिक समुदाय संगठित है। सभी मानव संगठन एक नियम-शृंखला पर आधारित है, प्राधिकार और वैधता यह इंगित करते हैं कि समुदाय के सदस्यों द्वारा ये नियम कैसे और क्यों स्वीकार किए जाते हैं - क्या वे आज्ञापालन योग्य हैं और एक बाध्यकारी लक्षण रखते हैं? आगे के भागों में हम उस रीति का पता लगाएँगे, जिसमें ये अवधारणाएँ राजनीतिक सोच के विभिन्न सूत्रों में समझी जाती हैं और किस प्रकार ये आधुनिक राज्य और समाज को समझने हेतु साधन के रूप में काम आती हैं। भागों के बाद प्रश्न दिए गए हैं, जो आपको अपनी प्रगति जाँचने में मदद करेंगे। अतिरिक्त पाठ्य-सामग्री की एक सूची पाठांत में दी गई है।

15.1 प्रस्तावना

प्राधिकार और वैधता राजनीतिक विश्लेषण में सर्वाधिक मौलिक और स्थायी मुद्दों में से एक रहे हैं। राजनीति-दार्शनिकों, राजनीति-वैज्ञानिकों व समाजशास्त्रियों ने एक लम्बे समय से स्वयं को जन-प्राधिकार और सरकार को समझने हेतु उपयोगी साधन स्वरूप इन अवधारणाओं की छान-बीन में लगा रखे हैं। इन अवधारणाओं को, तथापि, इस रूप में देखा जाना चाहिए कि वे गत कुछ शताब्दियों में ही विकसित हुई हैं, विशिष्ट ऐतिहासिक अटकलबाजियों के बीच गठित और पुनर्गठित हुई हैं। ये, इस प्रकार, उन विभिन्न सूत्रों को प्रकट करने के रूप में भी देखी जा सकती हैं, जिन्होंने अपने क्रम-विकास में ऐतिहासिक रूप से योगदान दिया है।

15.1.1 सार्वजनिक एवं राजनीतिक प्राधिकार की प्रकृति का संदर्भ

इससे पहले कि हम इन विभिन्न सूत्रों की जाँच करें, हमें मन में बैठा लेना चाहिए कि प्राधिकार और वैधता दोनों ही सार्वजनिक और राजनीतिक प्राधिकार की प्रकृति को इंगित करते हैं। सभी मानव समाज, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, नियमों पर चलते हैं, जो उन्हें सम्बद्धता (cohesion) और एक विशिष्ट पहचान प्रदान करते हैं। इन नियमों को प्रामाणिक और विधिसंगत माना जाता है, यदि वे लोगों द्वारा स्वेच्छापूर्वक बाध्यकारी मान लिए जाते हैं। जबकि नियमों का पालन सरकारों द्वारा भय और अवपीड़न के माध्यम से करवाया जा सकता है, अनुपालन का बलात् निष्कर्षण वैध नहीं माना जा सकता है (देखें 'इण्ट्रोडक्शन', *लैजिटिमेसी / लैजिटिमाइट*, सं. ऐथेनैसिओ मूलाकी, पृ. 4)।

15.1.2 प्राधिकार वैध सत्ता है

चलिए, सबसे पहले सरल शब्दों में यह समझने का प्रयास करते हैं कि इन अवधारणाओं का मतलब क्या है। साधारणतया प्राधिकार को सत्ता का एक रूप समझा जाता है। जबकि सत्ता व्यक्ति के वातावरण को प्रभावित और परिवर्तित करने की क्षमता अथवा योग्यता को इंगित करती है, प्राधिकार परिवर्तन लाने की क्षमता के साथ-साथ परिवर्तन करने के अधिकार का भी संकेत करता है। प्राधिकार को, इसी कारण, सत्ता के एक संशोधित रूप में देखा जा सकता है, जहाँ सत्ता को न्यायसम्मत माना जाता है। इसका अर्थ है कि प्राधिकार किसी भी प्रकार के दमन अथवा छल-कपट पर निर्भर नहीं करता, जबकि इसकी बजाय, आज्ञापालन और अनुपालन के कर्त्तव्य का आह्वान करता है। स्वैच्छिक अथवा सहर्ष आज्ञापालन, जो परिवर्तन लाने के लिए अनिवार्य है, करवाने के लिए, प्राधिकार को सही होने के दावे प्रस्तुत करने पड़ते हैं। वैधता प्राधिकार को सत्यता और औचित्य के गुण प्रदान करती है, जिसके द्वारा आज्ञापालन और अनुपालन का कर्त्तव्य के रूप में, न दमन और बल-प्रयोग के परिणामस्वरूप, आह्वान किया जाता है। इस प्रकार, प्राधिकार जब वैधता से जुड़ा हो तो उसे ''वैध सत्ता'' के रूप में लिया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

15.1.3 प्राधिकार और वैधताः दोनों व्याख्यात्मक एवं नियामक

प्राधिकार और वैधता के अर्थों की इस व्यापक व्याख्या से हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ये अवधारणाएँ व्याख्यात्मक और नियामक दोनों ही श्रेणियों के रूप में प्रयोग की जा सकती हैं। व्याख्यात्मक श्रेणियों के रूप में, वे राजनीतिक संगठन व शासन के स्वभाव का चित्रण अथवा वर्णन करती हैं। नियामक श्रेणियों के रूप में, वे एक 'शासनाधिकार' हेतु दावों का मूल्यांकन करने के लिए नैतिक मानक प्रदान करती हैं। इसी के साथ ही, हमें याद रखना चाहिए कि इन दो धारणाओं का कोई नियत अर्थ नहीं है। इतिवृत्तात्मक रूप से उनके अर्थ बदलते और विस्तृत होते रहे हैं। किसी भी प्रदत्त ऐतिहासिक अवसर पर, इसके

अतिरिक्त, ये अवधारणाएँ प्रतिस्पर्धात्मक तरीकों से व्याख्यायित और परिभाषित होती रही हैं। इस प्रकार, जबकि उदारवादी जन वैधता को एक सकारात्मक संकेतार्थ रखने वाले के रूप में देखते हैं, मार्क्सवादी जन वैधता को किसी भी वैध नैतिक दावे अथवा 'शासनाधिकार' प्रदान करने के रूप में देखने की ओर प्रवृत्त रहते हैं। उदारवादी व समाजवादी जन प्राधिकार को युक्तिसंगत, सोद्देश्य व मर्यादित के रूप में देखते हैं; एक ऐसा दृष्टिकोण जो विधिसंगत-युक्तिसंगत प्राधिकार एवं सार्वजनिक उत्तरप्रदता हेतु प्राथमिकता में प्रकट हुआ। रूढ़िवादी जन, तुलनात्मक रूप से, प्राधिकार को नैसर्गिक आवश्यकता से उपजा मानते हैं, जो अनुभवों, सामाजिक स्थिति एवं बौद्धिक क्षमता के असमान वितरण के आधार पर 'ऊपर से' प्रयोग किया जाता है। प्राधिकार हेतु औचित्य प्रतिपादन इस दावे के इर्द-गिर्द केन्द्रित है कि व्यवस्था कायम रखने के लिए यह आवश्यक है, और 'प्राकृत अवस्था', एक राजनीतिक शासन-रहित समाज, की क्रूरता व अन्याय से बचने का यही एकमात्र तरीका है (देखें एन्ड्रयू हेवुड, *पॉलिटिक्स*, पृष्ठ 193)।

15.1.4 राजनीतिक दायित्व की समस्या

वैधता, अर्थात् किसी शासन-पद्धति अथवा शासन-व्यवस्था का औचित्य, का प्रश्न अन्ततोगत्वा राजनीतिक बहसों की एक सबसे बुनियादी, राजनीतिक दायित्व की समस्या से जुड़ा है। यह बात निम्नलिखित प्रश्न उठाती है : नागरिक गण सरकार के प्राधिकार को स्वीकार करने हेतु स्वयं को क्यों बाध्य महसूस करते हैं, और क्या राज्य का आदर करना और उसके कानूनों को मानना उनका कर्त्तव्य है? आधुनिक राजनीतिक बहस में, तथापि, वैधता को भी राजनीतिक व्यवहारों एवं विश्वासों की नज़र से देखा जाता है। दूसरे शब्दों में, यह केवल एक गूढ़ अर्थ में लोगों को राज्य का आज्ञापालन क्यों करना चाहिए संबंधी प्रश्न की ही व्याख्या नहीं करती, वरन् इस प्रश्न का भी उत्तर देती है कि उन्हें एक राज्य-विशेष अथवा शासन-व्यवस्था का ही आज्ञापालन क्यों करना चाहिए, दूसरे का क्यों नहीं। दूसरे शब्दों में, यह उन दशाओं अथवा प्रक्रियाओं संबंधी समस्या की छान-बीन करता है, जो लोगों को आज्ञापालन हेतु, अथवा, दूसरे शब्दों में, प्राधिकार को न्यायसंगत मानने हेतु प्रेरित करती हैं। ये मामले हमारा ध्यान अवधारणा के आनुभविक अथवा व्यावहारिक पहलुओं की ओर आकृष्ट करते हैं, यथा, ऐसे वैध एवं संवैधानिक प्रसंग जिनमें सत्ता का प्रयोग किया जाता है (देखें एथेनैसिओ मूलाकी, *लैजिटिमेसि / लैजिटिमाइट*, 1986, पृ. 60 में पाशाली कित्रोमिल्दे, 'इन्लाइटनमन्ट एण्ड लैजिटिमेसि')।

आगामी भागों में हम उस तरीके पर नज़र डालेंगे, जिससे प्राधिकार एवं वैधता विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में गिने जाते हैं, और उन विभिन्न अर्थों पर भी जो उन्हें उनके ऐतिहासिक क्रम-विकास की प्रक्रिया में प्रदान किए गए हैं। हम आगे समाजशास्त्री मैक्स वैबर और राजनीतिक-दार्शनिक जुर्जे हैबरमास द्वारा किए गए दो प्रमुख और परस्पर-विरोधी प्रतिपादनों का भी अध्ययन करेंगे। इन दोनों के बीच अन्तर को समझने के लिए हमें वैधता और प्राधिकार के बीच संबंध को याद करना पड़ेगा; यथा वैधता शक्ति को प्राधिकार में बदल देती है। राजनीति-दार्शनिक वैधता को एक युक्तिसंगत सिद्धांत के रूप में लेते हैं, उन आधारों के द्योतक के रूप में जिन पर सरकारें नागरिकों से आज्ञापालन की अपेक्षा रखती हैं। वैधता हेतु इन दावों का अन्वेषण वास्तविक तथ्य अथवा आज्ञापालन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। समाजशास्त्री, हालाँकि, वैधता को उस तरीके पर ध्यान आकृष्ट करते हुए समाजशास्त्रीय रूप में देखते हैं, जिसमें नियमों का अनुपालन प्रकट होता है। चलिए, देखते हैं कि ये विचार किस प्रकार इतिहास में विकसित हुए और वे लक्षण भी जो उन्होंने विशिष्ट ऐतिहासिक अटकलबाज़ियों में धारण किए।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) प्राधिकार और वैधता के बीच सम्बन्ध स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

2) राजनीतिक दायित्व क्या है?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.2 एक ऐतिहासिक समझ की ओर

15.2.1 राजनीतिक प्राधिकार की दैवी अवधारणा

वैधता का विचार आधुनिक युग की शुरुआत होने तक राजनीतिक प्राधिकार के बोध में हाशिए पर ही रहा। सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व, व्यापक रूप से यह माना जाता था कि राजनीतिक प्राधिकार दैवी रूप से विहित और प्रकृति-प्रदत्त है, और इसी कारण, तर्कसंगत है। वे लोग जो यह दृष्टिकोण रखते थे, लोगों के एक समूह का दूसरे पर अविवाद्य प्रभुत्व मानते थे। यह प्रभुत्व इस विश्वास से कायम रहता था कि ये नियम ईश्वरेच्छा और प्राधिकार का प्रतिनिधित्व करते हैं, और सिर्फ़ वही जानते हैं कि लोगों के लिए क्या अच्छा है, और इस अच्छाई के अनुसरण हेतु उचित तरीके क्या हैं। सत्रहवीं शताब्दी से, तथापि, वैधता जो अब तक ईश्वरीय अधिकार की धारणा में ही डूबी हुई थी, ने आकार लेना और उन गुणों को विकसित करना शुरू कर दिया जिनको आज हम इससे जोड़ते हैं।

15.2.2 17वीं सदी : दैवी अवधारणा को चुनौतियाँ

सत्रहवीं शती के विचारकों, जैसे कि थॉमस हॉब्स (1588-1679) ने इस दृष्टिकोण का पक्ष लेते हुए शासन हेतु राजाओं के ईश्वरीय अधिकार की धारणा को चुनौती दी कि सभी मनुष्य, स्वभावतः और ईश्वर के समक्ष, स्वतंत्र एवं समान हैं। चूँकि सभी मनुष्य स्वतंत्र थे, कोई भी व्यक्ति, नैसर्गिक रूप से अथवा ईश्वरीय रूप से विहित, सभी मनुष्यों पर शासन करने का

प्राधिकार नहीं रख सकता था। सभी मनुष्यों की प्राकृतिक स्वतंत्रता अथवा समानता की धारणा का प्रयोग इंग्लैण्ड और फ्रांस में निरंकुश राजतंत्रों द्वारा शासन करने के दावों की सत्यता पर संदेह प्रकट करने और उनको उखाड़ फेंकने के लिए किया गया।

15.2.3 सामाजिक संविदा सिद्धांत

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में विकसित हुए संविदा सिद्धांतों में नैसर्गिक समानता संबंधी अवधारणाएँ इस प्रकार सम्मिलित की गईं कि वे विधिसंगत शासन को एक सैद्धांतिक और तार्किक आधार प्रदान करें। हॉब्स और जॉन लॉक जैसे संविदा सिद्धांतियों ने इस आधार-वाक्य से शुरुआत की कि सभी मनुष्य समान हैं, अपने आप पर अधिकार रखते हैं, और इसी कारण, स्वयं को प्रभावित करने वाले निर्णयों को लेने की क्षमता के साथ-साथ उसका अधिकार भी रखते हैं। ये स्वतंत्र व समान मनुष्य ऐसी उपयुक्त परिस्थितियों को जन्म देने के लिए, जिनमें वे आर्थिक स्वतंत्रता का लाभ उठा सकें, अपनी ओर से स्वयं पर शासन करने के लिए प्राधिकृत करते हुए उन्हें कुछ स्व-निर्धारण अधिकारों को हस्तांतरित करने संबंधी निर्णय लेते हैं। जब यह हस्तांतरण बड़े स्तर पर होता है, यथा, एक बड़ी संख्या में लोग अपना नैसर्गिक अधिकार स्व-शासन को सौंप देते हैं, तो राजनीतिक प्राधिकार जन्म लेता है। यह राजनीतिक प्राधिकार अथवा शासन, जो कुछ अधिकारों व स्वतंत्रताओं के परित्याग के परिणामस्वरूप सामने आता है, वैधताधारक कहा जाता है। शासन करने हेतु सरकार की वैध शक्ति शासितों की सम्मति द्वारा प्रदर्शित होती है, जो समय-समय पर व्यक्त और नवीकृत की जाती रहती है।

हम इस प्रकार देख सकते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी से वैधता-संबंधी धारणा विद्यमान निरंकुश शासन-तंत्रों के प्राधिकार की आलोचना अथवा उसको चुनौती के रूप में उदारवादी व गणतांत्रिक परम्पराओं में विकसित हुई। अंग्रेज़ी (1688) और फ्रांसीसी (1789) दोनों ही क्रांतियों में वैधता के विषय को वस्तुतः इस रूप में देखा जा सकता है कि यह उस सरकार के स्वरूप से संबंधित उन प्रश्नों के लिए बुनियादी है, जिनका तर्कसंगत और न्यायसंगत रूप से पालन किया जा सकता है। उदारवाद में प्राधिकार की वैधता को एक व्यक्तिवादी सामाजिक संविदा और शासितों की सम्मति पर प्रासंगिक बनाया गया।

MAADHYAM IAS

15.2.4 मौंतस्क्यु के वैधता विषयक वैकल्पिक दृष्टिकोण

संविदावादियों द्वारा समर्थित वैधता-संबंधी व्यक्तिवादी ढाँचे को ठुकराते हुए, मौंतस्क्यु (1689-1775) ने अपनी पुस्तक *द स्प्रिट ऑफ़ द लॉज़* (1748) में वैधता के वैकल्पिक रूपों को प्रतिसंतुलित (counterpoise) किया। इस वैकल्पिक रूप का अभिप्राय प्राधिकार प्रयोग को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर व्यक्तिवादी स्वतंत्रेच्छा के मनमानेपन को कम करना था। मौंतस्क्यु ने अपने ढाँचें में समाज-सुधार, संविधानवाद और मूल नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा संबंधी तत्त्वों को शामिल कर राज्य हेतु एक सामाजिक रूप से दायित्वपूर्ण भूमिका रखी। इन सबको वैध प्राधिकार में योगदान करने अथवा उसके सारतत्त्व बनने के रूप में देखा गया।

15.2.5 रूसो : मौंतस्क्यु से आगे प्रयास

ज़ौं - ज़ाक रूसो (1712-1778) ने उदारवादी-व्यक्तिवादी ढाँचे में परिकल्पित वैधता को गणतंत्रीय चुनौती का चित्रण किया। *सैकण्ड डिस्कोर्स* में मिथ्या संविदा संबंधी अपने सिद्धांत में रूसो ने वहीं से काम शुरू किया जहाँ मौंतस्क्यु ने छोड़ा था। समाज और राजनीति के एक उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत की सीमाओं की ओर इशारा करते हुए, रूसो ने मौंतस्क्यु की ही भाँति अपने निरूपण में सामाजिक विषयों के अधिक व्यापक क्षेत्र

को समेटने का प्रयास किया और इस प्रकार उसे शामिल किया। मौंतस्क्यु के निरूपण से आगे निकलते हुए हालाँकि रूसो ने इस सामाजिक दायरे में समाज के उन वर्गों की आशाओं को शामिल करने का प्रयास किया था जिनको उदारवादी ढाँचे में कोई अभिव्यक्ति नहीं मिली थी। रूसो ने महसूस किया कि सामाजिक संविदा एक धोखा है, जिसके माध्यम से धनी लोग ग़रीबों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए मज़बूर करते हैं। इसीलिए, रूसो के अनुसार, वैधता सिर्फ़ राजनीतिक प्राधिकार के लोकतंत्रीकरण से प्राप्त नहीं की जा सकती। लोकतंत्रीकरण लोगों की सक्रिय भागीदारी, और उनकी सामाजिक व राजनीतिक आवश्यकताओं की पहचान के माध्यम से किया जाना था। रूसो की योजना में सरकार की वैधता और सत्ता-प्रयोग नागरिकों की सक्रिय भागीदारी पर टिके थे। वैधता हेतु इस वैकल्पिक विचार का महत्त्व संबंधित व्यक्ति, सार्वजनिक उत्तरदायित्व और सामूहिक लक्ष्यों में निहित है, जो सभी एक गणतंत्रात्मक राज्य की उत्तरजीविता हेतु आवश्यकता के रूप में देखे गए (पाशाली कित्रोमिल्दे, 1986, पृ. 62-64)।

15.2.6 कार्ल मार्क्स के विचार

कार्ल मार्क्स (1818-1883), तथापि, सक्रिय भागीदारीपूर्ण नागरिकता और राजनीतिक प्राधिकार के बीच संबंध के विषय में रूसो के आशावाद से सहमत नहीं हैं। उनके के अनुसार, आधुनिक राज्य मध्यवर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था और इसीलिए, जनता की आम इच्छा का प्रतिनिधि नहीं था। जनता ज़्यादा से ज़्यादा नागरिकों के रूप में स्वयं की सिर्फ़ 'कल्पना' ही कर सकती थी, क्योंकि 'राजनीति' में उनकी भागीदारी एक वर्ग-विभेदित समाज में उनकी अधीनस्थ स्थिति पर निर्भर थी और उसी से बाधित भी थी। मार्क्स ने महसूस किया कि आम इच्छा के ढाँचे में व्यक्ति वास्तविक मुद्दों से घबराया हुआ था, यथा समाज की बुराइयाँ और पूँजीवाद के असमतावादी प्राधार, जिन्होंने उन्हें जन्म दिया था। इस प्रकार, एक पूँजीवाद राज्य कभी भी विधिसंगत और 'लोकेच्छा स्थल' नहीं बन सका; क्योंकि वह जन्मजात शोषक होता था। मार्क्स की रूपरेखा में, इसीलिए, एक पूँजीवादी समाज में राजनीतिक प्राधिकार की वैधता एक मिथक थी। यह अवधारणा, जैसा कि हमने देखा, इस आधार-वाक्य पर टिकी थी कि पूँजीवादी राज्य जन्मजात शोषणकारी थे और इसीलिए आम इच्छा को कभी व्यक्त नहीं कर सकते थे। वैधता मार्क्स के लिए यहाँ तक अप्रासंगिक थी कि वह एक ऐसी भावी मानवीय दशा की प्रत्याशा करते थे, जिसमें लोग स्वयं अपनी नियति पर काबू कर सकें और स्वयं को बनाए रखने के लिए 'घबड़ाहटों' पर निर्भर न हों, (देखें विलियम कॉनॉली, *लैजिटिमेसी एण्ड द स्टेट*, पृ. 7-8)।

मार्क्स के अनुसार, इस प्रकार उक्त रद्द विषय वैधता नहीं था। उन्होंने एक आर्थिक व्यवस्था के रूप में पूँजीवादी समाजों पर ध्यान आकृष्ट किया, जो उत्पादन-साधनों के स्वामियों एवं वेतनभोगी कामगार वर्ग के बीच विरोधाभासी आर्थिक हितों पर आधारित था। मार्क्सवादी विश्लेषण में, समस्या उन दशाओं का विश्लेषण करने संबंधी थी जिनमें रहकर कामगार वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था को बदल डालने के लिए स्वयं को एक सामूहिक बल में गठित करे। मैक्स वैबर (1864-1920) के निरूपण को एक प्रतिसंदर्श परिप्रेक्ष्य (counter-perspective) के रूप में देखा जा सकता है। अंतिम छोर से शुरू करने पर, वैबर ने स्वयं को प्राधिकार की प्रकृति और आज्ञापालन सुनिश्चित करने संबंधी समस्याओं के विश्लेषण से जोड़ा। पूँजीवादी राज्य के अनुसार, प्राधिकार और आज्ञापालन सुनिश्चित करने के साधनों से यह संबंध ही है जो आधुनिक विश्व में प्राधिकार व्यवस्थाओं पर वैबर के सैद्धांतिक निरूपण में प्रकट होता है (देखें जेम्स पैत्रा, *क्लास पॉलिटिक्स, स्टेट पॉवर एण्ड लैजिटिमेसी*, पृ. 1955)।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) किन परिस्थितियोंवश वैधता की संकल्पना राजनीतिक प्राधिकार को समझने हेतु महत्त्वपूर्ण हो गई?

....

....

....

....

....

....

....

2) मौंतस्क्यु और रूसो ने वैधता की उदारवादी-व्यक्तिवादी व्याख्या को थोड़ा बदल दिया। कैसे?

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) वैधता विषयक उदारवादी-व्यक्तिवादी विचार मार्क्सवादी विचार से किस प्रकार भिन्न है?

....

....

....

....

....

....

....

15.3 मैक्स वैबर और प्राधिकार-व्यवस्था संबंधी उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या

प्राधिकार और वैधता संबंधी हमारी चर्चा में अब तक अवधारणाओं के ऐतिहासिक क्रम-विकास को समझने पर ध्यान केन्द्रित किया गया। हमने खासतौर पर इन विषयों पर गहरी रुचि दर्शायी - प्राधिकार का अन्वेषण, वे आधार जिन पर वैधता का दावा किया जाता है, और इस प्रकार के स्वीकृति के मुकाबले परीक्षित दावे की प्रासंगिकता; इनके अलावा, हॉब्स, मौंतस्क्यि, रूसो और मार्क्स जैसे राजनीति-दार्शनिक। मैक्स वैबर जैसे समाजशास्त्रियों ने, हालाँकि स्वयं को सत्ता के लिए किए गए दावों से नहीं जोड़ा। उन्होंने स्वयं को इन व्यावहारिक प्रश्नों से जोड़ा - वह तरीका जिसमें वैधता प्रकट होती हो, सत्ता के पदों पर आसीन होने के लिए उसकी प्रभावशीलता, वे परिस्थितियाँ जिनमें वैधता का अनुभव अथवा कटाव किया जाता है, और उसके असफल रहने पर क्या होता है। एक राजनीति-समाजशास्त्र संबंधी विषय के रूप में वैधता, इस प्रकार, कई मामलों को देखती है, जैसे - वे सामाजिक अभिकरण कौन से हैं जिनके माध्यम से वैधता प्रभावी बन जाती है? यथा, एक राजनीतिक प्राधिकरण की वैधता लोग कैसे स्वीकार करते हैं? इस स्वीकृति को वे कैसे व्यक्त करते हैं, और वे माध्यम अथवा संसाधन जिनके मार्फ़त राजनीतिक शासन-प्रणालियाँ वैधता जुटाती हैं (डैविड बीथम, *ब्लैकवैल कॅम्पैनिअन टु पॅलिटिकॅल सोशिओलॅजि,* पृ. 107-108 में 'पॅलिटिकॅल लैजिटिमेसी')।

15.3.1 वैबर और उनका वैधता में विश्वास

वैधतासंबंधी वैबर का अध्ययन राजनीतिक शासन की जटिलताओं को समझने के लिए उपयोगी समझा जाता है। वैबर ने वैधता को सत्ता-संबंधों के एक योजनाबद्ध अध्ययन हेतु बुनियादी माना। वैबर ने कहा, 'रीति-रिवाज़, व्यक्तिगत लाभ, भाईचारे के विशुद्ध प्रभावोत्पादक अथवा अभीष्ट प्रयोजन', उसके कायम रहने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है। प्रभुत्व स्थापन की किसी प्रदत्त व्यवस्था को कायम रखने के लिए आमतौर पर एक और तत्त्व होता है, यथा 'वैधता में विश्वास'। दूसरे शब्दों में, जहाँ प्राधिकार की वैधता को एक आम मान्यता मिली होती है, उसके आदेश मानना बाध्यता होती है। परिणामस्वरूप, अवपीड़न का कोई व्यापक प्रयोग नहीं होगा, अथवा उच्छेदन अथवा अवज्ञा का कोई निरन्तर भय नहीं होगा [मैक्स वैबर, *इकॉन्मी एवं सोसाइटि,* 1978 (1922), पृ. 213]। प्रभुत्व स्थापन संबंधी व्यवस्थाओं के वैबर के अध्ययन ने उन्हें इस निष्कर्ष की ओर प्रवृत्त किया कि वैधता संबंधी अनेक धारणाएँ अथवा सिद्धांत हैं। अभीष्ट वैधता के विशिष्ट प्रकार अथवा सिद्धांत पर आधारित, इस निष्कर्षित आज्ञापालन में मतभेद थे जिनकी गारण्टी देने के लिए एक प्रकार का प्रशासनिक तंत्र विकसित हुआ, और एक प्रकार का प्राधिकार भी, जिसने इसका प्रयोग किया।

15.3.2 वैबर के आदर्श निदर्श (Types)

वैबर ने प्रत्येक द्वारा अभीष्ट वैधता हेतु दावों के प्रकार पर आधारित, प्रभुत्व-स्थापन के विभिन्न नमूनों अथवा 'व्यवस्थाओं' की पहचान की (देखें डैविड बीथम, *पॅलिटिकॅल लैजिटिमेसी*, पृ. 109)। तदनुसार, वैबर ने तीन 'आदर्श नमूनों' अथवा 'संकल्पनात्मक मॉडलों' का निर्माण किया, जिनसे उसे उम्मीद थी कि राजनीतिक शासन की उच्च रूप से जटिल प्रकृति को अर्थ प्रदान करने में मदद करेंगे, यथा परम्परागत प्राधिकार, करिश्माई, और विधिसंगत-युक्तिसंगत प्राधिकार को अर्थ प्रदान करने में। इन मॉडलों में से प्रत्येक राजनीतिक वैधता के एक विशिष्ट स्रोत का प्रतिनिधित्व करता था और इनसे सम्बन्धित ऐसे विभिन्न कारणों का भी, जैसे - लोग एक शासन-पद्धति विशेष का अनुपालन क्यों करते थे?

प्रथम मॉडल, यथा परम्परागत प्राधिकार, में लम्बे समय से चले आ रहे रीति-रिवाज़ और परम्पराएँ राजनीतिक वैधता के स्रोत होते थे। इस वैधता की पवित्रता इस तथ्य से व्युत्पन्न थी कि प्राधिकार की ये पद्धतियाँ पहले की पीढ़ियों द्वारा स्वीकृत और आज्ञापालित रही थीं। प्राधिकार-संबंधी परम्परागत पद्धतियों के उदाहरण हैं - पितृसत्ता (परिवार पर पिता का शासन) अथवा वृद्ध-पुरुष शासन ('बड़ों' का शासन)। परम्परागत प्राधिकार की ऐसी व्यवस्थाओं को उन समाजों में आज भी देखा जा सकता है, जहाँ सत्ता और विशेषाधिकार की पैतृक और वंशगत पद्धतियाँ अस्तित्व में हैं; यथा साउदी अरब, मोरक्को और कुवैत में, और उसके संवैधानिक रूपों में, जैसे कि इंग्लैण्ड, नीदरलैण्ड्स और स्पेन में।

दूसरा रूप, यथा, करिश्माई प्राधिकार ने वैधता किसी व्यक्ति-विशेष के चमत्कारिक अथवा आकर्षक व्यक्तित्व से व्युत्पन्न की। इस आकर्षण का आधार व्यक्ति-विशेष की जाति, वर्ग अथवा अन्य आरोप्य गुणों में निहित नहीं था। यह अनन्य रूप से उस व्यक्ति के निजी आकर्षण पर निर्भर होता था, जो लोगों को आज्ञापालन हेतु लुभाते हुए, उसे एक नेता/नेत्री के रूप में स्वीकार कर देता है। करिश्माई प्राधिकार के उदाहरण हैं — मुसोलिनी, हिटलर, और नैपोलियन, जिनका नेतृत्व और प्रसिद्धी, जॉन एफ. कैनेडी जैसे अन्य प्रसिद्ध नेताओं से भिन्न, उनके राजनीतिक पद से व्युत्पन्न प्राधिकार पर कम, और उनके व्यक्तिगत आकर्षण पर अधिक आधारित थे।

वैबर की तीसरे प्रकार की वैधता, विधिसंगत-युक्तिसंगत, प्राधिकार को यथार्थ और विधिवत् परिभाषित नियम-समूह से जोड़ती है। प्राधिकार का विधिसंगत-युक्तिसंगत रूप, वैबर के अनुसार, अधिकांश आधुनिक राज्यों में पाए जाने वाले प्राधिकार का ही प्रतीक रूप है। इस प्रकार की प्राधिकार व्यवस्थाओं में, करिश्माई और पारम्परिक रूपों से भिन्न, राजनीतिक सत्ता औपचारिक, विधिसम्मत, संवैधानिक नियमों से व्युत्पन्न होती है, उसी पर निर्भर करती है, और परिसीमित होती है। ये नियम ही हैं जो सत्ता पदासीन की प्रकृति और कार्यक्षेत्र को निर्धारित करते हैं (एण्ड्रयू हेवुड, *पॉलिटिक्स,* पृ. 195)।

MAADHYAM IAS

15.3.3 डैविड बीथम द्वारा मैक्स वैबर की आलोचना

आधुनिक युग में राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं शासन-पद्धतियों की वैधता को समझने में प्राधिकार पद्धतियों संबंधी वैबर के वर्गीकरण को एक महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है, खासकर उस तरीके से जिसमें प्राधिकार के आधुनिक रूप परम्परागत रूपों से भिन्न हैं। डैविड बीथम जैसे राजनीति-वैज्ञानिक, हालाँकि बताते हैं कि वैबर की तीनों तर्कसंगत सिद्ध होती धारणाएँ, जबकि वे हमें यह समझने में मदद करती हैं कि प्राधिकार की पूर्वाधुनिक के मुकाबले आधुनिक पद्धतियों के बारे में क्या ख़ास है, उन विभिन्न शासन-पद्धतियों के चरित्र-चित्रण हेतु अपर्याप्त हैं जो बीसवीं शती के दौरान अस्तित्व में थीं (देखें डैविड बीथम, *पॅलिटिकॅल लैजिटिमेसी,* पृ. 110)।

वैबर, जो शासन-पद्धतियों को तीन प्रतीकात्मक व्याख्याओं में परखते और रखते हैं, अथवा विकल्पतः, शासन-पद्धतियों को दो नमूनों के मिश्रण के रूप में देखते हैं, से भिन्न बीथम आज्ञापालन की प्रक्रियाओं एवं आधारों की समझ हेतु एक विस्तृत प्राधार को ज्यादा पसंद करते हैं। उनके प्राधार में राजनीतिक प्राधिकार को समझने के लिए तीन स्तर अथवा मानक दिए गए हैं। बीथम कहते हैं, राजनीतिक प्राधिकार इस सीमा तक वैध हैं कि : (1) यह स्थापित नियमों के अनुसार अभीष्ट और व्यवहृत होता है (वैधता); (2) ये नियम सामाजिक रूप से स्वीकृत धारणाओं के अनुसार दो विषयों में सही ठहराए जाते हैं - (i) प्राधिकार का वैध स्रोत, और (ii) सरकार के उचित साधन व मानक; और (3) प्राधिकार की स्थिति स्पष्ट सहमति अथवा समुचित अधीनस्थों की अभिपुष्टि द्वारा, और दूसरे विधिसंगत प्राधिकारों से मान्यता द्वारा समर्थित होती है (वैधीकरण)।

ये तीन स्तर वैकल्पिक रूप अथवा मॉडल नहीं हैं, परन्तु तीनों मिलकर प्राधिकार के आज्ञापालन अथवा सहयोग हेतु लोगों को नैतिक आधार प्रदान करते हैं। इस प्रकार के प्राधार, बीथम को लगता है, इन कारणों का भी ज्ञान कराते हैं कि सत्ता में वैधता का अभाव क्यों हो सकता है। यदि कहीं नियमों का उल्लंघन होता हो, तो 'अवैधता' शब्द का प्रयोग होता है; यदि नियम सामाजिक विश्वासों द्वारा दोषपूर्वक समर्थित हैं, अथवा गहरे विवादित हैं तो हम कहते हैं कि यहाँ 'वैधता अभाव' है और यदि सहमति अथवा मान्यता को सार्वजनिक रूप से वापस ले लिया जाता है अथवा स्थगित कर दिया जाता है, हम 'वैधता-त्याग' की बात करते हैं।

बीथम को लगता है कि इस प्रकार का प्राधार वैबर के विश्लेषण की एक और अपर्याप्तता को पूरा करता है। यह हमें लोग विरोध क्यों करते हैं यह समझने में, अथवा उन परिस्थितियों को समझने में मदद करता है जिनमें जन विरोध और उपद्रव द्वारा राजनीतिक प्राधिकार को चुनौतियों के माध्यम से राजनीतिक परिवर्तन होता है। वैधता को एक 'वैधता में विश्वास' से अधिक कुछ नहीं समझना, जैसा कि वैबर ने किया, केवल सत्तासीन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से वैधता निर्धारण पर ध्यान आकृष्ट करता है। बीथम का प्राधार, दूसरी ओर, उन प्रक्रियाओं को उजागर करता है जिनके माध्यम से शासित वर्ग मान्यता और आज्ञापालन प्रदान करता अथवा देने से इंकार करता है।

यह बात आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में वैधता प्रक्रियाओं को समझने में एक और महत्त्वपूर्ण योगदान करता है; यह जुर्जे हैबरमास संबंधी है जो कि हम अगले पाठांश में पढ़ेंगे।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

MAADHYAM IAS

1) मैक्स वैबर प्राधिकार पद्धतियों को किस प्रकार समझते हैं? वैबर के निरूपण में डैविड बीथम क्या अर्थ परिवर्तन करते हैं?

....

....

....

....

....

....

....

15.4 हैबरमास और वैधीकरण संकट

जुर्जे हैबरमास ने वैधता के वैबेरियन अभिगम हेतु एक विकल्प का विस्तृत अध्ययन किया है। यह काम करने के लिए, हालाँकि, हैबरमास ने ऐसा कोई रूढ़िवादी मार्क्सवादी विचार नहीं अपनाया जो वैधता को एक मध्यवर्गी मिथक से अधिक कुछ नहीं समझता हो, एक ऐसी बात जो उन असमानता और शोषण की परिस्थितियों में नहीं हो सकती जो आधुनिक

पूँजीवादी समाजों में विद्यमान थे। हैबरमास ने माना कि आधुनिक पूँजीवादी समाज अथवा उदारवादी लोकतंत्रों के पास जनसाधारण की सहमति और समर्थन प्राप्त करने की एक व्यवस्था अवश्य होती है। उन्होंने, इसीलिए, न सिर्फ़ असमानताओं पर ध्यान आकृष्ट किया, जो पूँजीवादी समाजों में विद्यमान थीं, वरन् उस प्रशासन-तंत्र पर भी ध्यान केन्द्रित किया जिसके माध्यम से वैधता को कायम रखा जाता था, यथा लोकतांत्रिक प्रणाली, दलीय प्रणाली, सामाजिक व कल्याणकारी सुधार, आदि। साथ ही, बहरहाल, हैबरमास ने वैधता की उन मुश्किलों को भी बताया, जो एक ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया में निश्चित रूप से सामने आएँगी जिसने असमान वर्ग सत्ता को जन्म दिया और कायम रखा।

15.4.1 संकट प्रवृत्तियाँ

अपनी पुस्तक *लैजिटिमेशन क्राइसिस* (1973) में, हैबरमास ने पूँजीवादी समाजों में 'संकट प्रवृत्तियों' के रूप में इन मुश्किलों की पहचान की है। ये संकट प्रवृत्तियाँ पूँजीवादी संचयन संबंधी तर्क और लोकतांत्रिक राजनीति द्वारा कम किए गए आम दबाव के बीच एक बुनियादी विवाद के परिणामस्वरूप उभरीं।

लाभ अनुधावन (pursuit of profit) और वर्ग असमानताओं को जन्म देने पर आधारित पूँजीवादी समाजों को शासन हेतु एक आम दावे का वास्ता देकर राजनीतिक स्थिरता बनाए रखनी पड़ती है। इस प्रकार की व्यवस्था में, वैधता उन लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा सुनिश्चित की जाती है जो समाज-कल्याण प्रावधानों, बढ़ी जन सहभागिता और सामाजिक समानता हेतु अतिरिक्त माँगों की ओर प्रवृत्त करती हैं। यह बदले में राज्य पर दबाव डालती हैं, ताकि वह अपने सामाजिक दायित्व विस्तृत कर सके, और कल्याणकारी (अलाभकारी) उपायों पर खर्च बढ़ाये जाने पर दबाव डालते हुए, असमानताओं को दूर करने के लिए राज्य-हस्तक्षेप की माँग भी करती है। ये दबाव कराधान एवं सार्वजनिक व्यय में वृद्धि और लाभ स्तरों पर लगाम लगाकर और उद्यम को निरुत्साहित करके पूँजीवादी संचयन को रोकने की ओर प्रवृत्त करते हैं। आम दबावों को रोकने अथवा आर्थिक पतन का जोखिम लेने पर बाध्य, ऐसे समाज वैधता को कायम रखना उत्तरोत्तर कठिन और प्रायः असंभव पाते हैं।

इस प्रकार, एक पूँजीवादी समाज निरन्तर संकट-प्रवृत्तियों के चंगुल में रहता है, जो उस वैधता के माध्यम से स्वयं को कायम रखने की उसकी योग्यता को परखती हैं, जो वह विभिन्न लोकतांत्रिक संस्थाओं के माध्यम से प्रकाश में ला सकती है। ऐसे वैधीकरण उपायों में निवेश करते समय पूँजीवादी व्यवस्था को यह देखने के लिए एक निरंतर विपत्तिसंकेत पर निर्भर रहना पड़ता है कि ये प्रक्रियाएँ उस सीमा तक लम्बित न हों कि वे उस पूँजीवादी व्यवस्था के व्याख्यात्मक सिद्धांतों की धज्जियाँ ही उड़ा दें, जो एक लाभ-निष्कर्षण अथवा पूँजी-संचयन से जुड़ी वर्ग शोषणकारी व्यवस्था है।

हैबरमास के अनुसार, पूँजीवादी लोकतंत्र सामाजिक समानता व कल्याणकारी अधिकारों हेतु आम माँगों और निजी लाभ पर आधारित एक बाज़ार अर्थव्यवस्था की अपेक्षाओं, दोनों को स्थायी रूप से संतुष्ट नहीं कर सकता। इस प्रकार के 'संकटों' के निहितार्थ में समाज और पूँजीवादी व्यवस्था के नियामक प्राधारों के एकीकरण अथवा सम्बद्धता में अव्यवस्था शामिल है।

15.4.2 संकट के दौरान राज्यीय कार्रवाई

संकटों के इस प्रकार परिदृश्यों में, आधुनिक राज्य, हैबरमास के अनुसार, विद्यमान प्राधारों को विधिकृत एवं स्थिरीकृत करने के लिए 'तंत्र परिचालन' और सैद्धान्तिक उपायों का एक

साथ सहारा लेता है। इसमें आर्थिक (वेतन श्रमिक एवं पूँजी संबंधों) तथा राजनीतिक क्षेत्रों (शासी संस्थाओं) की 'विमुक्ति' अथवा वियोजन शामिल होता है। राजनीतिक क्षेत्र परिणामतः कम सहभागितापूर्ण और ज़्यादा अवैयक्तिक, कर्मचारी-तंत्रीकृत, और नियमों से दूर हो जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था को, तथापि, उन अधिकारों, न्याय एवं नागरिकता संबंधी 'सर्वमुक्तिवादी' संलापों को विधिकृत करके सैद्धांतिक रूप से एक साथ रखा जाता है जो इन नियमों को शासनार्थ नैतिक अधिकार देते हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) ज़र्जें हैबरमास उदारवादी-पूँजीवादी समाजों में समाजों में वैधता-संकट को किस प्रकार समझने का प्रयास करते हैं?

....

....

....

....

....

....

15.5 सारांश

MAADHYAM IAS

प्राधिकार इस बात में सत्ता के एक अर्थ-सीमित रूप की ओर इशारा करता है कि यह न सिर्फ़ परिवर्तन क्षमता की एक अभिव्यक्ति भर है, बल्कि परिवर्तन हेतु अधिकार भी है। वह तत्त्व जो प्राधिकार को यह विशिष्ट लक्षण प्रदान करता है, वैधता कहलाता है। यह वैधता ही है जो प्राधिकार के प्रति आज्ञापालन को प्रसन्नतापूर्वक प्रदत्त और बंधनकारी बनाती है। आधुनिकता के आगमन तक वैधता-रहित प्राधिकार की धारणा राजनीतिक प्राधिकार की समझ के प्रति उपांतिक ही रही। ज्ञानोदय के विचार द्वारा उत्पन्न आधुनिकता और बौद्धिक उत्तेजना के साथ ही, इस धारणा पर कि प्राधिकार ईश्वरीय रूप से विहित विषयवस्तु है, संदेह किया जाने लगा।

सत्रहवीं शताब्दी में, थॉमस हॉब्स जैसे दार्शनिकों ने शासन करने के दावे के रूप में ईश्वरीय अधिकार की धारणा को चुनौती दी। उसने इस दृष्टिकोण को दृढ़तापूर्वक रखा कि सभी मनुष्य स्वतंत्र व समान हैं और स्वयं-निर्धारण के लिहाज से शक्ति व क्षमताप्राप्त हैं। हॉब्स और लॉक्स द्वारा विकसित सामाजिक संविदा की धारणा ने यह संकेत किया कि वैध प्राधिकार अंततोगत्वा व्यक्तियों द्वारा एक स्वैच्छिक परित्याग पर निर्भर है, जो अपने आपों पर शासन करने के अधिकार संबंधी है, ताकि हम ऐसी परिस्थितियाँ बना सकें जो अधिक व्यापक आर्थिक स्वतंत्रताओं हेतु सहायक हों।

मौंतस्क्यु जैसे दार्शनिकों ने संविदावादियों द्वारा प्रतिपादित वैधता की उदारवादी-व्यक्तिवादी धारणा को उल्टा बयान किया, यथा समाज-सुधार एवं संविधानवाद के तत्त्वों को शामिल कर एक सामाजिक संदर्भ में प्राधिकार के विधिकरण को स्थापित किया। रूसो ने वैध प्राधिकार की व्यक्तिवादी धारणा पर एक गणतंत्रीय प्रहार को दर्शाते हुए, सुझाया कि

सामाजिक संविदा वस्तुतः एक मिथ्या अनुबंध है और राजनीतिक अस्थिरता हेतु एक भ्रामक उदारवादी हल बतलाती है। उन्होंने सक्रिय नागरिकता बोध और जन-भागीदारी के माध्यम से सामूहिक लक्ष्यों के कार्यान्वयन पर आधारित राज्य-व्यवस्था के लोकतंत्रीकरण की वकालत की।

कार्ल मार्क्स, हालाँकि, राजनीतिक वैधता के प्रश्न हेतु इस प्रकार के किसी हल के प्रति संदेहकारी थे। उनके अनुसार वैधता की धारणा में स्वयं ही एक मध्यवर्गी मिथक शामिल था, जो एक शोषण और प्रभुत्व स्थापन के सिद्धांतों पर आधारित पूँजीवादी समाज में निष्पाद्य नहीं था। मैक्स वैबर, एक समाजशास्त्री, ने प्राधिकार और पूँजीवादी समाजों में आज्ञापालन सुनिश्चित करने संबंधी समस्याओं पर दृष्टिपात किया। ऐसे आधार और सामाजिक अभिकरणों की खोज करते हुए जिन्होंने वैधता को अपने आप प्रभावी बना दिया, वैबर ने विधिकरण की कार्यप्रणाली को समझने के लिए प्राधिकार प्रणालियों का एक तीन-सतही उदाहरणीकरण प्रस्तुत किया।

ज़ुर्जे हैबरमास ने आधुनिक समाज के वर्ग-शोषणकारी आधार पर ज़ोर देते हुए बताया कि उदारवादी लोकतंत्रों में लोकतांत्रिक कार्यप्रणालियों के माध्यम से जनता का समर्थन हासिल करने के साधन उपलब्ध हैं। ये, तथापि, विधिकरण पर लक्ष्य करते समय, सामाजिक क्षेत्रों में बढ़े राज्य हस्तक्षेप हेतु आम दबावों को भी भड़काते हैं। लोकतंत्रीकरण हेतु दबावों (विधिकरण) और पूँजीवादी संचयन के बीच विवादास्पद खींचतान विधिकरण संकट द्वारा निस्तारित उदारवादी (पूँजीवादी) लोकतंत्रों को जन्म देती है। उदारवादी लोकतंत्र 'परिचालन उपायों' की शरण लेकर इन संकट-प्रवृत्तियों से बचने का प्रयास करते हैं, यथा अर्थव्यवस्था से राजनीतिक क्षेत्र को अलग करना, राजनीतिक क्षेत्र को कम सहभागितापूर्ण और अधिक निर्वैयक्तिक और नौकरशाह बनाना, और अधिकारों, नागरिकता व न्याय संबंधी 'सर्वमुक्तिवादी' संलापों के माध्यम से व्यवस्था को वैचारिक रूप से निर्बाध रखना।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.6 शब्दावली

गणतंत्रीय : गणतंत्र शब्द किसी राजतंत्र का अभाव बतलाता है और एक विशिष्ट रूप से सार्वजनिक अखाड़े और जन-प्रशासन का भी संकेत करता है। राजनीति-सिद्धांत की एक विचारधारा के रूप में, यह कुछ सांस्थानिक प्राधारों और नैतिक सिद्धांतों की वकालत करता है, जिसमें जन-सहभागिता, नागर गुण, जन-उत्साह, आदर व देशभक्ति शामिल हैं।

नियामक : इन अवधारणाओं को अक्सर मूल्यों के रूप में देखा जाता है। ये उन नैतिक सिद्धांतों अथवा आदर्शों को और संकेत करते हैं, जो होने चाहिए, कर्त्तव्य रूप से बाध्य होने चाहिए, अथवा अवश्यकारी रूप से करवाये जाने चाहिए।

निरंकुशवाद : निरंकुशवाद, अर्थात् तानाशाही 17वीं और 18वीं शताब्दी के यूरोप में एक प्रबल राजनीतिक रूप था। यह इस दावे से जुड़ा था कि संप्रभुता, अनापत्तियोग्य और अविभाज्य वैध प्राधिकार का प्रतिनिधित्व करती हुई, सर्व-प्रधान शासक में निहित होती थी। आज आम इस्तेमाल में हम किसी सरकार को निरंकुश इस अर्थ में पुकारते हैं कि उसके पास बेरोक सत्ता है।

राजनीतिक दायित्व : दायित्व अर्थात् बाध्यीकरण एक रीति-विशेष से कार्य करने हेतु एक अपेक्षा अथवा कर्त्तव्य है। राजनीतिक दायित्व राज्य के प्राधिकार को स्वीकार करने और उसके कानूनों का पालन करने हेतु नागरिक का कर्त्तव्य है।

व्याख्यात्मक : ये अवधारणाएँ उन तथ्यों की ओर इशारा करती हैं, जिनको एक यथार्थ अस्तित्व धारक माना जाता है और उनके दृश्टांतों (illustrations) के रूप में देखा जाता है जो विद्यमान है, अथवा जो वस्तुतः अस्तित्व रखता है।

सामाजिक संविदा : हॉब्स, लॉक और रूसो जैसे दार्शनिक, जो सामाजिक संविदा की धारणा से जुड़े थे, संविदा अर्थात् अनुबंध को व्यक्तिजनों के बीच एक स्वैच्छिक समझौते के रूप में देखते हैं, जिसके परिणामस्वरूप एक संगठित समाज अथवा राजनीतिक प्राधिकार का जन्म होता है। सामाजिक संविदा कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं। यह सामाजिक व राजनीतिक संगठनों के अध्ययन के लिए एक विश्लेषणात्मक युक्ति है।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बीथम, डैविड, पॅलिटिकॅल लैजिटिमेसी, केट नैश एवं ऐलेन स्कॉट (सं.) कृत *द ब्लैकवैल कम्पैनिअन टु पॅलिटिकल सोशिओलॅजी* में, ब्लैकवैल, 2001।

________ , *द लैजिटिमेशन ऑफ पॉवर,* मैकमिलन, बेसिंगस्टोक, 1991।

कॉनॉली, *लैजिटिमेसी एण्ड द स्टेट,* बेसिल ब्लैकवैल, ऑक्सफार्ड, 1984।

हेवुड, एन्ड्रू, *पॉलिटिक्स,* मैकमिलन, लंदन, 1997।

पैत्रा, जेम्स, 'क्लास पॅलिटिक्स, स्टेट पावर एण्ड लैजिटिमसी', *इकॉन्मिक एण्ड पॅलिटिकॅल वीकली,* 26 अगस्त, 1989, पृ. 1955-58।

पूलाकी, एथेनैसियो, *लैजिटिमेसी/लैजिटिमाइट,* वाल्तर द ग्रुइअर, बर्लिन, 1986।

MAADHYAM IAS

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 15.1
2) देखें उपभाग 15.1.4

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 15.2
2) देखें उपभाग 15.2.4 और 15.2.5
3) देखें उपभाग 15.2.6

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 15.3

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 15.4

इकाई 16 राजनीतिक दायित्व और क्रांति

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 राजनीतिक दायित्व और क्रांतिः इन संपूरक (Complementary) शब्दों की अन्तर्सम्बद्धता

16.3 राजनीतिक दायित्व संबंधी अवधारणा की उत्पत्ति और प्रकृति

16.4 राजनीतिक दायित्व के लक्षण

- 16.4.1 राजकीय मामलों का प्रबंधन
- 16.4.2 राजनीतिक वैधता
- 16.4.3 प्राधिकार का प्रतिरोध

16.5 राजनीतिक दायित्व के विभिन्न सिद्धांत

- 16.5.1 दैवी सिद्धांतः आस्था में अनुमोदन
- 16.5.2 सहमति/संविदा सिद्धांतः लोकेच्छा (Will of the People) में अनुमोदन
- 16.5.3 निर्देशात्मक सिद्धांतः स्थापित परिपाटियों व परम्पराओं के सम्मान में अनुमोदन
- 16.5.4 आदर्शवादी सिद्धांतः मनुष्य की युक्तियुक्तता (Rationality) में अनुमोदन
- 16.5.5 मार्क्सवादी सिद्धांतः राजनीतिक दायित्व का सामाजिक दायित्व में अन्त्य (eventual) रूपान्तरण

16.6 राजनीतिक दायित्व का राजनीतिक मूल्यांकन

16.7 क्रांति : प्रकृति और निहितार्थ

16.8 क्रांति के लक्षण

- 16.8.1 एक प्रक्रिया का प्रारम्भ
- 16.8.2 एक परिवर्तन का द्योतन
- 16.8.3 एक संलयित (Coherent) कार्यक्रम का अर्थ प्रकटन
- 16.8.4 राजनीतिक नेतृत्व की कल्पित मर्यादा

16.9 क्रांति : एक घटनामात्र अथवा एक घटनाक्रम

16.10 क्रांति के विभिन्न सिद्धांत

- 16.10.1 उदारवादी सिद्धांत
- 16.10.2 मार्क्सवादी सिद्धांत
- 16.10.3 नव-उदारवादी सिद्धांत
- 16.10.4 आदर्शवादी उदारवादी सिद्धांत

16.11 नवीन सामाजिक विज्ञान साहित्य में क्रांति का सिद्धांतीकरण

- 16.11.1 तुलनात्मक दृष्टिकोण
- 16.11.2 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
- 16.11.3 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
- 16.11.4 राजनीतिक दृष्टिकोण
- 16.11.5 दार्शनिक दृष्टिकोण

16.12 क्रांति का मूल्यांकन

16.13 सारांश

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- राजनीतिक दायित्व एवं क्रांति की अवधारणा तथा उनके बीच अन्तर्सम्बद्धता को स्पष्ट कर सकें;
- राजनीतिक दायित्व एवं क्रांति की अवधारणा को स्पष्ट करने हेतु विकसित विभिन्न सिद्धांतों को बता सकें; तथा
- राज्य प्राधिकार के लिहाज से राजनीतिक दायित्व और क्रांति के लाभों व सीमाओं पर सूक्ष्म दृष्टि डाल सकें।

16.1 प्रस्तावना

एक राजनीति-वैज्ञानिक का चिन्तनीय विषय प्राधिकार के अध्ययन मात्र तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि उन लोगों द्वारा सत्ता के स्वीकार्य होने की समस्या से भी संबद्ध होता है, जिन पर वह प्रयोग की जाती है। राजनीतिक दायित्व की अवधारणा संबंधी अध्ययन, सम्बद्ध शब्दों - राजनीतिक वैधता और क्रांति - के अन्वेषण की ओर आवश्यक रूप से प्रवृत्त करता है। यद्यपि राजनीतिक दायित्व की अवधारणा में राजनीति-दर्शन की खास कसौटी निहित है, इसको विधिसंगति और प्रभाविता की धारणाओं के साथ जोड़कर एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसके बाद हम क्रांति की धारणा संबंधी अध्ययन की ओर चलते हैं। इस इकाई में हम एक विधिसंगत राजनीतिक व्यवस्था और एक प्रबुद्ध नागरिकता के बीच संबंध पर सूक्ष्म दृष्टि डालने का विचार करते हैं, जो राजनीतिक दायित्व और क्रांति की अवधारणाओं को स्पष्ट करेगा।

MAADHYAM IAS

16.2 राजनीतिक दायित्व और क्रांति : इन संपूरक (Complementary) शब्दों की अन्तर्सम्बद्धता

लोग राज्य का प्राधिकरण के रूप में आज्ञापालन क्यों करते हैं? किन परिस्थितियों में उनको अपनी अवज्ञा दर्ज करानी चाहिए? इन सवालों का जवाब अनेक विचारकों द्वारा भिन्न-भिन्न तरीकों से दिया गया है और उन्होंने इसका हल अर्थक्रियावादियों (Pragmatists) की सुस्पष्ट अभिपुष्टि हेतु मनुष्य के स्वाभाविक रूप से अच्छे स्वभाव में खोजा है। प्राधिकार और दायित्व के बीच संबंध अपृथक्य (inseparable) है, क्योंकि प्राधिकार के अनिवार्य लक्षणों में एक आज्ञापालन करवाने का अधिकार भी है। हम देखेंगे कि राज्य के प्रतिरोध हेतु भी क्या कोई अधिकार अथवा कर्त्तव्य है।

यह एक सुस्थापित तथ्य है कि लोग केवल एक विधिसंगत प्राधिकार का ही आज्ञापालन करते हैं; अन्यथा वे उसे उखाड़ फेंक सकते हैं। इस प्रकार सामने आता है क्रांति का प्रश्न, जो 1699 में हुई इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रांति की भाँति एक शांतिपूर्ण घटना भी हो सकता है और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति की भाँति एक हिंसक प्रदर्शन भी। क्रांति की धारणा संबंधी अध्ययन, इस प्रकार, समसामयिक राजनीति-सिद्धांत के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि राजनीति का वर्णन एक सत्ता हेतु संघर्ष के अध्ययन के रूप में किया जाता है, चाहे वह शांतिपूर्ण हो अथवा हिंसक साधनों से, जहाँ राजनीतिक दायित्व और क्रांति महत्त्वपूर्ण शाखा विस्तार रखते हैं।

16.3 राजनीतिक दायित्व-संबंधी अवधारणा की उत्पत्ति और प्रकृति

'दायित्व' शब्द अंग्रेज़ी के ऑब्लिगेशन (obligation) शब्द का अनुवाद है जो लैटिन शब्द 'ऑब्लिगेट' से निकला है, जिसका निहितार्थ है - ऐसी बात जो लोगों को वह काम करने के लिए बाध्य करती है जो उन्हें आदेश रूप में दिया जाता है। इसके विभिन्न संकेतार्थ हैं। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में, यह व्यक्ति को उसके कर्त्तव्य बताता है, जो वह अपने बौद्धिक ज्ञान के आधार पर उन्हें स्वीकार करता है। न्यायशास्त्र के क्षेत्र में, लोगों का जीवन कानून द्वारा नियमित होता है। और राजनीति की दुनिया में, व्यक्ति किसी प्राधिकार के अधीन रहने व उसका आदेश पालन करने को बाध्य है। यह आम समझदारी की सूक्ति पर आधारित होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राजनीतिक दायित्व का मामला प्राधिकार की प्रकृति से संबंधित मामलों पर निर्भर होता है, जो अपने पहलू में आमतौर पर अधिकारों, कानूनों, व राजनीतिक संगठन की पूरी दुनिया समोये रखता है।

16.4 राजनीतिक दायित्व के लक्षण

राजनीतिक दायित्व, इस प्रकार, एक फ्रेम है जिसके माध्यम से लोग ''प्राधिकृत व्यक्ति'' संबंधी भूमिकाओं के आदेशों को मानते हैं। ये हैं :

- राजकीय मामलों का प्रबंधन
- राजनीतिक वैधता
- प्राधिकार का प्रतिरोध

इन लक्षणों का अध्ययन हमें राजनीतिक दायित्व को और स्पष्ट रूप से समझने में मदद करेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.4.1 राजकीय मामलों का प्रबंधन

किसी भी सरकार को चलाने की कला कोई आसान नहीं है। यह एक दुष्कर एवं व्यापक कार्य है और किसी भी ग़लत अथवा त्रुटिपूर्ण नीति-निर्धारण के गंभीर परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं। इसके विपरीत जनता के लिए सरकार द्वारा लिया गया एक सकारात्मक और सही कदम किसी भी राष्ट्र के विकास हेतु अच्छे परिणाम लायेगा। इस प्रकार, यह हर अन्तर्विवेकशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि राजकीय मामलों, सरकारी नीतियों व राजनीतिक समस्याओं के प्रबंधन में गहरी रुचि ले। यह अन्योन्यक्रिया जन-कल्याण के लिए होगी। राजनीतिक दायित्व, इस प्रकार, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा व जनस्फूर्ति का आह्वान करता है, सरकार की ओर से भी और जनता की ओर से भी।

16.4.2 राजनीतिक वैधता

राजनीतिक दायित्व की अवधारणा संबंधी अध्ययन आवश्यक रूप से राजनीतिक वैधता और प्रभाविता से संबद्ध विषय के अन्वेषण की ओर प्रवृत्त करता है। किसी भी लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता न सिर्फ़ आर्थिक विकास पर निर्भर करती है, बल्कि उसकी वैधता पर भी निर्भर करती है। वैधता में एक विश्वास को पैदा करने और कायम रखने की क्षमता शामिल होती है, वो यह कि विद्यमान राजनीतिक संस्थाएँ अथवा संगठन समाज के लिए सर्वाधिक उचित हैं, और इसको लोकेच्छा पर निर्भर कहा जाता है। प्रभाविता, दूसरी ओर, इस बात से जाँची जाती है कि कोई व्यवस्था सरकार के बुनियादी कामों को कितनी अच्छी तरह से करती है, यह जनसाधारण की प्रतिक्रिया से मापा जाता है।

16.4.3 प्राधिकार का प्रतिरोध

राजनीतिक दायित्व की धारणा न सिर्फ़ लोगों को प्राधिकार का आज्ञापालन बताती है, वरन् प्राधिकार प्रयोग के तरीके के बारे में उनसे छिद्रान्वेषण (crtical) की भी अपेक्षा करती है। प्रजा को अपने शासकों की कार्यवाही को बारीकी से जाँचना चाहिए और अपनी स्वतंत्रताओं पर हमले का विरोध करना चाहिए। इस प्रकार, राजनीतिक दायित्व की धारणा में प्राधिकार के प्रतिरोध की धारणा भी शामिल है। परन्तु वस्तुतः, राज्य के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन शर्तिया समाज-कल्याण के किसी कथन पर आधारित होना चाहिए, जो जनसाधारण के लिए स्पष्ट हो और अवज्ञा के परिणाम राज्य-व्यवस्था पूरी तरह भंग हो जाने को प्रवृत्त न करें।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) राजनीतिक दायित्व को परिभाषित करें। इसके विशिष्ट लक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.5 राजनीतिक दायित्व के विभिन्न सिद्धांत

राजनीतिक दायित्व विषयक अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं। ये सिद्धांत राजनीतिक दायित्व संबंधी अवधारणा के पीछे हुए अनुमोदनों की श्रेणी को स्पष्ट करते हैं।

16.5.1 दैवी सिद्धांत : आस्था में अनुमोदन

यह सिद्धांत सबसे पुराने सिद्धांतों में से एक है, जो राज्य के प्रशासक के प्रति आज्ञापालन के कारण को स्पष्ट करता है। इसका निहितार्थ था कि शासक ने अपना प्राधिकार ईश्वर से सीधे प्राप्त किया है। अतः, प्रजा को एक दुष्ट शासक के खिलाफ भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं हैं, तदनुसार, लोग राजा के प्राधिकार का आज्ञापालन करने को धार्मिक निषेधाज्ञा द्वारा बाध्य हैं। 'राजाओं के ईश्वरीय अधिकार' संबंधी यह धारणा पूरे मध्यकाल में व्याप्त रही। बहरहाल, आधुनिक काल में नए ज्ञान के आगमन के साथ ही इसने अपना महत्त्व खो दिया।

राजनीतिक दायित्व के दैवी सिद्धांत की आलोचना

राजनीतिक दायित्व संबंधी दैवी सिद्धांत को ग्रोटियस, हॉब्स, लॉक जैसे प्रतिष्ठित विचारकों की ओर से अत्यंत कटु आलोचना झेलनी पड़ी, जिन्होंने उसके पराभौतिकीय (meta physical) आधारवाक्यों को निरस्त कर दिया और राजनीतिक दायित्व का स्रोत लोगों की सहमति में तलाशा। जब धर्मनिरपेक्षवाद बढ़ने के कारण चर्च अलग हो गए, लौकिक

शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों की तुलना में सर्वोपरि हो गईं। हालाँकि, लोकतंत्र के विकास ने इस सिद्धांत की नियति तय कर दी। यहाँ तक कि दायित्व के अन्य पराभौतिकीय आधार, जैसे फ़ासिज़्म या साम्यवाद, जो किसी नेता, वर्ग अथवा पार्टी के ऐतिहासिक दौत्य (mission) कार्य पर आधारित थे, भी विज्ञान से कोई समर्थन न पा सके। वे उसी प्रकार की धार्मिक व्यवस्था वाले थे, जैसे कि दैवी अधिकार सिद्धांत। इस प्रकार, दैवी सिद्धांत ने आधुनिक काल में अपना पूरा आकर्षण खो दिया।

16.5.2 सहमति/संविदा सिद्धांत : लोकेच्छा (Will of the People) में अनुमोदन

यद्यपि दायित्व के आधार रूप में संविदा अथवा सहमति की धारणा काफ़ी पुरानी है और प्राचीन हिन्दू विचारधारा में भी पाई जाती है, यह मुख्यतः 16वीं व 17वीं शती के यूरोप में हुआ कि राजनीतिक दायित्व को स्पष्ट करने के लिए अनुबंध के कृत्रिम सिद्धांत विकसित किए गए। इस सिद्धांत की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति थॉमस हॉब्स और जॉन लॉक के लेखों में पायी जाती है। उनका मत है कि जो मनुष्य प्राकृत अवस्था में रहते थे एक अनुबंध में आ गए, जिससे राजनीतिक प्राधिकार अस्तित्व में आया, जो पुनः जनता की सहमति पर आधारित था। सामाजिक अनुबंध की धारणा ने, हालाँकि रूसो के पास पहुँचकर एक उच्च रूप से दार्शनिक रूप ले लिया, जिन्होंने ''जनरॅल विल'' में राजनीतिक दायित्व के तथ्य को रखा। इसका मतलब था कि मनुष्य एक सभ्य समाज में प्रवेश करने के बाद महज अपनी भूख के आवेग का दास नहीं रहा, बल्कि वह आम भलाई (यथा, लोक कल्याण) के कानून का पालन करने को बाध्य हो गया।

इस प्रकार, सामाजिक संविदा सिद्धांत इस धारणा को सही ठहराता है कि शासक प्राधिकरण को, यदि उसे विधिसंगत बनना है, अन्ततोगत्वा सरकार की सहमति पर ही टिका होना चाहिए। यदि सरकार अनुबंध की शर्तों का उल्लंघन करती है, तो लोगों को विरोध करने का अधिकार है। इस सिद्धांत का निहितार्थ जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की रक्षा करने और शासकों के मनमानेपन को रोकने की दिशा में रहा है।

MAADHYAM IAS

राजनीतिक दायित्व के सहमति सिद्धांत संबंधी आलोचना

यद्यपि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में संविदा सिद्धांत के खुल खेलने के दिन थे और अब भी एक लोकतांत्रिक व्यवस्था का नैतिक आधार तैयार करने के लिहाज से उसका अपना ही महत्त्व है, यह कुछ कमज़ोरियों से ग्रस्त है। यह सिद्धांत राज्य को एक कृत्रिम संगठन बना देता है। साथ ही, सहमति का तत्त्व जैसा कि एक प्राक्काल्पनिक (hypothetical) प्राकृत अवस्था में किए गए किसी अनुबंध में प्रतिष्ठापित था, यह कल्पना मात्र से अधिक कुछ नहीं था जो कि विद्यमान पीढ़ी दर बिल्कुल भी बाध्यकारी नहीं था। इस प्रकार, लोग इस दलील पर एक विद्रोह-प्रदर्शन की हद तक जा सकते हैं कि वे अपनी स्वीकृति को वापस ले सकते हैं, यदि सरकार ने ऐसा कोई काम किया हो जो ''लोकेच्छा'' का उल्लंघन करता हो। परिणाम यह हुआ है कि राजनीतिक दायित्व का सिद्धांत एक विद्रोह के सिद्धांत में बदल गया है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) राजनीतिक दायित्व के दैवी सिद्धांत की क्या सीमाएँ हैं?

....

....

....

....

....

....

2) सामाजिक संविदा सिद्धांत का मुख्य लक्षण क्या है?

....

....

....

....

....

....

16.5.3 निर्देशात्मक सिद्धांत : स्थापित परिपाटियों व परम्पराओं के सम्मान में अनुमोदन

MAADHYAM IAS

इस सिद्धांत के अनुसार, राजनीतिक प्राधिकार और उसका सम्मान ''रिवाज़ी अधिकारों'' के सिद्धांत पर आधारित है। प्राधिकार विधिसंगत होता है, यदि वह लम्बे समय से चले आ रहे रिवाज़ अथवा परम्परा द्वारा अनुमोदित है। लोग अपने शासकों का आज्ञापालन करते हैं क्योंकि आज्ञापालन-संबंधी वास्तविकता एक सुस्थापित परिपाटी का रूप ले चुकी है। परम्परावादी जन राज्य को वर्षों में जाकर तैयार हुए एक उत्कृष्ट प्राधार के रूप में देखते हैं, जो एक विवादास्पद हित-संतुलन को दर्शाता है। राज्य जैसी संस्थाएँ क्रमिक रूप से विकसित होती हैं और धीरे-धीरे परिवर्तन के प्रति अनुकूलित हो जाती है; इस प्रकार, यह कर्त्तव्य बनता है कि केवल क्रमिक शान्तिपूर्ण परिवर्तन हेतु काम करते समय राज्य प्राधिकार को स्वीकार किया जाए और उसका आज्ञापालन किया जाए। राजनीतिक प्राधिकार संबंध ी इस रूढ़िवादी सिद्धांत की हैगेल अपने लेखों में अभिपुष्टी करते हैं, जो यह मानते हैं कि नैतिकता की धारणाएँ राज्य के रीति-रिवाज़ों एवं संस्थाओं में विकसित होती हैं। और, चूँकि इस प्रक्रिया में अन्तिम चरण वर्तमान स्थापित व्यवस्था ही है, इसे हमारा आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, चूँकि राज्य ही एक लम्बे समय में विकसित और प्रथागत नैतिकता है, यह हर व्यक्ति का फ़र्ज़ बनता है कि वह उस काम को करे जिसकी राज्य उससे अपेक्षा करता है।

बक रूढ़िवाद के सबसे प्रसिद्ध प्रवक्ताओं में एक हैं, जिनका मत है कि मनुष्य के लिए रीति-रिवाज़ों व परम्पराओं का पूरी तरह निरादर करना बुद्धिमानी नहीं है। राजनीतिक दायित्व की वास्तविकता परम्परा को अटल सम्मान दिए जाने में निहित है, जो कि एक परमपावन कार्य है। इस प्रकार, उन्होंने अमेरिकी उपनिवेशकों के विद्रोह का समर्थन किया, जो अंग्रेज़ों के पारम्परिक अधिकारों के पक्ष में था, परन्तु फ्रांसीसी क्रांति का विरोध किया क्योंकि वह ''राष्ट्रीय परम्पराओं से पृथक्त'' व्यक्ति के दुर्बोध अधिकारों द्वारा प्रेरित थी।

प्रोफ़ेसर एम. ओक्शौट दायित्व-संबंधी परम्परावादी दृष्टिकोण के एक समकालीन समर्थक हैं। उनके अनुसार, राजनीतिक कार्यवाहियाँ कभी भी परम्परागत के सिवा और कुछ नहीं हो सकतीं क्योंकि राजनीतिक विचार राजनीति गतिविधि से पहले आ ही नहीं सकता। राजनीति एक कौशल है, जो अभ्यास से सीखा जाता है न कि सैद्धांतिक सूत्रों अथवा पद्धतियों के माध्यम से। इस प्रकार, हम जब कभी भी दूसरे लोगों की राजनीति को पूरी तरह से समझने का प्रयास करते हैं, तो वह हमेशा हमारे अपने तानेबाने के भीतर ही होता है।

राजनीतिक दायित्व संबंधी निर्देशात्मक सिद्धांत की आलोचना

अन्य परिकल्पनाओं की तरह निर्देशात्मक सिद्धांत की भी अपनी कमज़ोरियाँ हैं। राजनीतिक दायित्व का स्रोत सिर्फ़ सुस्थापित प्रथाओं को आदर देने में ही नहीं, बल्कि, उन्हें समाप्त करने में भी निहित है। लोग बदलाव चाहते हैं और जब कभी उनकी आशाएँ कुंठित होती हैं तो वे क्रांति का मार्ग अपना लेते हैं। ओक्शौट की इस आधार पर विशेष रूप से आलोचना हुई है कि वह क्रांति को भी अतीत से जुड़ा एक अनुभव मानते हैं और उसके द्वारा, उसे एक विशुद्ध रूढ़िवादी विषय बना देते हैं। इसका मतलब यह है कि इस सिद्धांत के आख्याता अफ्रीकी देशों के नीग्रो लोगों को भी यह सलाह देंगे कि वे प्रजातीय भेदभाव कानूनों को 'विधिसंगत' के रूप में स्वीकार कर लें क्योंकि वे 'राज्य की सुस्थापित परम्पराओं' पर आधारित हैं। बहरहाल, यह बात सच्चाई से दूर है। वस्तुतः लोग सिर्फ़ अपनी परम्पराएँ वहीं तक निभाते हैं, जहाँ तक कि उनकी उपयोगिता होती है और जब उनकी उपयोगिता नहीं रहती तो वे उन्हें समाप्त कर देते हैं।

16.5.4 आदर्शवादी सिद्धांत : मनुष्य की युक्तियुक्तता (Rationality) में अनुमोदन

MAADHYAM IAS

आदर्शवादी जन राजनीतिक दायित्व का स्रोत मनुष्य की अन्तर्जात बौद्धिकता में खोजते हैं। मनुष्य को एक 'राजनीतिक और बुद्धिसम्पन्न जीव' माना जाता है और राज्य को एक समग्र समाज के तद्रूप 'आत्म-सन्तुष्टकारी समुदाय', जैसे कि व्यक्ति और समाज के बीच कोई वैपरीत्य ही न हो। परिणामस्वरूप, कोई व्यक्ति मात्र राज्य के आदेश को मानकर भी समाज में यथासंभव श्रेष्ठ विकास का प्रयास कर सकता है।

दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दायित्व का स्रोत राज्य के आज्ञापालन में निहित है। प्लैटो और अरस्तू दोनों का दावा है कि इसमें समाविष्ट राज्य और व्यक्तिजन 'एक जैविक समष्टि का निर्माण करते हैं'। इस प्रकार की स्वीकारोक्ति हैगेल की ओर से सबसे अच्छी अभिव्यक्ति पाती है, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को राज्य के सम्पूर्ण आज्ञापालन से अभिन्न समझते हैं। ग्रीन भी कहते हैं कि राजनीतिक दायित्व संबंधी विचार नैतिक दायित्व के विषय से जुड़ा है। उनका सुझाव है कि केवल उन्हीं कार्यों को दायित्व बनाया जाना चाहिए जो कि एक नैतिक साध्य के सेवार्थ किए जाते हैं।

राजनीतिक दायित्व के आदर्शवादी सिद्धांत संबंधी आलोचना

आदर्शवादी सिद्धांतों की इस आधार पर आलोचना की गई है कि वे बहुत गूढ़ हैं। वह सामान्य बातों को एक अति दार्शनिक अथवा पराभौतिकीय रूप में रखता है जो एक औसत जानकारी रखने वाले व्यक्ति की समझ से बाहर होता है। साथ ही, राजनीतिक दायित्व की धारणा न सिर्फ़ राज्य के प्रति व्यक्ति के आज्ञापालन से संबंधित है, वरन् राजनीतिक प्राधिकार के दुष्प्रयोग का विरोध करने संबंधी अधिकार से भी अभिन्न रूप से जुड़ी है। आदर्शवादी जन नहीं चाहते कि राजनीतिक दायित्व के उनके सिद्धांत में विरोध करने के

अधिकार को शामिल किया जाए। यदि ग्रीन और बोसांक ने कुछ अपवाद स्थितियों में अधिकार को मान्यता भी दी है, तो उनका प्रतिपादन अस्पष्ट व अनिश्चित है और अंग्रेज़ी उदारवाद के बोझ से पीछा छुड़ाने में विफल रहा है। त्रीत्शके तो यहाँ तक कहते हैं कि झुको और राज्य की पूजा करो। इस प्रकार, राजनीतिक दायित्व की धारणा प्राधिकार संबंधी अन्धभक्ति के व्यादेश (injunction) में बदल जाती है।

16.5.5 मार्क्सवादी सिद्धांत : राजनीतिक दायित्व का सामाजिक दायित्व में अन्त्य (eventual) रूपान्तरण

राजनीतिक दायित्व का मार्क्सवादी सिद्धांत इस विषय पर अन्य सिद्धांतों से मूलतः भिन्न है। यह क्रांति-पूर्व चरण में राजनीतिक दायित्वहीनता के प्रकरण को, क्रांतिकारी चरण में सम्पूर्ण राजनीतिक दायित्व को और क्रांति-पश्चात् चरण में सामाजिक दायित्व में उसके संभावित कायांतरण को अनुमति देता है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दायित्व का मामला प्राधिकार के लक्षण के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा है। मार्क्सवादी राजनीति-सिद्धांत में, राज्य का वर्णन पूँजीवादी समाज में एक 'बुर्जुआ संस्था' के रूप में किया जाता है। इसका अर्थ है कि एक सफल क्रांति के बाद, कामगार वर्ग सत्ता के साधन अपने हाथों में रखता है, ताकि समाजवादी व्यवस्था को इस तरह से समेकित कर सके कि समाजवाद के अंतिम चरण में उसके 'ह्रास' की तैयारी हो। मार्क्सवाद के अनुसार, राजनीतिक दायित्व के अन्तर्गत आते हैं – पूँजीवाद के युग में 'नगण्य राज्य' के मामले, 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' के काल में 'नए राज्य', और 'मुख्य राज्य' जब 'वर्गरहित' समाज सामाजिक अस्तित्व के 'राज्यहीन' प्रतिरूप में अपनी पराकाष्ठा पाता है।

राजनीति और उसके साथ राजनीतिक दायित्व-संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत का आरम्भ-बिन्दु है – 'समग्र समाज के न्यासी, साधन, अथवा अभिकर्त्ता के रूप में राज्य के इस दृष्टिकोण का उसके द्वारा सुस्पष्ट अस्वीकरण'। राजनीतिक दायित्व का मामला तब उठता है जब क्रांति के बाद 'नया राज्य' अस्तित्व में आता है। इस सिद्धांत में ग़ौरतलब बात यह है कि पूँजीवादी समाज में जो वर्जित होता है, वह समाजवादी व्यवस्था में विहित होता है। न सिर्फ़ यही, बुनियादी फेर-बदल भी होते हैं जो राज्य के किसी भी विरोध को पूरी तरह निषिद्ध करते हैं। मार्क्सवादियों का काम है राजनीतिक दायित्व की धारणा को स्थायी क्रांति के आदेशों के बनिस्पत कम महत्त्व देना। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दायित्व-संबंधी धारणा का अस्तित्व समाजवाद के अंतिम चरण (साम्यवाद कहा जाने वाला) में राज्य के कमज़ोर पड़ने के साथ ही समाप्त हो जाता है और अंतिम रूप से सामाजिक दायित्व के व्यादेश में बदल जाता है। इस प्रकार, समाज स्वतंत्र और समान उत्पादकों के साहचर्यों से मिलकर बनता है, जो एक सर्वमान्य और युक्तियुक्त योजना पर जानकारीपूर्वक अमल करता है।

राजनीतिक दायित्व संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत की आलोचना

मार्क्सवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि वह राजनीतिक दायित्व की समस्या का जिस प्रकार विवेचन करता है, वह वास्तविक परिप्रेक्ष्य से काफ़ी दूर है। पूँजीवादी चरण में जिसकी ज़ोरदार वकालत की जाती है, वही सामाजिक विकास के आगामी चरण में दृढ़ता से ठुकरा दिया जाता है। उन लोगों को, जो 'मध्यवर्गीय समाज' की अवज्ञा हेतु प्रेरित किए जाते हैं, इस नई सामाजिक व्यवस्था के उद्‌घाटन पश्चात् राज्य का कतई आज्ञापालन न करने का आदेश दिया जाता है। इस प्रकार, मार्क्स पर मात्र समीचीनता (expediency) के आधार पर राजनीतिक दायित्व संबंधी सिद्धांत को जन्म देने का आरोप लगाया जाता है और वह उस स्वतंत्र व्यक्ति की उपेक्षा करते हैं, जिसके सिर्फ़ अनुभव को ही राज्य के कानूनों का उसके द्वारा आज्ञापालन किए जाने को तय किए जाने में स्थान दिया जाता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) राजनीतिक दायित्व का आदर्शवादी सिद्धांत क्या है?

....

....

....

....

....

....

2) राजनीतिक दायित्व-संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत की क्या सीमाएँ हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.6 राजनीतिक दायित्व का मूल्यांकन

एक सही अर्थ में, राजनीतिक दायित्व-संबंधी धारणा कोई राजनीतिक नहीं बल्कि एक नैतिक विषय है। तथापि, नैतिकता का मापदण्ड समय-समय पर, स्थान-स्थान पर और जन-जन के लिए भिन्न-भिन्न होता है। राजनीतिक दायित्व के आयाम भी बदलते हैं और इसी प्रकार, जन-विरोध के व्यादेश भी भिन्न-भिन्न होते हैं। राज्य न्याय परिणामों का एक आवश्यक साधन है और यदि वह यह काम एक व्यापक सर्वसम्मति के आधार पर करता है, तो एक प्रकार की संविदात्मक समझ पैदा होती है कि जो कुछ राज्य न्याय व कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए करता है, हम उसके बदले में उसका आज्ञापालन करने का वचन दें।

16.7 क्रांति : प्रकृति और निहितार्थ

क्रांति-संबंधी विचार में न सिर्फ़ राजनीतिक, बल्कि मानव जीवन के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आयाम भी आते हैं। इस शब्द की एक सटीक परिभाषा में परिवर्तन के निहितार्थ विषयक विभिन्न शाखा विस्तार हैं, वह चाहे शांतिपूर्ण हो अथवा हिंसक, समग्र हों अथवा आंशिक, छोटा हो या बड़ा। राजनीति-सिद्धांत में, संबद्ध संस्थाओं एवं प्राधारों में परिवर्तन के साथ-साथ सरकार में फेरबदल का एक विशिष्ट संकेतार्थ का भी स्थान होता है। अपने मूल अर्थ में, 'इसमें-स्थापित राजनीतिक और पूर्व-व्यवस्था और उससे बुनियादी रूप से भिन्न एक नई व्यवस्था की स्थापना को चुनौती शामिल होती है।'

इस अभिपुष्टि के साथ कि जहाँ विद्रोह व क्रांति दोनों वर्तमान व्यवस्था में एक आकस्मिक, झटके से और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का संकेत देते हैं, और पूर्ववर्ती परवर्ती की भाँति 'गहन परिवर्तन' की धारणा को समाविष्ट नहीं करता, दोनों के बीच भेद की एक सीमारेखा खींची जा सकती है। एक आकस्मिक, बड़ा और गहन परिवर्तन लाने में प्रयुक्त साधन विशुद्ध संवैधानिक अथवा अहिंसात्मक से लेकर पूरी तरह हिंसात्मक और उग्रवादी तक हो सकते हैं। जब कोई क्रांति किसी क्रांति के परिणामों को बिगाड़ देने के लिए होती है तो ''प्रति-क्रांति'' की अवधारणा जन्म लेती है; उदाहरण के लिए, चीनी साम्यवादी पार्टी ने 1927 में एक क्रांति की और चियांग के-शेक के अधीन 'राष्ट्रवादियों' द्वारा उसके दमन को एक 'प्रति क्रांति' का नाम दिया गया। इस प्रकार, एक क्रांति निश्चित रूप से अधीनता के प्राधार को बदल डालने पर अभिलक्षित होती है।

16.8 क्रांति के लक्षण

यह सत्य है कि विश्व के विभिन्न हिस्सों में अनेक क्रांतियाँ हुई हैं, फिर भी क्रांति का कोई उद्देश्य और आम प्रतिमान स्थापित करना अथवा सभी कालों में प्रयोज्य कोई उपयुक्त परिभाषा करना असंभव है। अतएव हमें अपना ध्यान क्रांति के निहितार्थ और सामान्य लक्षणों पर लगाना चाहिए, ताकि इस अवधारणा-विशेष की एक बेहतर समझ रख सकें। ये हैं :

- एक प्रक्रिया का आरम्भ
- एक परिवर्तन का संकेत
- एक सुसंगत योजना की सूचना
- राजनीतिक नेतृत्व का कल्पित महत्त्व।

MAADHYAM IAS

16.8.1 एक प्रक्रिया का प्रारम्भ

क्रांति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी राज्य द्वारा अपनाई गई राजनीतिक दिशा की या तो सम्पूर्ण जनता अथवा उसके किसी एक खास हिस्से की नज़र में उत्तरोत्तर अविश्वासनीयता पैदा हो जाती है। इस प्रकार की प्रक्रिया किसी क्रांतिकारी घटना अथवा अन्य गतिविधियों में पराकाष्ठा पर पहुँच सकती है, यथा भड़ास निकालना, हो-हल्ला करना, अशान्ति फैलाना अथवा अधिक शक्तिशाली साधनों का प्रयोग कर सरकार बदल डालना।

16.8.2 एक परिवर्तन का द्योतन

जब प्रक्रिया शुरू हो जाती है, क्रांति सशस्त्र बलों के प्रयोग अथवा उसके प्रयोग की विश्वास करने योग्य धमकी द्वारा एक स्पष्ट रूप से सीमांकित समय-बिंदु पर स्थापित व्यवस्था, अथवा सरकार के परिवर्तन का संकेत करती है। इसके अलावा, यह परिवर्तन आकस्मिक, न कि क्रमिक होना चाहिए। यहाँ, महज प्राधिकार का परित्याग ही काफ़ी नहीं है। वर्तमान प्राधिकरण 'वैधता' रहित हो जाने के कारण उसकी जगह एक नया प्राधिकरण आना चाहिए जो 'ईमानदार' हो। जैसे कि यह प्राधिकरण अव्यवस्था, विद्रोह अथवा राजद्रोह जैसी किसी गतिविधि से भिन्न हो।

16.8.3 एक संलयित (Coherent) कार्यक्रम का अर्थ प्रकटन

क्रांति किसी राज्य के राजनीतिक या सामाजिक अथवा दोनों निर्देशों में एक न्यूनाधिक संगत परिवर्तन योजना का भी संकेत करती है, जो कि किसी क्रांतिकारी घटना पश्चात्

सत्ता परिवर्तन हो जाने के बाद राजनीतिक नेतृत्व द्वारा प्रवृत्त की जाती है। क्रांति के किसी भी प्रकार में - चाहे वो उदारवादी हो, साम्यवादी हो, क्रांतिकारीप्राय हो, सीमित या असीमित हो, वास्तविक या उप-क्रांति हो, नकारात्मक अथवा सकारात्मक पहलुओं के साथ - सभी कार्यवाही व कार्यक्रम की एक घनी विधि-संहिता का पालन करते हैं, ताकि यथासंभव अधिक-से-अधिक वांछित परिणाम पा सकें।

16.8.4 राजनीतिक नेतृत्व की कल्पित मर्यादा

क्रांति किसी क्रांतिकारी परिवर्तन से जन्मे राजनीतिक नेतृत्व को एक कल्पित महत्त्व प्रदान किए जाने की ओर भी इशारा करती है, यथा राज्य की जायज़ सरकार के रूप में अल्पावधि महत्त्व। उदाहरण के लिए, 1922 में इटली में फासीवाद और 1933 में जर्मनी में नाज़ीवाद के उद्‌घाटन का क्रांतियों के रूप में स्वागत किया गया, हालाँकि उन्होंने उदारवादी लोकतंत्र की नियति तय कर दी। इन देशों के इन राष्ट्र-नायकों की 'देवदूतों' के रूप में पूजा की गई और लोगों ने एक स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्था के स्थान पर संवैधानिक सरकार लाने के लिए उत्साह दिखाए बग़ैर तानाशाही का विकल्प चुना।

16.9 क्रांति : एक घटनामात्र अथवा एक घटनाक्रम

क्रांति महज स्थापित व्यवस्था को उखाड़ फेंकने से ही ताल्लुक नहीं रखती। यह समान रूप से एक नई व्यवस्था की स्थापना से भी संबंध रखती है। इस प्रकार, यह महज एक घटना नहीं, बल्कि घटनाओं का एक सिलसिला है। यह वर्तमान व्यवस्था को चुनौती दिए जाने से आरंभ होती है और एक नई व्यवस्था लागू होने तक चलती रहती है। इन दोनों बातों के बीच जो होता है उसमें क्रांति की अवस्थाएँ जन्म लेती हैं। ये विभिन्न चरण अथवा घटनाक्रम नीचे ब्यौरेवार उल्लिखित हैं :

MAADHYAM IAS

- कोई क्रांति तब शुरू होती है जब लोगों की आशाएँ बहुत ऊँची हों और बड़े नेतागण कुछ ज़्यादा ही पूर्णतावादी शब्दाडम्बर में डूबे हों। परिणाम 'पुराने' के स्थान पर 'नया' होता है।

- दूसरी अवस्था तब शुरू होती है जब सत्ता हथिया ली जाती है और क्रांतिकारी नेताओं के सामने शासन-संबंधी वास्तविकताएँ आती हैं। यहाँ मत-वैविध्य देखा जाता है, जो नरमपंथियों व उग्रपंथियों का श्रेणि-निर्धारण करता है। तथापि, जीत उन उग्र उन्मूलनवादियों की ही होती है जो सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित रखते हैं।

- हर कीमत पर क्रांतिकारी विचारों व लक्ष्यों को चरितार्थ करने के दुस्साहसी प्रयास किए जाते हैं। इससे एक ऐसी प्रतिक्रिया का ख़तरा उत्पन्न होता है, जो एक स्वास्थ्य-लाभ अवधि को आवश्यक बना देती है।

- इसके बाद एक मंदी की अवस्था आती है। नाराज़ियों और इस्तीफ़ों का दौर चलता है जो किसी तानाशाह को उठ खड़ा होने के लिए बहुत फलद आधार बनाता है।

- अन्तिम अवस्था वो है जिसमें क्रांतिकारी प्रतीक धीरे-धीरे अपनी पकड़ खो देते हैं और तानाशाही एक निर्वस्त्र सत्ता नज़र आती है। तब, जो उखाड़ फेंका गया था और जो लाया गया था के बीच पुनः मेल-मिलाप के साथ पुनर्स्थापना की दिशा में एक प्रवृत्ति जन्म लेती है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) क्रांति से आप क्या समझते हैं? यह विद्रोह से किस प्रकार भिन्न है?

....

....

....

....

....

....

2) क्रांति के मुख्य लक्षण गिनाएँ और उनका वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.10 क्रांति के विभिन्न सिद्धांत

क्रांति के अर्थ, प्रकृति व कारणों को उजागर करने के लिए विभिन्न सिद्धांत सामने आए हैं। हम ऐसे ही चार सिद्धांतों पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे जो क्रांति की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

16.10.1 उदारवादी सिद्धांत

क्रांति का उदारवादी सिद्धांत परिवर्तन प्रक्रिया में यथापूर्व स्थिति बनाए रखने पर ज़ोर देता है। कहना चाहिए कि परिवर्तन बोध सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन की वर्तमान अवस्था को सुरक्षित रखते हुए आकस्मिक किया जाता है। इस प्रकार का विचार प्लैटो व अरस्तू के राजनीति-दर्शन में भली-भाँति प्रकट होता है। क्रांति से प्लैटो का अभिप्राय था एक आदर्श राज्य की स्थापना। अरस्तू के लिए क्रांति का निहितार्थ था, किसी दूसरे द्वारा सरकार का रूप-परिवर्तन अथवा शासकों के प्रकार में बदलाव, जो एक क्रांति के बराबर हो।

एक आशंका भाव से क्रांति तक पहुँचने की प्रवृत्ति और इस प्रकार, विद्यमान व्यवस्था के साथ सामंजस्य में परिवर्तन के विचार को जन्म देने का प्रयास चलता रहा। इसके अतिरिक्त, जॉन मिल्टन ने क्रांति के मामले को स्वतंत्रता कायम रखने से जोड़ा और ऐसी स्थिति में एक नई सरकार चुनने तक की बात कही, यदि वर्तमान शासकगण लोगों को उनकी स्वतंत्रता से वंचित करते हों। तथापि, क्रांति के अर्थ और प्रकृति संबंधी उदारवादी

व्याख्या जॉन लॉक के पास आकर एक महत्त्वपूर्ण मोड़ लेती है। वास्तविकता यह कायम रहती है कि किसी भी संभावित सीमा तक यथापूर्व स्थिति संबंधी त्राण के साथ सामंजस्य में परिवर्तन करने का मूलसिद्धांत पूरी तरह अत्यक्त (undiscorded) रहता है। इस प्रकार, 1688 की इंग्लिश क्रांति और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति पर परिवर्तन-विरोधी होने का आरोप लगाया जाता है।

उदारवादी सिद्धांत की आलोचना

इस सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना की गई है कि विचारकों ने एक क्रांति-कार्य के रूप में अतीत की ओर लौटने को सही ठहराने का प्रयास किया है। परिणामतः, क्रांति के उदारवादी सिद्धांत पर प्रतिक्रियात्मक, परिवर्तन-विरोधी और यहाँ तक कि प्रति-क्रांतिकारी होने का दोष लगाया गया है। यहाँ, क्रांतिकारियों ने स्वयं को 'मनुष्य के अधिकारों' के नायकों के रूप में घोषित किया। परन्तु ऐसे किन्हीं भी मानदण्डों का विश्लेषण जिनके द्वारा उन्होंने अपने सिद्धांतों को प्रभावी बनाया, स्पष्ट रूप से यह दर्शाता है कि 'मनुष्य के अधिकारों' से वस्तुतः उनका तात्पर्य कुछ लोगों के एक सीमित वर्ग के अधिकारों से था जिनके पास समाज में उत्पादन साधन थे। इस प्रकार, उदारवादी परम्परा एक बौद्धिक क्रांति थी जो कि मुख्यतः औद्योगिक क्षेत्र में सम्पत्ति-धारकों के हित में चलायी गई थी।

16.10.2 मार्क्सवादी सिद्धांत

मार्क्सवादी सिद्धांत ने मूल रूप में 'स्थायी क्रांति' की धारणा पर ज़ोर दिया। मार्क्सवादियों का मत था कि कोई सामाजिक क्रांति तब होती है जब विद्यमान उत्पादन-संबंध उत्पादन-बलों के भावी विकास में एक बाधा के रूप में काम करते हैं। इस प्रकार, मार्क्स के अनुसार, आज तक हुई आधुनिक युग की प्रमुख राजनीतिक क्रांतियों की व्याख्या ऐसे दीर्घावधि सामाजिक व आर्थिक विकासों के परिणामों के रूप में की जानी चाहिए, जिसमें आर्थिक शोषण के नए रूप सामने आयें। उनके अनुसार, 'कोई राजनीतिक क्रांति उस स्थिति में एक सामाजिक क्रांति होती है जब उसमें सामाजिक वर्गों का संघर्ष शामिल हो।'

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस प्रकार, मार्क्स 'मध्यवर्गीय क्रांति' को मान्यता देते हैं जिसके द्वारा 'सामन्ती राज्य को उस मध्यवर्ग द्वारा उखाड़ फेंका जाता है जो उसी के अन्दर पनपा होता है, और मध्यवर्गीय शासन के साधन के रूप में एक नए राज्य का निर्माण किया जाता है।' उनको उम्मीद थी कि एक लोकतांत्रिक रूप से उन्नत देश (जैसे इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका) में समाजवादी क्रांति 'मत-पेटी युद्ध' के माध्यम से हो सकती है। कुल मिलाकर, बहरहाल, मार्क्सवादी सिद्धांत का वज़न हिंसात्मक तरीके प्रयोग करने पर ही है। सिर्फ़ यही नहीं, वह इस सम्भावना पर भी विचार करता है कि धारणाएँ, आस्थाएँ, दोषसिद्धियाँ, रीति-रिवाज़ और लोकजीवन के तौर-तरीके बदलते हैं ताकि उनका समाजवादी व्यवस्था के मानदण्डों के साथ तालमेल बिठाया जा सके। इस प्रकार, 'सांस्कृतिक क्रांति' शुरू की जाती है ताकि लोगों का बलात् मत परिवर्तन किया जा सके।

क्रांति की प्रक्रिया यहाँ भी नहीं थमती। यह एक स्थायी कारोबार है, जो 'राज्यहीन समाज' के अन्तिम चरण की ओर आह्वान करता है। इसका निहितार्थ 'क्रांति निर्यात' भी है, जिसका मतलब है अन्तरराष्ट्रीय समाजवाद। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* प्रबोधन के इन शब्दों के साथ खत्म होता है : 'सभी देशों के मज़दूर एक हों। तुम्हारे पास खोने के लिए बेड़ियों के सिवा कुछ भी नहीं है। तुम्हारे पास जीतने के लिए संसार है।'

मार्क्सवादी सिद्धांत की आलोचना

इस सिद्धांत के खिलाफ़ अभिलक्षित एक प्रमुख आलोचना यह है कि यह 'समाजवादी क्रांति' हो जाने के बाद रुक जाता है। क्रांति का मूल रूप से अर्थ होता है बेहतरी के लिए बदलाव। परन्तु एक समाजवादी राज्य में यह एक वर्जना है। प्रतिपक्ष का दमन किया जाता है और लोगों पर दबाव जाता है कि वे अपने आपको बदलें, जो कि ज़रूरी नहीं कि बेहतरी हेतु बदलाव के बराबर ही हो। इस प्रकार, मार्क्स का दृष्टिकोण परिसीमित कहा जा सकता है।

इस सिद्धांत में एक और कमज़ोरी यह है कि क्रांतिकारी राजनीतिक कार्यवाही और मार्क्स के सामाजिक-आर्थिक विकास संबंधी आम सिद्धांत के बीच सही संबंध आशाजनक रूप से अनिश्चित अर्थात्मक है। यह वर्ग-संघर्ष के विवर्धन (elaboration) पर खड़ा होता है। यह सिद्धांत समस्यामूलक है क्योंकि विचारकों के बीच हम विवाद पाते हैं। जहाँ त्रोत्सकी ने 'क्रांति निर्यात' की इच्छा की, स्टालिन ने एक देश 'में समाजवाद' का नारा दिया। क्रुशचेव ने पूँजीवादी राज्य के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांत की रट लगाई।

16.10.3 नव-उदारवादी सिद्धांत

नव-उदारवादी विचारकों के अनुसार क्रांति का अर्थ एक भिन्न संकेत देता है और इसीलिए, इसके कारण अकेले अर्थशास्त्र के क्षेत्र में नहीं ढूँढे जा सकते। इस संदर्भ में अनेक दृष्टिकोण उभरे हैं, सभी यही तथ्य सामने रखते हैं कि क्रांतियाँ मानव समाज-विषयक हिंसक उपद्रव हैं, जो एक शासक गुट को ऐसे दूसरे गुट द्वारा हटाये जाने का कारण बनते हैं, जो एक अधिक व्यापक जनसमर्थनाधार रखता है। ऐतिहासिक तथ्य दर्शाते हैं कि ''वर्ग-चेतना'' जैसा कुछ भी न रखने वाले लोग अपनी नियति को बदलने के लिए विद्रोह हेतु उठ खड़े होते हैं। इस प्रकार, कोई क्रांति एक अचानक प्रादुर्भाव (outbreak) की बजाय एक गहरे जड़ पकड़ी और धीरे-धीरे विकसित होती राजनीतिक व सामाजिक कु-रचनाओं का परिणाम दिखाई पड़ेगी। तथापि, अन्तिम चरण में, वे आकस्मिक और हिंसक हो जाती हैं।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

क्रांति के कारण पर मनोविज्ञान के आधाररूप दृष्टिकोण से चर्चा की गई है। डेविड सी. वार्त्ज़ ने लोगों की उदासीनता को एक कारक के रूप में स्पष्ट किया, जिसे 'शत्रुकरण' (alienation) के नाम से जाना जाता है। इस आधार पर, उन्होंने एक 'सत्याभासी सिद्धांत' (plausible theory) तैयार किया, जिसमें शुरू में द्वैधवृत्ति (ambialence) होती है जो 'विवाद' की ओर चलती है, तदोपरांत 'विवेकपूर्ण संगति' पर पहुँचती है और अन्ततः 'सामन्जस्य' पर। राजनीति से वापसी एक ख़तरनाक संकेत है, क्योंकि वह व्यवस्था के प्रति उदासीनता का भाव पैदा करती है और परिणाम होता है, जनाक्रोश का फूटना।

नव-उदारवादी सिद्धांत की आलोचना

वर्तमान शताब्दी के नए उदारवादी विचारकों ने एक तरीके से मार्क्स का ही अनुसरण करने का प्रयास किया है, जहाँ तक कि उन्होंने सत्ता हथियाने में बलप्रयोग पर ज़ोर दिया है, और उसको ठुकराया भी है जहाँ तक कि वह अपना ध्यान केवल वर्ग-संघर्ष के मानदण्डों तक ही सीमित रख सकते हैं। इसने विभिन्न संकेत देती क्रांति के अर्थ की ओर प्रवृत्त किया है।

कोई क्रांति सिर्फ़ एक घटनामात्र नहीं होती, जैसा कि उदारवादी विचारकों द्वारा कहा गया, जिसमें एक वर्ग दूसरे को हटा देता है और सत्ता हथिया लेता है। वस्तुतः, फिर भी, ऐसा है कि यह इतिहास के एक काल-विशेष से भी संबंध रखती है जो समय की एक विचारणीय अवस्था तक विस्तीर्ण तो होती है, परन्तु निश्चित रूप से प्रमुख 'सामाजिक व वैचारिक परिवर्तन' द्वारा पहचाना जाता है।

16.10.4 आदर्शवादी उदारवादी सिद्धांत

आदर्शवादी-उदारवादी सिद्धांत एक नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल पर ज़ोर देता है, जिसके माध्यम से लोगों का कोई समूह अपने अस्तित्व हेतु एक नया आधार स्थापित करने का प्रयास करता है। यदि ऐसा है, तो कोई क्रांति महज एक राजनीतिक प्रक्रिया नहीं होती, वरन् मानवीय संभाव्यता प्रकटन का एक हिस्सा होती है। एक उच्च नैतिक ध्येय की ओर दिशा-निर्देशित एक प्रमुख ऐतिहासिक महत्त्ववाली घटना इस व्याख्या के अनुसार एक क्रांति होती है।

इस प्रकार के अभिविन्यास (orientation) को हैगेल की ओर से प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली है। उनके अनुसार, यही वो 'कारण' है जो क्रम-विकास में एक निर्णायक भूमिका निभाता है। प्रयोजन एक पक्ष होता है, उसमें एक विवाद का तत्त्व पनपता है, जिसे उसका 'प्रतिपक्ष' कहा जा सकता है। इन दोनों के बीच संघर्ष 'सपक्ष' के उद्‌गमन की ओर प्रवृत्त करता है, जिसमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों का मिश्रण होता है, तथा विकास की एक उच्च अवस्था को दर्शाता है - एक ऐसी अवस्था जो एक अन्य उच्च अवस्था की ओर प्रवृत्त करेगी और इस प्रकार, परिवर्तन प्रक्रिया चलती रहेगी। कोई क्रांति, इसी कारण, द्वन्द्व-न्याय कानूनों की संक्रिया के कारण ही होती है, जिसमें निर्णायक भूमिका उत्साह प्रवणता (साहस) की होती है। इस प्रकार, यह उस प्रक्रिया के लिए कुछ खास बन जाता है जिसमें आदर्शरूप से युक्तियुक्त वास्तविक बन सकता है।

क्रांतिबोध संबंधी आदर्शवादी के साथ उदारवादी व्याख्या एम.एन.रॉय के राजनीति-दर्शन में देखी जा सकती है, जिन्होंने कहा कि क्रांति का अर्थ है मनुष्य में आज़ादी की ललक पैदा करना। गोया कि क्रांति मानव स्वभाव पर आधारित है और हिंसा जैसी किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं होती। इसका मतलब है कि स्वतंत्रता और समानता के आधार पर समाज को पुनर्संगठित करने की आवश्यकता बनी रहती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आदर्शवादी-उदारवादी सिद्धांत की आलोचना

इस सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि यह इतना दुर्बोध है कि एक औसत बुद्धि वाले व्यक्ति की समझ से बाहर है। विशुद्ध रूप से दार्शनिक व्याख्या क्रांति के विषय को हकीकत की दुनिया से दूर ले जाती है। क्रांति दरअसल, एक महत्त्वपूर्ण घटना है जो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विकास के प्रतिमान को बदल देती है। इस अर्थ में यह एक निर्दोषतः व्यावहारिक कार्य है। यह एक आनुभाविक अध्ययन हेतु आह्वान करता है। क्रांति का मूल्यरहित अध्ययन, तथापि, एक तार्किक असंभाव्यता है।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) क्रांति के उदारवादी सिद्धांत की किस आधार पर आलोचना की जाती है?

....

....

....

....

....

2) मार्क्सवादी जन क्रांति के प्रश्न तक कैसे पहुँचते हैं?

....

....

....

....

....

....

16.11 नवीन सामाजिक विज्ञान साहित्य में का सिद्धांतिकरण क्रांति

क्रांति, जो सामाजिक विज्ञान में मुख्य अवधारणाओं में से एक रही है, ने हाल के वर्षों में विद्वानों व शिक्षकों का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। ऐसी ही कुछ व्याख्याओं पर नीचे चर्चा की गई है।

16.11.1 तुलनात्मक दृष्टिकोण

तुलनात्मक दृष्टिकोण में सर्वाधिक प्रभावी प्रयोग, जैसा कि सामाजिक क्रांति हेतु प्रयोज्य है, थेडा स्कॉक्पोल कृत *स्टेट्स एण्ड सोशल रिवॅलूशन्स* (1979) में उनकी रचना में है, जो कि फ्रांसीसी, रूसी और चीनी क्रांतियों के एक तुलनात्मक विश्लेषण पर आधारित है। इस दृष्टिकोण को अपनाकर थेडा ने क्रांति विषयक अपने अध्ययनों के पीछे हुए 'सामान्यीकृत्य तर्क' को ढूँढने का प्रयास किया। क्रांति-संबंधी सभी पूर्व व्याख्याओं से उनका दूर भागना इसलिए है, क्योंकि सचेत प्रयोजन संबंधी किसी भी धारणा को वह खारिज करती हैं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सामाजिक क्रांतियाँ तो बस होड़ करती ताकतों का ग़ैर-योजनाबद्ध परिणाम होती हैं। कलह में विभिन्न गुट शामिल होते हैं और परिणाम इस बात से निर्धारित होता है कि अन्ततः उनमें से कौन जीतता है। न तो व्यक्तिजन, न ही गुट, यहाँ तक कि वर्ग भी सारी क्रांतियों भर में तर्क और संगति के साथ काम नहीं करते, जिसकी कि पारम्परिक दृष्टिकोणों की अपेक्षा होती है। स्कॉक्पोल की, बहरहाल, माइकल टेलर, मैन्कर ओल्सन व अन्य ऐसे लोगों द्वारा आलोचना की गई है जो स्कॉक्पोल के तर्क को यह कहते हुए चुनौती देते हैं कि क्रांति अनुक्तियुक्त (irrational) है और अपने लेखों के माध्यम से यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि युक्तियुक्त विकल्प सिद्धांत क्रांतिकारी गठबंधन-निर्माण पर प्रयोज्य (applied to) है।

16.11.2 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

फ्रांसीसी क्रांति के समय से ही लोगों ने इस बात की मनौवैज्ञानिक व्याख्याएँ ढूँढ ली थीं कि क्रांतिकारी जो करते हैं, वह क्यों करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का अनुसरण करती हुई क्रांति-संबंधी सभी पूर्व व्याख्याएँ, यथा ल बौं (1960), दाँ मार्तें (1920) की, उस जनसाधारण के आभासी निर्नैतिक (apparently immoral) व्यवहार के इर्दगिर्द घूमती हैं, जो अनूठे व असाधारण तरीकों से काम करते हैं, जो कि बदले में, द्रुत और दूरगामी परिवर्तनों की ओर इस प्रकार ले जाते हैं कि सामान्य परिस्थितियाँ असंभव होती हैं। ये सब व्याख्यायें, तथापि, यह मानकर चलती हैं कि किसी क्रांतिकारी स्थिति में हर व्यक्ति एक ही तरीके से व्यवहार करता है और कि क्रांति का एक मनोवैज्ञानिक कारण होता है।

परन्तु फ्रायड के प्रभावाधीन क्रांति-संबंधी आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों ने व्यक्ति की दूसरों के साथ अन्तर्क्रिया पर ध्यान आकृष्ट किया। कुछ उल्लेखनीय प्रकाशन रहे हैं, यथा *दि ॲथोरिटेनियन पर्सनॅलिटी* (एडोर्नो व अन्य 1964), *द रिवॅलूशनरी पर्सनॅलिटी* (वोल्फेन्चर, 1967), अथवा *वाइ मैन रिबैल* (टैड गर, 1970)। टैड गर की पुस्तक, विशेष रूप से, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में एक उच्च रूप से, औपचारिक प्रयोग है, हालाँकि, इसमें मुख्य रूप से राजनीतिक हिंसा का ही संकेत है। गर द्वारा हिंसा-प्रयोग की दिशा में प्रेरणा एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अवधारणा में पायी जाती है, जिसे 'सापेक्ष वंचन' (relative deprivation) कहा जाता है, और जिसे उस तनाव को इंगित करने हेतु प्रयोग किया जाता है जो सामूहिक मूल्य संतुष्टि संबंधी "होना चाहिए" और "है" के बीच एक भेद पैदा करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी कुछ अन्तर्जात सीमाएँ हैं, क्रांति के परिणामों को स्पष्ट करने का प्रयास करते-करते, शायद इसी कारण, गर मनोवैज्ञानिक से सामाजिक की ओर चले जाते हैं।

16.11.3 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

क्रांतियों की सबसे प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय व्याख्यायें प्रकार्यात्मकवादी (functionalist) व्याख्याएँ हैं। इस दृष्टिकोण का मूल आधारवाक्य इस प्रकार है : समाज की स्थिरता उसके नागरिकों की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगी सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। यदि वह ऐसा करने में विफल रहती है, तो समाज के मूल्यों पर आधारित सर्वसम्मति, जो सरकार को कार्य करने में समर्थ बनाती है, खो जाती है, और सर्वसम्मति की विफलता के साथ ही वर्तमान व्यवस्था के व्यापक परित्यजन (rejection) का रास्ता खुल जाता है। इस दृष्टिकोण को अपनाने वाली कई रचनाएँ उल्लेखनीय रही हैं, यथा *रिवॅलूशन एण्ड द सोशल सिस्टम* (सी. जॉनसन, 1964) *द नैचुरल हिस्ट्री ऑफ रिवॅलूशन* (एल.सी. एडवर्डज़, 1970) आदि। व्याख्या के इन रूपों के साथ समस्या यह है कि वे यह स्पष्ट नहीं करतीं कि कुछ स्थितियों विशेष में क्रांतियाँ क्यों होती हैं, और महत्त्वपूर्ण रूप से, एक अनुकूल परिस्थिति के बावजूद नहीं होतीं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.11.4 राजनीतिक दृष्टिकोण

क्रांति के अध्ययन की ओर राजनीतिक दृष्टिकोण मूलतः क्रांति के पीछे हुए तथ्यों को ढूँढने का प्रयास करके क्रांति की व्याख्या करना, क्रांति-प्रक्रिया की व्याख्या करना और क्रांति के परिणामों का विश्लेषण करना है। इस श्रेणी में सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति शायद *फ्रॉम मॅबिलाइज़ेशन टु रिवॅलूशन* (चार्ल्स टिली, 1978)। टिली का खास ज़ोर अन्यत्रभाव प्रक्रिया (alienation) और उस पुनर्समूहीकरण पर है। जो क्रांति से पूर्व होता है, साथ ही यह ज़ोर क्रांतिकारी परिस्थिति के कारणों पर और क्रांतिकारी परिणामों पर भी है।

16.11.5 दार्शनिक दृष्टिकोण

क्रांति की आधुनिक दार्शनिक व्याख्याओं में हना आरन्त के *ऑन रिवॅलूशन* (1963) का ज़ोर है। आरन्त के अनुसार, क्रांति नवीनतम राजनीतिक दृश्यघटनाओं में से एक दृश्यघटना है। क्रांति आज़ादी की तलाश है और क्रांतिकारी वे होते हैं, जो निरंकुश शासन की सूरत में आज़ादी के लिए लड़ते हैं। आरन्त के अनुसार, आज़ादी एक पार्थक्य-सूचक गुण है; अपने आप में एक अच्छाई है जो कि मानव समाज के पास हासिल करने को उच्चतम उपलब्धि है। क्रांति की समस्या यह है कि उसका दृष्टिकोण ऐसी उपयुक्त संस्थाओं को ढूँढ पाने में विफल रहा है, जिनमें वह स्वयं को व्यक्त कर सके। वह, इसी कारण, इस प्रयोजन का अनुभव करने के प्रयास हेतु व्यावहारिक परिणामों के साथ अपनी बात समाप्त

करती हैं : दलीय सरकार नहीं, जिसको कि वह जनता द्वारा चुने गए एक अभिजात वर्ग द्वारा बनाई गई सरकार मानती हैं, बल्कि आरंभिक गणतंत्रों के स्थानापन्न प्रतिनिधियों द्वारा स्व-शासन।

16.12 क्रांति का मूल्यांकन

अर्थ, प्रकृति और क्रांति विषयक अनेक सिद्धांतों पर चर्चा करने के बाद, उसकी विषयवस्तु स्पष्ट हो जाती है। यथा, क्रांति में अधिकारों का चिरस्थापित भाव लुप्त हो जाता है और कार्यव्यापार की एक नई अवस्था जन्म लेती है। इसमें 'परिवर्तन' का तत्त्व पैदा करने के लिए हिंसा व रक्तपात संबंधी उग्र विचार शामिल किए जाते हैं। इनमें आत्म-पुनर्नवीकरण (self-renewal) की संभावना होती है। यह विफलता अथवा सफलता संबंधी परिवर्तन ला सकता है, जो कि एक राजनीतिक व्यवस्था के समाप्त हो जाने की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार, क्रांति का अर्थ हुआ एक ऐसे समाज की असली रुग्णता (illness) को मिटाने के अभिप्राय से निश्चय ही एक दूरगामी परिवर्तन का संयोजन, जो कि एक गतिरोध में पहुँच गया है।

बोध प्रश्न 6

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलायें।

1) क्रांति के विषय में थेडा स्कॉक्पोल के क्या विचार थे?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) क्रांति हेतु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

16.13 सारांश

इस इकाई में हमने राजनीतिक दायित्व व क्रांति तथा राजनीति-दर्शन के महत्त्व व औचित्य संबंधी संपूरक शब्दों की व्याख्या काफ़ी विस्तार के साथ पढ़ी। शुरूआत में हर अन्तर्विवेकशील व्यक्ति कानूनी, धार्मिक, पारम्परिक, नैतिक व अनुमति आधार के कारण राज्य के कानूनों का पालन करता है। कहना चाहिए कि राजनीतिक दायित्व की अवधारणा राजनीतिक वैधता और क्रांति के संबद्ध विषयों के अन्वेषण की ओर प्रवृत्त करती है। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि यदि प्राधिकार विधिसंगत है, तो लोग राज्य का आज्ञापालन करते हैं, अन्यथा वे उसे उखाड़ फेंक सकते हैं। इस प्रकार, क्रांति का मुद्दा जन्म लेता है। यदि कोई क्रांति सफल होती है, तो वह वैधता का एक नया सिद्धांत लागू कर देती है जो कि पूर्व व्यवस्था की 'न्याय संगतता' को हटा देता है। इस प्रकार, दायित्व और क्रांति संबंधी अवधारणाएँ राजनीति-दर्शन की महत्त्वपूर्ण कसौटियाँ हैं।

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कैल्वर्ट, पीटर, *रिवॅलूशन एण्ड काउण्टर-रिवॅलूशन,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, लंदन, 1990

बर्न्स, सी.डी., *द प्रिंसिपल्स ऑफ रिवॅलूशन,* जोर्ज ऐलन एंड अनविन, लंदन, 1920

बार्कर, ई., *प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल थिअरी,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1967, लंदन

मरियम, चार्ल्स ई., *अ हिस्टॅरी ऑफ पॅलिटिकॅल थिअरीज़ : रिसैन्ट टाइम्स,* सैंट्रल बुक डिपो, 1969, इलाहाबाद

डन, जॉन, *माडर्न रिवॅलूशन : ऐन इण्ट्रोडक्शन टु दि ॲनैलिसिस ऑफ अ पॅलिटिकॅल फिनॉमिनन,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, 1972, लंदन

रे एवं भट्टाचार्य, *पॅलिटिकॅल थिअरी : आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्ज़,* वर्ल्ड प्रैस, कलकत्ता, 1968 (नया संस्करण देखें)

सिंह, रणधीर, *रीज़न, रिवॅलूशन एण्ड पॅलिटिकॅल थिअरी,* पीपल'ज़ पब्लिशिंग हाउस, 1976, दिल्ली

16.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 16.1 - 16.4

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 16.5.1
2) देखें उपभाग 16.5.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 16.5.4

2) देखें उपभाग 16.5.5

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 16.7 - 16.8

2) देखें भाग 16.8

बोध प्रश्न 5

1) देखें उपभाग 16.10.1

2) देखें उपभाग 16.10.2

बोध प्रश्न 6

1) देखें उपभाग 16.11.1

2) देखें उपभाग 16.11.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 17 अधिकार और नागरिकता

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देष्य
17.1 परिचय
 17.1.1 नागरिकता–संबंधी धारणा की उत्पत्ति
 17.1.2 नागरिकता–विषयक धारणाओं का विकास : चार ऐतिहासिक काल
17.2 ऐतिहासिक घटनाक्रम : नागरिकता प्राचीन से आधुनिक युग तक
 17.2.1 प्राचीन यूनान
 17.2.2 प्राचीन रोम
 17.2.3 उत्तर मध्यकालीन एवं पूर्व–आधुनिक काल
 17.2.4 नागरिकता–संबंधी आधुनिक धारणाएँ : 19वीं व 20वीं सदी का घटनाक्रम
 17.2.5 उदारवादी सामाजिक व्यवस्था का महत्त्व एवं सीमाबद्धता
 17.2.6 नए प्रसंग एवं बदलते विषय : बहुसंस्कृतिवाद
17.3 वर्तमान नागरिकता सिद्धांत : विभाजक रेखाएँ
 17.3.1 नागर–गणतंत्रवाद एवं उदारवादी परम्परा
 17.3.2 विभाजक रेखाएँ : व्यक्ति बनाम समुदाय–विषेष
 17.3.3 विभाजक रेखाएँ : कर्त्तव्य बनाम अधिकार
17.4 समीक्षाएँ और विकल्प : मार्क्सवादी, नारी–अधिकारवादी तथा गाँधीवादी
 17.4.1 नागरिकता की पुनर्परिभाषा : उदारवादी नागरिकता–संबंधी मार्क्सवादी आलोचना
 17.4.2 नारी–अधिकारवादियों की नागरिकता–संबंधी पुनर्परिभाषा
 17.4.3 नागरिकता–संबंधी गाँधीवादी धारणा
17.5 सारांष
17.6 मुख्य शब्द
17.7 कुछ उपयोगी संदर्भ
17.8 बोध प्रष्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम अधिकारों व नागरिकता संबंधी धारणा(ओं) का अध्ययन (अ) उनके ऐतिहासिक विकास और (ब) एक ऐसे क्षेत्र के रूप मे करेंगे, जहाँ विभिन्न परस्पर विरोधी विचार उनके रूप व तात्पर्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत किए गए हैं। हम अधिकारों व नागरिकता संबंधी प्रमुख अर्थों की समालोचनाओं पर तथा इस प्रकार की समालोचनाओं द्वारा दिए गए वैकल्पिक अर्थों पर भी ध्यान केन्द्रित करेंगे। जैसा कि आरम्भ में प्रस्तुत इकाई की संरचना दर्शाती है, प्रत्येक भाग एक विशिष्ट विषय को स्पष्ट करता है और तदोपरांत समझने में मदद के लिए प्रश्न रखता है। इकाई के अंत में कुछ मुख्य शब्दों की व्याख्या की गई है।

17.1 परिचय

नागरिकता को सामान्य तौर पर व्यक्ति – समूह व राज्य के बीच संबंध के संदर्भ में समझा जाता है। इस संबंध को पारस्परिक अधिकारों व दायित्वों के कुल के रूप में समझा जाता

है। नागरिकता की सर्वाधिक सामान्य रूप से मान्य परिभाषा अंग्रेज़ समाजशास्त्री टी. एच. मार्शल ने दी है, जो इसकी 'एक राजनीतिक समुदाय में पूर्ण और समान सदस्यता', के रूप में व्याख्या करते हैं। नागरिकता इस परिभाषा के अनुसार, एक राजनीतिक समुदाय में सदस्यता को इंगित करती है, जो कि हमारे वर्तमान संदर्भ में राष्ट्र–राज्य ही है। नागरिकता, तदनुसार, उन लोगों के बीच संबंध के एक विशिष्ट पहलू को इंगित करेगी जो किसी राष्ट्र में एक साथ रहते हैं। यह किसी सांस्कृतिक/भावनात्मक पहचान की बजाय समुदाय के भीतर राजनीतिक अनुषक्तियों (allegiances) एवं नागर निष्ठाओं (civiclogalties) पर जोर देती है।

17.1.1 नागरिकता–संबंधी धारणा की उत्पत्ति

नागरिकता–संबंधी धारणा के उद्‌गमों का पता आमतौर पर प्राचीन यूनानी व रोमन गणतंत्रों में मिलता है। यह शब्द स्वयं लैटिन शब्द 'सिविस' (civis) तथा इसके ग्रीक समानार्थी 'पॅलिटीस' (polities) से पैदा हुआ है, जिसका अर्थ है पॉलिस (polis) अथवा शहर का सदस्य। हालाँकि, उस तरीके ने, जिसमें जन्म की परिस्थितियों से प्राप्त होने वाले आरोप्य विशेषाधिकारों (ascriptive privileges) के विरुद्ध समान अधिकारों की एक व्यवस्था के रूप में आज नागरिकता को समझा जाता है, फ्रांसीसी क्रांति (1789) में जड़ें पकड़ीं। पूँजीवाद एवं उदारवाद को विकास के साथ ही, अपनी जाति, वर्ग, प्रजाति, लिंग नृजाति आदि पर ध्यान दिए बगैर अधिकार धारण करने वाले एक व्यक्ति के रूप में नागरिक–संबंधी धारणा संस्थापित हो गई। उन्नीस सौ अस्सी के दशक से ही तथापि, भूमण्डलीकरण एवं बहुसंस्कृतिवाद ने ऐसे प्रसंग प्रदान किए हैं, जिनमें रहकर नागरिकता की धारणा को चुनौती दी गई है। इस प्रकार, अब राष्ट्र को सदस्यता की एक मात्र इकाई के रूप में नहीं देखा जाता और विश्व नागरिकता एवं मानवाधिकार संबंधी धारणाओं की उत्सुकतापूर्वक चर्चा होती है। इसी प्रकार, नागरिकता सिद्धांत के मर्म के रूप में व्यक्ति को हटा दिया गया है और सांस्कृतिक समुदायों व समूहों के अधिकारों ने स्थान लेना शुरू कर दिया है। तदनुसार, यह कहा जा सकता है कि नागरिकता–संबंधी धारणा अनेक ऐतिहासिक कालों से गुजरकर विकसित हुई है। इसका रूप और तात्पर्य एक ही नहीं रहे हैं, बल्कि विशिष्ट ऐतिहासिक प्रसंगों के अनुसार बदले हैं। विभिन्न रूप जो ऐतिहासिक रूप से नागरिकता ने धारण किए, हालाँकि, पूरी तरह लुप्त नहीं हुए हैं। उन्होंने सिर्फ नागरिकता के आधुनिक अर्थों को ही प्रभावित नहीं किया है, वे नागरिकता को घेरे अर्थों के अम्बार के भीतर विभिन्न सूत्रों के रूप में भी विद्यमान हैं।

MAADHYAM IAS

17.1.2 नागरिकता–विषयक धारणाओं का विकास : चार ऐतिहासिक काल

उन धारणाओं के विकास का श्रेय, जो नागरिकता से संबंधित हैं, चार मुख्य ऐतिहासिक कालों को दिया जा सकता हैः (अ) प्राचीन ग्रीको–रोमन काल (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात्), (ब) परवर्ती मध्यकालीन एवं पूर्व–आधुनिक काल, जिनमें फ्रांसीसी एवं अमेरिकी क्रांतियों का काल शामिल है, (स) उदारवाद एवं पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव से संबंधित उन्नीसवीं सदी का घटनाक्रम और (द) बहुसंस्कृतिवाद व समुदाय अधिकारों के साथ बढ़ते पूर्वाधिकार को लेकर बीसवीं सदी उत्तरकाल में नागरिकता के रूप व तात्पर्य पर विवाद। अधिकारों व नागरिकता संबंधी दो प्रमुख सूत्र अथवा परम्पराएं इन कालावधियों में विकसित हुई मानी जा सकती हैं : (अ) नगर गणतंत्रवाद, जिसके अभिलक्षण थे – जन–कल्याण, जन–चेतना, राजनीतिक भागीदारी व नागर गुण संबंधी धारणाएँ, और (ब) उदारवादी नागरिकता, वैयक्तिक अधिकारों व निजी हितों पर जोर दिए जाने के साथ। मार्क्सवादियों व नारी–अधिकारवादियों दोनों ने ही इन परम्पराओं की आलोचना की है और नागरिकता

पर पुनर्विचार के उग्रवादी तरीके सुझाये हैं। गाँधीजी द्वारा उदारवादी – अनुभवाश्रित नागरिकता संबंधी आलोचना तथा अधिकार की बजाय कर्त्तव्य–बोध पर आधारित नागरिकता संबंधी उनका दृष्टिकोण नागरिकता विषयक एक दूसरी तरह की सोच को जन्म देते हैं।

आगामी भागों में हम इन विषयों पर चर्चा करेंगे : अधिकारों व नागरिकता संबंधी धारणाओं का ऐतिहासिक विकास, वे किंचित परिवर्तन जिनको कि बीसवीं सदी के उत्तरकाल के बदलते प्रसंगों ने आवश्यक कर दिया, नागरिकता व अधिकारों की प्रकृति व तात्पर्य विषयक सिद्धांतों के बीच विभाजन, तथा अन्ततः वे विकल्प जो अधिकारों व नागरिकता संबंधी प्रमुख सामाजिक व्यवस्था हेतु प्रस्तुत किए गए हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) नागरिकता से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

....

2) नागरिकता–संबंधी धारणा के विकास में मुख्य सूत्र/परंपराएँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.2 ऐतिहासिक घटनाक्रम : नागरिकता प्राचीन से आधुनिक युग तक

इस भाग में हम देखेंगे कि नागरिकता की धारणा विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में किस प्रकार क्रम–विकसित हुई है।

17.2.1 प्राचीन यूनान

एथेन्स व स्पार्टा जैसे ग्रीक ग्रणतंत्र करीब से जुड़े, स्व–शासित राजनीतिक समुदाय थे जिनके लक्षण थे – कम जनसंख्या, न्यूनतम सामाजिक मतभेद एवं सरल राजनीतिक

संगठन जो मेल–जोल व आस्था की धारणाओं पर आधारित थे। ग्रीक गणतंत्रों अथवा और शहर–राज्यों में नागरिकता की धारणा सक्रिय राजनीतिक भागीदारी के सिद्धांत पर आध ारित थी। किसी व्यक्ति के राजनीतिक व सार्वजनिक पहलुओं को निजी व पारिवारिक पहलुओं की बनिस्पत अधिक महत्त्वपूर्ण के रूप में देखा जाता था। नागरिकता इसी कारण राजनीतिक व सार्वजनिक मामलों में सक्रिय भागीदारी की अपेक्षा करती थी। तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि शासन–प्रक्रिया में हर व्यक्ति भाग नहीं ले सकता था और हर व्यक्ति, इसी कारण, नागरिक भी नहीं था। अरस्तू ने यूनानी नागरिकों का चित्रण इन शब्दों में किया – 'वे सभी जो शासन–व्यवस्था के नागर जीवन में भाग लेते और बदले में शासित होते हैं'। यह भागीदारी सिर्फ उन्हीं तक सीमित थी जो शासन–प्रक्रिया में भाग देने की क्षमता रखते थे, यथा केवल 'स्वतंत्रता व नागरिकता संबंधी अधिकार विरासत में प्राप्त करने वाले मूल निवासी पुरुष' ही। तदनुसार, महिलाएँ, बच्चे, दास, व अन्य देशीय निवासी नागरिकता से वंचित रखे गए थे। आखिरी विश्लेषण में, इसी कारण, नागरिकगण जनसंख्या के मात्र एक छोटे से भाग का निर्माण करते थे।

17.2.2 प्राचीन रोम

रोमन परम्परा में सक्रिय भागीदारी के रूप में नागरिकता संबंधी ग्रीक धारणा को रोमन साम्राज्य की एकीकृत रखने संबंधी आवश्यकताओं द्वारा परिष्कृत (modify) किया गया। साम्राज्य में विजित लोगों (congured people) को समाविष्ट करने की आवश्यकता ने नागरिकता को एक कानूनी दर्जे के रूप में लिए जाने संबंधी विचार की ओर प्रवष्त किया। तदनुसार, एक वष्हत्तर और अधिक भिन्न जातीय अधिवासी–समुदाय को, उन्हें कानूनों की एक नियमानुवर्ती शृंखला की रक्षार्थ अधीन कर, रोमन साम्राज्य में एकीकृत कर लिया गया। महिलाओं व निकृष्टतम वर्गों (मुख्यतः ग्रामीण) को फिर भी नागरिकता के दर्जे से वंचित रखा गया। इस प्रकार, नागरिकता की कल्पना अब मुख्यतः कानूनों को बनाने व लागू करने में भागीदारी के रूप में ही नहीं (जैसा कि यूनानी परम्परा के उदाहरण में था), बल्कि कुछ अधिकारों व कानून की समान रक्षा समेत एक कानूनी दर्जे के रूप में भी की जा सकती थी। यह फिर भी कहा जा सकता है कि नागरिकता के इन नए तत्त्वों ने समाविष्टता (यथा, गैर–रोमनवासियों को रोम की नागरिकता दिए जाने को शामिल करने) की अवस्था को सम्भव बनाते समय 'मताधिकार रहित नागरिकता' (कानूनी परन्तु राजनीतिक अधिकार नहीं – 'Civitas sine suffragio') वाली दूसरा–दर्जा श्रेणी शुरू करते हुए दर्जे का एक पदानुक्रम भी जोड़ दिया।

17.2.3 उत्तर–मध्यकालीन एवं पूर्व–आधुनिक काल

प्रशासन के मापक्रम में वृद्धि (शहर–राज्य जैसे कि साम्राज्य से भिन्न) ने भी यह अभिप्राय दर्शाया कि सभी जो नागरिकों का दर्जा रखते थे, के लिए यह संभव नहीं था कि शासन–संबंधी कार्यव्यापार में भाग ले सकें। एक नागरिक के लक्षण, बहरहाल, इस तरीके से सूचित किए जाते रहे कि नागरिकता सक्रियता को इंगित करे। नागरिकों से तदनुसार अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने में 'नागर गुण' (civic virtue) वाली विशेषताएँ विकसित करें। उक्त शब्द लैटिन शब्द 'वर्च्यु (virtu) से निकला, जिसका तात्पर्य सामरिक कर्त्तव्य–पालन, देशभक्ति, एवं कर्त्तव्य व कानून के प्रति समपर्ण के भाव में 'पौरुष' से लिया गया।

सोलहवीं सदी के निरंकुश राज्य भी भिन्न जातीय अधिवासी–समूहों पर अपनी सत्ता थोपे जाने से संबंध रखते थे। इस संदर्भ में ज़ाँ बोदां द्वारा एक नागरिक को इस प्रकार परिभाषित किया गया – 'वह व्यक्ति जो प्राधिकार संबंधी सर्वमान्य स्वतंत्रता व संरक्षण का उपभोग करता है।' इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत ये नागरिक यूनानी नागरिकों से भिन्न थे, स्वयं कोई

प्राधिकृत व्यक्ति नहीं, बल्कि रोमन परम्परा को निभाते हुए ऐसे किसी व्यक्ति के जो राय–संरक्षण के अन्तर्गत हो। यूनानी व रोमन परम्पराओं से भिन्न, फिर भी, नागरिकता एक निष्क्रिय विचार था। इस काल में नागरिकता का अर्थ सामान्य (साझा) जन–दायित्व एवं नागर–गुण नहीं था। इसकी बजाय, 'सामान्य (साझा) स्वतंत्रता' नागरिकता का मुख्य विषय बन गया था। इस विषय में नागरिकता संबंधी एक 'निष्क्रिय' अथवा 'नकारी' धारणा शामिल थी। यह 'सुरक्षा' अथवा संरक्षण हेतु माँग करती थी, जो कि अधिकार वर्ग द्वारा प्रदान की जानी होती थी। जिसको संरक्षण की आवश्यकता थी, वो व्यक्ति का भौतिक जीवन (यथा, हॉब्स के अनुसार), परिवार व घर (यथा, बोदें व मॉन्तैस्क्यु के अनुसार) अथवा धर्मज्ञान व संपत्ति (यथा, लॉक के अनुसार)। 'सामान्य साझा स्वतंत्रता' 'वाले इस सिद्धांत ने तदनुसार व्यक्ति व उसके निजी – पारिवारिक संसार की प्रमुखता को सिद्ध किया। प्राधिकार संरक्षण की आवश्यकता मुख्यतः इसी निजी संसार – क्षेत्राधिकार को संरक्षित करने के लिए था। नागरिक, इस प्रकार, राजनीतिक लोग नहीं थे, उनके जीवन का मुख्य मर्म राजनीतिक समुदाय नहीं था, बल्कि इसकी बजाय दूसरी सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें हर नागरिक निजी आनन्दों की स्वतंत्रता एवं प्रसन्नता के कार्य तथा, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, उस निजी – पारिवारिक अधिकारक्षेत्र के संरक्षण व सुरक्षा का उपभोग करता था, जिसमें ये आनन्द अनुभव किए जाते थे।

इस प्रकार, साम्राज्यीय समाविष्टता संबंधी सिद्धांत इस रूप में देखा जा सकता है कि उसने इस काल में एक कानूनी दर्जे के रूप में नागरिकता संबंधी एक निष्क्रिय धारणा को सामने रखा। समीप ही, बहरहाल, नागर–गुण एवं सार्वजनिक दायित्व पर जोर देने वाली सक्रियता रूपी नागरिकता संबंधी अतीत की याद अथवा प्राचीन धारणा हेतु एक ललक बनी ही रही।

फ्रांसीसी क्रांति (1789) को उत्तर–मध्यकाल व पूर्व–आधुनिक युग की निष्क्रिय नागरिकता के खिलाफ एक विद्रोह माना जा सकता है। इस क्रांति ने राजतंत्रीय/साम्राज्यीय राज्य के दावों के खिलाफ सक्रिय भागीदारी के आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। नागरिकों के अराजनैतिक/निष्क्रिय जीवन को बदल देने के प्रयास के अलावा, फ्रांसीसी क्रांतिकारी परम्परा ने नागरिकता में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व शामिल किया, जिसने उस रीति को बदल डाला जिसके तहत अधिकार नागरिकता की धारणा में समाविष्ट किए गए थे।

'प्राप्तवयस्कों व नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' (The Declaration of the Rights of Men and Citizens) जो कि क्रांति के आलोक में हुई, ने नागरिक का अभिप्राय इस रूप में घोषित किया – एक 'स्वतंत्र और स्वायत्त व्यक्ति' जो दूसरों के समान ही अधिकारों का उपभोग करे और निर्णयन् में भागीदारी निभाये, जिसका पालन करने को सभी सहमत हुए। ऊँची जात के कारण किसी व्यक्ति को प्राप्त क्रम–परम्परागत (असमान) विशेषाधिकारों के विरुद्ध समतल (समान) अधिकारों की एक व्यवस्था के रूप में जिस प्रकार आज नागरिकता को समझा जाता है, उसकी जड़ें फ्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतों में ही पायी जाती हैं। उक्त घोषणा पर ज़ाँ ज़ैक रूसो (1712–78) के विचारों का प्रभाव था, जिसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द सोशल कॉन्ट्रैक्ट, (1762) में न सिर्फ 'स्वतंत्र' व स्वायत्त' नागरिक तथा निर्णयन् में दूसरों के साथ समान रूप से भाग लेने हेतु उसके अधिकार के विषय में ही लिखा, बल्कि निजी हितों से ऊपर जन–कल्याण की प्रमुखता को भी सिद्ध किया। इस प्रकार, फ्रांसीसी क्रांति द्वारा प्रभावित नागरिकता की अवधारणा ने आधुनिक उदारवादी व्यक्तिवाद के सूत्र नागर–भागीदारी के रूप में नागरिकता के प्राचीन सम्पष्क्तार्थ से जोड़े।

17.2.4 नागरिकता संबंधी आधुनिक धारणाएँ : 19वीं व 20वीं सदी का घटनाक्रम

उन्नीसवीं सदी में उदारवाद के बढ़ते प्रभाव और पूँजीवादी बाज़ार संबंधों के विकास के साथ ही, हालाँकि नागरिकता संबंधी प्राचीन गणतंत्रवादी समझ पष्ठभूमि की ओर पहुँचती देखी गई। निजी हितों को संरक्षण व प्रोत्साहन देने हेतु कुछ अधिकारों को धारण करते – उपभोग करते व्यक्ति के रूप में नागरिकगण संबंधी उदारवादी धारणा को वरीयता मिल गई। कानूनी दर्जे के रूप में नागरिकता, जिसने नागरिक को राज्य–हस्तक्षेप से बचाव सुनिश्चित करते कुछ अधिकार प्रदान किए, राज्य व राजनीति संबंधी उदारवादी समझ से अभिन्न थी।

यहाँ ब्रिटेन में नागरिकता के विकास संबंधी टी. एच. मार्शल के विवरण पर विचार–विमर्श करना उचित होगा, जैसा कि 1950 में प्रकाशित उनकी प्रभावशाली पुस्तक *सिटीज़नशिप एण्ड सोशल क्लास* में दिया गया है। इस पुस्तक में मार्शल पूँजीवाद के साथ नागरिकता के विकास तथा विवाद व मिली–भगत, जो नागरिकता उसके साथ करती है, के विशिष्ट संबंध का विश्लेषण करते हैं। पूँजीवादी समाज के एक पहलू, सामाजिक वर्ग की समानता के विरुद्ध समानता–प्रसार प्रक्रिया के रूप में वह एक 250 वर्ष की अवधि में आद्योपांत नागरिकता के विकास का वर्णन करते हैं। मार्शल अधिकारों के तीन सूत्रों अथवा पोटलियों की पहचान करते हैं, जिसमें शामिल हैं – नागरिक–संबंधी, राजनीतिक तथा सामाजिक। मार्शल के अनुसार, इन तीनों सूत्रों में से प्रत्येक एक भिन्न इतिहास रखता है और हर एक सूत्र का इतिहास एक विशिष्ट शताब्दी से जुड़ा है। नागरिक अधिकार जो अठारहवीं सदी में विकसित हुए, मार्शल द्वारा, 'वैयक्तिक स्वतंत्रता हेतु आवश्यक अधिकारों' के रूप में परिभाषित किए गए हैं। ये इस अर्थ में 'नकारी' अधिकार थे कि वे सरकारी सत्ता–प्रयोग को सीमित अथवा नियोजित करते थे और इनमें शामिल थे – भाषण आंदोलन, धर्म ज्ञान संबंधी स्वतंत्रताएँ, कनून के समक्ष समानता का अधिकार और सम्पत्ति रखने का अधिकार। राजनीतिक अधिकार, नामतः वोट देने का अधिकार, चुनावों हेतु खड़े होने का अधिकार और सरकारी पद धारण करने का अधिकार, आमतौर पर उन्नीसवीं सदी में विकसित हुए और व्यक्ति को समुदाय के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अवसर प्रदान किया। सामाजिक अधिकार, जो व्यापकतः एक बीसवीं सदी की चीज़ थी, ने व्यक्ति को एक न्यूनतम आर्थिक/सामाजिक दर्जे की गारण्टी दी और नागरिक व राजनैतिक, दोनों ही अधिकारों के प्रयोग का आधार प्रदान किया। मार्शल कहते हैं कि सामाजिक अधिकार 'समाज में प्रचलित मानदण्डों के अनुसार एक सभ्य मनुष्य का जीवन जीने हेतु' 'सकारी' अधिकार हैं'। जीवन के ये मानदण्ड एवं समाज का सामाजिक उत्तराधिकार समाज–सेवाओं (कल्याणकारी राज्य) तथा शिक्षा–व्यवस्था के रूप मे राज्य द्वारा सक्रिय हस्तक्षेप के माध्यम से ही लोकार्पित किए जाते हैं।

MAADHYAM IAS

अठारहवीं सदी से इंग्लैण्ड में अधिकारों के ऐतिहासिक विकास संबंधी मार्शल की योजना को बहरहाल अन्य समाजों के लिए सत्य नहीं माना जा सकता। नागरिक अधिकार, उदाहरण के लिए, पूर्व–उन्नीसवीं सदीं तक अधिकांश यूरोपीय देशों में पूरी तरह लागू नहीं किए गए थे। जहाँ कहीं भी वे आमतौर पर प्राप्त हुए थे, कुछ समूहों की उपेक्षा की गई थी। इस प्रकार, यद्यपि संविधान द्वारा इस प्रकार के अधिकार अधिकांश यूरोपियन राज्यों को सौंपे जाने से काफी पहले से ही अमेरिकियों को दिए जा चुके थे, अश्वेतों को उनसे वंचित रखा गया। गृह–युद्ध (Civil War) बाद भी, जब अश्वेतों को औपचारिकतः ये अधिकार दिए गए, वे उन्हें प्रयोग करने में समर्थ नहीं थे। अधिकारों से लैटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के उपनिवेशित लोगों को वंचित रखा गया। बीसवीं सदी के पहले

चतुर्थांश तक अधिकांश देशों में महिलाओं को वोट देने का अधिकार नहीं था, जिनमें इंग्लैण्ड शामिल था।

नागरिकता–संबंधी आधुनिक धारणा, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, स्वतंत्र व समान नागरिक नियुक्त करने का प्रयास करती है। यह स्वतंत्रता व समानता, जो आधुनिक नागरिकता में निहित होती हैं, आरोप्य असमानताओं व भिन्नताओं (संस्कृति, जाति, लिंग, प्रजाति, आदि संबंधी) को दूर करके प्राप्त करने का प्रयास करती है। तदनुसार, नागरिकों को अन्य नागरिकों के समान ही अधिकार धारण करने व प्रयोग करने वालों के रूप में समझा जाता है। समानता संबंधी शर्तें, यथा वे शर्तें जिनके तहत नागरिकगण समान रूप से अपने अधिकारों के प्रयोग में समर्थ होते हैं, नागरिकता–अधिकारों के प्रयोग हेतु अनुपयुक्त असमानता, यथा प्रजाति, नृजाति, लिंग, जाति, आदि, संबंधी ब्यौरे तैयार करके सुनिश्चित की जाती हैं। नागरिक ही, इस प्रकार, वह अधिकार–धारक व्यक्ति होता है जिसकी जाति, प्रजाति, लिंग, नृजाति आदि को नागरिकता के दर्जे से असम्बद्ध के रूप में देखा जाता है। इस तरीके से देखे जाने पर नागरिकता एक अति वशवर्ती (overarching) पहचान बनाती है, जो अन्य सभी पहचानों को गुप्त रखती है ताकि उनको उत्पन्न किया जा सके जिन्हें राष्ट्र के छिपे/अनदेखे (और इसीलिए) 'समान' नागरिक कहा जाता है। बीसवीं सदी के अधिकतर वर्षों में अधिकांश उदारवादी सिद्धांत में निजी हितों के पीछे पड़े वैयक्तिक अधिकार–धारक नागरिक के पक्ष में पूर्व–प्रवृत्ति बनी ही रही। नागरिकता–संबंधी धारणा की, जैसा कि इस (उदारवादी) व्यवस्था में वर्णित है, विशिष्ट महत्त्व के साथ–साथ कुछ प्रत्यक्ष सीमाएँ भी हैं।

17.2.5 उदारवादी सामाजिक व्यवस्था का महत्त्व एवं सीमाबद्धता

सामाजिक प्राधार के अन्तर्गत आधुनिक नागरिकता के सामान्यकरण का अर्थ है कि सभी व्यक्ति कानून के समक्ष समान हैं और कोई भी समुदाय कानून विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। इस रूप में समझे जाने पर, नागरिकता एक अंतर्भूत (inclusive) श्रेणी है। वह स्वतंत्र व समान नागरिकों को उत्पन्न करने के लिए सभी विभिन्नताओं (प्रजाति, वर्ग, जाति, लिंग, धर्म, आदि संबंधी) को अप्रासंगिक मानती है।

MAADHYAM IAS

सीमाबद्धता

भिन्नताओं से असंबद्ध सामाजिक प्राधारों में नागरिकता के प्रावधान का असल में अर्थ वास्तविक रूप से विद्यमान असमानताओं को नज़रअंदाज करना हो सकता है। तदनुसार, जबकि औपचारिक कानूनी समानता उदारवादी सामाजिक व्यवस्था द्वारा सुनिश्चित की जा सकती है, यह समानता स्वयं को तब तक सार्थक समानता में परिणत करने वाली नहीं है, जब तक कि नागरिकता द्वारा प्रदत्त अधिकारों अथवा कानूनी क्षमताओं के प्रयोग हेतु व्यावहारिक योग्यता यथार्थ रूप में सभी को उपलब्ध न हो। दूसरे शब्दों में, उदारवादी व्यवस्था इस तथ्य को तरजीह नहीं देती कि वे जो असमानता के विद्यमान प्राधारों, नामतः वर्ग, जाति, प्रजाति, लिंग आदि द्वारा अलाभांवित हैं, नागरिकों के समुदाय में एक समान आधार पर भागीदार करने में असमर्थ हैं, इस तथ्य के बावजूद कि नागरिकों के रूप में समुदाय के (समान) वैध सदस्य हैं।

17.2.6 नए प्रसंग एवं बदलते विषय : बहुसंस्कृतिवाद

बीसवीं सदी के अधिकांश वर्षों तक नागरिकता संबंधी प्रमुख समझ द्वारा उसके केंद्र में व्यक्ति को रखना जारी रहा, और नागरिकता को एक ऐसे कानूनी दर्जे के रूप में देखा जाता था जो उन अधिकारों के धारण का संकेत करता था जो एक व्यक्ति दूसरों के साथ

समान रूप से रखता था। नागरिकता संबंधी यह प्रमुख उदारवादी प्रतिमान, जैसा कि ऊपर देखा गया, कुछ व्यवहारिक सीमाएँ रखता है। नागरिकता व अधिकारों पर समकालिक बहसों में इस धारणा पर संदेह व्यक्त किया गया कि (व्यैक्तिक) नागरिक उन प्रसंगों/परिस्थितियों से स्वतंत्र रहकर अधिकारों का उपभोग कर सकता है जिनमें उसने जन्म लिया हो, यथा, वर्ग, प्रजाति, नष्जाति, लिंग आदि। उन्नीस सौ अस्सी के दशक से ही बहुसंस्कृतिवाद, बहुवाद, अनेकता व भिन्नता नागरिकता विषयक सोच में महत्त्वपूर्ण संदर्भ शब्द बन गए हैं। जबकि आधुनिक समाज उत्तरोत्तर बहुसांस्कृतिक के रूप में मान्यता प्राप्त कर रहे हैं नागरिकता संबंधी प्रमुख उदारवादी के समझ बहस के लिए ध्यान में लायी जा रही है। नागरिकों के विशिष्ट प्रसंग, सांस्कृतिक, धार्मिक, नष्जातीय, भाषायी, आदि को अब महत्त्वपूर्ण तरीकों से नागरिकता निर्धारित करने के रूप में देखा जाता है। इस चल रही प्रतिद्वंद्विता का उद्देश्य है, उन भिन्नताओं को प्रकट करना जिन्हें उदारवादी सिद्धांत ने नागरिकता को समझने के लिए अप्रासंगिक के रूप में लिया। अधिकांश पश्चिमी समाजों में नष्जातीय, धार्मिक व प्रजातीय समुदायों ने उन अधिकारों के लिए दबाव दिया है, जो उनके विशेष सांस्कृतिक प्रसंगों को देखें और नागरिकता संबंधी औपचारिक समानता को मजबूती प्रदान करें। विभेदकारी नागरिकता संबंधी एक धारणा को इसी कारण नागरिकता सिद्धांत के तहत लोकप्रियता मिली है, ताकि वह विशिष्ट सांस्कृतिक समुदायों की आवश्यकताओं को संमजित कर सके। 'पृथक्त नागरिकता' शब्द सर्वप्रथम आइरिस मैरिओं यूङग द्वारा 1989 में प्रयोग किया गया। इसने न सिर्फ व्यक्तियों के रूप में, बल्कि उन समुदायों के रूप में भी कुछ (सांस्कृतिक) समूहों के सदस्यों को समाविष्ट करने की वकालत की, जहाँ उनके अधिकार उनकी विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति करती इस समुदाय की सदस्यता पर अंशतः निर्भर थे। (आइरिस मैरिओं यूङग, 'पॉलिटि एण्ड ग्रुप डिफरॅन्सः ए क्रिटीक ऑफ़ दि आइडियल ऑफ यूनिवर्सल सिटीज़नशिप', एथिक्स, 99, 1989)

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) वे मुख्य ऐतिहासिक काल कौन–से हैं जिनमें नागरिकता की धारणा को विकसित रूप में देखा जा सकता है?

....

....

....

....

....

....

2) नागरिकता–संबंधी आधुनिक धारणा के मुख्य लक्षण क्या हैं? इसकी सीमाएँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

17.3 वर्तमान नागरिकता सिद्धांत : विभाजक रेखाएँ

उन्नीस सौ अस्सी के दशक से ही, जैसा कि हमने पिछले भाग में देखा, अधिकारधारक व्यक्ति को नागरिकता सिद्धांत के केन्द्र से हटाये जाने के प्रयास किये जा रहे थे। वैयक्तिक अधिकारों संबंधी धारणा सांस्कृतिक समुदायों की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विशेष अधिकारों हेतु उनके दावों द्वारा प्रतिसंतुलित की जा रही है। नागरिकता सिद्धांत में अधिकारों की केन्द्रिकता पर भी कुछ प्रांतों में प्रश्न किया गया है और वैयक्तिक/निजी हितों से ऊपर जन–कल्याण व नागर–कर्त्तव्यों की प्रधानता पर अपने दबाव के साथ नागरिकता की गणतंत्रीय परम्परा में फिर से रुचि जागती लगती है। हम इस भाग में नागरिकता की प्रकृति विषयक दो विवादों पर विचार करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.3.1 नागर–गणतंत्रवाद एवं उदारवादी परंपरा

उससे पहले वैसे हम वह याद करें जो हमने नागरिकता सिद्धांत में दो मुख्य सूत्रों के विषय में पिछले भागों में पढ़ा कि किस प्रकार वे अपने ऐतिहासिक क्रम–विकास में उभरे, नामतः प्राचीन परम्परा अथवा नागर–गणतंत्रवाद और आधुनिक उदारवादी परम्परा। वर्तमान नागरिकता सिद्धांत में विभाजक रेखाएँ, वस्तुतः नागरिकता संबंधी इन्हीं दो परम्पराओं से उभरती है, जिनमें से प्रत्येक इस बात के लिए कि नागरिक होने का क्या मतलब है, दो भिन्न अर्थ दर्शाती है।

प्रथम, यथा गणतंत्रीय परम्परा, नागरिकता का वर्णन एक उच्च पद, एक दायित्व, एक उद्धतता से लिये जाने वाले भार के रूप में करती है; दूसरी, यथा उदारवादी परम्परा, इसका वर्णन एक दर्ज़ा और हकदारी, निष्क्रिय रूप से उपभोग किए जाने वाले एक अधिकार अथवा अधिकार–शृंखला के रूप में करता है। पहला नागरिकता को मानव जीवन का केन्द्र बनाता है, दूसरा इसे अपना बाहरी ढाँचा बनाता है। प्रथम नागरिकों का एक सघन निकाय अपनाता है, जिसके सदस्य एक दूसरे के प्रति वचनबद्ध होते हैं; दूसरा एक विविध और निर्बन्ध रूप से जुड़ा निकाय अपनाता है, जिसके सदस्य (अधिकतर) अन्यत्र प्रतिबद्ध होते हैं। पहले के अनुसार नागरिक ही प्रमुख राजनीतिक अभिकर्त्ता होता है; दूसरे के अनुसार कानून–निर्माण व प्रशासन किसी और का काम है, नागरिकों का काम असार्वजनिक होता है। शेष भाग में हम देखेंगे कि वर्तमान नागरिकता सिद्धांतों के बीच विवाद नागरिकता के रूप व वास्तविक अर्थ संबंधी अवधारणा में इन्हीं दो बुनियादी भिन्नताओं से उद्भूत होते हैं। (देखें

टेरेन्स बाल, जेम्स फार एवं रसल एल. हैन्सन सं., पॅलिटिकॅल इनोवेशन एण्ड कॉन्सेप्चुअल चेन्ज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1989 में माइकल वाल्ज़र, 'सिटिज़नशिप')

17.3.2 विभाजक रेखाएँ : व्यक्ति बनाम समुदाय–विशेष

वर्तमान नागरिकता सिद्धांतियों के बीच विभाजनों की एक शंष्खला को निम्न प्रश्न के साथ में देखा जा सकता है, नागरिकता का केन्द्र कौन अथवा क्या बनाता है – व्यक्ति अथवा वह व्यापक प्रसंग जिसका वह एक भाग है, यथा सांस्कृतिक (नष्जातीय, धार्मिक आदि) समुदाय। हमने देखा कि नागरिकता संबंधी उदारवादी (व्यक्तिवादी) धारणा फ्रांसीसी क्रांतिकारी परम्परा में एक सूत्र की मॉनिद उभरी और पूँजीवाद की वृद्धि के साथ दृढ़कृत हुई। उदारवादी परम्परा में नागरिक ही स्वतंत्र प्लवमान (आज़ाद मस्ती से चलता) व्यक्ति है, और नागरिकता एक कानूनी पदवी है जो उन दूसरे नागरिकों के साथ समान रूप से अधिकारों के उपभोग हेतु समर्थ करती है, जिनमें से प्रत्येक हालाँकि भिन्न व्यक्तिगत हितों के पीछे लगा रहता है। इस परिदष्श्य में अधिकार संबंधी एक समान उपभोग हेतु व्यक्तियों के विशिष्ट संदर्भों को अप्रासंगिक बनाकर प्रस्तुत किया जाता है, यथा जन्म के कारकों, द्वारा निर्धारित उनकी विशेष परिस्थितियाँ, नामतः प्रजाति, जाति, संस्कृति, नष्जाति, लिंग आदि।

यह दृष्टिकोण समाजवादियों द्वारा पासंग (counterpoise) किया जाता है जो, नागर–गणतंत्रीय परम्परा में, निश्चयपूर्वक उस सीमा को निर्धारित करने में व्यक्तियों के संदर्भों का महत्त्व बताते हैं, जहाँ तक अधिकार दूसरों के साथ समान रूप से उपभोग किए जा सकें। ये सिद्धान्ती इस बात पर ज़ोर देते हैं कि अधिकारों के आबंटन में ये भेद किए जाने की बजाय, नागरिकों की विभिन्न परिस्थितियों संबंधी विशेषरूपता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। सिद्धान्तियों की बढ़ती संख्या, जिन्हें 'सांस्कृतिक बहुवादी' कहा जाता है, का दावा है कि बड़ी संख्या में नष्जातीय, धार्मिक व भाषाई समूह स्वयं को नागरिकता हेतु अधिकार से बहिष्कृत मानते हैं। ये समूह सिर्फ उसको अपनाकर ही सामान्य नागरिकता में समायोजित किए जा सकते हैं; जिसे आइरिस मैरिओं यूङग 'विभेदीकृत नागरिकता' कहते हैं, अर्थात् कुछ निश्चित समूहों के सदस्यों को न सिर्फ व्यक्तियों के रूप में ही बल्कि उस समूह–विशेष के माध्यम से भी समायोजित किया जाना चाहिए और उसके अधिकार अंशतः उनकी समूह–सदस्यता पर भी निर्भर करें। यूङग, सांस्कृतिक बहुवाद के सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्धांतियों में एक, निश्चयपूर्वक कहते हैं कि नागरिकता संबंधी एक सार्वभौम अवधारणा को जन्म देने का प्रयास जो समूह भिन्नताओं का सीमोल्लंघन करता हो, ऐतिहासिक रूप से दमित समुदायों के प्रति बुनियादी रूप से अनुचित है : एक ऐसे समाज में जहाँ कुछ समुदाय तो विशेषाधिकारप्राप्त हों जबकि अन्य दमित, इस बात पर ज़ोर देना कि नागरिकों के रूप में लोगों को अपने विशिष्ट संबंधन व अनुभव पीछे छोड़ देने चाहिए और एक आम दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, इस परिप्रेक्ष्य में सिर्फ लाभान्वितों को ही प्रबलता प्रदान करने में सहायता करता है। साथ ही लाभांवितों के हित अन्य समुदायों के हितों को हाशिए पर धकेलते अथवा उनका मुंह बंद करते हुए इस एकरूप जनता पर अधिकार जमाना चाहते हैं'। (यूङग, 1989, पृ. 275)

17.3.3 विभाजक रेखाएँ : कर्तव्य बनाम अधिकार

विभाजनों की दूसरी शृंखला उन्हीं पद्धतियों का अनुसरण करती है जैसा कि पहली। यहाँ विवाद नागरिकता संबंधी पारिभाषिक आधार–वाक्यों के लिहाज से है, नामतः सार्वजनिक/राजनीतिक व नागर जीवन की प्रमुखता अथवा वैयक्तिक हितों व भिन्नताओं की प्रमुखता। 'नागर–गुण' और 'योग्य' नागरिकता संबंधी अवधारणा जो गणतंत्रीय परम्परा

का हिस्सा बनती हुए प्राचीन ग्रीको–रोमन विश्व में उभरी और तदोपरांत पुनर्जागरणवाद कालीन इटली एवं अठारहवीं सदी के अमेरिका व फ्रांस में फिर से उभरी, नागरिकता संबंधी उस धारणा का एक अभिन्न हिस्सा है जो नागर व जन–जीवन हेतु प्रमुखता प्रदान करता है। वे लोग जो इन धारणाओं को स्वीकार करते हैं, सक्रिय नागरिकता की धारणा को महत्त्व देते हैं। इस प्रकार के निरूपण में नागरिकता नागरिक कर्त्तव्यों, नागर–गतिविधियों, जनोत्साह व सक्रिय राजनीतिक भागीदारी की संघटक बन जाती है। जहाँ नागर–गणतंत्रवाद नागर–जीवन की ओर नागरिक कर्त्तव्यों के कठोर अनुपालन पर जोर देता है, उदारवादी धारणा वैयक्तिक हितों व भिन्नताओं को प्राथमिकता देती है और न्याय व अधिकारों हेतु नागरिकों की हकदारी पर जोर देती है। उनके अनुसार निजी जीवन की समृद्धि मुख्य महत्त्व रखती है और नागरिकता प्रमुखतः कुछ मौलिक अधिकारों की संघटक है। अधिकार इस प्रतिपादन में प्रमुख हैं और उनका उद्देश्य है आन्तरिक निजी संसार की रक्षा करना और विवादास्पद हितों के अतिक्रमण के बगैर निजी कार्यों व वैयक्तिक रचनात्मकता हेतु स्वतंत्रता प्रदान करना। यहाँ यह बात गौरतलब है कि नागर–गणतंत्रीय परम्परा में अधिकारों को उन शर्तों के रूप में आदर दिया जायेगा, जो राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी हेतु एक नागरिक के कर्त्तव्य–साधना का अनुसरण करती हों, न कि इसलिए कि वे पूर्व–शर्तें हैं। उन्नीस सौ अस्सी के दशक से ही यह मुद्दा उदारवाद व साम्यवाद के बीच बढ़ती बहस में उठाया जाता रहा है। साम्यवादी सिद्धांतियों, यथा एलिसड्यैर मैकइन्टर (1981) व माइकल सैंडेल (1982), 'भारग्रस्त निजी व्यक्तित्व' अथवा उदारवादी सिद्धांत के अप्रासंगीकृत व्यक्ति संबंधी धारणा को खारिज करते हैं। उन्होंने तर्क दिया कि 'अधिकारों की राजनीति' के स्थान पर एक 'निहित व्यक्तित्व' द्वारा 'जन–कल्याण की राजनीति' को आना चाहिए। इस दृष्टिकोण से उदारवादी व्यक्तिवाद वैयक्तिक अधिकारों व हकदारियों पर ध्यान केन्द्रित कर उन बन्धनों को कमज़ोर करता है, जो समाज को संबद्धता प्रदान करते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) नागरिकता सिद्धांत में मुख्य विभाजक रेखाएँ कौन–सी हैं और वे नगर–गणतंत्र व उदारवादी परंपराओं के बीच ऐतिहासिक विभाजन से किस प्रकार निकली हैं?

....

....

....

....

....

....

17.4 समीक्षाएँ और विकल्प : मार्क्सवादी, नारी–अधिकारवादी तथा गाँधीवादी

एक पूर्व भाग (17.2) में नागरिकता–संबंधी आधुनिक उदारवादी धारणा पर चर्चा करते समय हमने इसकी सीमाबद्धता पर भी बात की थी। हमने मुख्यतः यह उल्लेख किया था

कि अधिकारों का प्रयोग करने की योग्यता अथवा वे कानूनी क्षमताएँ जो नागरिकता को अंगभूत करती हैं, सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं। अन्य शब्दों में, इसके बावजूद कि नागरिक होने के आधार पर सभी व्यक्तियों को औपचारिकतः समान अधिकार दिए गए हैं, ये अधिकार असल में सभी लोगों द्वारा समान रूप से उपभोग नहीं किए जा सकते हैं। व्यक्तियों के विशिष्ट संदर्भ, उनके वर्ग, लिंग, उनके धार्मिक, नृजातीय व प्रजातीय पहचान आदि उस सीमा को प्रभावित करते हैं, जहाँ तक अधिकार वस्तुतः प्राप्य हैं। अधिकार–प्रयोग को निर्धारित करते संदर्भों को ध्यान में रखने संबंधी उदारवादी नागरिकता की यह अक्षमता ही है जो नागरिकता संबंधी मार्क्सवादी व नारी–अधिकारवादी समालोचनाओं का मुख्य केन्द्र रही है। आगामी अनुच्छेदों में हम उन दोषों पर नजर डालेंगे, जिन्हें मार्क्सवादी व नारी–अधिकारवादी जन नागरिकता संबंधी बुनियादी आधार–वाक्यों में देखते हैं। ये दोष, उनके अनुसार, नागरिकता को एक ऐसा जटिल समवाय (system) बना देते हैं जो कुछ असमानताओं को तो कम करते देता है जबकि अन्य को कायम रखता है।

17.4.1 नागरिकता की पुनर्परिभाषा : उदारवादी नागरिकता–संबंधी मार्क्सवादी आलोचना

नागरिकता का 1840 के दशक में कार्ल मार्क्स द्वारा 'अमेरिकी व फ्रांसीसी क्रांतियों के संविधान' संबंधी उनके विश्लेषण में साफतौर पर खाका खींचा गया, जिससे आधुनिक नागरिकता का जन्म हुआ। आधुनिक लोकतांत्रिक अथवा बूर्जुआ नागरिकता हेतु मार्क्स का विरुद्ध–तर्क उसके शब्दों में देखा जा सकता है, जो नीचे प्रस्तुत हैं :

जन्म, पद, शिक्षा व व्यवसाय उन जन्म, पद, शिक्षा व व्यवसाय पर आधारित भिन्नताओं को राज्य अपने ही तरीके से समाप्त करता है, जब वह गैर–राजनीतिक भिन्नताएँ घोषित कर देता है, जब वह यह उद्घोषित करता है कि हर लोक–समूह इन भिन्नताओं पर ध्यान दिए बगैर जन–संप्रभुता में एकसमान रूप से भागीदार है, जब वह उन सभी तत्त्वों को, जो जन–साधारण के वास्तविक जीवन का निर्माण करते हैं, राज्य के दृष्टिकोण से विवेचित करता है। जिस पर भी राज्य उन्हें अपने तरीके से पेश आने व अपनी विशिष्ट प्रकृति का दावा करने हेतु निजी संपत्ति, शिक्षा व व्यवसाय को स्वीकार करता है। इन तथ्यात्मक भिन्नताओं को समाप्त करने के अतिरिक्त, राज्य अस्तित्व बनाये रखने के लिए उन्हें पहले से ही मानकर चलता है, यथा निजी संपत्ति, शिक्षा व व्यवसाय। (उसकी अर्ली राइटिंग्स, हरमण्ड्सवर्थ, पैंग्युइन, 1975, पृ. 219 में 'आन द जूइश क्वैश्चन')

बुर्जुआ नागरिकता संबंधी मार्क्सवादी आलोचना ने इस प्रकार आधुनिक पूँजीवादी समाजों में असमानताओं हेतु स्वयं की असफलता पर ध्यान केन्द्रित किया। एक स्वाभाविक रूप से असमान व्यवस्था में, जो वर्ग–असमानताओं को जन्म देने व कायम रखने पर फलती–फूलती है, अधिकार, मार्क्सवादी समालोचना दृढ़तापूर्वक कहती है, सिर्फ समानता की 'ऊपरी सजावट' मात्र हो सकते हैं। नागरिक व राजनीतिक अधिकार बूर्जुआ क्रांतियों की उपज थे, और विकसित, जैसा कि मार्शल द्वारा अपने ऐतिहासिक विश्लेषण में दर्शाया गया है, पूँजीवाद के साथ–साथ हुए। जबकि इन अधिकारों ने पूँजीवाद के कुछ दुष्प्रभावों को कम किया, उनका अभिप्राय असमानता के तानेबानों को ढाना नहीं था और न ही, इसी कारण, ऐसा कर सके, क्योंकि ये तानेबाने ही पूँजीवादी समाजों को संघटन प्रदान करते थे।

सामाजिक अधिकारों, नागरिकता अधिकारों पर उदारवादी मत के एक सूत्र द्वारा हाल के वर्षों में तीखी आलोचनाओं ने, जो कि मार्शल दर्शाते हैं कि बीसवीं सदी में राज्य से कल्याण–लाभ हेतु जनता के उपांतिक वर्गों की माँगों को पूरा करती विकसित हुई थीं, कुछ वामपंथी लेखकों को अधिकारों का पक्ष लेने को प्रेरित किया। ऐमि बार्थोलोम्यु जैसे विद्वानों

ने यह दर्शाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि मार्क्स की 'मानव उद्धार' संबंधी धारणा में 'समष्द्ध व्यक्तित्व' व 'आत्म विकास' संबंधी धारणा मार्क्स की अधिकारों के प्रति वचनबद्धता दर्शाती है। बार्थोलोम्यु का कहना है कि मार्क्स की अधिकारों संबंधी समालोचना मूल रूप से अधिकारों के उस बोध की ओर दिशानिर्देशित है, जो उसे 'मनुष्य का अधिकार' – तथाकथित प्राकृत अधिकारों – के साथ पहचानते हैं जो आदमी को आदमी से और उस व्यापक समुदाय से, जिसका वह एक भाग है, अलग करते हुए 'सीमा–निर्धारकों' के रूप में काम करते हैं। मार्क्स के अनुसार अधिकार 'समष्द्ध व्यक्तित्व' में योगदान देते हैं, यथा उस रचनात्मक व्यक्ति को बनाने में जिसकी प्रयोगक्षमता सर्वाधिक पूरे तौर से अंतर्मन में और समुदाय के साथ सामंजस्य में स्पष्टता अनुभव की जाती है।

17.4.2 नारी–अधिकारवादियों की नागरिकता संबंधी की पुनर्परिभाषा

सभी मोरचों के नारी–अधिकारवादियों ने नागरिकता–सिद्धांत की लिंगभेद–शून्यता व लिंगभेद–अज्ञानता, यथा इनका ध्यान रखने में उसकी विफलता की आलोचना की है : (क) आधुनिक समाजों का पितष्सत्तात्मक स्वभाव, और (ख) वह तरीका जिससे लिंगभेद नागरिकता–अधिकारों तक पहुँच निर्धारित करता है।

नारी–अधिकारवादियों ने बताया है कि नागरिकता संबंधी अधिकांश ऐतिहासिक वैचारिकताएँ महिलाओं के प्रति विद्वेषी रही हैं, या तो उन्हें प्राचीन परंपरा की भाँति नागरिकता से पूरी तरह दूर रखकर, या फिर उन्हें, फ्रांसीसी परंपरा में जैसा होता था, परोक्ष और असमान रूप से नागरिक पत्नियों अथवा नागरिकों (यथा, पुरुष) की सहचरियों के रूप में जोड़कर। कैरोल पेटमैन कहती हैं कि आधुनिक उदारवादी नागरिकता जबकि महिलाओं को पूरी तरह से वर्जित न करते हुए, उन्हें उनकी सामाजिक रूप से उपयोगी जैविक रूप से निर्धारित स्थिति (यथा, उनकी जैविक संरचना एवं संबंधित भूमिकाएँ, नामतः संतानोत्पत्ति एवं पालन–पोषण)। (देखें कैरोल पेटमैन, *द सैक्सुअल कॉन्ट्रैक्ट*, पॉलिटि प्रैस, कैम्ब्रिज, 1988; गीज़ेला बुक एवं सुज़न जेम्स सं., *बियॉन्ड इक्वालिटि एण्ड डिफरॅन्स*, रूटलिज, लंदन, 1992 में कैरोल पेटमैन, 'इक्वालिटि, डिफरॅन्स सबऑर्डिनेशन द पॅलिटिक्स ऑफ मदरहुड एण्ड विमेन'ज सिटिज़नशिप') इस तरह से समावेशन महिलाओं को राजनीति के क्षेत्र से बाहर रखते हुए, और उन्हें शिक्षा, सम्पत्ति, नौकरी अवसर आदि, जो लोगों राजनीतिक भागीदारी हेतु आवश्यक वस्तुओं से लैस करते हैं, संसाधनों से दूर रखकर उन्हें माँओं व पत्नियों के रूप में पराधीन भूमिकाओं में बाँट देता है।

नागरिकता सिद्धांत की लिंगभेद–अज्ञानता इतनी व्यापक रही है, नारी–अधिकारवादी जन कहते हैं, कि नागरिकता के क्रम–विकास संबंधी कोई भी विवरण केवल महिलाओं को सामान्य प्रवष्त्ति में मतिभ्रंशों के रूप में हाशियों पर धकेलकर ही अपनी संबंद्धता कायम रख सकता है। अर्सला वोगल इसको नागरिकता–संबंधी मार्शल के विश्लेषण का संदर्भ लेकर स्पष्ट करती हैं। अधिकारों के क्रमिक सामान्यीकरण/सार्वभौमीकरण के रूप में नागरिकता के प्रसार संबंधी मार्शल की 'मुख्य कथा,' वोगल कहती हैं, सिर्फ महिलाओं को ऐतिहासिक असंगतियों के रूप में, यथा ऐसे व्यक्तियों के रूप में जिनकी स्थिति 'विशिष्ट' एवं मुख्य कथा हेतु अप्रासंगिक थी, 'शामिल करके' ही अखण्ड रह सकती थी। (देखें अर्सला वोगल एवं माइकल मोरां सं., *द फ्रन्टियर्स ऑफ सिटिज़नशिप*, सेन्ट मार्टिन प्रैस, न्यूयार्क, 1991, पृ. 58–85 में अर्सला वोगल, 'इज़ सिटिज़नशिप जैण्डर स्पिसिफ़िक')

नारी–अधिकारवादियों ने नागरिकता संबंधी लिंग–विभेदित वैचारीकरण की सिर्फ आलोचना ही नहीं की है, उन्होंने उक्त अवधारणा के विस्तारीकरण हेतु अपील भी की है ताकि इसमें

उन गतिविधियों को शामिल कर सकें जिनको निजी प्रभाव क्षेत्र से सम्बन्धित के रूप में देखा जाता है। यह विचार सिर्फ उन सत्ता–संबंधों पर ध्यान आकृष्ट करने के लिए नहीं है जो निजी मामलों (विवाह, परिवार, लैंगिकता) के क्षेत्राधिकार में परिव्याप्त होते हैं, बल्कि निजी कार्यक्षेत्र की गतिविधियों के अवमूल्यन पर प्रश्न करने के लिए भी है। सारा रडिक एवं जाँ एल्स्तें जैसे मातृसत्तावादी, तदनुसार, पुरुष व्यक्तियों एवं लक्षणों पर आधारित नागरिकता को ढा जाना चाहते हैं। वे इसके स्थान पर जीवन के पुरुष (सार्वजनिक) एवं स्त्री (असार्वजनिक) पहलुओं के बीच भेद को इस प्रक्रिया में भंग करते हुए, 'अवधान संबंधी स्त्रीसुलभ नीतिशास्त्र' (feminist ethics of care) यथा प्रेम व दया संबंधी स्त्रियोचित लक्षणों पर आधारित नागरिकता संबंधी एक नयी नैतिक व माननीय अवधारणा विकसित किए जाने की सिफारिश करती हैं।

17.4.3 नागरिकता–संबंधी गाँधीवादी धारणा

नागरिकता संबंधी एक गाँधीवादी धारणा को नागर–गणतंत्रवाद के तत्त्व रखने वाली के रूप में देखा जा सकता है, जिसको 'जन–कल्याण, नागरिक कर्त्तव्य व सक्रिय नागरिकता के प्रति वचनबद्धता, के रूप में पहचाना जाता है। हित समुदाय के प्रति गाँधी में वचनबद्धता, हालाँकि, वैयक्तिक स्वायत्तता में एक समान–रूप से सशक्त आस्था और राज्य सत्ता की दमनकारी प्रयोगक्षमता संबंधी अविश्वास के साथ, यत्र–तत्र बिखरी है। आधुनिक राज्य के दमनकारी प्राधारों संबंधी अविश्वास, जिसमें से काफी कुछ गाँधीजी के दक्षिण अफ्रीका व भारत में औपनिवेशिक शासन के साथ अनुभवों से उद्भूत हुए, ने घृणा–प्रदर्शन हेतु व्यक्ति के नैतिक अधिकार के प्रति उनकी वचनबद्धता को इच्छित रूप प्रदान किया। एक अन्यायपूर्ण सरकार का विरोध करना गाँधीजी के 'नागरिकता संबंधी कर्त्तव्यों' का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। यह बात 'नागरिक अवज्ञा' के नियमों संबंधी उनके उस प्रतिपादन में स्पष्टतः उजागर हुई है, जो नागरिक विरोधकर्त्ता को स्वैच्छिक रूप से कानून तोड़ते समय और कारावास भोगते समय कुछ आचार–संहिताओं के पालन हेतु बाध्य करता था।

MAADHYAM IAS

विवेकी (व्यक्ति) नागरिक सक्रिय नागरिकता–संबंधी गाँधीजी की धारणा के केन्द्र में अवस्थित है। यह नागरिक वैसे, 'जन–कल्याण' हेतु वचनबद्धता द्वारा बाधित है। 'जन–कल्याण' संबंधी गाँधीजी की धारणा के मुख्य अवयव हैं : (1) सामाजिक हित व्यक्तिगत हितों से ऊपर हैं; (2) अध्यात्मवाद भौतिकवाद से ऊपर है; (3) समाज के प्रति कर्त्तव्य राज्य की तुलना में वैयक्तिक अधिकारों अथवा समाज के अन्य सदस्यों की तुलना में वैयक्तिक अधिकारों से पहले हैं; (4) उत्पादन के जनाधिकार संबंधी प्रशासन का दायित्व; (5) सर्वोदय अथवा वर्ग, जाति, धर्म, लिंग आदि संबंधी भिन्नताओं को समाप्त कर सभी का उत्थान; (6) श्रम अथवा जीविकोश्रम में विश्वास ताकि कोई भी व्यक्ति अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी दूसरे पर निर्भर न रहे; तथा (7) मानव प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए एक न्यायपूर्ण समाज की रचना हेतु नैतिक कर्त्तव्य।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) मार्क्सवादियों और नारी–अधिकारवादियों ने नागरिकता की सीमाओं को किस प्रकार पुनर्परिभाषित किया है?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) नागरिकता–संबंधी गाँधीवादी धारणा वैयक्तिक स्वायत्तता को सामूहिक कल्याण संबंधी सिद्धांत से किस प्रकार जोड़ती है?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.5 सारांश

नागरिकता, अपने आधुनिक बोध में, उस राजनीतिक समुदाय में पूर्ण और समान सदस्यता की ओर संकेत करती है जो वर्तमान भूमण्डलीय प्रसंग में राष्ट्र–राज्य की ओर इशारा करता है। नागरिकता बहरहाल ऐसा स्थल प्रदान करती है, जहाँ अनेकों दृष्टिकोण इसके रूप व वास्तविक अर्थ पर एक दूसरे से होड़ करते हैं। ऐतिहासिक रूप से, नागर–गणतंत्रवाद ने नागरिकता संबंधी सर्वाधिक प्रभावशाली समझ रूपापित की है। वर्तमान नागरिकता संबंधी प्रमुख बोध उदारवादी परम्परा से हुआ, जो इसे वैयक्तिक अधिकारों की एक श्रृंखला रखने वाले के रूप में देखती है। सांस्कृतिक बहुवादी व साम्यवादी जन हालाँकि इन अधिकारों को तब तक निरर्थक मानते हैं, जब तक कि वे अधिकार–धारक व्यक्तियों के विशिष्ट प्रसंगों को भी ध्यान में नहीं लेते। मार्क्सवादी व नारी–अधिकारवादी जन अधिकतर नागरिकता को क्रमानुसार वर्ग व लिंगभेद संबंधी उन तानेबानों से उभरा मानते हैं जो दमनकारी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संबंधों को ढाते हैं। नागर–गणतंत्रीय परम्परा के अनुसरण में सोच का एक और सूत्र नागरिकता को एक गतिविधि के मापदण्ड के रूप में उन नागर–गुण व कर्त्तव्यों की अभिव्यक्ति के रूप में देखना पसंद करता है, जो बदले में एक समतावादी समाज/समुदाय का निर्माण करते हैं। नागरिकता संबंधी ये विविध बोध उसे आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों की समझ हेतु एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा बनाते हैं।

17.6 मुख्य शब्द

सक्रिय नागरिकता (Active Citizenship) :'दायित्वपूर्ण' भागीदारी संबंधी एक प्रकार्य के रूप में नागरिकता संबंधी धारणा जो एक गतिविधि–मानदण्ड भी बनने के लिए अपनी निष्क्रिय संपष्क्तार्थ से बढ़कर है। राष्ट्रीय समुदाय हेतु एक नागरिक के सम्बद्धता–भाव के आधार पर तदोपरांत दायित्वों व सद्गुणों वाली वो प्रवषत्तियाँ व विशेषताएँ आती हैं, जो उसे एक 'उत्तम' नागरिक के रूप में विशिष्टता प्रदान करती हैं।

आरोपित क्रम–परम्पराएँ (Ascriptive hierarchies) : एक क्रम–परम्परा या पदानुक्रम असमानता – संबंधी उस पिरामिडीय व्यवस्था– एक सीधे–खड़े रूप संगठित प्राधार – का संकेत करता है, जहाँ शीर्षस्थ शेष पर आधिपत्य रखता है। आरोपित क्रम–परम्परा का अर्थ होगा वे व्यवस्थाएँ जहाँ जन्म संबंधी दशाएँ ही लोगों के पदानुक्रमित संगठन को निर्धारित करेंगी।

नागरिकगण (Citizens) : नागरिक एक राजनीतिक समुदाय के पूर्ण व समान सदस्य होते हैं, जो वर्तमान भूमण्डलीय राजनीतिक प्राधार में राष्ट्र–राज्य का रूप ले लेते हैं।

नागरिकता (Citizenship) : पारस्परिक अधिकारों, कर्त्तव्यों व दायित्वों पर आधारित व्यक्ति/समुदायों व राज्य के बीच एक संबंध।

जन–कल्याण (Common Good) : जन–कल्याण यानी आम भलाई की धारणा इस आदर्श–वाक्य पर आधारित है कि वैयक्तिक हितों के बीच अनेकों भिन्नताएँ हो सकती हैं। परन्तु इनसे परे कुछ बुनियादी मुद्दों पर एक सहमति भी अन्तर्निहित है, जिनको आमतौर सभी के हित व कल्याण को प्रोत्साहन देने के रूप में देखा जाता है। तदनुसार, यह कहा जा सकता है कि वैयक्तिक हितों से परे, एक वास्तविक हित का अस्तित्व है जो सभी की इच्छापूर्ति करता है और जहाँ सभी निजी हितों की पूर्ति देखी जाती है। यह पूर्ति–बिन्दु ही जन–कल्याण की धारणा है।

MAADHYAM IAS

समुदाय (Community) : जन–साधारण अथवा सामाजिक वर्गों का एक समूह जिसे साहचर्य, निष्ठा–कर्त्तव्य संबंधी बन्धनों पर आधारित एक सशक्त सामूहिक पहचान के साथ–साथ भाव–बंधन व नातेदारी द्वारा भी पहचाना जाता है।

विभेदीकृत नागरिकता (Differentiated Citizenship) : यह अवधारणा न सिर्फ व्यक्तियों के रूप में, बल्कि समुदाय के सदस्यों के रूप में भी कुछ (सांस्कृतिक) समूहों के सदस्यों के समावेशन का समर्थन करती है, उनकी अधिकार उनके विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अंशतः इस समूह की सदस्यता पर निर्भर करते हैं।

लिंगभेद (Gender) : लिंग से भिन्न, जो जैविक भिन्नता की ओर इशारा करता है, लिंगभेद पुरुष व स्त्रियों के बीच सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टता की ओर संकेत करता है। नारी–अधिकारवादियों

		के अनुसार, लिंगभेद पक्षपात तब होते हैं, जब महिलाओं के लिए जैविक भिन्नताएँ भिन्न, परतंत्र व वश्य (subservient) सामाजिक भूमिकाओं व पदों हेतु आधार बन जाती हैं।
भूमण्डलीकरण (Globalisation)	:	यह स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, व अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, प्रक्रियाओं व निर्णयों के बीच अन्तर्सम्बन्धों/अन्योन्याश्रय के उस जाल की ओर संकेत करता है जो विश्व भर में व्यक्तियों कि जीवन को अनुकूल बनाता है।
निष्क्रिय नागरिकता (Passive Citizenship)	:	सांस्कृतिक/भावनात्मक पहचान की बजाय एक राजनीतिक समाधिकार महत्त्व, राजनीतिक अनुषक्तियाँ व नागरिक निष्ठाएँ। नागरिकता को बहुधा इस अनुषक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है, जो नागरिकों के रूप में एक साझा पहचान में लोगों को एक साथ रखती है।
प्रजाति (Race)	:	एक वैज्ञानिक व राजनीतिक रूप से विवादास्पद श्रेणी, प्रजाति उन जैविक (वंशानुगत) भिन्नताओं की ओर इशारा करती है जो लोगों के एक समूह को दूसरे से तथाकथित रूप से अलग दर्शाती हैं। काफी लम्बे समय से, प्रजाति को लोगों के बीच सांस्कृतिक भिन्नताओं तथा कुछ की सभ्यता संबंधी हीनता व पिछड़ेपन और दूसरों की श्रेष्ठता संबंधी आरोपण को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग किया जाता रहा है।

17.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

जे. एम. बारबलेट, सिटिज़नशिप, ओपन यूनिवर्सिटी प्रैस, मिल्टने क्रीन्स, 1988

डॉन ऑलिवर एवं डेरेक हीटर, द फाउण्डेशन ऑफ सिटिज़नशिप, हार्वेस्टर व्हीटशीफ, 1994

कैरोल पेटमैन, 'इक्वॅलिटि, डिफरॅन्स, सब–ऑर्डिनेशन : द पॉलिटिक्स ऑफ़ मदरहुड एण्ड विमन'ज़ सिटिज़नशिप' – जीसला बुक एवं सुसैन जेम्स सं., बियॉण्ड इक्वॉलिटि एण्ड डिफरॅन्स, रूटलिज, लंदन, 1992

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 17.1
2) देखें भाग 17.1 और खासकर, उपभाग 17.1.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 17.1.2 और भाग 17.2
2) देखें उपभाग 17.2.4 – 17.2.6

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 17.3

बोध प्रश्न 4

1) देखें उपभाग 17.4.1 और 17.4.2
2) देखें भाग 17.4.3

इकाई 18 समानता

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 परिचय
18.2 समानता के विभिन्न प्रकार
18.2.1 औपचारिक समानता
18.2.2 अवसर की समानता
18.2.3 परिणामों की समानता
18.3 समानता के कुछ मूल सिद्धांत
18.4 समानता के विरुद्ध कुछ तर्क
18.5 उदारवादी असमानता–संबंधी औचित्य प्रतिपादन
18.6 समानता एवं नारी–अधिकारवाद
18.7 समानता और स्वतंत्रता
18.8 सारांश
18.9 कुछ उपयोगी संदर्भ
18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है, समानता का अर्थ समझना और इस अवधारणा से जुड़े महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक विषयों पर ध्यान देना। इस इकाई को पढ़ने पर आप इस योग्य होंगे कि :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- समानता संबंधी मूल सिद्धांतों की संकल्पना को स्पष्ट कर सकें
- समानता के कुछ मूल सिद्धांतों पर चर्चा कर सकें
- औपचारिक समानता, अवसर की समानता और परिणामों की समानता को स्पष्ट कर सकें
- कुछ समतावाद–विरोधी विचारों की जाँच कर सकें
- उदारवादियों के असमानता–संबंधी औचित्य प्रतिपादन पर चर्चा कर सकें, और अन्ततः
- समानता व स्वतंत्रता के बीच संबंध का मूल्यांकन कर सकें।

18.1 परिचय

समानता अर्थात् बराबरी की धारणा आधुनिक राजनीति एवं राजनीतिक चिंतन का मुख्य विषय प्रतीत होती है। जन्म पर आधारित समाज में पदानुक्रम, सामाजिक स्थिति अथवा अन्य किसी भी मानदण्ड को प्रकृति प्रदत्त माना जाता था। अब यह बात नहीं है, वस्तुतः आधुनिक राजनीतिक सोच इस परिकल्पना से शुरू होती है कि सभी मनुष्य समान हैं। 1789 में फ्रांसीसी क्रांति व तदोपरांत अमेरिकी गृह–युद्ध – लोकतंत्र, समानता व स्वतंत्रता के विचार को व्यक्त करने में ये दो ऐतिहासिक रूप से बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। एक ने मध्यकालीन क्रम–परम्पराओं को चुनौती दी, तो दूसरी ने जाति–आधारित असमानताओं की

ओर ध्यान आकृष्ट किया। तथापि, समानता के विचार को स्वीकृति मिलना आसान नहीं था। 1931 में आर.एच. टॉनी ने लेखन कार्य करते हुए ब्रिटिश समाज में एक पर बात शोक व्यक्त किया जिसका वर्णन उन्होंने 'असमानता के धर्म' के रूप में किया। किंतु, समानता का विचार आसानी से स्वीकार्य नहीं था। 1931 में लेखन करते हुये आर.एच. टॉनी ने ब्रिटिश समाज में 'असमानता के धर्म' पर अफसोस ज़ाहिर किया। जिस बात ने उन्हें परेशान किया था वह मात्र समाज में असमानताओं की विद्यमानता नहीं थी, वरन् उसको नैसर्गिक और अपरिहार्य के रूप में स्वीकार किया जाना था। द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत काल में अनेक परिवर्तन हुए थे और समानता के विचार को काफ़ी व्यापक लोकप्रियता मिल चुकी थी। उपनिवेश बस्तियों में तीव्र लहर ने समानता विषयक बहस में एक और महत्त्वपूर्ण आयाम जोड़ दिया, जैसा कि नारी–आन्दोलन में है।

आज के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि समानता को मानव जीवन के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया है, तथापि इस बारे में बड़े झगड़े होते हैं कि समानता को कहाँ और कैसे व्यवहार में लाया जाए। एक और अधिक विवादग्रस्त क्षेत्र है समाज में धन–सम्पत्ति व आय के वितरण हेतु समानता के सिद्धांत का प्रयोग इस संदर्भ में यह उल्लेख करना उपयोगी होगा कि हाल के वर्षों में समतावाद–विरोधी सोच का गंभीर रूप से पुनरुत्थान हुआ है, जो कि उस राजनीतिक अर्थव्यवस्था वाली विचारधारा की बढ़ती लोकप्रियता से दृढ़ीकृत हुई है, जिसका तर्क है कि समतावादी उपाय बाज़ार क्षमता का गला घोंट देते हैं और आगे चलकर हर किसी की हालत खस्ता कर देते हैं।

समतावादियों से तदनुसार अपेक्षा है कि चुनौतियों की एक नयी श्रृंखला के जवाब में अपने तर्कों को सुस्पष्ट करें; वे आमतौर पर इस तथ्य को स्पष्टतः सिद्ध करने में लगे रहते हैं; कि वे सम्पूर्ण समानता की माँग नहीं कर रहे हैं और इस प्रकार, एकरूपता उनकी योजना का हिस्सा कतई नहीं है। इसके विपरीत, जिसको वे बचाने का प्रयास करते हैं वह है विविध ाता।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18.2 समानता के विभिन्न प्रकार

18.2.1 औपचारिक समानता

अंग्रेजी दार्शनिक जॉन लॉक मनुष्य की नैसर्गिक समानता पर आधारित समानता–संबंधी विचार के सर्वाधिक वाक्पटु समर्थकों में से एक हैं। (कहने की ज़रूरत नहीं कि लॉक की कार्य–योजना में महिलाओं का कतई स्थान नहीं था!) कैन्ट ने इस सार्वभौम मानवता के एक निष्कर्ष रूप में सार्वत्रिकता और समानता के बारे में बात कर इस विचार को और मज़बूती प्रदान की। इस प्रकार, औपचारिक समानता का अर्थ हो गया – अपनी सर्वमान्य मानवता के बल पर सभी व्यक्तियों से समान रूप से व्यवहार किया जाए।

इस विचार की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है – विधि–संगत समानता अथवा कानून के समक्ष समानता का सिद्धांत। कानून के द्वारा सभी लोगों से समान रूप से व्यवहार किया जाना चाहिए, बेशक उनकी जाति, प्रजाति, वर्ण, लिंग, धर्म, सामाजिक पृष्ठभूमि, इत्यादि कुछ भी हो। जबकि यह प्रजाति, लिंग, सामाजिक पृष्ठभूमि व इसी प्रकार के अन्य मानदण्डों पर आधारित विशेषाधिकारों के खिलाफ़ संघर्ष में एक स्वागतयोग्य कदम था, अपने आय में यह एक बहुत सीमित धारणा है। यह सिद्धांत इस तथ्य से इंकार करता है कि जाति, लिंग व सामाजिक पृष्ठभूमि द्वारा डाली गई अड़चनें इतनी दुर्दमनीय हो सकती थीं कि व्यक्ति उस औपचारिक समानता को लाभ उठाने में भी समर्थ नहीं होता जो कि कानून सभी व्यक्तियों को प्रदान करता है।

इस संदर्भ में यह ग़ौरतलब है कि यही वो अल्पता थी, जिसने मार्क्स को अपने निबंध 'ऑन दृजूइश क्वैश्चन' में इस समस्या पर सूक्ष्म दृष्टि डालने को प्रवृत्त किया। उसने निश्चयपूर्वक कहा कि औपचारिक समानता जबकि एक महत्त्वपूर्ण अग्रसर कदम है, वह मानव का उद्धार नहीं कर सकती। जबकि बाज़ार ने लोगों को सामाजिक दर्जे व अन्य समरूप श्रेणियों द्वारा लगाए गए अड़ंगों से मुक्त कर दिया, उसने तिस पर भी वर्गाधारित भेदों को पैदा कर दिया, जिनको कि निजी स्वामित्व की विद्यमानता द्वारा परिपुष्ट किया गया। इसका निहितार्थ था कि व्यक्तिजन नितान्त भिन्न बाज़ार मूल्य रखते हैं और इसी कारण से मार्क्सवादी जन इस संदर्भ में औपचारिक समानता का वर्णन बाज़ार समानता के रूप में करते हैं, जोकि समाज की गहन असमान प्रकृति को छिपाने हेतु कुछ ज़्यादा ही दिखावा है।

आज, समतावादी जन इस धारणा से दूर चले गए हैं कि सभी मनुष्यों को समान बनाया गया है और इसी कारण से, उन्हें समान अधिकार रखने चाहिए; ऐसा इस तथ्य की वजह से है कि मनुष्य जन अधिकांश महत्त्वपूर्ण पहलुओं में समान नहीं हैं। इसीलिए, आज, समानता शब्द विवरणकारी के स्थान पर एक व्यवस्थाकारी अर्थ में अधिक प्रयोग होता है; उन नीतियों का समर्थन किया जाता है जो मनुष्यों के कुछ वर्णनात्मक विशेष गुणों पर निर्भर न रहते हुए समानता के आदर्श को बढ़ावा देती हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अन्त देखें।

1) वह क्या था जिसने ब्रिटिश समाज के बारे में आर.एच.टॉनी को व्याकुल कर दिया?

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

2) औपचारिक समानता सिद्धांत को दिशा–निर्देशित करने वाला मूल तत्त्वज्ञान क्या है?

....

....

....

....

....

18.2.2 अवसर की समानता

सहज ही समझी जाने वाली, अवसर की समानता का अर्थ है उन सभी अवरोधों को दूर करना जो व्यक्तिगत आत्म–विकास में बाधा डालते हैं। इसका अर्थ है कि पेशे या व्यवसाय प्रतिभावान व्यक्ति के लिए ही खुले होने चाहिए और तरक्क़ियाँ योग्यताओं पर आधारित होनी चाहिए। सामाजिक स्थिति, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक पृष्ठभूमि व ऐसे ही अन्य कारकों का हस्तक्षेप नहीं होने देना चाहिए।

अवसर की समानता एक अत्यन्त आकर्षक धारणा है, जो उस बात से संबंधित है जिसका जीवन के आरम्भ बिन्दु के रूप में वर्णन किया जाता है। निहितार्थ यह है कि समानता यह अपेक्षा रखती है कि सभी व्यक्ति एक समतल क्रीड़ा–स्थल से जीवन शुरू करें। तथापि, यह ज़रूरी नहीं कि इसके परिणाम बिल्कुल भी समतावादी हों। यथार्थतः चूँकि हर व्यक्ति ने समान रूप से शुरुआत की, असमान परिणाम स्वीकार्य एवं वैध–सिद्ध होते हैं। इस असमानता को तब भिन्न–भिन्न नैसर्गिक प्रतिभाओं, कठोर श्रम–क्षमता अथवा भाग्य के भी शब्दों में स्पष्ट किया जाएगा।

यह लगता है कि इस तरह से बनी अवसर की समानता एक ऐसी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा करने का समान अवसर प्रदान करती है जो कि क्रम–परम्परागत रही है। अगर ऐसा है तो यह तत्त्वतः कोई समतावादी सिद्धांत प्रतीत नहीं होता। अवसर की समानता, इस प्रकार, एक असमतावादी समाज की ओर इशारा करती है, यद्यपि वह योग्यता के उच्च आदर्श पर आधारित, है। यह धारणा स्वयं को प्रकृति और परम्परा के बीच भिन्नता पर आधारित करती है। तर्क यह है कि वे भिन्नताएँ जो प्रतिभाओं, कौशलों, कठोर श्रम इत्यादि जैसे विभिन्न प्राकृतिक गुणों के आधार पर प्रकट होती हैं, नैतिक रूप से समर्थनीय हैं। तथापि, वे भिन्नताएँ जो परम्पराओं अथवा ग़रीबी, आश्रयहीनता जैसे सामाजिक रूप से बने भेदों से पैदा होती हैं, समर्थनीय नहीं हैं। सच्चाई, हालाँकि, यह है कि यह एक विशिष्ट सामाजिक पक्षपात है जो समाज में भेदों को स्पष्ट करने के लिए सुन्दरता अथवा बुद्धिमत्ता जैसी किसी प्राकृतिक भिन्नता को एक प्रासंगिक आधार बना देती है। तदनुसार, हम देखते हैं कि प्रकृति व परम्परा के बीच भेद इतना सुस्पष्ट नहीं है जैसा कि समतावादी बतलाते हैं।

अवसर की समानता को प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए पेशे या व्यवसाय खुले रखना, निष्पक्ष समान अवसर उपलब्ध कराना और सकारी–भेदभाव सिद्धांत विषयक अनेक विसामान्यताओं को स्वीकृति के माध्यम से संस्थापित किया जाता है। ये सब इस प्रकार काम करते हैं कि समानता की व्यवस्था तर्कसंगत और स्वीकार्य लगे। निहित धारणा यह है कि जब से प्रतिस्पर्धा निष्पक्ष हुई है, लाभ अपने आप आलोचना से परे हो गया है। इस बात में कोई शक नहीं कि इस प्रकार की व्यवस्था ऐसे लोगों को जन्म देगी जो सिर्फ़ अपनी प्रतिभाओं एवं वैयक्तिक सहजगुणों पर ध्यान देंगे। यह बात उन्हें अपने लोगों के साथ किसी भी सामुदायिक अनुभूति से वंचित करती है, क्योंकि वे सिर्फ़ प्रतिस्पर्धा की भाषा में ही सोच सकते हैं। शायद, यह सिर्फ़ एक ऐसे समुदाय को जन्म दे सकती है जो एक ओर तो सफल व्यक्तियों का समुदाय होगा, और दूसरी ओर असफल व्यक्तियों का ऐसा समुदाय जो अपनी तथाकथित विफलता के लिए स्वयं को ही दोष देगा। तो भी अवसर की समानता के साथ एक और समस्या यह है कि वह एक पीढ़ी व दूसरी पीढ़ी की सफलताओं व विफलताओं के बीच एक बनावटी वियोजन पैदा करने का प्रयास करती है।

इस प्रकार, यह देखने में आता है कि समानता विषयक उदारवादी विचार अवसर की समानता पर आधारित है। यह वकालत, समानता संबंधी किसी भी यथेष्ट धारणा के विरुद्ध है क्योंकि ये वो अवसर हैं जो असमान परिणामों की ओर ले जाते हैं। यह सिद्धांत, इस प्रकार, परिणामों से असम्बद्ध है और सिर्फ़ प्रक्रिया में रुचि रखता है। यह पूरी तरह से इस उदारवादी विचार को कायम रखने के साथ है कि व्यक्तिजन समाज की बुनियादी इकाई हैं और समाज को अवश्य ही उनके लिए यह संभव बनाना होगा कि वे अपने निजी हितों को सिद्ध कर पाएँ।

क्या इसका मतलब यह हुआ कि समतावादी जन अवसर की समानता को अनदेखा करेंगे? उत्तर है स्पष्ट रूप से नहीं। तथापि, वे अवसर की समानता संबंधी एक अधिक व्यापक परिभाषा को लेकर चलेंगे, जो कि हर किसी को एक संतोषजनक एवं पालनयोग्य तरीके

से अपनी क्षमताओं को विकसित करने के साधन मुहैया करायेगी। एक समतावादी समाज कुछ लोगों को अपनी क्षमताएँ विकसित करने हेतु वास्तविक अवसर प्रदान देने से इंकार नहीं करेगा। इस अवसर का निष्कपट समतावादी प्रयोग एक सार्थक जीवन की ओर प्रवृत्त करेगा। चूँकि यह सुनिश्चित करना सम्भव नहीं है कि हर व्यक्ति एक सार्थक जीवन बिताए, ऐसी सामाजिक परिस्थितियों के लिए जो सभी व्यक्तियों को सार्थक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करे, इस बात के लिए ही समतावादी जन प्रयास करेंगे।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अन्त देखें।

1) व्यक्तियों के विषय में वह मूल उदारवादी धारणा क्या है जो उनसे एक व्यापक रूप से असमान प्रसंग में अवसरों की समानता का समर्थन करवाती है?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) अवसर की समानता विषयक समतवादी विचार को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

18.2.3 परिणामों की समानता

तथापि, परिणाम पर नज़र डालने हेतु जीवन के आरंभ–बिंदु से आगे चलकर समानता के संबंधी धारणा एक और अभिव्यक्ति परिणामों की समानता के शब्दों में होगी। मार्क्स,

उदाहरण के लिए, यह विचार रखते थे कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से घिरा समानता हेतु कोई भी अधिकार पक्षपाती के सिवा कुछ और नहीं हो सकता। तदनुसार, उसने संपूर्ण समाजिक समानता के लिए, जोकि तभी संभव है यदि अन्य सभी समानताओं से निजी संपत्ति को समाप्त कर दिया जाये, तर्क दिया कि तब तक अपर्याप्त रहेगी जब तक कि परिणाम की समानता सुनिश्चित नहीं हो जाती।

परिणाम–संबंधी समानता के आलोचक यह बात रखते हैं कि इस प्रकार का काम निष्क्रियता, अन्याय और बुरी से बुरी नादिरशाही का रास्ता दिखलायेगा। हयेक ने, उदाहरण के लिए, तर्क दिया है कि लोग चूँकि बहुत भिन्न होते हैं, उनकी अभिलाषाएँ व लक्ष्य भिन्न होते हैं तथा कोई भी व्यवस्था जो उनसे समान रूप से सुलूक करती है, वस्तुतः असमानता में परिणत होती है। समानता हेतु प्रेरणा, यह तर्क दिया जाता है, वैयक्तिक स्वतंत्रता की कीमत पर होती है। समाजवादी समतावादी उपायों का लागू किया जाना, यह दलील दी जाती है, व्यक्ति की गरिमा और आत्म–सम्मान को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाता है और ऐसे उपायों के साथ चलने वाला सहज पैतृकवाद व्यक्ति की एक विवेकपूर्ण पसंदकर्त्ता बनने संबंधी योग्यता को अस्वीकार करता है।

18.3 समानता के कुछ मूल सिद्धांत

समतावादी जन यह नहीं मानते कि हर व्यक्ति एक–सा है अथवा एक–सा होना चाहिए। यह कोई सहज यथातथ्य धारणा नहीं है। यह हमको कुछ ऐसे मर्म सिद्धांत प्रस्तुत करने में मदद करेगी, जिनके प्रति समतावादी जन वचनबद्ध होंगे। पहला वचन इस धारणा के प्रति है कि हर व्यक्ति अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने का अधिकार रखता/रखती है और जीवन–स्तर में व्यापक असंगतियों वाले लक्षण रखने वाला कोई भी समाज उन्हें स्वीकार्य नहीं है। वे एक ऐसे समाज के प्रति वचनबद्ध हैं जहाँ–जीवन दशाएँ सिर्फ़ सह्य ही नहीं, बल्कि सभी के लिए एक संतोषजनक एवं पालनयोग्य जीवन प्रदान करने में सक्षम भी हों।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धांत समान आदर संबंधी है, जिसका निहितार्थ है – किसी भी प्रकार के अपमानजनक व्यवहार अथवा परिस्थितियों का विरोध; आदर्श रूप में, सहानुभूति पर आधारित एक समाज। एक समतावादी विचार न सिर्फ़ व्यक्तियों के बीच, बल्कि राष्ट्रों के बीच भी, आय व धन–सम्पत्ति में बड़े अन्तरों का विरोध करता है। इसमें सभी के लिए गरिमापूर्ण, रुचिपूर्ण एवं निरापद कार्य की संभावना के अतिरिक्त, अर्थव्यवस्था एवं कार्यस्थल का लोकतांत्रिक नियंत्रण भी शामिल होगा। राजनीतिक समानता, कहने की ज़रूरत नहीं, महज वोट देने अथवा किसी सार्वजनिक पद हेतु खड़े होने का अधिकार नहीं है, वरन् यह जीवन के सभी पहलुओं में नागरिक अधिकारों का एक व्यापक प्राधार एवं एक लोकतांत्रिक भागीदारी है, ताकि व्यक्तिजन एक अधिक सार्थक तरीके से अपने जीवन को नियंत्रित करने व कार्यरूप देने में समर्थ हों।

लैंगिक, प्रजातीय, नृजातीय व धार्मिक समानता समानता–संबंधी जटिल धारणा के कुछ अन्य घटक हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम समानताओं की कोई पूरी तरह से विस्तीर्ण सूची नहीं बना सकते, और इसी में अन्तर्निहित है समानता संबंधी अवधारणा की सुधारवादी प्रयोगक्षमता।

18.4 समानता के विरुद्ध कुछ तर्क

समानता, यह तर्क दिया जाता है, एक ऐसी अवधारणा है जो कि वास्तव में स्वीकार करने

योग्य नहीं है क्योंकि समाज और सामाजिक प्रक्रियाएँ एक प्रतिस्पर्धा से जुड़ी हैं, जिसमें न तो हर कोई समर्थ हो सकता है और न ही विजेता हो सकता है। हम ऐसी आपत्तियाँ परिणामों की समानता संबंधी अपने चर्चा के प्रसंग में पहले ही देख चुके हैं। प्रतिक्रिया स्वरूप यह कहा जा सकता है कि यह विरुद्ध तर्क समाज व व्यक्ति के स्वभाव की एक विशिष्ट व्याख्या से जन्मता है।

आज के युग में हयेक, फ्रीडमैन एवं नोज़िक के नाम उस विचार से जुड़े हैं जो समतावाद को आज़ादी के लिए एक ख़तरा मानता है। नोज़िक विशेष रूप से जॉन रॉल्स व ड्वोर्के जैसे उदारवादियों के आलोचक हैं, इस बात के लिए कि वे अवसर की समानता को बढ़ाने के लिए कल्याणकारी विधानों के प्रति वचनबद्ध थे। उनके जवाब में, जो यह कहते हैं कि समाज में असमानता आत्म–सम्मान को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाती है, नोज़िक जैसे उदारवादियों का तर्क है कि इसके विपरीत, यह समतावाद ही है जो लोगों से उनका आत्म–सम्मान छीन लेता है। नोज़िक का दावा है कि असमतावादी समाज व्यक्तियों की विशिष्टता एवं उनके बीच भेद को स्वीकार कर व्यक्तियों के प्रति अधिक सम्मान दर्शाते हैं। चूँकि एक समतावादी समाज सत्ता, पद, आय अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित किन्हीं भी भेदों से वंचित होगा, वहाँ आत्म–सम्मान के लिए कोई आधार न होगा, क्योंकि आत्म–सम्मान उन मानदण्डों पर आधारित होता है जो लोगों में भेद उत्पन्न करते हैं।

एक बड़ी सख्त आपत्ति वे लोग करते हैं जो यह मानते हैं कि समानता लागू करने का कोई भी प्रयास राज्य को मज़बूती प्रदान करने में परिणत होता है और इसकी वजह से वैयक्तिक स्वतंत्रता कमज़ोर पड़ती है। यही बात समानता व स्वतंत्रता के बीच संबंध विषयक पश्चिमी राजनीति–सिद्धांत में प्रसिद्ध सवाल के मर्म में है जिस पर हम थोड़ा बाद में चर्चा करेंगे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अन्त देखें।

1) स्पष्ट करें कि किस प्रकार नोज़िक के अनुसार एक समतावादी समाज लोगों से उनका आत्म–सम्मान छीन लेता है।

....

....

....

....

....

18.5 उदारवादी असमानता–संबंधी औचित्य प्रतिपादन

उदारवादी जन लोगों से भिन्न व्यवहार किए जाने हेतु अनुकूल मानदण्डों के रूप में लिंग, प्रजाति, अथवा वर्ग को अस्वीकार करते हैं, परन्तु वे यह ज़रूर मानते हैं कि यदि असमानताएँ उनके भिन्न गुण–अवगुण अथवा योग्यता के आधार पर अर्जित एवं यथोचित हैं, तो यह बात न्यायसंगत और उचित है। तदनुसार, उदारवादी सिद्धांत हठात् यह दावा करता है कि जब तक भी असमानता को समाज हेतु विशेष गुणों व योग्यताओं अथवा विशेष योगदान के लिए पारितोषिक अथवा पुरस्कार/दण्ड के आधार पर सही ठहराया जा सकता है, यह स्वीकार्य रहेगा। यहाँ हम इस बात पर ध्यान दिए बग़ैर नहीं रह सकते कि समाज

के लिए जो भी पुरस्करणीय, विशेष अथवा योगदान–स्वरूप है, सभी उक्त समाज की विशिष्टताओं से सीमाबद्ध है। इसके अतिरिक्त, किसी व्यक्ति के योगदान के मूल्य को ताक पर रख देना बहुत मुश्किल है, और यदि कोई योगदान देने के बाद वापस ले जाता है, तो क्या वह वाक़ई कोई योगदान कर रहा है? यह विचार समग्रता में बुनियादी उदारवादी विचार के विरुद्ध लगता है कि सभी व्यक्ति समान रूप से योग्य व सम्मान्य हैं, और लोगों को प्रतिभाओं व योग्यताओं की एक गठरी सा बना देता है।

आज के युग में, तथापि, रॉल्स एवं ड्वोर्के जैसे आधुनिक उदारवादियों ने असमानता को सही ठहराने के लिए मानदण्डों के रूप में योग्यता एवं गुण/अवगुण को नहीं माना है। वास्तव में, वे सभी जनों की भिन्न वैयक्तिक प्रतिभाओं व कौशलों पर ध्यान दिए बग़ैर उनके समान नैतिक गुण पर आधारित सम्मान की समानता की वकालत करते हैं। वे इस समानता को इस धारणा पर आधारित करते हैं कि सभी मनुष्य विकल्प चुनने एवं जीवन–योजना तैयार करने की योग्यता से समान रूप से सम्पन्न हैं। रॉल्स, उदाहरण के लिए, योग्यता अथवा प्रयास के अनुसार पारितोषिकों के वितरण को नैतिक रूप से यादषच्छिक मानकर अस्वीकार करते हैं, क्योंकि योग्यताओं व कुशलताओं में अंतर, वह तर्क देते हैं, सहज ही प्रकृति के तथ्य हैं और इन कुशलताओं व योग्यताओं की विद्यमानता अथवा अभाव के कारण किसी को लाभ अथवा हानि नहीं होनी चाहिए। इस कारण से, वह इन नैसर्गिक योग्यताओं के व्यवहार का सामाजिक गुण के रूप में समर्थन करते हैं, ताकि 'समाज का बुनियादी ढाँचा व्यवस्थित किया जा सके, ताकि ये संभाव्यताएँ सबसे खराब किस्मत वाले के लिए भी भलाई के काम करें'।

तथाकथित 'भेद सिद्धांत' जो कि रॉल्स स्पष्टतया व्यक्त करते हैं, वह उनकी समझ में सर्वोत्तम सिद्धांत है, यह सुनिश्चित करने के लिए कि प्राकृतिक गुण अनुचित लाभों की ओर प्रवृत्त न करें। यह सिद्धांत अपेक्षा रखता है कि सामाजिक व आर्थिक असमानताएँ इस प्रकार व्यस्थित हों कि ये दोनों शर्तें पूरी हों : (अ) ये न्यूनतम लाभांवितों के अधिकतम लाभार्थ हों और (ब) ये अवसर की उचित समानता संबंधी शर्तों के तहत सभी के लिए खुले उच्च पद व स्थानों से जुड़ी हों। यह, तदनुसार, परम्परागत उदारवादी अधिकारों से भिन्न समानता की एक अधिक व्यापक समझ है। असमान पारितोषिक भिन्न योग्यताओं के आधार पर नहीं, वरन् प्रोत्साहन के रूप में न्यायोचित ठहराये गए हैं, ताकि वे न्यूनतम लाभांवितों को लाभ पहुँचायें। ड्वोर्के समानता विषयक परम्परागत उदारवादी विचारों से भी अहमति जताते हैं और कुछ पुनर्वितरण एवं कल्याणकारी नीतियों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।

मैकफ़र्सन ने रॉल्सवादी समानता की इस आधार पर आलोचना की है कि वह वर्गों के बीच संस्थागत असमानताओं की अपरिहार्यता को मानते हैं। ऐसा करते हुए रॉल्स इस तथ्य से इंकार करते हैं कि वर्गाधारित असमानताएँ विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के बीच असमान सत्ता–संबंधी को जन्म देती हैं और इस प्रकार, समानता के अन्य पहलुओं पर असर पड़ता है।

18.6 समानता एवं नारी–अधिकारवाद

नारी–अधिकारवादी जन समानता के मुद्दे को लिंग–भेद के नज़रिए से देखते हैं। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है सूज़न ओकें कृत *जस्टिस, जैंडर एण्ड द फ़ैमिली* (1989)। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि समान अवसर, कानून–निर्माण अथवा विभिन्न क्षेत्रों हेतु समानता सिद्धांतों के प्रसार द्वारा पुनर्वितरणकारी न्याय, सारतः, समानता पैदा नहीं कर सकते, क्योंकि ये नियम व सिद्धांत एक ऐसे वातावरण में संचालित होते हैं जो कि पहले से ही लिंगों के बीच असमानता से दूषित हैं, यथा ऐसी असमानता से जो सामाजिक प्रथाओं

MAADHYAM IAS

से जन्मी है। इनमें से अनेक प्रथाएँ महिलाओं के प्रति सीधे विभेदकारी नहीं है, बल्कि उनका समग्र प्रभाव होता है असमानता को मज़बूती प्रदान करना और उसे वैधता का एक जामा पहनाना। तदनुसार, यद्यपि कानून औपचारिक रूप से लिंगों के बीच भेद नहीं कर सकता, हालत यह है कि विशिष्ट व्यवसायों में महिलाओं को अलग रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है और विवाहित महिलाएँ जो व्यवसायरत हैं, एक लिंगभेद के पूर्वाग्रह से ग्रसित समाज में खास तौर पर अलाभांवित हैं।

नारी–अधिकारवादी जन यह ध्यान दिलाते हैं कि महिलाओं के अधिकार व कर्त्तव्य संबंधी असमानता के विचार–पारिवारिक निर्णयन् में उनका कमज़ोर स्वर, बच्चों के पालन–पोषण संबंध उनका दायित्व एवं श्रम–बाज़ार से तदन्तर उनकी निकासी – का विकल्पों की **सहज** एवं स्वैच्छिक कार्य–प्रणाली से कुछ लेना–देना नहीं है, बस क्योंकि भूमिकाएँ सामाजिक रूप से **बनी हुई** हैं!

तथापि, साथ ही, यदि राज्य लिंगभेद–संबंधी विशिष्टीकरण को दूर करने में, खासकर पारिवारिक जीवन में, शामिल होता है तो इस बात पर शायद नारी–अधिकारवादी भी नाराज़गी व्यक्त करेंगे। यह, संभवतः, अधिक आसान होगा कि हम लिंगभेद–असमानता के प्रति जागरुक हों और उसे सामाजिक काम प्रथाओं एवं सामाजिक रूप से संरचित भूमिकाओं में खोजें, बल्कि यह मुश्किल है कि एक उपचारी उपाय ढूँढने के लिए हम आगे बढ़ें। जब तक कि महिलाएँ स्वयं अपनी असमानता, परिवार में अपनी अधीनस्थ भूमिका के प्रति जागरूक नहीं होतीं, और सामाजिक ढाँचों को पुनः अनुकूलित करने के लिए सामने नहीं आतीं, लिंगभेद समानता के संबंध में ठोस कुछ नहीं किया जा सकता।

18.7 समानता और स्वतंत्रता

MAADHYAM IAS

अक्सर यह दावा किया जाता है कि एक तो स्वतंत्रता व समानता विरोधात्मक हैं, और दूसरे यह विवाद इसी कारण समाधेय नहीं है। द तौकवि ने समानता को स्वतंत्रता के सामने खड़े एक संभावित ख़तरे एवं बहुमत की निरंकुशता के रूप में देखा, जैसा कि वह व्यापक सानुरूपता भय से देखते थे, फ्रीडमैन, नोज़िक एवं हयेक इस विचार से जुड़े कुछ अभी हाल के नाम हैं। इस प्रकार की स्थिति जो करती है, वो है – स्वतंत्रता व समानता के बीच सोच–समझकर कोई न कोई विवाद खड़ा करना, यह सुझाते हुए कि समानता लागू करने के प्रयासों का तत्काल अर्थ होता है – बलप्रयोग और स्वतंत्रता की समाप्ति। वे संकेत करते हैं कि चूँकि व्यक्तिजन अपने–अपने कौशलों व योग्यताओं के लिहाज से आपस में भिन्न होते हैं, उनके जीवन में भिन्नताएँ तो अवश्यंभावी हैं, और तदनुसार असमानता की ओर एक सहज प्रवष्त्ति तो होगी ही। इसको सुधारने का कोई भी प्रयास सत्तावादी रोध के साथ ही होगा और इसी कारण से स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी।

यहाँ समानता की बराबरी एकरूपता से करने का सुविचारित प्रयास किया जाता है, समतावादी समाज कोई समरूप समाज नहीं होता। यह एक ऐसा समाज है, जहाँ हर व्यक्ति अपनी वैयक्तिक एवं भिन्न प्रतिभाओं के साथ एक समान रूप से सार्थक एवं यथेष्ट जीवन व्यतीत कर सकता/सकती है।

वे लोग जो यह दावा करते हैं कि समानता एवं स्वतंत्रता असमाधेय हैं, अपनी बात स्वतंत्रता की एक विशिष्ट समझ से शुरू करते हैं; जिसका वर्णन स्वतंत्रता की 'नकारी संकल्पना' के रूप में किया जाता है। वस्तुतः वे दावा करते हैं कि स्वतंत्रता की सकारी संकल्पना स्वतंत्रता कतई नहीं है, बल्कि स्वतंत्रता के छद्म वेश में कोई चीज है। स्वतंत्रता संबंधी नकारी वर्णन स्वतंत्रता को एक व्यक्ति के जीवन में जानेबूझे हस्तक्षेप के अभाव के रूप में देखता है।

विपरीतः, वे स्वतंत्रता को उन विकल्पों के चुनने हेतु उपलब्धता एवं योग्यता के रूप देखते हैं, जो सार्थक एवं प्रभावी हों। स्वतंत्रता–संबंधी इस प्रकार की समझ इसे तत्काल ही सामाजिक एवं संस्थागत सत्ता प्राधारों तक पहुँच, भौतिक व आर्थिक आवश्यकताएँ पूरा करने, तथा निस्संदेह, शिक्षा व ज्ञान पर अधिकार आदि मामलों से जोड़ेगी। इसी कारण, समतावादियों का कहना है कि सामाजिक प्रभाव आर्थिक धन–सम्पत्ति एवं शिक्षा के लिहाज से समानता यह सुनिश्चित करने के लिए अनिवार्य है कि हर व्यक्ति एक सार्थक एवं यथेष्ट जीवन व्यतीत करे। यह काम करने में समतावादी जन समता का रास्ता अख़्तियार किए हुए हैं और सत्ता के सामाजिक एवं संस्थागत प्राधारों द्वारा दबे हुए हैं। धन–संपत्ति के वैषम्य से स्वतंत्रता गंभीर रूप से बाधित है। शिक्षा, हमें नए विचारों को ग्रहण करने में समर्थ करके और हमें विभिन्न कौशलों से शिक्षित कर निस्संदेह एक युक्तिकारी कारक की भूमिका निभाती है। इसी कारण, इन मूल सिद्धांतों की पहुँच में कोई भी असमानता, यह तर्क रखा जा सकता है, उस सार्थक व यथेष्ट जीवन को जीने हेतु व्यक्ति की समर्थता को सीमित कर देगी जो कि समतावादियों के लिए स्वतंत्रता की धारणा का सार–तत्त्व है।

समतावादी यह तर्क देते हैं कि मनुष्य महज अकेले छोड़ दिए जाने से स्वतंत्र नहीं हो जाता। उनका कहना है कि अधिकार, धन–सम्पत्ति व शिक्षा स्वतंत्रता के मूल स्रोत हैं और वह समाज जो उन पहलुओं में समानता सुनिश्चित नहीं कर सकता, स्वतंत्र समाज नहीं हो सकता। तदनुसार, हम देखते हैं कि स्वतंत्रता व समानता विरोधात्मक होने से बढ़कर दरअसल महज संगत ही नहीं हैं, बल्कि एक–दूसरे पर निर्भर भी हैं।

बीसवीं सदी का अधिकांश समय ऐसा था, जब समानता सिर्फ़ औचित्य प्रतिपादन में काम आती थी। इसको ऐसे केन्द्रीय सिद्धांत के रूप में देखा जाता था जिसके इर्द–गिर्द राष्ट्रों व समाजों को स्वयं को संगठित करना होता था। बहरहाल, नई सदी के आगमन के साथ ही, समानता को नैतिक रूप से अवांछित सिद्ध करने का एक गंभीर बौद्धिक एवं राजनैतिक प्रयास किया जा रहा है। संपत्ति के अधिकार की अपरिहार्य प्रवृत्ति एवं समाज की अनिवार्यतः बहुवादी प्रवृत्ति के चलते समतावाद–विरोधी दावे को समानता के अनुशीलन द्वारा गंभीर रूप से ख़तरा रहेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18.8 सारांश

इस इकाई में हमने इस बात पर सूक्ष्म दृष्टि डाली कि समानता की अवधारणा का मतलब क्या है। इस तथ्य के साथ यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि हम ऐसे समाज में रहते हैं जो अनेक प्रकार की असमानताओं से लड़ रहा है। समानता अपने बहुत ही सीमित अर्थ में औपचारिक समानता है जो कि सभी मनुष्यों की सार्वभौम मानवता संबंधी धारणा को स्वीकार करती है। अवसर की समानता, जिसको हमने देखा, का प्रयोग असमानता को अन्यतम रूप से सही ठहराने के लिए किया जा सकता है। परिणामों की समानता समानता शब्द के अर्थ को विस्तार प्रदान करती है। हमने समानता संबंधी आधुनिक उदारवादी बचाव पक्ष के साथ–साथ इस बात का भी अध्ययन किया कि यदि वह समाज में केवल सबसे खस्ता हालत वालों के अधिकतम लाभ हेतु ही काम करता हो तो वह असमानता को किस प्रकार सही ठहराता है। हमने समानता संबंधी नारी–अधिकारवादी समालोचना पर भी ध्यान दिया।

अन्ततः, हमने समानता व स्वतंत्रता के बीच संबंध विषयक बहस पर सूक्ष्म दृष्टि डाली, और देखा कि स्वतंत्रता संबंधी एक नकारी अवधारणा इन दो अवधारणाओं को प्रतीयमानतः विवादास्पद बनाती है।

18.9 कुछ उपयोगी संदर्भ

नोर्मैज, पी. बेरी, *ऐन इण्ट्रोक्शन टु मार्डर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 2000

हैल्ड, डैविड, *पॅलिटिकॅल थिअरी टुडे*,

स्टिबार्ट, रॉबर्ट एम., *रीडिंग्स इन सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल फिलॉसफी*

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) टॉनी न सिर्फ़ असमानता की विद्यमानता को लेकर परेशान थे, बल्कि इस बात से भी कि इस असमानता को स्वाभाविक एवं अपरिहार्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।

2) औपचारिक समानता का मार्गदर्शन करने वाला बुनियादी सिद्धांत यह है कि चूँकि सभी मनुष्य समान बनाये गए हैं, उनके साथ समान व्यवहार होना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) यह उदारवादी धारणा है कि व्यक्तिजन समाज की बुनियादी इकाई हैं और समाज को व्यक्तिजनों के लिए अवश्य ही यह संबल बनाना चाहिए कि वे अपने निजी हितों की पूर्ति कर सकें।

2) एक समतावादी समाज कुछ लोगों को अपनी क्षमताएँ विकसित करने के लिए सच्चा अवसर देने से इंकार नहीं करेगा। इस अवसर का वास्तविक समतावादी प्रयोग एक सार्थक जीवन व्यतीत करना होगा। चूँकि यह सुनिश्चित करना संभव है कि हर व्यक्ति एक सार्थक जीवन जिए, समतावादी जन जिसके लिए प्रयास करेंगे वह उन सामाजिक परिस्थितियों की रचना होगी जो सभी व्यक्तियों को सार्थक जीवन जीने का अवसर प्रदान करेंगी।

बोध प्रश्न 3

1) नोज़िक यह दावा करते हैं कि असमतावादी समाज व्यक्तियों की विशिष्टता एवं उनके बीच भेद को स्वीकार कर व्यक्तिजनों के प्रति अधिक सम्मान दर्शाते हैं। चूँकि एक समतावादी समाज से प्रभाव, पद, आप व सामाजिक स्थिति पर आधारित भेद दूर कर दिए जाएँगे, आत्म–सम्मान के लिए आधार नहीं होगा, क्योंकि आत्म–सम्मान उन मानदण्डों पर आधारित होता है जो लोगों में भेद करते हैं।

MAADHYAM IAS

इकाई 19 स्वतंत्रता

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 परिचय
19.2 स्वतंत्रता का अर्थ
19.3 स्वतंत्रता संबंधी जेएस मिल की धारणा
19.4 ईसाइया बर्लिन तथा 'टू कॉन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी'
19.5 मार्क्सवादी समालोचना तथा स्वतंत्रता–बोध
19.6 स्वतंत्रता विषयक अन्य सामयिक विचार
19.7 सारांश
19.8 मुख्य शब्द
19.9 कुछ उपयोगी संदर्भ
19.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

स्वतंत्रता को आधुनिक राजनीतिक व सामाजिक सिद्धांत में एक सबसे महत्त्वपूर्ण संकल्पना तथा एक बुनियादी लोकतांत्रिक मूल्य माना जाता है। स्वतंत्रता की धारणा का जन्म आधुनिक सभ्य समाज एवं राजनीतिक प्राधिकार की रचना के प्रसंग में ही हुआ। यद्यपि यह अवधारणा उदारवादी सोच से गहरे जुड़ी हुई है, उदारवादियों ने इस धारणा पर विभिन्न तरीकों से दृष्टिपात किया है। मार्क्सवादीजन स्वतंत्रता–संबंधी उदारवादी धारणाओं की आलोचना करते हैं और व्यक्ति व समाज संबंधी नितान्त भिन्न मान्यताओं पर इस अवधारणा को दोबारा गढ़ते हैं। इस इकाई में हम स्वतंत्रता विषयक विभिन्न पहलुओं पर नज़र डालेंगे, और इस धारणा के अर्थ, औचित्यों एवं सीमाओं को समझने का प्रयास करेंगे। यह इकाई विभिन्न भागों में विभाजित है, प्रत्येक भाग में आप उक्त धारणा का एक विशेष पहलू पायेंगे।

MAADIYAM IAS

19.1 परिचय

उदारवादी विचार के एक मर्म–सिद्धांत के रूप में स्वतंत्रता की धारणा सर्वाधिक सामान्य तौर पर 'नियंत्रण–अभाव के रूप में समझी जाती है। स्वतंत्रता–संबंधी धारणा आधुनिक यूरोप में नए सामाजिक–आर्थिक व राजनीतिक संबंधों की स्थापना के प्रसंग में जन्मी। उक्त धारणा के मूल में तर्कसंगत निर्णयों को लेने में सक्षम, एक समझदार व्यक्ति का विचार था। यह विवेकी व्यक्ति, यह सोचा गया, आत्म–निर्णय में सक्षम था; दूसरे शब्दों में, व्यक्ति उन निर्णयों को लेने में सक्षम था जो स्वयं उससे संबंध रखते थे। अपनी क्षमताओं को विकसित करने के लिए, व्यक्ति को सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक नियंत्रणों से मुक्ति चाहिए थी।

इस प्रकार, स्वतंत्रता की धारणा का नियंत्रण–अभाव अथवा व्यक्ति की स्वायत्तता–क्षेत्र के रूप में विकास हुआ। साथ ही, तथापि, इस तथ्य को कि एक सामाजिक संगठन के भीतर व्यक्ति अकेला नहीं है और अन्य व्यक्तियों के साथ संबंध में ही अस्तित्व रखता है, इस बात की अपेक्षा थी कि स्वायत्तता संबंधी उनके क्षेत्रों पर अन्य व्यक्तियों का समान ही अधिकार होना चाहिए। इस लिहाज से कि स्वायत्तता हेतु सभी व्यक्तियों द्वारा अपने–अपने दावे

न्यूनतम विवाद के साथ स्पष्टतया अनुभव किए जा सकें, यह अनिवार्य था कि नियंत्रणों एवं नियमतीकरण संबंधी एक व्यवस्था बनायी जाए और हर एक द्वारा उसका अनुपालन किया जाये। हॉब्स, लॉक एवं रूसो जैसे दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक संविदा संबंधी सिद्धांतों ने नियंत्रणों की अविद्यमानता के रूप में स्वतंत्रता की धारणा सामने रखी। उसी के साथ, उन्होंने उस ढाँचे का प्रस्ताव भी रखा जिसके भीतर वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रकट होनी थी। तदनुसार, राजनीतिक समुदाय का विचार व्यक्तियों की क्षमताओं व स्वायत्तता तथा उन आदेशों की एक समकालिक मान्यता पर आधारित था कि सभी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता पर नियंत्रणों की एक सर्वमान्य शृंखला के अधीन होने चाहिए।

तदनुसार, यह बोध अवश्य होना चाहिए कि स्वतंत्रता, जिसका आम समझ में मतलब है स्वच्छंदता अथवा वैयक्तिक कर्म हेतु नियंत्रणों एवं अवरोधों का अभाव, तथा जिसको एक लोकतांत्रिक आदर्श माना जाता है, हमेशा सामाजिक संबंधों में एक विशिष्ट नियंत्रण–शृंखला के भीतर जहाँ–तहाँ पाये जाने के रूप में प्रतिपादित किया गया है। आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में स्वतंत्रता के स्वीकार्य रूपों में जिसे देखा जाता है, उसके लिए हमेशा सीमायें रही हैं। आगामी भाग में, हम स्वतंत्रता के तत्त्वों तथा उक्त विषयक अवरोधों हेतु औचित्यों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, स्वतंत्रता के अर्थ पर दृष्टि डालेंगे।

19.2 स्वतंत्रता का अर्थ

जैसा कि प्रस्तावना में उल्लिखित है, स्वतंत्रता का अर्थ है नियंत्रणों से मुक्ति, अथवा उनका अभाव। किसी व्यक्ति को मुक्त अथवा कुछ करने में स्वतंत्र माना जा सकता है, जब उसके कार्य अथवा विकल्प दूसरे के कार्यों अथवा विकल्पों द्वारा बाधित अथवा अवरुद्ध न हों। यह समझना आवश्यक है कि अवरोधों का अभिप्राय राजनीतिक व अन्य प्राधिकरणों द्वारा डाली गई अड़चनों से है। तदनुसार, कारवास, दासत्व या गुलामी, कानूनों का अधीनीकरण, आदि को पराधीनता अथवा स्वतंत्रता के अभाव की दशाओं के अभिप्राय से देखा जा सकता है। जबकि कारावास अथवा कानून–अधीनीकरण जैसी पराधीनता–संबंधी दशाएँ स्वतंत्रता पर अवरोधों के रूप में प्रतीत हो सकती हैं, हम जानते हैं कि आधुनिक लोकतांत्रिक सामाजिक व राजनीतिक संगठन विधिसंगत एवं संस्थागत संरचनाओं पर आधारित हैं, जो कि हर व्यक्ति की स्वतंत्रता के समान महत्त्व को सुनिश्चित करने पर अभिलक्षित हैं। किसी भी समाज के पास, इसी कारण, कोई असीमित 'स्वतंत्रता–संबंधी अधिकार' नहीं होगा। हर समाज के पास स्वतंत्रता विषयक प्रतिबंधों की एक शृंखला होगी, जो कि इस तथ्य द्वारा औचित्य प्रतिपादित होंगे कि लोग इन प्रतिबंधों को उन दशाओं में यथासंभव सर्वश्रेष्ठ के रूप में स्वीकार करते हैं, जिनमें स्वतंत्रता को अधिकतम सीमा तक बढ़ाया जा सकता है।

'नियंत्रण–अभाव' अथवा 'बाह्य अवरोधों का अभाव' के रूप में स्वततंत्रता–बोध का आमतौर पर 'नकारी' के रूप में वर्णन किया जाता है। स्वतंत्रता का 'नकारात्मक' प्रभाव दो भिन्न अर्थों में दिखाई पड़ता है :

(अ) पहले अर्थ में, कानून को स्वतंत्रता के मुख्य अवरोध के रूप में दखा जाता है। हॉब्स ने, उदाहरण के लिए, स्वतंत्रता का वर्णन 'कानूनों की खामोशी' के रूप में किया। इस प्रकार का दृष्टिकोण स्वतंत्रता को सिर्फ़ उसके द्वारा सीमित के रूप में देखता है, जिसे करने से अन्य जन लोगों को सोच–समझकर रोकते हैं। यह बोध, इसी कारण, कानून व सरकार दोनों पर एक निश्चित सीमा का अर्थ देता है प्रतीत होता है। जॉन लॉक जैसे दार्शनिकों ने, हालाँकि, इशारा किया कि स्वतंत्रता हेतु किसी वचनबद्धता का अर्थ यह नहीं है कि कानून को समाप्त कर दिया जाए। इसकी बजाय, इसका अर्थ है कि कानून किसी की स्वतंत्रता को दूसरों के अतिक्रमण से बचाने तक सीमित

MAADHYAM IAS

रहना चाहिए। लॉक ने, इसी कारण, यह पेशकश की कि कानून स्वतंत्रता को सीमाबद्ध नहीं करता, बल्कि उसे वह बढ़ाता है व उसकी रक्षा करता है।

(ब) दूसरा दषष्टिकोण स्वतंत्रता को 'विकल्प की स्वतंत्रता' के रूप में देखता है। मिल्टन फ्रीडमैन, उदाहरण के लिए, अपनी पुस्तक *कैपिटलिज़्म एण्ड फ्रीडम* (1962) में कहते हैं कि 'आर्थिक स्वतंत्रता' में शामिल है बाज़ार–चौक में चुनने की आज़ादी – उपभोक्ता को यह चुनने की आज़ादी कि वह क्या खरीदे, कर्मचारी को यह आज़ादी कि वह अपनी नौकरी अथवा पेशे को चुने और उत्पादक को यह आज़ादी कि वह क्या उत्पादन करे और किसे रोज़गार दे। 'चुनने' का अर्थ है कि व्यक्ति विभिन्न विकल्पों की किसी शष्खला से बेरोकटोक और स्वैच्छिक चुनाव कर सके (देखें एन्ड्रयू हेवुड, *पॅलिटिकॅल थिअरी*, पृ. 259–261)।

स्वतंत्रता के विषय में बात करते हुए प्रायः उसकी नकारी व सकारी धारणाओं के बीच भेद किया जाताहै, यथा 'बाह्य अवरोधों का अभाव' तथा 'समर्थ करने वाली अथवा मदद करने वाली दशाओं की विद्यमानता' के बीच। अन्य शब्दों में, कुछ 'करने की आज़ादी' तथा वस्तुतः **उसे करने में सक्षम होने के बीच अंतर** कुछ करने के लिए स्वाधीन अथवा स्वतंत्र होने को उसे करने से रोका अथवा बचाया जाना नहीं है। जबकि करने में समर्थ होना कुछ करने हेतु वित्तीय रूप से अथवा अन्यथा क्षमता रखना है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति किसी भी नौकरी को करने के लिए स्वतंत्र अथवा असंयत हो सकता है, फिर भी, हो सकता है व्यक्ति के पास वे अर्हताएँ अथवा आर्थिक संसाधन न हों जो उसकी उम्मीदवारी को सार्थक बना सकें। राजनीतिक सिद्धांती जन नियंत्रण–अभाव के रूप में स्वतंत्रता तथा उन दशाओं के बीच भेद करते हैं, जो स्वतंत्रता को सार्थक बनाते हैं। एक भूखों मरता आदमी जो एक महँगे रेस्तराँ में खाने के लिए कानूनन स्वतंत्र है (उसे कोई रोका नहीं है), दरअसल कानूनी स्वतंत्रता के आधार पर किसी भी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता। इस उदाहरण में खाने की स्वतंत्रता को राज्य द्वारा किसी सकारात्मक कार्यवाही की अपेक्षा होगी। यही वह तर्क है जो व्यक्तियों के लिए अवसर बढ़ाने हेतु बनाये गए सामाजिक विधान को सही ठहराने के लिए प्रयोग किया जाता है। ऐसी सकारात्मक कार्यवाही से राज्य के बारे में कहा जाता है कि न सिर्फ़ असमानता घटायेगा, बल्कि स्वतंत्रता भी बढ़ायेगा (नॉर्मन बैरी, *ऐन इण्ट्रोडक्शन टु मॉडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 2000, पृ. 194)।

स्वतंत्रता संबंधी नकारी संकल्पना अंग्रेज़ी, राजनीतिक विचार–सूत्र का लक्षण है, जिसका प्रतिनिधित्व जैरेमी बैन्थम, जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, हैनरी सिगविक, हर्बर्ट स्पैन्सर एवं उन सैद्धान्तिक व नव–सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों ने किया, जिन्होंने यादषच्छिक सरकार के अनावश्यक नियंत्रणों से मुक्ति पाने के लिए लोगों के दावों का समर्थन किया। नकारी स्वतंत्रता का मुख्य स्वयंसिद्ध सत्य था कि 'हर व्यक्ति अपने हित को सबसे अच्छी तरह जानता है' और दूसरे, राज्य को लोगों के साधन व प्रयोजन तय नहीं करने चाहिए। इस सिद्धांत के लिए अनिवार्य थी अनुबन्ध की अलंघ्यता (sanctity)। अलंघ्यता संबंधी इस मान्यता में अन्तर्निहित थी यह समझ कि किसी अनुबन्ध में शामिल होने की कार्यवाही, यदि अनुबंध–शर्तें वैयक्तिक स्वतंत्रता में बाधक हों फिर भी, एक स्वतंत्रता–संबंधी, विकल्प–विशेष के प्रयोग संबंधी अभिव्यक्ति थी। इस प्रकार, विचारकों के इस सूत्र के लिए, किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता एक उस क्षेत्र से संबंधित कार्य था, जिसमें उसको अकेला छोड़ दिया गया और कार्यवाही की गुणवत्ता से कोई वास्ता नहीं रखा गया। नकारी स्वतंत्रता की अवधारणा स्वतंत्रता के एक अर्थ विषयक सिद्धांत के रूप में सबसे अच्छी तरह समझी जाती है। यद्यपि नकारी स्वतंत्रता की प्रायः 'भूखों मरने की आज़ादी' के रूप में निन्दा की जाती है, यह समझ कुछ–कुछ भ्रामक है। यह राज्य–हस्तक्षेप पर कोई अनिवार्यतः निषेध लागू नहीं करती, बल्कि सिर्फ़ इतना बताती है कि इसे इस आधार पर सही नहीं ठहराया जा सकता

MAADHYAM IAS

कि यह आज़ादी को बढ़ाती है, हालाँकि असमानता हेतु के लिए तर्कों का औचित्य प्रतिपादन के लिए आह्वान किया जा सकता है। तथापि, नकारी स्वतंत्रता एवं अहस्तक्षेप–सिद्धांत (*laissez-faire*) अर्थव्यवस्थाओं के बीच ऐतिहासिक संबंध से इंकार नहीं किया जा सकता, और उसके अधिकांश समर्थकों ने एक अल्पतम राज्य का पक्ष लिया है। यह अवधारणा इस अर्थ में उदासीन है कि यह राजनीति की एक व्यापक शृंखला के अनुरूप है, और यह अच्छी है या नहीं की ओर संकेत किए बग़ैर स्वतंत्रता की एक दशा का वर्णन करती है।

स्वतंत्रता संबंधी नकारात्मक धारणा की आलोचना आधुनिक उदारवादियों, सामाजिक प्रजातंत्रवादियों एवं समाजवादियों की ओर से हुई है। उन्नीसवीं सदी में उदारवादियों, मुख्यतः टीएच ग्रीन व कुछ हद तक जे. एस. मिल, ने नकारी स्वतंत्रता संबंधी कुछ सबसे पहली आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने महसूस किया कि पूँजीवाद ने सामंतवादी पदानुक्रमों एवं कानूनी प्रतिबंधों से छुटकारा पा लिया है (खासकर आर्थिक पेशों में), परन्तु इसने विशाल जन–साधारण को ग़रीबी, बेरोज़गारी और बीमारी के वशीभूत कर दिया है। ऐसी परिस्थितियों को उतना ही बाधित स्वतंत्रता के रूप में देखा गया जितना कि कानूनी अड़चनों एवं सामाजिक नियंत्रणों को।

स्वतंत्रता संबंधी सकारात्मक धारणा को अपनाने वाले प्रथम उदारवादियों में एक थे टीएच ग्रीन (1836–82), जिन्होंने स्वतंत्रता को लोगों की 'स्वयं द्वारा सबसे अधिक और सबसे अच्छा किए जाने' संबंधी योग्यता के रूप परिभाषित किया। यह स्वतंत्रता महज अकेला छोड़ दिए जाने में ही नहीं, बल्कि कार्यवाही करने के अधिकार में भी निहित होती है जिसके द्वारा वह प्रत्येक व्यक्ति हेतु उपलब्ध अवसरों की ओर ध्यान ले जाती है। (एण्ड्रयू हेवुड, पॅलिटिकॅल थिअरी, पृ. 262) सकारी स्वतंत्रता की अवधारणा ही कल्याणकारी राज्य का आधार रही है। इस धारणा ने राज्यों द्वारा रखे गए सामाजिक कल्याणकारी प्रावधानों के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया है, जिसके द्वारा स्वतंत्रता समानता से जुड़ गयी।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

आगामी भाग में हम स्वतंत्रता संबंधी मिल की धारणा का अध्ययन करेंगे। मिल स्वतंत्रता संबंधी एक नकारात्मक संकल्पना, अथवा व्यक्ति के अपने तन व मन पर परम नियंत्रण का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। इस अनन्य विश्लेषण में जैसे, व्यक्तित्व संबंधी मिल की यह धारणा उन्हें स्वतंत्रता संबंधी एक सकारात्मक धारणा के करीब ले आयी है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) स्वतंत्रता–संबंधी धारणा का सूत्रबद्ध वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) स्वतंत्रता संबंधी सकारी एवं नकारी अवधारणाओं के बीच अंतर स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

19.3 स्वतंत्रता संबंधी जेएस मिल की धारणा

MAADHYAM IAS

जेएस मिल कृत *ऑन लिबर्टी* 1960 के दशक में अकादमिक बहसों में प्रभावशाली रही। मिल की पुस्तक को स्वतंत्रता–संबंधी नकारी अवधारणा की एक व्याख्या के रूप में देखा जाता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता हेतु मिल के तर्कों के आधार में प्रथा के लिए एक सख़्त नफ़रत का भाव छिपा है, और जिसको कानूनी नियमों व मानदण्डों हेतु युक्तियुक्त रूप से सही नहीं ठहराया जा सकता। कभी–कभी यह भी तर्क दिया जाता है कि मिल के अनुसार कोई भी स्वतंत्र कार्य, चाहे वह कितना भी अनैतिक हो, अपने में सद्गुण का कुछ तत्त्व रखता है, इस तथ्य से गुज़रकर कि वह स्वतंत्रतापूर्वक निष्पादित किया गया हो। यद्यपि मिल ने व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण को बुराई माना, उन्होंने नियंत्रणों को पूरी तरह अतर्कसंगत नहीं माना। फिर भी, उन्होंने महसूस किया कि समाज के भीतर स्वतंत्रता के पक्ष में एक परिकल्पना हमेशा रहती है। स्वतंत्रता विषयक कुछ नियंत्रणों को, इसी कारण, उनके द्वारा सही ठहराया जाना पड़ा जो उन्हें व्यवहार में लाये।

मिल के अनुसार, स्वतंत्रता का उद्देश्य था 'व्यक्तित्व' हासिल करने को बढ़ावा देना था। व्यक्तित्व (individuality) का अभिप्राय हर मानव–गुण सम्पन्न व्यक्ति के विशिष्ट एवं अन्य लक्षण से है, और आज़ादी का अर्थ है, इस व्यक्तित्व का बोध, यथा निजी विकास एवं आत्म–निश्चय। मनुष्यों में व्यक्त्वि के गुण ने ही उन्हें निष्क्रिय की बजाय सक्रिय बनाया, साथ ही सामाजिक व्यवहार की वर्तमान रीतियों का छिद्रान्वेषी भी, ताकि वे जब तक परम्पराओं को तर्कसंगत न पायें उन्हें स्वीकार न करें। मिल के तानेबाने में स्वतंत्रता इसीलिए मात्र नियंत्रण–अभाव के रूप में नहीं, बल्कि कुछ वांछित प्रवषत्तियों की सुविवेचित वृद्धि (deliberate cultivation) में नज़र आती है। यही बात है जिसके कारण मिल को अक्सर स्वतंत्रता की सकारी संकल्पना की ओर आकर्षित होते देखा जाता है।

स्वतंत्रता संबंधी मिल की संकल्पना का मूल विकल्प की धारणा में भी है। यह बात उनके इस विश्वास से प्रमाणित होती है कि वह व्यक्ति जो 'अपने लिए स्वयं की जीवन–योजना को चुनने' का अधिकार दूसरों को दे देता है, 'व्यक्तित्व' अथवा आत्म–निश्चय संबंधी मानसिक शक्ति नहीं दर्शाता। वह मात्र जो मानसिक शक्ति रखता लगता है वह 'अनुकरण' की 'वानर सदृश' (apelipe) मानसिक शक्ति है। दूसरी ओर, वह व्यक्ति 'जो स्वयं के लिए योजना चुनता है, अपनी सभी मानसिक शक्तियों को काम में लाता है' (1974, पृ. 123)। अपने व्यक्तित्व को स्पष्टतया अनुभव करने के लिए, और उसके द्वारा स्वतंत्रता की स्थिति प्राप्त करने के लिए, यह आवश्यक था कि व्यक्तिजन दबावों अथवा मानदण्डों व प्रथाओं का विरोध करें जो आत्म–निश्चय में बाधक थे। मिल का, तथापि, यह विचार भी था कि विरोध करने व स्वतंत्र विकल्प चुनने की क्षमता रखने वाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। शेष जन 'वानर–सदृश अनुकरण' में विश्वास रखने वाली विषयवस्तु हैं, जिसके द्वारा वे परतंत्रता की दशा में रहते हैं। स्वतंत्रता–संबंधी मिल की अवधारणा को इसी कारण अभिजातवर्गीय के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति का उपभोग मात्र एक अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा ही किया जा सकता है, न कि व्यापक रूप से जन–साधारण द्वारा।

अन्य उदारवादियों की ही भाँति, मिल ने व्यक्ति व समाज के बीच सीमा–निर्धारण पर बल दिया। वैयक्तिक स्वतंत्रता पर तर्कसंगत अथवा न्यायोचित प्रतिबंधों के बारे में बात करते हुए, मिल ने आत्म–सम्मानजनक एवं अन्य–सम्मानजनक कार्यों के बीच भेद किया, यथा वे कार्य जो सिर्फ़ व्यक्ति–विशेष को प्रभावित करते थे, और वे कार्य जो आम समाज को प्रभावित करते थे। किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रतिबंध अथवा हस्तक्षेप को सिर्फ़ दूसरों को नुकसान से बचाने के लिहाज से ही सही ठहराया जा सकता था। उन कार्यों के संबंध में व्यक्ति को स्वयं प्रभावित करते थे, व्यक्ति संप्रभु था। जो सिर्फ़ सामाजिक निग्रहों की इस प्रकार की समझ ऐसे समाज की धारणा प्रदान करती है जिसमें व्यक्ति व समाज के बीच संबंध 'पितृसत्तात्मक' नहीं होता, यथा, व्यक्ति चूँकि अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ पारखी होता है, कानून व समाज किसी व्यक्ति के 'सर्वश्रेष्ठ हितों' को प्रोत्साहन देने के लिए हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इसी प्रकार, यह धारणा कि किसी कार्य पर सिर्फ़ तभी नियंत्रण लगाया जा सकता है यदि वह दूसरों को हानि पहुँचाता हो, इस धारणा को नियम–विरुद्ध कहकर घोषित करती है कि कुछ कार्य अन्तर्भूत (intrinsically) रूप से अनैतिक होते हैं और इसी कारण इस बात पर ध्यान दिए बग़ैर कि वे किसी और को प्रभावित करते हैं, अवश्य ही सज़ा देकर सुधारे जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त, मिल का तानाबाना 'उपयोगितावाद' को अप्रासंगिक कहकर घोषित करता है, जैसा कि बैन्थम द्वारा कहा गया है, जो कि हस्तक्षेप को सही ठहरायेगा यदि वह आम हित को अधिकतम सीमा तक बढ़ाता है। तथापि, मिल के विचार में व्यक्ति व समाज के बीच सीमांकन इस अर्थ में कठोर नियम–निष्ठ नहीं है कि सभी कार्य दूसरों को किसी न किसी तरीके से प्रभावित करते ही हैं, और मिल का मानना यह भी था कि उसका सिद्धांत दूसरों के आत्म–सम्मानजनक व्यवहार के संबंध में किसी नैतिक उदासीनता का धर्मोपदेश नहीं करता; साथ ही उन्होंने महसूस किया कि अनैतिक व्यवहार को हतोत्साहित करने के लिए अनुनय का प्रयोग अनुमति के योग्य है। इसी तरह, मिल का सामाजिक लाभ को प्रोत्साहन देने हेतु स्वतंत्रता के सहायक मूल्य में अटूट विश्वास था। यह बात विचार, चर्चा एवं अभिव्यक्ति की संपूर्ण स्वतंत्रता तथा सभा व संस्था हेतु अधिकार के लिए उसके तर्कों के विषय में खासतौर पर सही है। मिल ने महसूस किया कि खुली चर्चा पर से सभी प्रतिबन्ध हटा लिए जाने चाहिए, क्योंकि विचारों की खुली प्रतिस्पर्धा से सच्चाई उजागर होगी। यह उल्लेख किया जा सकता है कि स्वतंत्रताओं संबंधी आज की फ़िहरिस्त में, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को शायद एक लोकतांत्रिक आदर्श के रूप में

आर्थिक स्वतंत्रता की बनिस्पत अधिक महत्त्व दिया जाता है। लोगों के बीच मुक्त विनिमय निस्संदेह एक महत्त्वपूर्ण स्वतंत्रता–व्यवहार है और एक समाज, जिसने सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं को वर्जित कर इसे ही स्वीकृत किया हो, तिस पर भी अपेक्षाकृत स्वतंत्र होगा। (देखें नॉर्मन बैरी, *ऐन इण्ट्रोडक्शन टु मॉडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, अध्याय : लिबर्टी)

19.4 ईसाइया बर्लिन तथा 'टू कॉन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी'

अपनी नई साहित्यिक रचना *टू कॉन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी* (प्रथम प्रकाशित : 1958) में ईसाइया बर्लिन स्वतंत्रता संबंधी नकारी व सकारी धारणाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं, यथा सामाजिक प्रसंग में निग्रह–अभाव के रूप में स्वतंत्रता की धारणा का उसकी कार्य–प्रणाली से संबंधित विभिन्न दृष्टिकोणों के साथ। बर्लिन के अनुसार, स्वतंत्रता संबंधी 'नकारी' धारणा को इस प्रश्न का जवाब देकर समझा जा सकता है : 'वह क्षेत्र क्या है जिसके भीतर अधीनस्थ – एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह – है अथवा उसे, वह जो दूसरे व्यक्तियों के हस्तक्षेप के बग़ैर कर सकने अथवा बन जाने में सक्षम हो, करने के लिए अथवा बनने के लिए छोड़ दिया जाये?, (1969, पृ. 121)। दूसरी ओर, 'सकारी' अर्थ इस प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है : 'नियंत्रण अथवा हस्तक्षेप का स्रोत क्या, अथवा कौन, है जो किसी व्यक्ति को उस की बजाय यह करने, अथवा बनने, को निश्चित कर सकता है?' (1969, पृ. 122)

सकारी स्वतंत्रता महज अकेले छोड़ दिए जाने के रूप में नहीं, प्रत्युत 'स्वयं–प्रभुत्व' के रूप में आज़ादी में हस्तक्षेप नहीं करती। इस सिद्धांत में स्वयं–संबंधी एक विशेष सिद्धांत शामिल है। व्यक्तिगत विशेषता (personality) एक उच्च और एक निम्न व्यक्तित्व में विभाजित होती है। उच्च व्यक्तित्व ही किसी व्यक्ति के यथार्थ एवं युक्तिपरक दीर्घकालीन लक्ष्यों का स्रोत होता है, जबकि निम्न व्यक्तित्व उसकी उन युक्तिहीन इच्छाओं को मनोविनोद प्रदान करता है, जो अस्थायी और अल्पकालिक प्रवृत्ति की होती हैं। कोई व्यक्ति उस हद तक ही स्वतंत्र है जहाँ तक कि उसका उच्च व्यक्तित्व उसके निम्न व्यक्तित्व के वश में है। तदनुसार, एक व्यक्ति बाहरी बलों द्वारा अवरुद्ध न किए जाने के अर्थ में स्वतंत्र हो सकता था, परन्तु वह युक्तिहीन लालसाओं का दास ही रहता; जैसे कि एक नशेड़ी, एक शराबी अथवा एक विवश जुआरी को परतंत्र ही कहा जायेगा। इस अवधारणा का मुख्य लक्षण है, इसका खुले रूप से मूल्यांकनकारी स्वभाव, इसका प्रयोग वांछित माने जाने वाली जीवन–रीति से विशेष रूप से जुड़ा है। सकारी स्वतंत्रता संबंधी धारणा में व्यक्तित्व का एक विशेष हस्तक्षेप शामिल है और वह सिर्फ़ यह मानकर नहीं चलती कि गतिविधि का एक कार्यक्षेत्र होता है, जिसकी ओर ही व्यक्ति स्वयं को लक्ष्य–निर्देशित करे। उक्त धारणा यह सुझाती है कि जब व्यक्ति उसकी ओर लक्ष्य–निर्देशित होता है तो वह स्वतंत्र किया जा रहा होता है। सकारी स्वतंत्रता संबंधी बर्लिन की धारणा के छिद्रान्वेषी यह महसूस करते हैं कि सकारी स्वतंत्रता में विश्वास इस धारणा को भी लेकर चलता है कि अन्य सभी मूल्य – समानता, अधिकार, न्याय आदि – उच्च स्वतंत्रता संबंधी सर्वोच्च मूल्य के मातहत हैं। इसी प्रकार, यह धारणा कि व्यक्ति के उच्च संकल्प समष्टियों, जैसे कि वर्ग, राष्ट्र व प्रजाति, के संकल्पों के अनुरूप ही होते हैं और सत्तावादी विचारधाराओं की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

MAADHYAM IAS

1) स्वतंत्रता संबंधी जेएस मिल अथवा ईसाइया बर्लिन के विचारों का आलोचनात्मक विवेचन करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

19.5 मार्क्सवादी समालोचना तथा स्वतंत्रता–बोध

स्वतंत्रता संबंधी मार्क्सवादी संकल्पना उन उदारवादी विचारों से भिन्न है, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। भिन्नता संबंधी मुख्य बातें व्यक्ति व समाज संबंधी मार्क्सवादी समझ, दोनों के बीच संबंध एवं पूँजीवादी समाज संबंधी मार्क्सवादी समीक्षा से सामने आती हैं। यद्यपि उदारवादी दृष्टिकोण व्यक्ति एवं उसकी स्वतंत्रता की केन्द्रिकता पर आधारित है, मार्क्सवादी जन स्वतंत्रता की धारणा को परतंत्रता की शर्तों के रूप में व्यक्ति व समाज संबंधी उदारवादी धारणा पर आधारित देखेंगे। मार्क्सवादियों के अनुसार, व्यक्ति विकल्प के स्वतंत्र प्रयोग हेतु स्वायत्त स्थानों की सीमाओं द्वारा समाज में अन्य व्यक्तियों से विलग नहीं है। इसकी बजाय वे परस्पर निर्भरता में एक साथ बन्धे हैं। व्यक्तित्व–संबंधी धारणा उसी तौर से एक धनी व्यक्तित्व–संबंधी धारणा में बदल गयी, जो कि व्यक्ति की सामाजिक संलग्नता पर ज़ोर देती है, और इस धारणा में भी कि व्यक्तिजन रचनात्मक उत्कृष्टता की स्थिति में पहुँच सकते हैं और ऐसे समाज में अपनी क्षमताएँ विकसित कर सकते हैं जो अपने सभी सदस्यों की उन्नति का प्रयास करता है। मार्क्सवादियों के अनुसार, इसी कारण स्वतंत्रता रचनात्मक व्यक्तित्व के विकास में निहित होती है, और ऐसे पूँजीवादी समाज में प्राप्त नहीं की जा सकती जहाँ व्यक्तिजनों को स्वार्थ की सीमाओं द्वारा अलग–अलग कर दिया जाता है, और जहाँ वे स्वयं के स्वतंत्र होने की कल्पना मात्र कर सकते हैं जबकि वास्तव में वे शोषणकारी प्राधारों से बँधे होते हैं। सिर्फ़ ऐसे समाज में जो निजी हितों के स्वार्थपूर्ण प्रोत्साहन से मुक्त हो, ही स्वतंत्रता की स्थिति विद्यमान रह सकती है। स्वतंत्रता, इस प्रकार, एक पूँजीवादी समाज में प्राप्त नहीं की जा सकती।

ये विचार फ्रेड्रिक एन्जिल्स कृत *ऐन्टी–ड्यूरिंग* एवं कार्ल मार्क्स कृत *इकॉन्मिक एण्ड फ़िलॅसॉफ़िक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844* में स्पष्टतया व्यक्त हैं। एन्जिल्स स्वतंत्रता–संबंधी धारणा की चर्चा आवश्यकता से स्वतंत्रता तक अवस्थान्तर गमन की स्थिति के रूप में करते हैं। आवश्यकता–संबंधी अवस्था को उस स्थिति द्वारा सही निरूपित किया जाता है जिसमें व्यक्ति दूसरे की इच्छा के अधीन होता है। एन्जिल्स बताते हैं कि इंसान में उन शक्तियों को पहचाने व समझने की क्षमता होती है, जो उसके जीवन को अनुकूलित व निश्चित करती हैं। मनुष्य ने इस प्रकार उन प्राकृत कानूनों के विषय में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त की जो उसके अस्तित्व को निर्धारित करते हैं और यह भी जाना कि इन कानूनों के साथ यथासंभव सर्वश्रेष्ठ तरीके से किस प्रकार रहें। विडम्बना ही है कि मनुष्य अब तक उन

उत्पादन–बलों के बंधन से मुक्त नहीं हो पाया है जिन्होंने उसे ऐतिहासिक रूप से अधीनता में रखा है, या अन्य शब्दों में, उसे आवश्यकता के कार्यक्षेत्र में ही सीमित रखा है। स्वतंत्रता की स्थिति में पहुँचने के लिए, मनुष्य को न सिर्फ़ मानव इतिहास की जानकारी ही, बल्कि उसे बदल डालने की क्षमता भी रखनी पड़ती है। वैज्ञानिक समाजवाद की ही मदद से मनुष्य आवश्यकता के कार्यक्षेत्र को छोड़ने तथा स्वतंत्रता के कार्यक्षेत्र में घुसने की आशा कर सकता है। स्वतंत्रता *कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो* में मार्क्स व एन्जिलस द्वारा निर्धारित साम्यवादी समाज संबंधी धारणा का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। एक साम्यवादी समाज में ही, जहाँ कोई वर्ग–शोषण नहीं होगा, वह स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

अपनी पुस्तक *मैन्युस्क्रिप्ट्स* में कार्ल मार्क्स दष्ढ़तापूर्वक कहते हैं कि पूँजीवादी समाज व्यक्ति को अमानवीय बना रहा है। वह न सिर्फ़ व्यक्ति को उसके यथार्थ व्यक्तित्व से विमुख कर देता है, वह उसको समाज की रचनात्मक प्रवर्तक शक्तियों से भी पष्थक् कर देता है। मार्क्स प्रस्ताव करते हैं कि उन परिस्थितियों को बदलकर ही, जिनमें पष्थक्करण होता है, स्वतंत्रता पुनर्प्राप्त की जा सकती है। तदनुसार, सिर्फ़ ऐसे ही एक साम्यवादी समाज में, जहाँ उत्पादन–साधन सामाजिक रूप से रखे जाते, और समाज का प्रत्येक सदस्य सभी की उन्नति के लिए दूसरे के साथ सहयोग में काम करता, सच्ची आज़ादी हासिल की जा सकती थी। इस प्रकार, मार्क्स की सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्रता को आत्म–सिद्धि व आत्म–बोध अथवा व्यक्ति के सच्चे स्वभाव की अनुभूति को द्योतित करते एक सकारात्मक अर्थ में देखा जाता है। मार्क्स ने स्वतंत्रता के यथार्थ कार्यक्षेत्र को 'उसके अपने लिए ही स्वतंत्रता का परिवर्धन' के रूप में देखा। इस प्रयोज्य संसाधन की अनुभूति, मार्क्स का मानना था, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु दूसरों के साथ काम करते हुए, सिर्फ़ रचनात्मक उद्योग के अनुभव से ही की जा सकती है। इस सामाजिक व्यवस्था के तहत, रॉबिन्सन क्रूसो, जिसने कि जिस सीमा तक अधिक से अधिक संभव था नकारी स्वतंत्रता का उपभोग किया, उसके द्वीप पर उसे रोकने अथवा बाध्य करने वाला अन्य कोई भी नहीं था, अविकसित और इसी कारण परतंत्र व्यक्ति था, जो कि उन सामाजिक संबंधों से वन्चित था जिनके माध्यम से मनुष्यजन पूर्णता हासिल करते हैं। स्वतंत्रता संबंधी यह धारणा मार्क्स की 'पृथक्करण' संबंधी अवधारणा में स्पष्टतः प्रकट होती है। पूँजीवाद के अन्तर्गत, श्रम को व्यक्तित्व–वंचित (de-personalized) बाज़ार शक्तियों द्वारा नियंत्रित व निरूपित मात्र एक जिन्स के रूप में परिणत कर दिया जाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में पूँजीवादी कर्मचारी इस बात में पृथक्करण भोगते हैं कि वे अपनी ही यथार्थ प्रकृति से अलग हो जाते हैं : वे अपने ही उद्योग के उत्पाद से अलग हो जाते हैं, स्वयं उद्योग–प्रक्रिया से अलग हो जाते हैं, अपने साथी मनुष्यों से अलग हो जाते हैं, और अन्ततः अपने 'सच्चे' व्यक्तित्वों से अलग हो जाते हैं। स्वतंत्रता इसी कारण व्यक्तिगत सिद्धी से जुड़ी है जो कि सिर्फ़ अपृथक्त उद्योग ही करवा सकता है। (एन्ड्रयू हेवुड, *पॅलिटिकॅल थिअरी*, पृ. 263)

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) स्वतंत्रता संबंधी मार्क्स की समीक्षा का आलोचनात्मक विवेचन करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

19.6 स्वतंत्रता विषयक अन्य सामयिक विचार

बर्लिन को छोड़कर, जिसकी पुस्तक शायद स्वतंत्रता विषयक समकालीन पुस्तकों में सबसे महत्त्वपूर्ण है, अन्य विचारक भी हैं जिन्होंने वैचारिक विभाजन के दोनों पक्षों पर विचारकों द्वारा व्यक्त विचारों पर विस्तार से जाती स्वतंत्रता संबंधी धारणा पर चर्चा की है। मिल्टन फ्रीडमैन, मिल व बर्लिन की ही भाँति, एक उदारवादी थे जिसने अपनी पुस्तक *कैपिटलिज़्म एण्ड फ्रीडम* में पूँजीवादी समाज के एक महत्त्वपूर्ण पहलू के रूप में स्वतंत्रता की धारणा को विकसित किया। आदान–प्रदान की स्वतंत्रता, स्वतंत्रता का एक आवश्यक पहलू था। इस स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने के लिए फ्रीडमैन चाहते थे कि राज्य कल्याण व सामाजिक सुरक्षा से अपना ध्यान हटा ले और स्वयं को कानून व व्यवस्था कायम करने, सम्पत्ति–अधिकारों की रक्षा करने, अनुबंध लागू करने आदि हेतु समर्पित कर दे। फ्रीडमैन के अनुसार, न सिर्फ़ व्यक्तिजनों के बीच स्वतंत्र व स्वैच्छिक आदान–प्रदान हेतु स्वतंत्रता अनिवार्य थी, यह एक पूँजीवादी समाज के भीतर भी आवश्यक था कि स्वतंत्रता प्राप्त की जा सके। इसके अतिरिक्त, यह आर्थिक स्वतंत्रता ही थी, जिसने राजनीतिक स्वतंत्रता हेतु कालोचित व आवश्यक परिस्थिति प्रदान की।

अपनी पुस्तक *द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ़ लिबर्टी* (1960) में, एफ.ए. हयेक ने स्वतंत्रता संबंधी एक सिद्धांत प्रतिपादित किया, जो राज्य की नकारात्मक भूमिका पर बल देता है। हयेक के अनुसार, एक स्वतंत्रता की स्थिति तब प्राप्त होती है, जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के यादृच्छिक मनोरथ के अधीन नहीं रहता। हयेक इसको 'वैयक्तिक स्वतंत्रता' कहते हैं और साथ ही, राजनीतिक स्वतंत्रता समेत स्वतंत्रता के अन्य रूपों से वैयक्तिक स्वतंत्रता की श्रेष्ठता व निरपेक्षता को विहित करते हुए इसे स्वतंत्रता के अन्य रूपों से अलग मानते हैं। हयेक अनुमोदित करते हैं कि स्वतंत्रता का मूल अर्थ 'नियंत्रणों का अभाव' के रूप में सुरक्षित रहना चाहिए। स्वतंत्रता के नाम पर राज्य–हस्तक्षेप के बढ़ने का अर्थ होगा, उस वास्तविक स्वतंत्रता का हस्तांतरण जो कि नियंत्रणों से व्यक्ति की मुक्ति में निहित होती है।

स्वतंत्रता संबंधी मार्क्सवादी धारणा द्वारा प्रभावित विचारकों के एक अन्य समूह ने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वतंत्रता जिस प्रकार आधुनिक पूँजीवादी समाजों में व्यवहार की जाती है, अकेलेपन को जन्म देती है। ऐरिक फ्रोम (1900–1980) ने स्पष्ट किया कि आधुनिक समाजों में अलगाव व्यक्ति के उसकी रचनात्मक क्षमताओं व सामाजिक संबंधों से पृथक् होने के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुआ। इस पृथक्करण ने व्यक्ति में उसके मानसिक

स्वास्थ्य को प्रभावित करते हुए उसमें भौतिक व नैतिक अलगाव पैदा किया। केवल रचनात्मक एवं सामूहिक कार्य द्वारा ही व्यक्ति समाज के प्रति स्वयं को पुनः प्रतिष्ठित कर सका है। हर्बर्ट मार्क्युज़ ने भी अपनी पुस्तक *वन–डाइमैन्शनल मैनः स्टडीज़ इन दि आइडिऑलॅजि ऑफ़ एडवान्स्ड इण्डस्ट्रियल सोसाइटी* (1968) में पूँजीवादी समाजों में पृथक्करण की प्रकृति संबंधी अच्छी तरह से छानबीन की है। मार्क्युज़ दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि पूँजीवादी समाजों में व्यक्ति की रचनात्मक बहुआयामी क्षमताएँ निष्फल हो जाती हैं। मनुष्य स्वयं को सिर्फ़ अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में निरन्तर लगे एक उपभोक्ता के रूप में ही व्यक्त कर सकता है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) स्वतंत्रता विषयक कुछ समकालीन धारणाओं पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

19.7 सारांश

स्वतंत्रता की धारणा उदारवादी विचार के मर्म में है, जो विवेकशील व्यक्ति को अपने केन्द्र में रखती है और व्यक्ति या उसके स्वायत्तता–क्षेत्र एवं राज्य व समाज के बीच एक सीमारेखा खींचती है। स्वतंत्रता का उसके सामान्य बोध में अर्थ है, 'नियंत्रणों का अभाव'। दूसरे शब्दों में, यह ऐसी स्थिति को इंगित करती है जिसमें एक व्यक्ति जो अपने निजी मामलों से संबंधित तर्कसंगत निर्णयों को लेने में सक्षम है, राज्य व समाज समेत, बाहर से किसी भी नियंत्रण के बिना कोई भी कार्यवाही करने के लिए स्वतंत्र है। साथ ही, बहरहाल, स्वतंत्रता की धारणा एक राजनीतिक समुदाय एवं राजनीतिक प्राधिकार की धारणा के रूप में उसी समय क्रम–विकसित होकर सामने आयी। इस समकालिक क्रम–विकास का मतलब था, सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं को समान रूप से मान्यता और यह बोध कि वैयक्तिक स्वतंत्रता पर सकारण नियंत्रणों को इस आधार पर सही ठहराया जा सकता है कि उन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान कीं जिनमें वैयक्तिक स्वतंत्रता बिना किसी विवाद के उपभोग की जा सके।

नियंत्रण–अभाव के रूप में स्वतंत्रता की धारणा स्वतंत्रता संबंधी एक 'नकारी' धारणा से जुड़ी है। स्वतंत्रता संबंधी एक 'सकारी' धारणा को टी.एच. ग्रीन जैसे विचारकों द्वारा सुस्पष्ट किया गया, जिन्होंने उन परिस्थितियों का ध्यान रखा जिन्होंने व्यक्ति को वास्तव में स्वतंत्र होने में समर्थ किया। तदनुसार, एक सकारी धारणा के रूप में स्वतंत्रता कार्य करने का अधिकार, और वे अवसर जिन्होंने कार्य संभव बनाया, रखने में निहित थी। कल्याणकारी राज्य संबंधी धारणा ने इसी विचार को लेकर शुरूआत की जिसे अपेक्षा थी कि राज्य ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करने हेतु सकारात्मक कदम उठाये जिनमें व्यक्तिजन कार्य करने एवं स्वयं को विकसित करने में वास्तविक रूप से स्वतंत्र हों।

यद्यपि जे.एस. मिल एवं ईसाइया बर्लिन जैसे दार्शनिकों ने उक्त दोनों धारणाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की, मार्क्सवादियों ने महसूस किया कि स्वतंत्रता एक पूँजीवादी समाज में अनुभव नहीं की जा सकती। एक पूँजीवादी समाज, उन्होंने बल देकर कहा, व्यक्ति को उसके सामाजिक प्रसंगों से एवं उसके अपने स्वभाव से पृथक् कर देता है। स्वतंत्रता, हम देख सकते हैं, विभिन्न विचार–सूत्रों द्वारा विभिन्न रूप से समझी गई है। यह, बहरहाल, लोकतांत्रिक विचार में एक बुनियादी अवधारणा बनी ही हुई है।

19.8 मुख्य शब्द

स्वायत्तता (Autonomy) : इसका शाब्दिक अर्थ है, स्व–शासन अर्थात् अपनी सरकार। संस्थाएँ व समूह स्वायत्त कहे जाते हैं, यदि वे अपने निजी मामले खुद निबटाने हेतु स्वतंत्र हैं। व्यक्तिजनों के मामले में स्वायत्तता 'स्वतंत्रता' से गहरे से जुड़ी है, न सिर्फ़ 'अकेले छोड़ दिए गए' संबंधी धारणा जताते हुए बल्कि किसी के अपने मामलों से संबद्ध निर्णयों के लिए जाने हेतु एक क्षमता का अस्तित्व सुझाते हुए भी।

सामाजिक प्रजातंत्रवादी (Social Democrats) : ये एक 'सदय' अथवा 'शिष्ट' पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन करते हैं। बाज़ार व राज्य के बीच एक संतुलन पैदा करने के प्रयास में, वे पूँजीवाद को लाभ कमाने के लिए सबसे भरोसेमंद व्यवस्था मानते हैं और साथ ही, राज्य को बाज़ार की बजाय नैतिक सिद्धांतों के अनुसार सामाजिक पारितोषिक वितरणार्थ एक युक्ति के रूप में देखते हैं।

19.9 कुछ उपयोगी संदर्भ

MAADHYAM IAS

गौबा, ओ.पी., *समकालीन राजनीति सिद्धांत*, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 1997 (अध्याय 11 : स्वतंत्रता की अवधारणा)

बैरी, नॉर्मन, *ऐन इण्ट्रोडक्शन टु मॉडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 2000 (अध्याय 8 : लिबर्टी)

हेवुड, एण्ड्रयू, *पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 1999 (अध्याय 9 : फ्रीडम, टॉलेरेशन एण्ड लिबरेशन)

19.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 19.1

2) देखें भाग 19.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 19.3 और 19.4

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 19.5

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 19.6

इकाई 20 न्याय

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 परिचय
20.2 न्याय का अर्थ
20.2.1 न्याय और कानून
20.2.2 न्याय और भेदभाव
20.3 वितरणकारी न्याय
20.3.1 आर्थिक न्याय सुनिश्चित करना
20.4 सामाजिक न्याय
20.4.1 सामुदायिक हित का प्राबल्य
20.4.2 सुधार अथवा सामाजिक परिवर्तन
20.4.3 सामाजिक न्याय संबंधी पाउण्ड का चित्रण
20.4.4 सामाजिक न्याय संबंधी आलोचना
20.5 प्रक्रियात्मक न्याय
20.6 जॉन रॉल्स का न्याय–सिद्धांत
20.7 न्याय : संयोजन का एक शब्द
20.8 सारांश
20.9 कुछ उपयोगी संदर्भ
20.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम करेंगे आमतौर पर राजनीति–विज्ञान और खासतौर पर राजनीति–सिद्धांत में सबसे बुनियादी और महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं में से एक पर चर्चा। यह इकाई पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- न्याय–संबंधी संकल्पना के अर्थ को स्पष्ट कर सकें
- न्याय के विभिन्न पहलुओं के बीच अंतर कर सकें
- न्याय की प्रकृति संबंधी विभिन्न सिद्धांतों की पहचान और व्याख्या कर सकें, और
- स्वतंत्रता, समानता, कानून व न्याय के बीच संबंध स्पष्ट कर सकें।

20.1 परिचय

अब तक आप सभी कानून, अधिकार, स्वतंत्रता एवं समानता जैसी संकल्पनाओं के विषय में जान चुके होंगे। इन संकल्पनाओं का एक पूर्व–अध्ययन न्याय की अवधारणा को समझने में मदद करेगा। न्याय का मूल सिद्धांत वस्तुतः उपरोक्त विषयों से जुड़ा है।

इस इकाई में हम इस अवधारणा का अर्थ उसके पहलुओं में समझने का प्रयास करेंगे। तदोपरांत, हम न्याय संबंधी विभिन्न सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे। हम एक ओर न्याय और दूसरी ओर कानून, स्वतत्रंता व समानता के बीच संबंध पर भी प्रकाश डालेंगे।

न्याय राज्य के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में एक है। राजनीति विषयक प्राचीनतम समझौतों में एक समझौता, प्लैटो का 'रिपब्लिक', न्यायसंगत राज्य के निर्माण हेतु एक प्रयास था। न्याय इसकी केन्द्रीय अवधारणा थी। इसी कारण, इस अवधारणा की एक सही समझ विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों, उनकी नीतियों व उन विचारधाराओं जिन पर वे आधारित हैं, के मूल्यांकन में मदद करेगी। इस प्रकार, न्याय ही राजनीतिक मूल्यों का समन्वयक एवं संयोजक है तथा, जैसा कि अरस्तू ने कहा, यह 'वो है जो तमाम भलाई के लिए ज़िम्मेदार' है।

20.2 न्याय का अर्थ

न्याय की अवधारणा संबंधी किसी भी चर्चा में उसके बहु–आयामी स्वभाव का ध्यान रखना पड़ता है। 'न्याय क्या है' का जवाब सिर्फ़ उन मापदण्डों (मूल्यों) का संकेत करके ही दिया जा सकता है, जिनके सहारे मनुष्य ने न्याय के बारे में सोचा और सोचता रहेगा। यह वक्त गुज़रने के साथ ही बदल जाता है। इस प्रकार, अतीत में जो न्याय था, वर्तमान में अन्याय हो सकता है तथा वर्तमान में जो न्याय है, अतीत में अन्याय रहा हो सकता है। तदनुसार, न्याय का समतावादी बोध रहा है जिसमें उच्चतम स्थान समानता के मूल्य को दिया जाता है, 'इच्छास्वातंत्र्यवादी' बोध रहा है जिसमें स्वतंत्रता ही परम मूल्य होता है; 'क्रांतिकारी' दृष्टिकोण जिसमें न्याय का मतलब है कायापलट कर देना; 'दैवी' दृष्टिकोण जिसमें ईश्वर की इच्छा का निष्पादन ही न्याय है; 'सुखवादी' न्याय की कसौटी 'अधिकतम संख्या का अधिकतम लाभ' को बनाता है; 'समन्वयक' के लिए न्याय पर्याप्त संतुलन लाने हेतु विभिन्न मूल सिद्धांतों व मूल्य का समन्वय करना है। कुछ लोग न्याय को 'कर्त्तव्य' अथवा शान्ति व व्यवस्था कायम रखने के साथ पहचानते हैं; दूसरे, इसे एक अभिजात–वर्गवादी कार्य के रूप में देखते हैं; इस प्रकार, न्याय व्यक्ति के अधिकार के साथ–साथ समाज की सार्वजनिक शांति से भी संबंध रखता है।

20.2.1 न्याय और कानून

MAADHYAM IAS

रोम के अधिवक्ताओं ने 'प्राकृत न्याय' संबंधी विचारों को राज्य के सकारी कानून के साथ जोड़ा। जैसे कि नागरिक कानून एवं राष्ट्रिक कानून प्राकृत कानून के साथ मेल खाते हैं। यह वैसे न्यायशास्त्र की एक दुर्बोध अवस्था है। वस्तुतः, न्याय सकारी कानून को लागू किए जाने में निहित होता है। कानून व न्याय दोनों ही सामाजिक व्यवस्था कायम रखने का प्रयास करते हैं। जॉन ऑस्टिन इस बात के मुख्य समर्थक हैं, जो बतलाते हैं कि कानून को एक ओर न्याय के साधन रूप में और दूसरी ओर अनिष्ट को रोकने के साधन रूप में काम करना पड़ता है।

वैध रूप से, न्याय–व्यवस्था को अन्यायपूर्ण कहकर आलोचना की जा सकती है, यदि वह कानून–व्यवस्था की प्रक्रियाओं द्वारा वांछित निष्पक्षता के मानक तक पहुँचने में असमर्थ रहती है, यथा अभियुक्त अपने विरुद्ध लगाये गए आरोपों से अवगत होना चाहिए; उसे अपने बचाव के लिए एक सकारण अवसर दिया जाना चाहिए आदि, जबकि नैतिक रूप से, किसी कानून को अनुचित कहा जा सकता है यदि वह न्याय–संबंधी नैतिक विचारों से मेल न खाता हो। नैतिकता, बहरहाल, न्याय से अधिक महत्त्व रखती है।

न्याय के प्रतीक को प्रायः आँखें बंद किए हुए के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि उसको निष्पक्ष माना जाता है। ताकि दो सिरों – धनवान वा ग़रीब, उच्च अथवा निम्न के बीच, कोई भेदभाव न रहे। इसी कारण, निष्पक्षता न्याय की एक पूर्वशर्त बन जाती है। तो फिर क्या इसका मतलब, न्याय को पक्षपात की कतई ज़रूरत नहीं पड़ती?

20.2.2 न्याय और भेदभाव

प्लैटो और अरस्तू ने न्याय की एक भिन्न व्याख्या हेतु तर्क दिया – ''न्याय–निष्ठता'' के विचार सहित ''आनुपातिक समानता''। न्याय की सैद्धांतिक व्याख्या अरस्तू के पास पहुँचकर एक आनुभविक दिशा पकड़ लेती है जो कहते हैं : ''जब समानों से असमान रूप से व्यवहार किया जाता है, तो अन्याय उत्पन्न होता है।'' इसका मतलब कि यदि किसी लोकतंत्र में लिंग के आधार पर भेदभाव होता हो तो इसका अर्थ समानों के साथ असमान रूप से व्यवहार करना है। इसी तरह, एक 80–किग्रा. (heavy-weight) पहलवान को एक 60–किग्रा. (light-weight) पहलवान के सामने लड़ने के लिए प्रस्तुत करना भी अनुचित होगा। इस प्रकार, न्याय अपेक्षा करता है कि भिन्नताओं के आधार पर भेदभाव हो, जो कि निष्पादित कार्यों के लिए प्रासंगिक है। प्लैटो के न्याय–संबंधी सिद्धांत का निहितार्थ था कि लोगों का जीवन कार्यात्मक विशेषज्ञता नियम के अनुरूप होना चाहिए। यहाँ न्याय 'सही स्थान' सिद्धांत का दूसरा नाम हो जाता है, यथा किसी आदमी को बस उसी काम का ही अभ्यास करना चाहिए जिसके प्रति उसका स्वभाव सर्वाधिक अनुकूल है। इसके वैयक्तिक व सामाजिक दोनों ही पहलू होते हैं। व्यक्ति व समाज, दोनों की ही सबसे ज़्यादा भलाई इसी में रहेगी यदि हम यह सत्य मान लें कि किसी व्यक्ति के लिए इससे अच्छी बात नहीं होगी कि वह ऐसा काम करे, जिसके लिए वह सर्वाधिक उपयुक्त हो। ठीक इसी प्रकार, समाज के लिए इससे बेहतर कोई बात नहीं होगी कि यह देखे कि हर व्यक्ति उसी स्थान को ही भरे जिसके लिए वह अपने व्यक्तित्व की विशेषता के आधार सर्वाधिक योग्य हो। इसके लिए व्यक्ति व राज्य के लिए बुद्धि, शक्ति व प्रवृत्ति संबंधी तीन मूल तत्त्वों पर ज़ोर दिया गया है, ताकि वे उनको उचित मर्यादा में रखें।

साथ ही, सामान्यतः कानून निजी कानून जीवन में विभेदकारी व्यवहार की घटनाओं में भी हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु इससे यदि सामाजिक हानि पहुँचती हो, तो राज्य का इसमें हस्तक्षेप करना न्यायसंगत होगा, जैसे अस्पृश्यता की घटनाओं में, जहाँ कुछ समुदायों को मानवाधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। इसी कारण, इसके विरुद्ध कोई भी कानून न्यायसंगत होगा। इसी तरह, अलग से दी गई सुविधाएँ वस्तुतः समान नहीं हो सकतीं। यही कारण है कि डॉ॰ अम्बेडकर ने अनुसूचित जातियों के लिए मंदिरों में प्रवेश के अधिकार की माँग की और उनके लिए पृथक् मंदिरों, विद्यालयों अथवा छात्रावासों का विरोध किया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) न्याय क्या है?

....

....

....

....

....

....

2) न्याय की अवधारणा में भेदीकरण कैसे समाविष्ट होता है?

....

....

....

....

....

....

20.3 वितरणकारी न्याय

अरस्तू की धारणा उसकी सिद्धांत नींव रखने वाली सिद्ध हुई, जिसको 'वितरणकारी न्याय' कहा जाता है। अरस्तू की व्याख्या का महत्त्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि न्याय या तो 'वितरणात्मक' होता है अथवा 'दोषनिवारक'; पूर्ववर्ती अपेक्षा करता है कि समानों के बीच समान वितरण हो और परवर्ती वहाँ लागू होता है, जहाँ किसी अन्याय का प्रतिकार किया जाता है।

वह सिद्धांत जो मार्क्स ने क्रांति–पश्चात् साम्यवादी समाज में वितरणकारी न्याय हेतु प्रस्तुत किया, वो है – 'हर एक से उसकी क्षमता के अनुसार, हर एक को उसके काम के अनुसार'। वितरणकारी न्याय का विचार कुछ हाल के राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की पुस्तकों में प्रकट होता है। इस संदर्भ में, जे.डब्ल्यु. चैपमैन की पुस्तक प्रशंसनीय है, जो 'मनुष्य की आर्थिक तर्कशक्ति' संबंधी अपने सिद्धांतों को 'नैतिक स्वतंत्रता' संबंधी व्यक्तिगत दावे से जुड़ी 'उपभोक्ता की संप्रभुता' से जोड़ने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार, न्याय का प्रथम सिद्धांत उन लाभों का वितरण होना प्रतीत होता है, जो उपभोक्ताओं के सिद्धांतों के अनुसार लाभ–वृद्धि करते हों। दूसरा सिद्धांत यह है कि ऐसी व्यवस्था अन्यायपूर्ण होती है, यदि मात्र कुछ लोगों के भौतिक कल्याण को अनेक लोगों की कीमत पर खरीद लिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि न्याय यह अपेक्षा करता है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे की कीमत पर लाभ प्राप्त न करे।

20.3.1 आर्थिक न्याय सुनिश्चित करना

वितरणकारी न्याय आम कल्याण की शर्त के अधीन है। वह चाहता है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थिति को इस प्रकार सुधारा जाए कि लाभ आम आदमी तक पहुँच सकें। इस तरीके से आर्थिक न्याय की धारणा का अर्थ होगा समाज का एक साम्यवादी प्रतिमान।

आर्थिक न्याय का पहला काम है, हर सक्षम–देही नागरिक को रोज़गार, खाद्य, आश्रय व वस्त्रादि मुहैया कराना। सभी की प्राथमिक व मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के इस क्षेत्र के संबंध में यह ठीक ही कहा गया है कि स्वतंत्रता अर्थहीन है, यदि वह आर्थिक न्याय दिलाने में रुकावट डालती है। तदनुसार, उदारवादीजन यह मानते हैं कि आर्थिक न्याय समाज में हासिल किया जा सकता है, यदि राज्य कल्याणकारी सेवा प्रदान करता हो और वहाँ कराधान की सुधारवादी व्यवस्था हो; सामाजिक सुरक्षा वाले रोज़गार प्रबन्ध हेतु अच्छी आमदनी हो, जैसे वृद्धावस्था पेंशन, आनुतोषिक एवं भविष्य निधि।

तथापि, न्याय–संबंधी मार्क्स के विचार का मूल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ही है। मार्क्स के अनुसार, राज्य का सकारी कानून उस वर्ग–विशेष के प्राधिकार द्वारा ही अपने सदस्यों पर

थोपा जाता है, जो उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करता है। कानून शासक वर्ग के आर्थिक हित द्वारा तय किया जाता है। जब निजी सम्पत्ति को समाप्त कर दिया जाता है और कामगार वर्ग उत्पादन–साधनों पर नियंत्रण कर लेता है, तो ये कानून कामगार वर्ग के हित को सोचने–विचारने के लिए बाध्य होते हैं। इसी कारण, न्याय की विषयवस्तु उत्पादन–साधनों पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग पर निर्भर करती है। जब राज्य का क्षय हो जाएगा, जैसा कि साम्यवादी जन इरादा रखते हैं, तो यहाँ आर्थिक मूल के बग़ैर न्याय व्याप्त हो जाएगा।

आधुनिक उदारवादी जन काफ़ी लम्बे समय से आर्थिक अहस्तक्षेप संबंधी आम सिद्धांत को छोड़ चुके हैं। पुनर्वितरणकारी न्याय (जिसकी अरस्तू ने बात की) 'संशोधन उदारवाद' का एक अभिन्न हिस्सा है, जिसका कि जे.डब्ल्यु. चैपमैन, जॉन राल्स, व अर्थर ओकुन ने समर्थन किया। इन लेखकों ने सभी के लिए न्याय व स्वतंत्रता के हितार्थ अर्थव्यवस्था में राज्यीय हस्तक्षेप के अपने आशय के साथ "पुनर्वितरणकारी न्याय" की वकालत की।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) वितरणकारी न्याय से आप क्या समझते हैं? यह आर्थिक न्याय से कैसे संबंधित है?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.4 सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय विद्यमान कानूनों के तहत किसी व्यक्ति की न्यायसंगत अपेक्षाओं की पूर्ति सुनिश्चित करते हुए उस व्यक्ति के अधिकार व सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन से ताल्लुक रखता है और उसे लाभों व उसके अधिकारों के किसी भी अतिक्रमण से बचाव की गारण्टी देता है। चलिए, न्याय के निम्नलिखित पहलुओं के लिहाज से 'सामाजिक न्याय' शब्दपद पर सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं, यथा एक, सामुदायिक हित के प्राबल्य की धारणा और दो, 'सुधार' अथवा सामाजिक परिवर्तन की धारणा।

20.4.1 सामुदायिक हित का प्राबल्य

बाज़ार आदि मामलों में अहस्तक्षेप सिद्धांत के ह्रास के साथ ही एक नई जानकारी विकसित हुई कि किसी व्यक्ति के अधिकार समुदाय–विशेष के हित में युक्तिसंगत रूप से सीमाबद्ध होने चाहिए, ताकि सामाजिक न्याय का उद्देश्य वैयक्तिक अधिकारों व सामुदायिक हित के बीच सामंजस्य की अपेक्षा रखे। वह यह भी मानकर चलता है कि इन दोनों के बीच किसी विवाद की दिशा में, सामुदायिक हित वैयक्तिक विषयों से अवश्य ही ऊपर रहना चाहिए। सामाजिक न्याय, तदनुसार, उस धारणा से गहरे जुड़ा हुआ है जिसमें आम भलाई अथवा

सामुदायिक हित शामिल है। आज सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में लोकतंत्र के प्रवेश के साथ ही, सामुदायिक हित के दायरे में न सिर्फ़ राजनीतिक (राजनीतिक मामलों में उचित व्यवहार) बल्कि सामाजिक (सामाजिक क्षेत्रों में अभेदभाव) व आर्थिक (आय व सम्पत्ति का उचित वितरण) क्षेत्र भी आने लगे हैं। इस प्रकार, सामाजिक न्याय की श्रृंखला अल्पसंख्यक राजनीतिक अधिकारों की रक्षा से लेकर अस्पृश्यता निवारण एवं ग़रीबी उन्मूलन तक फैली है। जैसे कि, विश्व के पिछड़े देशों में, सामाजिक न्याय संबंधी धारणा राज्य को आदेश देती है कि वह समुदाय के पददलित एवं कमज़ोर वर्गों की उन्नति के लिए ठोस प्रयास करे।

20.4.2 सुधार अथवा सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक न्याय को आजकल निष्पक्षता व समानता संबंधी धारणाओं के आधार पर समाज के संगठन को इंगित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह सामाजिक व्यवस्था पर विचारकर उसे बदलने का प्रयास करता है, ताकि एक अधिक साम्यिक समाज बन सके। मनुष्य युगों से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनों का प्रयास करता रहा है, ठीक उतना ही जितना कि वह एक प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था को बचाये रखने का प्रयास करता रहा है। सामाजिक न्याय का अर्थ है – सुधारवादी न्याय, सामाजिक व्यवस्था पर विचारकर उसे बदलना और निष्पक्षता संबंधी सामयिक विचारों से मेल खाते अधिकारों का पुनर्वितरण। जब अरस्तू ने 'वितरणकारी न्याय' की बात की थी, तो वह सुधारवादी, अथवा जिसे राफ़ेल ''कृत्रिम अंगी'' कहते हैं, न्याय की बात दिमाग़ में रखते थे, क्योंकि इसका उद्देश्य यथास्थिति में किंचित् हेर–फेर करना था।

कोई सौ वर्ष पहले, न्याय सरकार से यह अपेक्षा नहीं रखता था कि बेरोज़गारों का ध्यान रखे। इस काम की अपेक्षा दातव्य (charity) संस्थान से की जाती थी। ''सुधारवादी'' अथवा ''कृत्रिम अंगी'' न्याय संबंधी विचारों की युक्ति से आज यह राज्य का कर्त्तव्य है कि बेरोज़गारों का ध्यान रखे और उन्हें रोज़गार मुहैया कराये।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

20.4.3 सामाजिक न्याय संबंधी पाउण्ड का चित्रण

सामाजिक न्याय संबंधी धारणा की अभिपुष्टि डीन रौस्को पाउण्ड की व्याख्या में बहुत अच्छी तरह की गई है, जो सामाजिक हित का छह–सतही चित्रण प्रस्तुत करते हैं और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए आठ कानूनी यानी अधिकार व कर्त्तव्य संबंधी अभिधारणाएँ सामने रखते हैं। तदनुसार, सामाजिक न्याय संबंधी धारणा एक न्याय–संगत सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित कर लोगों के कल्याण को प्रोत्साहन देने की परिकल्पना करती है।

सामाजिक न्याय

सामाजिक हित	कानूनी अभिधारणाएँ
1. आम सुरक्षा, जैसे – शान्ति, जन–स्वास्थ्य, उपार्जनों की सुरक्षा, आदि में	1. दूसरों द्वारा कोई मनमानी आक्रामकता न दर्शायी जाए
2. सुरक्षा व सामाजिक व्यवस्थाओं, जैसे– विवाह, धार्मिक संस्थाओं, आदि में	2. वे पक्षधर जिनसे लेनदेन किया जाता है, सच्ची निष्ठा से काम करेंगे
3. सामान्य सदाचार, जैसे – द्युतक्रीड़ा, मद्य–सेवन, अनैतिक व्यापार, आदि में	3. किसी को अपने उपार्जनों एवं रचनाओं के उपभोग में कोई अड़चन नहीं आयेगी

4. सामाजिक संसाधनों, जैसे – खाद्य, खनिजों, आदि को बचाने में	4. किसी व्यक्ति को अनुचित जोखिम में नहीं डाला जाएगा और दूसरे लोग उचित ध्यान व होशियारी से काम करेंगे
5. व्यापक प्रगति, जैसे – व्यापार संबंधी स्वतंत्रता, अनुसंधान को प्रोत्साहन, आदि में	5. दूसरों द्वारा रखी जाने वाली ख़तरनाक वस्तुओं को अपनी सीमाओं में सावधानी एवं ध्यानपूर्वक रखा जाएगा
6. वैयक्तिक अधिकारों, जैसे – वेतन, कार्य–दशाओं आदि में	6. कर्मचारी को रोज़गार का अधिकार है
	7. समाज उन विपत्तियों में साथ देगा जो किसी व्यक्ति पर आ पड़ें
	8. एक औद्योगिक समाज में अपरिहार्य मानव व्यवहारजनित क्षय हेतु कर्मचारियों को उचित हर्जाना दिया जाएगा

20.4.4 सामाजिक न्याय संबंधी आलोचना

सामाजिक न्याय संबंधी सिद्धांतों की तीन आधारों पर आलोचना की जाती है। प्रथम, सामाजिक न्याय हेतु माँगें, उलझाव में डालकर, राज्य के क्रियाकलापों में इज़ाफा कर देती हैं। राज्य को तब तय करना पड़ेगा कि ''कौन क्या, कब और कैसे प्राप्त करे''। जहाँ राज्य के अधिकारीगण निहित स्वार्थों को प्रकट करते हों, ऐसा काल्पनिक संकल्प सामाजिक न्याय के उद्देश्यों को पूरा करने वाला नहीं है। दूसरे, सामाजिक न्याय संबंधी नीतियों एवं उनको लागू किए जाने में आज़ादी की काट–छाँट किए जाने की आवश्यकता पड़ती है। कितने महत्त्वपूर्ण/कितने साधारण सामाजिक न्याय के लिए कितनी आज़ादी कुर्बान की जाये – यह एक मुश्किल से ही सुलझाई जा सकने वाली समस्या बन जाती है। अन्ततः, यह निर्धारित करना मुश्किल होता है कि ऐसी बुनियादी आवश्यकताएँ कौन–सी हैं, जिनका सामाजिक न्याय के मापदण्डों को पूरा करने हेतु निवारण किया जाना है और कौन–सी समानता को छोड़ देना उचित ठहराती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तथापि, जब भारतीय संविधान विधानमंडल, शैक्षणिक संस्थाओं एवं सार्वजनिक रोज़गार में स्थानों के आरक्षण की घोषणा करता है, तो वह समानता से दूर जाना आवश्यक बना देता है। न्याय के संबंध में इन नीतियों के लिए अनेक कारण बताए जाते हैं। प्रथमतः यह कि ऐसा बर्ताव वंचनाओं से भरे सौ सालों की क्षतिपूर्ति कर देता है, दूसरे यह कि ये उपाय वंचितों को समाज के साथ ही समान दृढ़स्थिति में लाने के लिए मूलभूत समानता का अनुभव कराने हेतु आवश्यक हैं और तीसरे, यह कि न्याय केवल तभी किया जा सकता है जबकि राज्य उनका सामाजिक सम्मान, आर्थिक जीवनक्षमता एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा दिलाने में मदद करने रियायती नीतियाँ लेकर आगे आये।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) सामाजिक न्याय क्या है? इसकी किन आधारों पर आलोचना की गई है?

....

....

....

....

....

....

20.5 प्रक्रियात्मक न्याय

न्याय संबंधी एक अपेक्षाकृत अधिक अनुदार दृष्टिकोण वह है, जिसे 'प्रक्रियात्मक न्याय' कहा जाता है। इस अर्थ में यह शब्द धन–दौलत व लाभों के पुनर्वितरण की प्रयोग–विधि बतलाने में इतना इस्तेमाल नहीं होता, जितना कि वैयक्तिक कार्यों हेतु व्यवहृत नियमों व प्रक्रियाओं के लिए। अनिवार्यतः वह मानवीय कार्यों में मनमानेपन को दूर करने व कानून के शासक का समर्थन करने का प्रयास करता है। इस अवधारणा में व्यष्टियाँ होती हैं, न कि समष्टियाँ। इस दृष्टिकोण से, नियमों व प्रक्रियाओं का साथ न देते हुए, लाइन तोड़कर आगे पहुँचना अथवा प्रतिस्पर्धा में कुछ प्रतिभागियों को अनुचित लाभ देना अन्याय कहलायेगा। प्रक्रियात्मक सिद्धांतियों (उदाहरणतः हयेक) का मानना है कि सम्पत्ति के पुनर्वितरण हेतु मापदण्डों को थोपना सर्व–सत्तावाद और आज़ादी की एक नाज़ायज कुर्बानी की ओर प्रवृत्त करेगा। इसमें राज्य द्वारा निरन्तर हस्तक्षेप शामिल है, ताकि समानता द्वारा अपेक्षित प्रतिमान कायम रहे। उन्हें लगता है कि यदि राज्य किसी कल्याणकारी नीति को अपना भी लेता है, तो उसका न्याय से कम ही सरोकार होता है।

प्रक्रियात्मक सिद्धांत के समालोचकों का तर्क है कि महज नियमों का पालन मात्र ही कोई उचित परिणाम सुनिश्चित नहीं कर देता। किसी सामाजिक प्रसंग में बनाये गए नियम कुछ ही समुदायों के पक्ष में विचारे जाते हैं। इसी कारण, एक स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा हमेशा एक निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा नहीं हो सकती। दूसरे, मुक्त–बाज़ार सम्बंध उन व्यक्तियों के लिए समान रूप से दमनकारी हो सकते हैं, जिनके पास आर्थिक शक्ति का अभाव है; उनके लिए एक मुक्त बाज़ार की आज़ादी अर्थहीन होगी।

MAADHYAM IAS

20.6 जॉन रॉल्स का न्याय–सिद्धांत

विभिन्न राजनीतिक सिद्धांत 'एक वास्तविक रूप से न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था क्या होगी' संबंधी विभिन्न चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें से दो सिद्धांत हैं – उपयोगितावादी सिद्धांत, और निष्पक्षता के रूप में न्याय संबंधी रॉल्स का सिद्धांत। उपयोगितावादी सिद्धांत का दावा है कि वह सामाजिक व्यवस्था जिसमें बड़ी से बड़ी संख्या में लोग अपनी उपयोगिता की उच्चतम संतुष्टि पा सकते हैं, न्यायसंगत है। परन्तु इसके बिल्कुल शुरूआती दिनों से ही समालोचकों को उपयोगितावाद के होते हुए भी बड़ी ही दिक्कतों का सामना पड़ा है। इस पृष्ठभूमि में, उपयोगितावाद के विकल्प रूप में, रॉल्स के सिद्धांत का प्रस्ताव किया गया है। रॉल्स की पुस्तक, *थिअरी ऑफ जस्टिस*, इस अवधारणा की एक निर्णायक व्याख्या देती है।

न्याय–संबंधी जॉन रॉल्स के सिद्धांत पर चर्चा करने के लिए, पहले उसके नैतिक समस्याओं पर पहुँचने के तरीके का उल्लेख आवश्यक है, जो कि सामाजिक सिद्धांत की संविदावादी परम्परा में देखा जाता है। परन्तु साथ ही, रॉल्स का सिद्धांत यह आवश्यक बनाता है कि नैतिक विवेचन के निष्कर्ष हमेशा सहज–ज्ञान द्वारा अनुभूत नैतिक धारणाओं के मुकाबले जाँचे व पुनर्व्यवस्थित किए जाएँ, और यह बात संविदावादी परम्परा में उन दूसरे लोगों के

विपरीत है जो यह दावा करते है, कि न्याय के नियम वो होते हैं जिन पर एक परिकल्पित परिवेश में सहमति होती है।

रॉल्स मनुष्य को एक परिकल्पित मूल व्यवस्था में 'अज्ञानता के परदे' के पीछे रखते हैं, जहाँ व्यक्तिजन अपनी आवश्यकताओं, हितों, कौशलों, योग्यताओं संबंधी एवं उन वस्तुओं संबंधी, जो वर्तमान समाजों में विवाद पैदा करती हैं, बुनियादी जानकारी से वंचित रहते हैं। परन्तु उनके पास एक चीज़ ज़रूर होगी, जिसे रॉल्स 'न्याय–बोध' कहते हैं।

इन परिस्थितियों के तहत, रॉल्स का दावा है, लोग शाब्दिक क्रम में न्याय संबंधी दो सिद्धांतों को सहर्ष स्वीकार करेंगे। पहला है 'समानता सिद्धांत', जिसमें हर व्यक्ति को दूसरों की सदृश स्वतंत्रता के अनुरूप ही सर्वाधिक व्यापक स्वतंत्रता का समान अधिकार होगा। यहाँ समान स्वतंत्रता को उदारवादी लोकतांत्रिक शासन–प्रणालियों के सुविदित अधिकारों के रूप में साकार किया जा सकता है। इनमें शामिल हैं – राजनीतिक भागीदारी हेतु समान अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, कानून के समक्ष स्वतंत्रता, इत्यादि। दूसरे सिद्धांत को 'भिन्नता सिद्धांत' कहा जाता है, जिसमें रॉल्स का तर्क है कि असमानताओं को केवल तभी सही ठहराया जा सकता है, यदि उनसे निम्नतम लाभांवितों को लाभ पहुँचता हो।

न्याय–संबंधी जॉन रॉल्स की अवधारणा के दो पहलू हैं। प्रथम, वह एक ''संवैधानिक लोकतंत्र'' की माँग करती है, यानी कानूनों की सरकार और वो ऐसी हो जो वश में हो, जवाबदेह हो और जिम्मेवार हो। दूसरे, वह ''एक निश्चित रीति से'' मुक्त अर्थव्यवस्था के नियमन में विश्वास करती है। ''यदि कानून व सरकार'', रॉल्स लिखते हैं, ''बाज़ार को प्रतिस्पर्धात्मक रखने, संसाधनों को पूरी तरह नियोजित रखने, सम्पत्ति व समृद्धि व्यापक रूप से समयोपरि वितरित कर देने एवं उचित सामाजिक न्यूनातिन्यून को कायम रखने हेतु प्रभावी रूप से काम करते हैं, तब यदि सभी के लिए शिक्षा द्वारा दायित्व–स्वीकृत अवसर की समानता हो, तो परिणामित वितरण न्यायपूर्ण होगा''।

MAADHYAM IAS

''पुनर्वितरणवादी'' भी अपनी समालोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार, म्यैर एफ. प्लैटनर न्याय–संबंधी दृष्टिकोण के खिलाफ़ दो दावे पेश करते हैं। पहला, उनका विश्वास है कि यद्यपि समानता एक स्नेह–पालित मूल्य है, इसे सामर्थ्य की कीमत पर हासिल करना संभव नहीं हो सकता। प्लैटनर के अनुसार, यह समानता बनाम बढ़ी समृद्धि की समस्या रॉल्स को एक परस्पर विरोध में डाल देती है। इस प्रकार, एक ओर रॉल्स ''उनको इस बात को स्वीकार करने से एकदम इंकार करते हैं कि वे जो ज़्यादा आर्थिक योगदान देते हैं, ज़्यादा आर्थिक प्रतिफल का हक रखते हैं''। यद्यपि, दूसरी ओर उनका ''विभिन्नता सिद्धांत'' (जो यह निर्दिष्ट करता है कि ''सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को व्यवस्थित किया जाना है, ताकि वे न्यूनतम लाभांवितों के अधिकतम लाभ हेतु हों'') फिर भी दृढ़तापूर्वक कहता है कि उन्हें अधिक आर्थिक पारितोषिक प्रदान करना न्याय–संगत है, जहाँ तक कि वे उन तरीकों से अपने योगदान में वृद्धि करने हेतु प्रोत्साहनों के रूप में काम करते हों जो अन्तोगत्वा अलाभांवितों को लाभ पहुँचाते हों।

दूसरा दावा जो प्लैटनर करते हैं, वो हैं कि पुनर्वितरणवादी चाहता है कि व्यक्ति को उसके ''खरे परिश्रम'' के पारितोषिक से इंकार कर दिया जाए, और उसकी बजाय वह सारे उत्पादन को समग्र समान की ''सार्वजनिक सम्पत्ति'' के रूप में मानते हें। साथ ही, प्लैटनर हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यह ''निजी सम्पत्ति संबंधी नैतिक आधारों और उसके साथ ही उदारवादी समाज'' को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाता है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) जॉन रॉल्स के न्याय के सिद्धांत की चर्चा कीजिये।

....

....

....

....

....

....

....

20.7 न्याय : संयोजन का एक शब्द

शायद न्याय हेतु सबसे अच्छा दृष्टिकोण इसे एक सामंजस्य–संबंधी शब्द के रूप में देखना है। न्याय की समस्या सुलह–संबंधी समस्या है। न्याय का कार्य विभिन्न स्वतंत्रताओं (राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक) का एक दूसरे के साथ तुष्टिकरण; विभिन्न समानताओं (राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक) का एक–दूसरे के साथ और सामान्यतः स्वतंत्रता का उसके सभी रूपों में, मिलाप कराने का काम ही है। संक्षेप में, न्याय का अर्थ है विवादग्रस्त मूल्यों का सामंजस्य और उनको एक साथ किसी साम्यावस्था में रखना।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अनेक जाने–माने लेखकगण स्वतंत्रता बनाम समानता का पक्ष लेना पसंद करते हैं। लॉर्ड ऐक्टन कई साल पहले ही यह स्मरणीय उद्‌घोषणा कर चुके थे कि ''समानता हेतु सनक ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है'' (वह फ्रांसीसी क्रांति के संदर्भ में बोल रहे थे)। ''सिर्फ़ स्वतंत्रता'' के हिमायतियों, उदाहरणार्थ डब्ल्यु.ई. लकी अपनी पुस्तक *डिमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी* में, का दावा है कि ''समानता केवल स्वाभाविक विकास के एक कठोर दमन के द्वारा ही मिलती है।''

दरअसल, स्वतंत्रता और समानता दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, जैसा कि कैरिट का कथन है, दोनों ही एक–दूसरे के लिए आवश्यक हैं। यदि समानता है, तो स्वतंत्रता ज़्यादा संतोष प्रदान करेगी। और, साथ ही, यह स्वतंत्रता ही है जो व्यक्ति को समानता की माँग करने के योग्य बनती है। आदमी को आज़ादी दो और वह अभी, नहीं तो बाद में, समानता की माँग करेगा। स्वतंत्रता व समानता के बीच अन्तर्संबंध पर अनेक तरीकों से प्रकाश डाला जा सकता है। बोलने और वोट देने की स्वतंत्रता का ही उदाहरण ले लें, ये दोनों ही धन–संपत्ति के भारी असमान वितरण द्वारा निष्प्रभ किए जा सकते हैं। धनी जन न सिर्फ़ प्रतिस्पर्धा करने बल्कि प्रचार करने हेतु भी एक बेहतर स्थिति में होते हैं। उनके पास प्रचार माध्यमों तक अपेक्षाकृत आसान पहुँच होती है। हैरॉल्ड लास्की के शब्द आज भी सत्य लगते हैं : ''असमानों के समाज में अपनी स्वतंत्रता का दावा करने वाले व्यक्ति के हर प्रयास को ताकतवरों द्वारा चुनौती दी जायेगी।'' संक्षिप्त में, हम पाते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता एवं आर्थिक लोकतंत्र को कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना पड़ता है। और, यदि विभिन्न राजनीतिक मूल्यों पर सूक्ष्म

दृष्टि डालें, तो पायेंगे कि यद्यपि ऊपरी तौर से वे परस्पर विरोधी हो सकती हैं, ध्यापूर्वक देखे जाने पर वे संपूरक एवं अन्तर्सम्बद्ध पायी जाएँगी। बहरहाल, यह न्याय का काम है कि विविध एवं प्रायः–विरोधी मूल्यों के बीच संयोजन या सामंजस्य स्थापित करे। न्याय ही अन्तिम सिद्धांत है, जो स्वतंत्रता के साथ–साथ समानता के भी हित में विभिन्न अधिकारों (राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक) के वितरण को नियंत्रित करता है।

न्याय संबंधी इस प्रकार की अवधारणा एक सामाजिक विचार की विकास–प्रक्रिया के रूप में ऐतिहासिक रूप से विकसित होती है। इस अर्थ में यह एक विकासमान अवधारणा है जो समाज की वास्तविकता एवं अभिलाषा को प्रतिबिम्बित करती है।

20.8 सारांश

हमने जो अब तक देखा वह यह छाप छोड़ता है कि न्याय अनिवार्यतः एक नियामक संकल्पना है, जिसका स्थान अनेक क्षेत्रों में है, जैसे धर्म, नीतिशास्त्र एवं कानून, यद्यपि इसके शाखा–विन्यास में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र आते हैं।

निष्पक्षता न्याय की एक अनिवार्य शर्त है। निष्पक्षता का अर्थ बिना भेदभाव के सबके साथ समान रूप से व्यवहार करना नहीं है। एक व्याख्या है – समानों के साथ समान रूप से और असमानों के साथ असमान रूप से सुलूक करना। परन्तु मुख्य रूप से विभेदीकरण को प्रासंगिक मानदण्डों पर ही रहना पड़ता है।

न्याय चाहता है एक न्यायसंगत आधार पर मूल्यों का विभेदीकरण। विभिन्न सिद्धांत इनकी व्यवस्था का समर्थन अथवा छिद्रान्वेषण करते हैं। सामाजिक न्याय लोगों की आवश्यकताओं पर ज़ोर देता है। वह भारतीय सामाजिक संदर्भ में रियायती नीतियों का भी आह्वान करता है। इसके विपरीत, प्रक्रियात्मक न्याय कानून के शासन और यादृच्छिकता के विलोपन की अपेक्षा रखता है।

MAADHYAM IAS

न्याय संबंधी रॉल्स के सिद्धांत में लोगों को सामाजिक व्यवस्था संबंधी एक विकल्प चुनना पड़ता है। वे स्वाभावतः एक इच्छास्वातंत्र्यवादी समाज चुनेंगे। यह सिद्धांत सभी को समान मौलिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करता है। असमानताएँ सभी के लिए खुले उच्चपदों से जुड़ी होनी चाहिए। उन्हें सबसे अधिक अलाभांवित वर्ग को लाभ पहुँचना चाहिए।

अन्त में, तथापि न्याय संबंधी जटिल संपष्क्तार्थों पर गहरी बहस में पड़ने की बजाय, यह कहना सार्थक होगा कि सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मूल्यों का यही संयोजी बन्ध (converting bond) है। उदाहरण के लिए, यदि समानता के मानदण्ड का उल्लंघन किया जाता है, तो स्वतंत्रता कायम नहीं रहेगी और यदि न्याय नहीं होगा तो समानता नहीं रहेगी। स्पष्ट है कि न्याय स्वतंत्रता एवं समानता के मानदण्डों से अभिन्न रूप से जुड़ा है। इसी प्रकार, हम कह सकते हैं कि यदि कोई अधिकार अस्तित्व में नहीं है, तो कोई आज़ादी नहीं रहेगी और यदि न्याय–प्रबन्ध सुनिश्चित करने हेतु कानून की कोई सुसंगठित व्यवस्था नहीं है, तो अधिकारों की कोई रक्षा नहीं होगी। पुनः स्पष्ट है कि न्याय–संबंधी धारणा अनिवार्यतः अधिकारों व कानून की अवधारणाओं से जुड़ी है। इस दशा में सबसे ग़ौरतलब बात यह है कि न्याय–संबंधी धारणा न सिर्फ़ कानून, स्वतंत्रता, समानता व अधिकारों संबंधी मानदण्डों से अभिन्न रूप से जुड़ी है, यह अनिवार्य सम्बन्ध भी स्थापित करती है। न्याय इस अर्थ में राजनीतिक मूल्यों का पुनस्संधिस्थापक और संयोजक है। डैनियल वैब्स्टर ने बिल्कुल ठीक ही कहा कि न्याय ''मनुष्य का प्रधानतम हित है''।

20.9 कुछ उपयोगी संदर्भ

ऐलन, सी.के., *ऐस्पैक्ट्स ऑफ जस्टिस*, स्टीवन एण्ड सन्ज़, लंदन, 1955

बेकर, अर्नेस्ट, *प्रिंसिपॅल्स ऑफ़ सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल थिअरी*, लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, लंदन, 1967

बैरी, नॉर्मन पी., *एन इण्ट्रोडक्शन टु मार्डर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 1981

राफ़ैल, डी.डी., *प्रॉब्लम्स ऑफ़ पॅलिटिकॅल फ़िलोसॅफ़ी*, मैकमिलन, लंदन, 1976 (द्वितीय संस्करण)

20.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 20.2

2) देखें उपभाग 20.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 20.3

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 20.4 और उपभाग 20.4.4

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 20.6

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 21 प्रत्यक्ष और सहभागी लोकतंत्र

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 परिचय : लोकतंत्र का अर्थ

21.1.1 विभिन्न अर्थ

21.1.2 सरकार और नागरिकों के मध्य संपर्क साधना

21.2 प्रत्यक्ष लोकतंत्र क्या है?

21.2.1 प्रत्यक्ष लोकतंत्र के सैद्धांतिक आधार

21.2.2 प्रत्यक्ष लोकतंत्र के गुण

21.3 ग्रीक लोकतंत्र प्रत्यक्ष लोकतंत्र के रूप में

21.3.1 एथेनियन लोकतंत्र : प्रसिद्धी के कारण

21.3.2 अरस्तु की 'द पॉलिटिक्स'

21.4 प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सीमाएँ

21.4.1 एथेनियन लोकतंत्र की कमियाँ

21.5 आधुनिक समय में प्रत्यक्ष लोकतंत्र

21.6 सारांश

21.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको प्रत्यक्ष (प्राचीन) और सहभागिता पूर्ण (आधुनिक) लोकतंत्र के बारे में जानकारी मिलेगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- लोकतंत्र के अर्थ को समझ पाएँगे;
- उसके विभिन्न रूपों जैसे प्रत्यक्ष और भागीदारी लोकतंत्र में अंतर स्थापित कर लेंगे; और
- विभिन्न रूपों की खूबियों और कमियों का परीक्षण कर पाएँगे।

21.1 परिचय : लोकतंत्र का अर्थ

विभिन्न दार्शनिकों ने लोकतंत्र शब्द की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। यह सरकार का एक रूप और आदर्श, आकांक्षा, मापदण्ड दोनों ही है। लोकतंत्र का मूल तत्त्व आत्म-शासन है। लोकतंत्र शब्द की उत्पत्ति प्राचीन ग्रीस में देखी जा सकती है। यह ग्रीक शब्द (Democratia) से उत्पन्न हुआ, इसका अर्थ जनता के द्वारा शासित होना है। यह शब्दानुसार शासक और शासित, दोनों के बीच अलगाव के अर्थ को स्वीकार करता है। दिलचस्प बात यह है कि साम्यवाद और समाजवाद, जिनका कि मार्क्सवाद में संदर्भ बिन्दु है, उनके ठीक विपरीत लोकतंत्र किसी विशेष सैद्धांतिक स्रोत या आदर्श पर आधारित नहीं है। वास्तव में, यह पश्चिमी सभ्यता के पूरे विकास की रचना है और इसलिए आसानी से किसी भी अर्थ में प्रयोग कर ली जाती है। इस प्रकार लोकतंत्र के आदर्श का इतिहास वस्तुतः उलझा हुआ है और विरोधास्पद और भ्रामक विचारधाराओं से ओतप्रोत है। लोकतंत्र भ्रामक है, क्योंकि इसका अभी भी क्रियाशील इतिहास है और क्योंकि मुद्दे भी उलझे हैं।

तथापि इसके औचित्य को इस आधार पर स्वीकार किया गया है कि यह निम्न मौलिक मूल्यों या अच्छाइयों जैसे समानता, स्वतंत्रता, नैतिकता, आत्मविकास, सामान्य हित, निजी हितों, सामाजिक उपयोगिता इत्यादि को प्राप्त करने में सहायक है।

21.1.1 विभिन्न अर्थ

इसलिए लोकतंत्र शब्द से संबंधित अनेक अर्थ निकाले गये है। इनमें से कुछ निम्न हैं :

- सरकार का एक रूप जिसमें लोग स्वतः शासन करते हैं।
- एक ऐसा समाज जिसका आधार समान अवसर तथा व्यक्तिगत गुण होते हैं न कि सामाजिक स्तरीकरण तथा सुविधा।
- शासित की सहमति पर आधारित सरकार की व्यवस्था।
- बहुसंख्यक शासन के सिद्धांत पर आधारित निर्णय लेने की प्रक्रिया।
- एक ऐसी शासन प्रणाली जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों तथा हितों की रक्षा बहुसंख्यकों की शक्ति पर नियंत्रण रख कर करती है।
- सार्वजनिक पदों पर भर्ती लोक प्रिय वोट के लिए प्रतियोगी संघर्ष द्वारा।
- सरकार की एक ऐसी प्रणाली जो लोगों के राजनीतिक जीवन में सहभागिता के बिना भी लोगों की अभिरुचियों का ख्याल रखती है। (हेवुड, 1997:66)

21.1.2 सरकार और नागरिकों के मध्य संपर्क साधना

लोकतंत्र को जिन विभिन्न अर्थों के साथ जोड़ा जाता है, उनसे एक बात बिल्कुल साफ है कि लोकतंत्र सरकार और नागरिकों के मध्य संपर्क साधता है। यह संबंध उस समाज की वृहत राजनीति संस्कृति के आधार पर कई तरीको से स्थापित किया जा सकता है। इसके कारण प्रजातांत्रिक शासन के वास्तविक स्वरूप से संबंधित सैद्धांतिक विभिन्नताएं और राजनीतिक विवाद देखने को मिलते हैं। तथापि, लोकतंत्र पर कोई भी वाद-विवाद तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की तरफ झुकता है।

- लोग कौन हैं?
- किस अर्थ में लोग शासन करते हैं?
- लोकप्रिय शासन का विस्तार कहाँ तक होना चाहिए? (हेवुड, 1997:66)

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएं।

1) लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

....

....

2) लोकतंत्र के अनेक अर्थों में से कुछ पर प्रकाश डालिये।

....

....

....

....

....

....

21.2 प्रत्यक्ष लोकतंत्र क्या है?

प्रत्यक्ष लोकतंत्र सरकार का एक रूप होता है, जिसके अंतर्गत समानता की प्रकृति और खुले विचारों से प्रेरित सभी वयस्क नागरिकों की सहभागिता से सभी सामूहिक निर्णय लिये जाते है। चर्चायें या परिचर्चायें प्रमुख होती हैं, क्योंकि जो निर्णय पूरी तरह से विचार-विमर्श के बाद लिये जाते हैं, उन्हें सूचित, तर्कशील और विवेकशील माना जाता है। ऐसा इसलिये क्योंकि परिचर्चा एक समूह को विभिन्न हितों में सामंजस्य बिठाने में मदद करती है और सदस्यों को मुद्दों के बारे में जानकारी प्रदान करती है। साथ ही, समूह के अनुभव का लाभ उठाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, चर्चाएं व्यक्तियों के एक समूह को प्रभावित करने और समूह से प्रभावित होने, यह दोनों कार्य करती हैं। (Hague et al, 1998:20)

प्राचीन ग्रीक दार्शनिक अरस्तु के अनुसार प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सारगर्भित बात यह है कि उसमें ऐसी व्यवस्था है कि ''सभी एक दूसरे को नियंत्रित करते हैं और कि प्रत्येक सभी को''। यह पहली बार प्राचीन ऐथेन्स में जनता की एक विशाल जनसभा के परिणामस्वरूप एक सरकार के रूप में देखने को मिला था। इसका आधुनिक रूप जनमत संग्रह है। ग्रामीण भारत में 'ग्राम सभा' जिसकी 73 संवैधानिक संशोधन के तहत संकल्पना की गयी है, प्रत्यक्ष लोकतंत्र का उदाहरण है।

21.2.1 प्रत्यक्ष लोकतंत्र के सैद्धांतिक आधार

अतः प्रत्येक लोकतंत्र में मत के माध्यम से सबसे सही निर्णय कभी नहीं लिये जा सकते हैं। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का सिद्धांत आम सहमति से शासन करना होता है। यह आम सहमति विकल्पों पर सावधानीपूर्वक विचारों के फलस्वरूप पैदा होती है। औपचारिक सहभागी संस्थाओं के अभाव में लोगों को जनता से विचार-विमर्श के द्वारा अपने आप निर्णय लेना होता है। दूसरे शब्दों में, निम्नलिखित सिद्धांत प्रत्यक्ष लोकतंत्र को प्रभावित करते है :

- लोग संप्रभु होते हैं।
- संप्रभुता पृथक नहीं हो सकती है और उसका प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता है।
- लोगों को अपनी सार्वजनिक इच्छा अवश्य जाहिर करनी चाहिए और जनमत संग्रह के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से निर्णय लेने चाहिए।
- निर्णय बहुसंख्यक शासन के आधार पर लिये जाने चाहिए।

सारांशतः प्रत्यक्ष लोकतंत्र, प्रत्यक्ष पहले से न विचार हुआ और सरकार के कार्यों में

नागरिकों की निरन्तर सहभागिता पर आधारित होता है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र सरकार और शासित तथा राज्य और नागरिक समूदाय के बीच अंतर को खत्म करता है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र में राज्य और समाज एक बन जाते हैं। यह लोकप्रिया शासन की एक प्रणाली है।

21.2.2 प्रत्यक्ष लोकतंत्र के गुण

प्रत्यक्ष लोकतंत्र के गुणों में निम्न आते हैं :

- चूँकि यह लोकतंत्र का एकमात्र शुद्ध स्वरूप है, इसमें नागरिकों का अपनी जीवन दिशा पर नियंत्रण बढ़ जाता है।.
- यह बेहतर सूचित और अधिक राजनीतिक चपलता वाले नागरिक उत्पन्न करता है और इस प्रकार प्रत्यक्ष लोकतंत्र के पास शैक्षणिक सुविधायें होती हैं।
- मतलबी राजनीतिज्ञों पर बिना भरोसा किये यह जनता को अपने दृष्टिकोण और हितों को व्यक्त करने में समर्थ बनाता है।
- इस अर्थ में शासन को वैधानिकता प्रदान करता है कि लोग प्रत्यक्ष तंत्र के किसी भी निर्णय को आसानी से स्वीकार करते हैं क्योंकि वे उनके द्वारा बनाये गये होते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) प्रत्यक्ष लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

....

2) प्रत्यक्ष लोकतंत्र के कौन-कौन से गुण हैं?

....

....

....

....

....

....

21.3 ग्रीक लोकतंत्र प्रत्यक्ष लोकतंत्र के रूप में

प्रत्यक्ष लोकतंत्र का सार्वभौमिक उदाहरण चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के दौरान प्राचीन ऐथेंस का है। अब तक का यह लोकप्रिय सहभागिता की एकमात्र शुद्ध या आदर्श प्रणाली माना जा सकता है। इसके पास एक विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष लोकप्रिय शासन था, जिसके अंतर्गत सामूहिक बैठक में सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जाते थे। सभा या ऐकलैसिया (Ecclesita) द्वारा सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जाते थे। सभा कम से कम साल में चालीस बार अपने सामने आये मुकदमों को तय करने के लिये आयोजित की जाती थी। जब पूर्णकालिक जनअधिकारियों की आवश्यकता होती थी, वे बड़ी संख्या में चुने जाते थे। इस प्रक्रिया का अनुसरण यह सुनिश्चित करने के लिये किया जाता था कि ये नागरिकों के बड़े निकाय का एक हिस्सा हो, पदों की तथापि कोई निश्चितता नहीं थी और तीव्र क्रमबद्धता में बदलते थे जिससे सभी नागरिकों को शासन करने की कला का अनुभव प्राप्त हो जाता था और इस प्रकार अधिकतम संभव सहभागिता को प्राप्त करने की कोशिश की गयी थी। पाँच सौ नागरिकों की एक सभा परिषद या कार्य कमेटी के रूप में कार्य करती थी और पचास सदस्यों की कमेटी बदले में परिषद् के समक्ष प्रस्ताव पेश करती थी।

21.3.1 एथेनियन लोकतंत्र : प्रसिद्धि के कारण

यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि एथेनियन लोकतंत्र इतना उल्लेखनीय क्यों था। एथेन्स ने वास्तव में सभी नागरिकों को मताधिकार देकर एक नई राजनीतिक संस्कृति का सूत्रपात किया। नागरिक न केवल सभा की नियमित बैठकों में भाग लेते थे, बल्कि वे बड़ी संख्या में जनपद और निर्णय प्रक्रिया की जिम्मेदारियों को संभालने के लिये तैयार होते थे। औपचारिक रूप में, नागरिकों में पद और धन के आधार पर उनके सार्वजनिक मामलों के संदर्भ में भेद किया जाता था। डैमोस (The Demos) के पास सवंप्रभु शक्ति थी, जैसे विद्यायिकी और न्यायिक गतिविधियों की संचालन की सर्वोच्च सत्ता (Held, 1987:17) नागरिकता की एथेनियम विचारधारा ने इस कार्य में भाग लेने और राज्य के मामलों में सीधी सहभागिता को अवश्यंभावी बनाया।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

एथेनियन लोकतंत्र नागरिक गुण (civil virtue) के सिद्धांत के प्रति सामान्य प्रतिबद्धता को दर्शाता है। जिसका वास्तविक अर्थ गणतांत्रिक नगर राज्य के लिये प्रतिबद्धता और समर्पण निजी ज़िन्दगी सार्वजनिक मामलों के अधीन तथा सामान्य अच्छाइयों की प्राप्ति थी। दूसरे शब्दों में सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जिंदगी में कोई अंतर नहीं था। और व्यक्ति आत्म संतुष्टि प्राप्त कर पोलिस (नगर राज्य) के अंदर सम्मानित जिंदगी जी सकता था। उदाहरण स्वरूप, नागरिकों को अधिकार एवं जिम्मेदारी निजी व्यक्तियों के रूप में नहीं, बल्कि, राजनीतिक समुदाय के सदस्यों के नाते प्राप्त थे। इस प्रकार केवल पोलिस (Polis) में ही जनअधिकार और अच्छी जिंदगी संभव थे। इस प्रकार रॉबर्ट डाल के अनुसार ''ग्रीक दृष्टि में लोकतंत्र राजनीति की एक प्राकृतिक सामाजिक गतिविधि है। इसे जिन्दगी के अवशेष से साफ अलग नहीं किया जा सकता। बल्कि राजनीतिक जिंदगी मात्र विस्तार और अपने आप मार्धुय है।''(Dahl, 1989 :18) ऐसा प्रतीत होता है कि एथेनियन स्वतंत्र और मुक्त राजनीतिक जिंदगी जिन्दगी में विश्वास करते थे जिसके अंतर्गत नागरिक अपनी क्षमताओं और कौशल और सामान्य हित के लक्ष्य को विकसित और अनुभव कर सकते थे। और न्याय का अर्थ नगर राज्यों में नागरिक की भूमिका तथा स्थान को निश्चित तथा अनुभव करना था। (Held 1987:18) जिसके सभी नागरिक सदस्य होते थे।

21.3.2 अरस्तु की 'द पॉलिटिक्स'

हमें अरस्तु की प्रसिद्ध कृति 'द पॉलिटिक्स' ईसा पूर्व 335 और 323 के बीच लिखित में प्राचीन लोकतंत्र के बारे में अधिकतम विस्तृत और स्मरणीय जानकारी मिलती है। उनकी कृति में लोकतंत्र के दावों, नैतिक मापदण्डों और उद्देश्यों का विश्लेषण मिलता है और अनेक ग्रीक लोकतंत्रों की मुख्य विशेषताओं की विशिष्टता का भी उल्लेख है। उनके अनुसार स्वतंत्रता और समानता, विशेषकर यदि आप लोकतंत्रवादी हैं तो दोनों स्वीकार्य हैं, एक के अस्तित्व के बिना दूसरे को प्राप्त करना कठिन है।

स्वतंत्रता के दो लक्षण हैं : i) शासन करना तथा बदले में शासित होना, और ii) जैसा व्यक्ति चुनता है, उसी तरह से जीता है। यदि व्यक्ति प्रथम लक्षण के आधार पर सरकार के प्रभावकारी सिद्धांत को कार्यरूप देना चाहता है, तो यह आवश्यक है कि सभी नागरिक समान हों। बिना सांख्यकीय समानता के यह संभव नहीं है कि बहुसंख्यक सम्प्रभु हों। सांख्यिकी समानता से यहाँ तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति की शासन कला में समान हिस्सेदारी हो। प्राचीन या पूर्व लोकतंत्रवादियों ने अनुभव किया कि सांख्यिकी समानता प्राप्त करना संभव था, 1) क्योंकि नागरिकों को सरकार में भाग लेने के लिये वेतन दिया जाता है और इस लिए उन्हें राजनीतिक सहभागिता की वजह से कुछ खोना नहीं पड़ता है। 2) नागरिकों को समान मत देने का भी अधिकार है। 3) सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पद ग्रहण करने का समान अवसर प्राप्त है। सार में हम इससे यह समझ सकते हैं कि समानता स्वतंत्रता का व्यवहारिक आधार है और इसका नैतिक आधार भी है। इस प्रकार अरस्तु के विचार के आधार पर सार्वभौमिक लोकतंत्र जिसमें संनिहित है प्रत्यक्ष लोकतंत्र, स्वतंत्रता को निश्चित करता है, और स्वतंत्रता समानता को निश्चित करती है।

बोध प्रश्न 3

MAADHYAM IAS

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को ईकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) एथेनियन लोकतंत्र को असाधारण क्यों माना जाता है?

....

....

....

....

....

....

2) अरस्तु की 'द पॉलिटिक्स' में दिये दृष्टिकोणों का संक्षिप्त में परीक्षण करें।

....

....

....

....

....

21.4 प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सीमाएँ

प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक विलक्षण गुण प्राचीन एथेंस में प्रचलित इसकी विशिष्टता थी। नगर-राज्य एकता, अखण्डता, सहभागिता और पूरी तरह से प्रतिबंधित नागरिकता को दर्शाता था। जैसा कि पहले बताया गया है कि सार्वजनिक और निजी ज़िन्दगी में कोई अंतर नहीं था और यहाँ तक कि राज्य नागरिकों की जिन्दगी से गंभीर रूप से संबंध था। तथापि जनसंख्या का एक छोटा वर्ग ही राज्य और सरकार से सम्बंधित था। सिर्फ दिलचस्प बात यह गौर करने की है कि एथेनियन राजनीतिक संस्कृति वयस्क पुरुष संस्कृति थी। उदाहरणतः केवल 20 वर्ष से अधिक उम्र के पुरुष ही नागरिक बनने के योग्य थे। कुलपिताओं (patriarchs) के लोकतंत्र के अंतर्गत महिलाओं को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे और उनके नागरिक अधिकार भी सीमित थे; दूसरे तरह के निवासी, जैसे अप्रवासी औपचारिक प्रक्रियाओं में भाग लेने के लिये अयोग्य थे। ये कुछ अन्य प्रकार के नागरिक एथेन्स में कई पीढ़ी पहले बस गये थे, लेकिन उन्हें मूल निवासी का दर्जा प्राप्त नहीं था। तथापि गुलामों के अंतर्गत राजनीतिक रूप से बहुत पिछड़े लोग आते थे। यहाँ हमें जानकारी मिलती है कि एथेन्स में प्रचलित राजनैतिक समानता का अर्थ सबों के लिये समान शक्ति नहीं था। यह वस्तुतः समानता का एक रूप था, जोकि समान पद वाले व्यक्ति पर लागू होता था और एथेनियन संदर्भ में इसका तात्पर्य सिर्फ पुरुषों और एथेंस में पैदा होने वाले व्यक्ति में से था। इस प्रकार अनेक व्यक्ति एक विस्तृत नागरिकता के अल्पसंख्यक की तरह थे (फिनले 1983) अविवादित रूप से प्राचीन एथेंस की राजनीति काफी हद तक अप्रजातांत्रिक आधार पर अवस्थित थी।

21.4.1 एथेनियन लोकतंत्र की कमियाँ

हम उपरोक्त विवरण से जो निष्कर्ष निकाल सकते हैं, वह यह कि प्राचीन एथेन्स में प्रचलित लोकतंत्र में गंभीर कमियाँ थीं। यदि आधुनिक लोकतंत्र बाजार अर्थतंत्र पर आधारित है, तो एथेंस का लोकतंत्र दासता पर अवस्थित था। गुलामों के श्रम ने अभिजात्य नागरिक को सहभागिता का अवसर प्रदान किया, स्थायी नौकरशाही व्यवस्था की कमी और अप्रभावकारी सरकार के चलते अन्ततः युद्ध में पराजय के बाद एथेनियन गणतंत्र का पतन हुआ। दिलचस्प बात यह है कि लोकतंत्र के इस रूप, यानि कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र के सबसे अधिक प्रभावकारी आलोचक थे। दार्शनिक प्लैटो उन्होंने राजनीतिक समानता के सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर की कि अधिकतर लोग स्वभाव से समान नहीं होते हैं, और इसलिए, स्वयं बुद्धिमानी से निर्णय नहीं ले सकते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि उनके पास ज्ञान और न ही अनुभव होता है। इसका निदान उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द रिपब्लिक' में प्रस्तुत किया था, वह यह है कि सरकार को दार्शनिक राजाओं के एक वर्ग के हाथों सौंपा जाये, ऐसे संरक्षक जिनका शासन एक ज्ञानी अधिनायकवाद के कुछ समान होगा, व्यवहारिक तौर पर तथापि, एथेनियन लोकतंत्र की प्रमुख कमी थी कि यह जनसंख्या के अधिक व्यक्तियों को राजनीतिक गतिविधियों से अलग रखकर ही संचालित हो सकती है। यह मात्र सीमित जनसंख्या वाले छोटे नगर राज्यों में संभव था और न कि वर्तमान के बड़ी जनसंख्या वाले आधुनिक वृहत लोकतंत्रों में। इन कमियों के बावज़ूद एथेनियन ढाँचा प्रजातांत्रिक सिद्धांतों को स्थापित करने में निर्णायक था। फाइनर के अनुसार ''ग्रीकों ने वर्तमान युग की सबसे अधिक सक्षम दो राजनीतिक विशेषताओं का अविष्कार किया : प्रथम, नागरिक की अवधारणा को इजाद करना बनिस्पत अधीनस्थ की और द्वितीय, लोकतंत्र रचना।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सीमाओं पर प्रकाश डालें और एक उपयुक्त उदाहरण दें।

....

....

....

....

....

....

21.5 आधुनिक समय में प्रत्यक्ष लोकतंत्र

प्रत्यक्ष लोकतंत्र के सार्वभौमिक ढाँचे और राजनीतिक जीवन में निरंतर लोकप्रिय सहभागिता, दुनिया के कुछ खास भागों, मुख्यतः अमेरिका में न्यु इंग्लैण्ड की नगर बैठकों और छोटे स्विस कैंटनों (Cantons) में कार्यरत सामुदायिक सभाओं में विद्यमान है। प्राचीन एथेन्स की जनसभाओं की तुलना में वर्तमान समय में कार्यरत सबसे सामान्य विधि जनमत संग्रह है। जनमत संग्रह एक प्रकार का मत है, जिसका प्रयोग मतदाता लोक नीति के विशेष मुद्‌दों पर अपना विचार प्रकट करने के लिए कर सकता है। यह चुनाव से अलग है, जिसमें मतदाता आवश्यक रूप से सार्वजनिक पद पर किसी को चुनने का साधन होता है और जोकि नीति के सार को प्रभावित करने, प्रत्यक्ष या विश्वसनीय विधि नहीं है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक यंत्र, जनमत संग्रह का प्रयोग प्रतिनिधि संस्थाओं को स्थानांतरित करने के लिये, नहीं, बल्कि उन्हें पूरा (supplement) करने के लिये किया जाता है। वे परामर्शदात्री या अनिवार्य हो सकते हैं। वे मुद्‌दों को वाद-विवाद के लिये भी उठा सकते हैं (सुझाव या प्लैबिसाइट)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.6 सारांश

वृहद अर्थ में लोकतंत्र का अर्थ लोगों द्वारा शासन होता है, तथापि समय के साथ-साथ इसका विभिन्न अर्थ माना जाता रहा है। लोकतंत्र की प्रकृति के संबंध में वाद-विवादों ने तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। सर्वप्रथम, किस सीमा तक राजनीतिक शक्ति का विभाजन होना चाहिए। द्वितीय, क्या लोगों को स्वयं शासन में भाग लेना चाहिये? या सरकर को चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में सौप देना चाहिए। तीसरे, क्या प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का प्रयोग करके सामूहिक निर्णय लेना उपयुक्त है? प्राचीन ग्रीस में उत्पन्न और कार्यरत प्रत्यक्ष लोकतंत्र में नागरिक स्वयं प्रतिनिधि संस्थाओं के बगैर निर्णय लेते थे। यह विश्लेषण सार्वजनिक चर्चा के महत्त्व पर जोर देता है, सहभागियों और निर्णय की गुणवत्ता दोंनों की दृष्टि से लोकतंत्र के इस ढाँचे की सख्त सीमायें थीं। अतः आधुनिक काल में यह सरकार का लोकप्रिय रूप नहीं है।

21.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

डाल, आर. *डैमोक्रेसी एंड इट्स क्रिटिक्स*, न्यू हेवन, सी टी : येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1989

हेल्ड डेविड, *मॉडल्स ऑफ डैमोक्रेसी,* आक्सफोर्ड : पॉलिटी प्रेस; स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1996

हेवूड ऐंडरू – *पालिटिक्स*, लंदन : मैकमिलन प्रेस, 1997

हेग, आर. एट.एल., *कम्पैरिटिव गर्वमैंट ऐंड पॉलिटिक्स : ऐन इंट्रोडक्शन*, लंदन, मैकमिलन प्रेस, 1998

फिनले, एम.आई., *पॉलिटिक्स इन दी एंशेंट वर्ल्ड*, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1983

21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 21.1 देखिये।

2) उपभाग 21.1.1 देखिये।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 21.2 देखिये।

2) उपभाग 21.2.2 देखिये।

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 21.2.2 देखिये।

2) उपभाग 21.3.2 देखिये।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 21.4 देखिये।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 22 प्रतिनिधि लोकतंत्र

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 परिचय

22.2 प्रतिनिधि लोकतंत्र क्या है?

22.2.1 सीमित और अप्रत्यक्ष

22.2.2 निर्वाचक लोकतंत्र का पर्यावाची

22.3 प्रतिनिधि लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोण

22.3.1 बहुलवादी

22.3.2 अभिजात्यवादी

22.3.3 प्रतिद्वंद्वी विचारधाराएं

22.4 प्रतिनिधि लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांत

22.4.1 लोकप्रिय संप्रभुता

22.4.2 राजनीतिक समानता

22.4.3 राजनीतिक स्वतंत्रता

22.5 प्रतिनिधि लोकतंत्र व्यावहार में

22.6 लोकतंत्र और चुनाव

22.6.1 चुनाव प्रक्रिया

22.7 लोकतंत्र और अलगाव

22.8 लोकतंत्र और जनमत

22.9 लिंग और लोकतंत्र : सहभागिता और प्रतिनिधित्व

22.10 लोकतंत्र और इंटरनेट

22.11 सारांश

22.12 कुछ उपयोगी संदर्भ

22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप प्रतिनिधि लोकतंत्र के बारे में पढ़ेंगे, यह लोकतंत्र का एक रूप है। जिससे हम भलीभाँति परिचित हैं। इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप :

- प्रतिनिधि लोकतंत्र के अर्थ की व्याख्या कर पायेंगे;
- इसकी विभिन्न विचारधाराओं पर चर्चा कर सकेंगे;
- प्रतिनिधि लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांतों का विस्तृत ब्यौरा दे पायेंगे;
- लोकतंत्र-चुनाव के अंतर्निहित कारकों का परीक्षण कर पायेंगे; और
- प्रतिनिधि लोकतंत्र से संबंधित कुछ समकालीन और महत्त्वपूर्ण मुद्दों का आलोचनात्मक परीक्षण कर लेंगे।

22.1 परिचय

इस इकाई में हम दुनिया में प्रचलित लोकतंत्र के एक रूप, प्रतिनिधि लोकतंत्र के बारे में जान पायेंगे। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है कि इस प्रकार के लोकतंत्र में नागरिक अपने प्रतिनिधियों को आवधिक चुनावों के द्वारा चुनते हैं। नागरिकों के यही प्रतिनिधि उनकी अपेक्षाओं को जनमंच, जैसे विधानमण्डलों में जोरदार शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। आप प्रतिनिधि लोकतंत्र को निर्वाचक लोकतंत्र (electoral democracy) का पर्यावाची मान सकते।

22.2 प्रतिनिधि लोकतंत्र क्या है?

22.2.1 सीमित और अप्रत्यक्ष

प्रतिनिधि लोकतंत्र, लोकतंत्र का सीमित और अप्रत्यक्ष रूप है : इसके सीमित अर्थ में सरकार में भागीदारी बिरले तथा संक्षिप्त होती है और प्रत्येक कुछ सालों में मत देने के अधि ानियम से प्रतिबंधित होती है। इसके अप्रत्यक्ष अर्थ में जनता शक्ति का प्रयोग अपने आप नहीं करती है, लेकिन जनता उनको चुनती है, जो उनके पक्ष में शासन करेंगे। शासन का यह रूप प्रजातांत्रिक इस अर्थ में होता है कि प्रतिनिधित्व सरकार और शासित के बीच विश्वसनीय और प्रभावकारी संबंध स्थापित करता है।

प्रतिनिधि लोकतंत्र की खूबियों के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं :

- यह लोकतंत्र के व्यवहारिक रूप को प्रकट करता है क्यूँकि बढ़ी जनसंख्या सरकारी प्रक्रिया में वास्तविक सहभागीता नहीं हो सकती हैं।
- यह निर्णय लेने के भार से साधारण नागरिक को मुक्त करता है। इस प्रकार राजनीति में श्रम के विभाजन को संभव बनाता है।
- यह राजनीति से साधारण नागरिक को दूर रख कर स्थायित्व बरकरार रखता है। फलस्वरूप, उन्हें समझौतों को स्वीकार करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

MAADHYAM IAS

22.2.2 निर्वाचक लोकतंत्र का पर्यावाची

यद्यपि ये विशेषताएँ प्रतिनिधि लोकतंत्र की आवश्यक पूर्व शर्तें हो सकती हैं, इन्हें ही लोकतंत्र मान होने की गलती नहीं करनी चाहिए। प्रतिनिधि लोकतंत्र में प्रजातांत्रिक गुण, लोकप्रिय सहमति की विचारधारा है, जिसको मतदान के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

इस प्रकार प्रतिनिधि लोकतंत्र निर्वाचक लोकतंत्र का एक रूप होता है, जिसके अंतर्गत लोकप्रिय चुनाव को राजनीतिक सत्ता के एकमात्र वैध स्रोत के रूप में देखा जाता है। ऐसे चुनावों को जोकि राजनीतिक समानता के सिद्धांत का सम्मान करना चाहिए सर्वव्यापक वयस्क मताधिकार पर आधारित होता है, बिना जाति, रंग, मत, लिंग, धर्म या आर्थिक स्थिति के भेदभाव के आधार पर चुनावों को नियमित, खुला और स्पर्द्धात्मक होना चाहिए। प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का सार है, राजनीतिज्ञों की नागिरिकों के प्रति जवाबदेही।

संक्षेप में, प्रतिनिधि लोकतंत्र का सार इनमें निहित है :

- राजनीतिक बहुलवाद;
- राजनीतिक दर्शनों, आन्दोलनों, दलों के बीच खुली प्रतियोगिता और तदनुसार।

22.3 प्रतिनिधि लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोण

प्रतिनिधि लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। सर्वप्रथम, प्रतिनिधि लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति का अंततः दक्षतापूर्वक प्रयोग चुनाव के समय मतों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार प्रतिनिधि लोकतंत्र का गुण अंधे विशिष्ट वर्ग के शासन की क्षमता के साथ राजनीतिक सहभागिता के महत्त्वपूर्ण माप में निहित है। सरकार राजनीतिज्ञों के सुपुर्द होती है, लेकिन ये राजनीतिज्ञ लोकप्रिय दबावों के अनुकूल होने को बाध्य होते हैं। साधारण तथ्य है कि जनता प्रथम, उन्हें स्थान पर बैठाती है और बाद में उन्हें हटा देती है। मतदाता राजनीतिक बाजार में उसी प्रकार शक्ति का प्रयोग करता है, जैसा कि उपभोक्ता आर्थिक बाज़ार में करता है। जोसेफ शम्पीटर ने अपनी पुस्तक *पूँजीवाद समाजवाद और लोकतंत्र* (1976) में, प्रतिनिधि लोकतंत्र का उल्लेख राजनीतिक निर्णय लेने में संस्थागत व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया, जिसके अंतर्गत व्यक्ति लोगों के मत के लिए प्रतियोगी संघर्ष के आधार पर निर्णय करने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

22.3.1 बहुलवादी

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार, लोकतंत्र स्वभाव से बहुलवादी होता है। इसके वृहद अर्थ में, बहुलवाद विविधता या अनेकावस्था के प्रति प्रतिबद्ध होता है। संकुचित अर्थ में, बहुलवाद राजनीतिक शक्ति को बाँटने का सिद्धांत है। यह मानता है कि शक्ति चारों तरफ और समान रूप से समाज में बिखरी होती है और न कि कुछ हाथों में, जैसा कि सभ्रांतवादी (Elitists) दावा करते हैं। इस आधार पर बहुलवाद समान्यतया ''राजनीति'' समूह के सिद्धांत के रूप में देखा जाता है, जिसके अंतर्गत व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व संगठित समूहों, जातीय समूहों के सदस्यों के रूप में किया जाता है और इन समूहों की नीति प्रक्रिया तक पहुँच होती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.3.2 अभिजात्यवादी

यहां एक ऐसे अल्पसंख्यक से तात्पर्य है के पास शक्ति, धन या सुविधा औचित्यपूर्ण या अन्य प्रकार से केन्द्रित होते हैं। अभिजात्यवाद विशिष्ट वर्ग या अल्पसंख्यक के शासन में विश्वास करना है। क्लासिकी अभिजात्यवाद ने जो कि मोस्का पौरेटो और मिशेल द्वारा विकसित हुआ, सामाजिक अस्तित्व के लिए विशिष्ट वर्ग के शासन को अनिवार्य और अपरिवर्त्तनशील तथ्य माना।

बहुसंख्यक शासन क्या है? कुछ लोग लोकतंत्र को बहुसंख्यक शासन मानते हैं।

बहुसंख्यक शासन एक चलन है जिसकी प्राथमिकता बहुसंख्यक की इच्छा माना है। बहुसंख्यकवाद क्या है? बहुसंख्यकवाद अल्पसंख्यकों और व्यक्तियों के समग्र उदासीनता को दर्शाता है।

22.3.3 प्रतिद्वंदी विचारधाराएँ

प्रतिनिधि लोकतंत्र के अर्थ और महत्त्व के संबंध में अनेक मतभेद हैं। विद्वानों द्वारा उठाये गये कुछ प्रश्न निम्न हैं :

- क्या यह राजनीतिक शक्ति के वास्तविक और सक्षम वितरण को सुनिश्चित करता है?
- क्या प्रजातांत्रिक प्रक्रियायें वास्तविक रूप से दीर्घकालीन लाभों को बढ़ावा देती हैं या स्व-पराजित (self-defeating) होती हैं?

- क्या राजनीतिक समानता आर्थिक समानता के साथ समायोजित हो सकती है?
- संक्षेप में, प्रतिनिधि लोकतंत्र की विभिन्न सिद्धांतकारों ने अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। इन व्याख्याओं में सबसे प्रमुख है बहुलवाद, अभिजात्यवाद, नव-दक्षिणपंथ (new-right) और मार्क्सवाद
- अनेक राजनीतिक चिन्तकों ने प्रतिनिधि लोकतंत्र को राजनीतिक संगठन के प्रत्येक अन्य रूप से साधारणतया श्रेष्ठ माना है। कुछ विचारक तर्क देते हैं कि प्रतिनिधि लोकतंत्र सरकार का एक प्रकार होता है, जो मानवीय अधिकारों की सबसे अच्छी तरह से रक्षा करता है, क्योंकि यह मानवीय आन्तरिक मूल्य और समानता के पहचान पर आधारित है।
- कुछ लोग मानते हैं कि लोकतंत्र सरकार का एक प्रकार है जो अधिकतर विवेकपूर्ण निर्णय लेता है, क्योंकि यह सामूहिक ज्ञान और समाज की पूरी जनसंख्या की विशेषता से लाभ उठा सकती है।
- दूसरे व्यक्तियों का मत है कि लोकतंत्र स्थिर और टिकाऊ (स्थायी) होता है, क्योंकि उसमें निर्वाचित नेता वैधता की मजबूत कसौटी से बंधे होते हैं।
- अभी भी कुछ अन्य की मान्यता है कि प्रतिनिधि लोकतंत्र आर्थिक विकास और सम्पन्नता के लिए सबसे अनुकूल होता है।
- कुछ ऐसा मानते हैं कि प्रतिनिधि लोकतंत्र में मानव (क्योंकि वे स्वतंत्र होते हैं) अपनी प्राकृतिक क्षमताओं और प्रतिभाओं का विकास करने में सबसे योग्य होते हैं। फिर भी, लोकतंत्र एक 'कार्य प्रगति में है' है– एक विकासशील आकांशा बनिस्पत एक उत्पादित सामग्री के।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) प्रतिनिधि लोकतंत्र से आप क्या समझते है?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) प्रतिनिधि लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

22.4 प्रतिनिधि लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांत

22.4.1 लोकप्रिय संप्रभुता

इसका अर्थ होता है कि सभी जन सत्ता का अंतिम स्रोत जनता होती है और सरकार वह कार्य करती है जो जनता चाहती है। चार प्रमुख शर्तों को लोकप्रिय संप्रभुता के अंतर्गत देखा जा सकता है :

- जनता की चाहत की सरकारी नीतियों में झलक होती है।
- लोग राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते हैं।
- सूचना उपलब्ध होती है और वाद-विवाद किया जाता है।
- बहुमत का शासन, अर्थात नीतियाँ बहुसंख्यक जनता की चाहत के आधार पर निर्धारित की जाती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.4.2 राजनीतिक समानता

इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाति, रंग, मत, लिंग या धर्म के भेदभाव के आधार पर जन मामलों का निर्वहन करने में समान अधिकार प्राप्त होता है। लेकिन राजनीतिक विचारकों का मत था कि आर्थिक संदर्भ में ज्यादा असमानता अंततः राजनीतिक असमानता को जन्म दे सकती है। रॉबर्ट डॉल समस्या को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं ''यदि नागरिक आर्थिक संसाधनों में असमान हैं... तो वे राजनीतिक संसाधनों में भी असमान होंगे; और राजनीतिक समानता को प्राप्त करना असंभव होगा''। आधुनिक समाज में खास बातें सूचना के नियंत्रण में असमान प्रभाव तथा चुनाव प्रचार में आर्थिक सहायता का है। यह असमान प्रभाव पूर्ण लोकतंत्र की प्राप्ति में एक सख्त रोड़ा है।

अरस्तु के अनुसार लोकतंत्र के चलन के लिए एक आदर्श समाज वह था, जिसमें कि एक वृहद मध्यवर्ग हो– बिना एक अभिमानी और धनी तथा एक असंतुष्ट निर्धन वर्ग के।

22.4.3 राजनीतिक स्वतंत्रता

इस सिद्धांत के अनुसार, लोकतंत्र में नागरिकों की बुनियादी स्वतंत्रताओं जैसे कि बोलने की, मेलजोल करने की, विचरण और विवेक के प्रयोग में सरकार के हस्तक्षेप से रक्षा की जाती है।

यह कहा जाता है कि स्वतंत्रता और लोकतंत्र को अलग नहीं किया जा सकता है। स्वशासन की अवधारणा सिर्फ मतदान के अधिकार, सार्वजनिक दफ़्तर चलाने के अधिकार

तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अभिव्यक्ति का अधिकार किसी राजनीतिक दल, हित समूह या सामाजिक आन्दोलन का सदस्य बनने के अधिकार भी इसके अंतर्गत आते हैं।

लोकतंत्र के संचालन में, तथापि, यह उभर कर सामने आया है कि स्वतंत्रता इसका एक आवश्यक भाग होने की अपेक्षा इसके द्वारा खतरा महसूस कर सकती है। निम्न लोकतंत्र के विरुध मुख्य आलोचनाएँ है :

अ) 'बहुसंख्यक निरंकुशता' स्वतंत्रता को चुनौती देती है : बहुसंख्यकता निरंकुशता का अर्थ है बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रताओं और अधिकारों का दमन। यह माना जाता है कि अनियंत्रित बहुसंख्यक शासन अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता है।

फिर भी, बहुसंख्यकों की निरंकुशता के आतंक को बढ़ा चढ़ाकर पेश किया जा सकता है। राबर्ट डॉल बताते हैं कि इस अवधारणा के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों को राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया के वैकल्पिक अवस्थाओं के अंतर्गत अधिक सुरक्षा प्राप्त होती है।

ब) लोकतंत्र बुरे निर्णय लेता है : कुछ आलोचकों का मत है कि प्रतिनिधि लोकतंत्र, स्वभावतः बहुसंख्यकता का प्रतीक होता है, और इसलिए पूर्ण नहीं होता है। उनका कहना है कि इसकी कोई गारंटी नहीं है कि प्रतिनिधि लोकतंत्र सदैव ही अच्छे निर्णय लेगा है। बहुसंख्यक, अल्पसंख्यक के ही समान अज्ञानी, निर्दय और लापरवाह हो सकता है और अविवेकी या अयोग्य नेताओं द्वारा भ्रमित किया जा सकता है।

22.5 प्रतिनिधि लोकतंत्र व्यावहार में

इस जानकारी के बाद, अब हम प्रतिनिधि लोकतंत्र के वास्तविक कार्यकलाप पर दृष्टिपात करेंगे। कार्यकारी लोकतंत्र की मुख्य विशेषताएं हैं :

MAADHYAM IAS

- स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव;
- मुक्त और जिम्मेदार सरकार;
- नागरिक और राजनीतिक अधिकार;

नीचे दिया गया स्तंभ इन विशेषताओं को अच्छी तरह से प्रकट करता है।

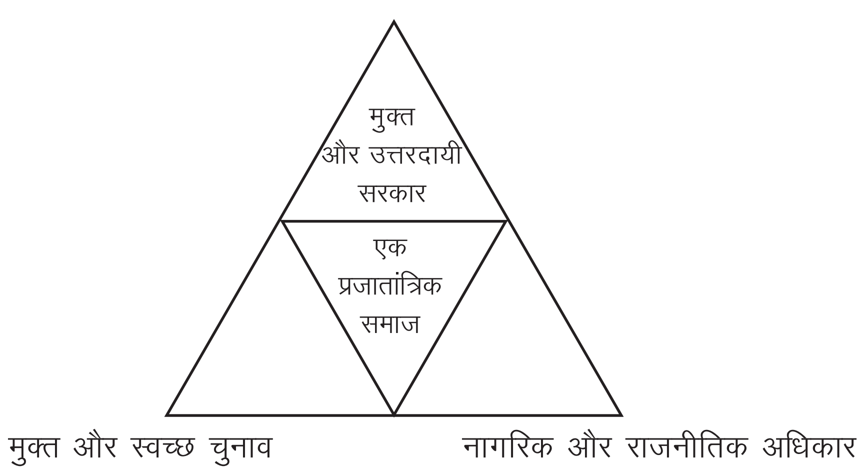

एक प्रजातांत्रिक पिरामिड

डेविड बोथम और केविन बॉयल (1995) : *लोकतंत्र,* पृष्ठ 28

राजनीतिक दल : राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। बड़े पैमाने पर, राजनीतिक दल प्रजातांत्रिक प्रणाली के कार्यशील चरित्र को उजागर करते हैं। वे प्रणाली की संस्थाओं की क्रियाशीलता की लिए प्रमुख राजनीतिक गति प्रदान करते हैं।

आर.जी. गेट्टेल के अनुसार, एक राजनीतिक दल में कम या ज्यादा संगठित नागरिकों का एक समूह होता है, जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करता है। अपने मताधिकार के प्रयोग के आधार पर उनका लक्ष्य सरकार पर नियंत्रण तथा अपनी सामान्य नीतियों को बढ़ावा देना होता है। एक राजनीतिक दल की कुछ अनिवार्य विशेषतायें हैं :

1) राजनीतिक दल संगठित करने वाले लोगों का मौलिक सिद्धांतों पर एक आम सहमति होती है।

2) वे अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए संवैधानिक तरीकों का इस्तेमाल करते हैं।

3) एक राजनीतिक दल का उद्देश्य समूह हित की अपेक्षा राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देना होता है।

4) यह सार्वजनिक हित के उद्देश्य से राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करता है।

राजनीतिक दल लोकतंत्र के आधार स्तंभ का निर्माण करते हैं और निम्नलिखित कार्यों का संपादन करते हैं :

i) *दल जनमत का निर्माण करते हैं :* राजनीतिक दल, जनता के फायदे के विभिन्न मुद्दें और समस्याऐं, जैसे आवास जीवन स्तर शिक्षा, विदेशी संबंधों, बजट इत्यादि को जोरदार शब्दों में सरकार के समक्ष रखते हैं।

ii) *दल चुनाव संचालन में एक भूमिका निभाते हैं :* विधायिका का चुनाव दल के आधार पर होता है। राजनीतिक दल पार्टी टिकट के लिए उपयुक्त उम्मीदवार का चुनाव करते हैं। मतदान के दिन दल अधिक से अधिक मतदाताओं की भागीदारी को सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं।

iii) *राजनीतिक दल सरकार बनाते हैं :* दल, जो बहुमत प्राप्त करता है, वह सरकार बनाता है। यदि किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता है तो दलों का एक मोर्चा, जोकि संयुक्त मोर्चा के नाम से जाना जाता है, सरकार बनाता है।

iv) *विरोधी दल सरकार पर नियंत्रण रखता है :* विरोधी दल सरकार के कार्यों और नीतियों पर नजर रखता है और उसकी कमियों और असफलताओं को उजागर करता है।

v) *राजनीतिक दल सरकार और लोगों के बीच संपर्क का कार्य करते है :* पार्टियाँ सरकार की नीतियों के बारे में लोगों को बताती है तथा लोगों की प्रतिक्रिया को संसद तथा सार्वजनिक अधिकारियों तक पहुँचाते हैं।

vi) *राजनीतिक दल लोगों को शिक्षा देते हैं :* राजनीतिक दल लोगों को उनके राजनीतिक अधिकारों और सरकार में उनके हितों के प्रति सजग बनाते हैं।

vii) राजनीतिक दल एकजुट शक्ति का कार्य करते हैं : राजनीतिक दल विभिन्न भागों के देशवासियों, सभी वर्गों के लोगों का समर्थन पाने के लिए कटिबद्ध होते हैं। अतः वे एकता सूत्र का कार्य करते हैं।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) लोकप्रिय संप्रभुता से आप क्या समझते हैं? अपने शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) कार्यरत प्रतिनिधि लोकतंत्र पर एक निबंध लिखें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.6 लोकतंत्र और चुनाव

आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्यों में प्रतिनिधि सरकारें हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्यों के लम्बे आकार और जनसंख्या के कारण सरकार के एक रूप में प्रत्यक्ष लोकतंत्र का प्रयोग कठिन हो जाता है। फिर भी, सभी आधुनिक लोकतंत्रों में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि सरकारें हैं, जिन्हें लोगों के द्वारा चुना जाता है। ये प्रतिनिधि चुनाव के माध्यम से लोगों के द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार चुनाव आधुनिक प्रतिनिधि लोकतंत्र के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

चुनाव लोगों का समर्थन पाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच मुकाबला होता है। कभी कभी, एक व्यक्ति भी स्वतंत्र उम्मीदवार की तरह चुनाव लड़ सकता है।

पार्टी उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ने के फायदे निम्न हैं :

i) राजनीतिक दल विशिष्ट नीतियों का अनुसरण करते हैं; अतः, जब एक उम्मीदवार दल का प्रतिनिधि होता है, मतदाताओं के लिए जानना आसान हो जाता है कि उसके कार्यक्रम क्या हैं।

ii) पार्टी उम्मीदवारों को चुनाव प्रचार आयोजित करने के लिए राजनीतिक दलों से कोष प्राप्त होता है।

iii) उम्मीदवार को चुनाव के दौरान पार्टी के द्वारा कार्यकर्ताएँ दिये जाते हैं।

iv) पार्टी के लोकप्रिय नेता दल उम्मीदवारों के लिए प्रचार करते हैं तथा उनकी चुनाव रैलियों को संबोधित करते हैं।

22.6.1 चुनाव प्रक्रिया

प्रजातांत्रिक प्रणाली में चुनाव समानता के सिद्धांत पर आधारित होता है, उदाहरणार्थ *एक व्यक्ति, एक मत*। सभी व्यक्तियों को बिना जाति, रंग, मत, लिंग, या धर्म के भेदभाव के खास राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार मत देने का अधिकार है। राजनीति में, प्रत्येक को समान अधिकार प्राप्त है – प्रत्येक व्यक्ति को सरकार के गठन में समान हक है।

गुप्त मतपत्र : मतदाता एक घेरे में अपने मत का प्रयोग गुप्त रूप से करते हैं, ताकि कोई भी उनके चयन को नहीं जान सके। प्रतिनिधि लोकतंत्र में गुप्त मतदान को प्रश्रय दिया जाता है; अन्यथा, मतदाता धमकी तथा अनुचित प्रभाव के भय से अपने चयन का खुले रूप से प्रदर्शन नहीं कर सकते।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

निर्वाचन क्षेत्र : निर्वाचन क्षेत्रों में कार्यकुशलता के साथ चुनाव प्रक्रिया को संपादित किया जाता है। निर्वाचन क्षेत्र प्रादेशिक क्षेत्र होता है, जहाँ से उम्मीदवार चुनाव लड़ता है। यदि केवल एक ही व्यक्ति को निर्वाचन क्षेत्र से चुना जाता है, तो उसे *एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र* कहा जाता है। यदि कई प्रतिनिधि एक ही चुनाव क्षेत्र से चुने जाते हैं, तब उसे *बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र* कहा जाता है।

भारत में संपूर्ण चुनाव प्रक्रिया एक स्वतंत्र संस्था, चुनाव आयोग के द्वारा संचालित और नियंत्रित की जाती है। यह स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव का भरोसा दिलाती है। चुनाव आयोग हमारे देश में चुनाव की तिथि को निश्चित तथा घोषित करता है। चुनाव आयोग की एक दूसरी बड़ी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है, यह सुनिश्चित करना है कि सत्ताधारी दल दूसरे दलों की तुलना में अनुचित लाभ न उठा ले। चुनाव प्रक्रिया कई औपचारिक दौरों से गुजरती है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत आते हैं :

1) चुनाव तिथि की घोषणा;
2) नामांकन-पत्र भरना;
3) आवेदनों की जाँच;
4) नाम वापसी;

5) अंतिम सूची का प्रकाशन;

6) प्रचार;

7) वोट डालना;

8) चुनाव परिणाम की घोषणा।

वास्तव में, जैसे ही चुनाव आयोग मतदान की तिथि की घोषणा करता है, राजनीतिक दल अपनी गतिविधियाँ प्रारंभ कर देते हैं। राजनीतिक दलों का प्रथम कार्य चुनाव लड़ने वाले अपने उम्मीदवारों का चयन करना होता है। आधुनिक चुनाव एक बोझिल प्रक्रिया है। इसके संपादन के लिए राजनीतिक दलों द्वारा गठित विशाल संगठन की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, चुनावों में आने वाले खर्चों की व्यवस्था राजनीतिक दल करते है।

i) **उम्मीदवारों का चयन**

प्रतिनिधि लोकतंत्र के संचालन में, राजनीतिक दलों की भूमिका अनिवार्य और अत्यधिक प्रमुख हो गयी है। वास्तव में, राजनीतिक दलों ने प्रजातांत्रिक राजनीति को संगठित ढाँचा प्रदान किया है। राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों की घोषणा, उनका समर्थन तथा उनके प्रचार का संचालन करते हैं।

प्रत्येक राजनीतिक दल विशेष कार्यक्रमों की घोषणा करता है तथा सत्ता में आने के बाद इन कार्यक्रमों को पूरा करने का वचन देता है। मतदाता किसी खास पार्टी के उम्मीदवार को उसके कार्यक्रमों तथा नीतियों के आधार पर वोट देते हैं।

ii) **नामांकन**

चुनाव की तिथि के घोषणा के बाद राजनीतिक दल को चयन प्रक्रिया के द्वारा उम्मीदवारों का चयन करना होता है। तत्पश्चात् उम्मीदवारों को अपना नामांकन-पत्र चुनाव आयोग द्वारा नियुक्त चुनाव कार्यालयों में भरना पड़ता है। नामांकन पत्र दाखिल करने की अंतिम तिथि होती है। सभी नामांकन पत्रों के जमा होने के बाद उनकी जाँच की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया को नामांकन पत्रों में दिये गयी सूचनाओं की सत्यता की जाँच के लिए अपनाया जाता है। यदि कोई संदेह होता है या कोई उम्मीदवार अयोग्य पाया जाता है, उसके/उसकी नामांकन-पत्र को रद्द कर दिया जाता है। जब जाँच प्रक्रिया खत्म हो जाती है, उम्मीदवारों को नाम वापसी की एक तिथि दी जाती है।

नाम वापसी की प्रक्रिया सुनिश्चित करती है कि (i) कम से कम मतों की बरबादी हो और (ii) मतपत्र पर सभी अंकित नाम सक्रिय उम्मीदवारों के हों।

iii) **चिह्न**

राजनीतिक दलों के चिह्न चुनाव आयोग द्वारा आवंटित किये जाते हैं। चुनाव आयोग प्रत्येक राजनीतिक दल को चुनाव चिह्न आवंटित करता है और सुनिश्चित करता है कि ये एक दूसरे से भिन्न हों। जिससे उनके प्रति मतदाताओं में भ्रम न पैदा हो। भारत में, चिह्नों का निम्न कारणों से महत्त्व है :

- वे अशिक्षित मतदाताओं के लिए सहायक होते हैं, जो उम्मीदवारों के नाम नहीं पढ़ सकते हैं।
- वे समान नामवाले दो उम्मीदवारों के बीच अंतर करने में सहायता पहुँचाते हैं।
- वे संबंधित राजनीतिक दल के आदर्श को प्रतिबंधित करते हैं।

MAADHYAM IAS

iv) प्रचार

प्रचार के द्वारा एक उम्मीदवार दूसरे उम्मीदवार की अपेक्षा अपने पक्ष में मतदाताओं को वोट देने के लिए लुभाता है। प्रचार मतदान के 48 घंटे पहले बंद हो जाता है। प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक उम्मीदवार अधिक सें अधिक मतदाताओं के पास पहुँचने की कोशिश करता है। चुनाव प्रक्रिया में कई तरह की प्रचार तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। कुछ निम्न हैं :

- आयोजित सार्वजनिक सभा जिस को दल के उम्मीदवारों और कई स्थानीय और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा संबोधित किया जाता है।
- दीवारों पर पोस्टरों को चिपकाना और सड़क के किनारे बड़ी और छोटी होर्डिंग लगाना।
- अपने घोषणपत्र के मुख्य मुद्दों को पर्चों द्वारा स्पष्ट करना।
- विभिन्न उम्मीदवारों के समर्थन में जुलूस निकालना।
- दल के प्रभावी तथा स्थानीय लोगों द्वारा दरवाजे-दरवाजे आग्रह करना
- विभिन्न दल के नेताओं के भाषणों का रेडियो और दूरदर्शन प्रसारण।

iv) मतों की गिनती और चुनाव नतीजे की घोषणा

मतदान समाप्ति के बाद, मतपेटियों को सील करके मतगणना केन्द्रों पर ले जाया जाता है। मतगणना के दौरान, उम्मीदवार या उनके प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। मतगणना के बाद साधारण बहुमत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को निर्वाचित किया जाता है। कभी-कभी साधारण बहुमत समस्यायें उत्पन्न करता है। जब सिर्फ दो उम्मीदवार होते हैं, निर्वाचित उम्मीदवार बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन, यदि दो या दो से अधिक उम्मीदवार होते हैं तो स्थिति वैसी नहीं होती है; उदाहरणस्वरूप यदि ए40, बी20, सी20, और डी20 मत प्राप्त करता है, तब ए को निर्वाचित घोषित किया जाता है। यद्यपि, 40 मत वास्तव में उसके विरुद्ध हैं।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

चुनाव लोकतंत्र का बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, क्योंकि लोकतंत्र प्रणाली का समूची मोर्चाबंदी चुनाव कैसे होता है, उस पर निर्भर करती है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) लोकतंत्र में चुनाव का महत्त्व क्यों होता है?

....

....

....

....

....

....

2) क्या किसी व्यक्ति को वोट के अधिकार से वंचित किया जाना चाहिए?

....

....

....

....

....

3) चुनाव आवेदन क्या होता है?

....

....

....

....

....

22.7 लोकतंत्र और विलगाव (ALIENATION)

विलगाव का अर्थ अपने वास्तविक या आवश्यक स्वभाव से अलग होना है। व्यवहार में, अधिकतर प्रजातांत्रिक प्रणालियों का कार्य निजी स्वायत्तता और लोकप्रिय शासन के मापदण्डों के संदर्भ में स्तर से नीचे होता है। आधुनिक संसार में लोकतंत्र सीमित और लोकतंत्र के अप्रत्यक्ष रूप के दौर से गुजर रहा है और इस प्रकार से स्वतंत्र नागरिक को विलगाव की ओर ले जाता है। यह लोकतंत्र उससे कुछ ज्यादा नहीं है, जिसको जोसेफ शममपीटर (Joseph Schumpeter) ने ''संस्थानिक व्यवस्था'' की संज्ञा दी है और जो उन, राजनीतिक निर्णयों तक पहुँचने के लिए होता है, जिसके तहत व्यक्ति मतों के प्रतियोगी संघर्ष के माध्यम से निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त करते हैं। इस संस्थानिक व्यवस्था के अर्थविहीन कर्मकांड में लोकप्रिय सहभागिता को कम करने के लिए उग्र लोकतंत्रवादियों ने आलोचना की है। जैसे राजनीतिज्ञों को हटाकर मात्र दूसरे राजनीतिज्ञों को लाने के लिए प्रत्येक कुछ वर्षों में मतदान करना। संक्षेप में, लोग कभी भी शासन नहीं करते हैं और सरकार और लोगों के बीच बढ़ती दूरी अचलता, उदासीनता और विलगाव के फैलने के रूप में झलकती है।

22.8 लोकतंत्र और जनमत

बहुत हद तक लोकतंत्र जनमत पर निर्भर करता है। प्रतिनिधि लोकतंत्र में, प्रत्येक सरकार को अपनी नीतियों के प्रति जनता की क्या प्रतिक्रिया होगी, यह सोचना पड़ता है। सभी दल शक्ति को हथियाना तथा बरकरार रखना चाहते हैं। अगले चुनाव में सत्ता में आना इस बात पर निर्भर करता है कि जनता उनके कार्य के बारे में क्या सोचती है, जब दल सत्ता में था।

सशक्त जनमत सत्ता में आने तथा एक दल या दलों के गठजोड़, जिसे मोर्चा कहा जाता है, सरकार के गठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि जनता सजग तथा समझदार है तथा अपने आप जानकारी प्राप्त करती है, तब सरकार जनता की आकाक्षाओं की अवहेलना का साध्य नहीं कर सकती है। यदि सरकार उनकी आकांक्षाओं का अनादर

MAADHYAM IAS

करती है, वह तत्क्षण अलोकप्रिय हो जाती है। दूसरी तरफ, यदि जनता सजग और समझदार नहीं है, तो सरकार ग़ैरजिम्मेदार बन सकती है। उस वक्त, यह लोकतंत्र के आधार स्तंभ के लिए खतरा बन सकती है।

जनमत का निर्माण

जनमत विभिन्न प्रकार और कई संस्थाओं के योगदान से बनाया जाता है। स्वस्थ जनमत के लिए, नागरिकों को उनके चारों ओर उनके अपने देश में, और संसार में क्या हो रहा है, जानना चाहिए। एक देश की सरकार सिर्फ आन्तरिक समस्याओं के लिए ही नीतियाँ नहीं निर्धारित करती है, बल्कि विदेश नीति भी तय करती है। नागरिक को अपना निर्णय लेने से पहले विभिन्न मतों का ख्याल रखना चाहिए। यद्यपि लोकतंत्र के अच्छे संचालन के लिए, नागरिकों को विभिन्न दृष्टिकोणों से भली भाँति अवगत होने की आवश्यकता है। उन अभिकरणों में, प्रेस, इलेक्ट्रोनिक माध्यम और चलचित्र आते हैं जो स्वस्थ जनमत निर्माण में मदद करते हैं।

लोकतंत्र निर्णय प्रक्रिया में व्यक्ति को अपनी राय जाहिर करने का मौका देता है। इन सब के लिये, मुक्त वादविवाद तथा बहस की आवश्यकता होती है। प्रजातांत्रिक सरकार साधारण नागरिक को बहुत स्वतंत्रता प्रदान करती है। फिर भी, नागरिकों को स्वतंत्रता का प्रयोग जिम्मेदारी, बंधन और अनुशासन के साथ करना चाहिए। यदि लोगों को शिकायत है तो, उन्हें प्रजातांत्रिक प्रणाली के अभिकरणों के माध्यम से अवश्य दर्शाना चाहिए। नागरिकों के अनुशासनहीनतापूर्ण कार्यों से प्रजातांत्रिक व्यवस्था में रुकावटें पैदा हो सकती हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) क्या किसी को लोकतंत्र में नागरिकता से वंचित रखा जा सकता है?

....

....

....

....

....

2) राजनीतिक दल कैसे जनमत को व्यक्त करते हैं?

....

....

....

....

....

22.9 लिंग और लोकतंत्र : सहभागिता और प्रतिनिधित्व

लोकतंत्रीकरण के तीसरे चरण की शुरुआत 1970 के मध्य से, लैटिन अमेरिका पूर्वी और केन्द्रीय यूरोप के अनेक देशों और अफ्रीका तथा एशिया के कई भागों में हुई और इसने स्पर्द्धात्मक चुनावी राजनीति को प्रारंभ किया। इसे लोकतंत्र की विजय के रूप में देखा गया क्यूंकि निर्वाचक लोकतत्रों की संख्या 1974 में 39 से 1998 में 117 हो गयी।

फिर भी, पूर्व के लम्बे समय से कार्यरत लोकतंत्रों की तरह, नये लोकतंत्रों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व विधायिकाओं और कार्यपालिकाओं, दोनों में कम है। राजनीतिक नागरिकता लम्बे समय से महिला आन्दोलनों के संघर्ष का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था। व्यस्क मताधिकार के लिए आंदोलन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संसार के अनेक भागों में हुए, उनका आधार यह था कि मतदान का अधिकार और चुनावी प्रक्रियाओं में भाग लेना, नागरिकता का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थे। यदि लोकतंत्र अब सभी नागरिकों को राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के अधिकार का आश्वासन देता है, तो महिलाओं का प्रतिनिधित्व इतना कम क्यों होता है? क्या महिलाओं की कम सहभागिता का यह अर्थ है कि लोकतंत्र अप्रजातांत्रिक होते हैं?

जैसा कि पहले बताया गया है लोकतंत्रीकरण के सिद्धांतकारों ने लोकतंत्र के बारे में अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं :

- एक छोर पर यह न्यूनतम परिभाषा है, तुलनात्मक निर्वाचन ही सभी कुछ और पर्याप्त है।
- मध्यम परिभाषाएँ स्वतंत्रता और बहुलवाद की आवश्यकता पर भी ज़ोर देती है, जैसे नागरिक अधिकार और वाक स्वंतंत्रता, जिससे राज्य को एक उदारवाद लोकतंत्र माना जा सके।
- ये परिभाषाएं सहभागिता के अधिकार और सहभागिता के लिए सामर्थ्य के बीच कोई अंतर स्थापित नहीं करती हैं। केवल अत्यधिक काल्पनिक परिभाषाएं जोकि लोकतंत्र की गुणवत्ता को स्वीकार करती हैं, वे इस बात पर जोर देती है कि वृहद् अर्थ में लोकतंत्र पूरी नागरिकता की सुविधाओं का आनंद भी है।

नागरिकता सिर्फ नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के ही संदर्भ में व्यक्त नहीं की जाती है, बल्कि आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के संदर्भ में भी, ताकि राजनीतिक क्षेत्र में सभी को पूर्ण सहभागिता का अवसर प्राप्त हो। लोकतंत्र तभी सशक्त और प्रभावकारी हो सकता है, जब नागरिक समाज में एक सक्रिय नागरिक भाग लें।

'सार्वजनिक' और 'निजी'

स्त्रीवादियों ने लम्बे समय से तर्क दिया है कि जिस ढंग से लोकतंत्र की व्याख्या, सैद्धांतिकरण और प्रैक्टिस की जाती है, उसमें अनेक समस्याएं है। उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के बीच विभाजन पर आधारित है। इस ढाँचे के अंतर्गत पुरुष घर के प्रमुख होते हैं और सार्वजनिक जीवन में मूर्त्त व्यक्तियों की तरह सक्रिय होते हैं, जबकि महिलाओं को परंपरा की तरह निजी जिन्दगी तक सीमित रखा जाता है। अतः 'राजनीतिक' को एक अति गंभीर अर्थ में पुलिंग की तरह माना जाता है।

व्यावहारिक तौर पर, लोकतंत्रों में जिस तरीके से राजनीतिक गतिविधियाँ संचालित होती हैं और जिस प्रकार का महिलाओं का आम तौर पर स्वभाव होता है, कि वे खासकर

MAADHYAM IAS

परम्परावादी राजनीतिक गतिविधियों के उच्च स्तरों पर पुरुषों की तुलना में बहुत कम भाग लेती हैं। जैसे :

- अनेक महिलाएँ राजनीति की शैली और सार को रुकावट मानती हैं।
- यदि वे राजनीतिक जीवन अपनाने का निर्णय करती हैं, तो अक्सर विजयी होने वाले सीट पर भी पार्टी सूची में जगह पाने में कठिनाइयाँ महसूस करती हैं।
- इसके अलावा, सार्वजनिक जीवन के दूसरे क्षेत्रों की ही तरह महिलाएँ निजी जीवन में अपनी जिम्मेदारियों की वजह से परम्परावादी राजनीतिक गतिविधि में पुरुषों के समानार्थ हिस्सा नहीं ले पाती हैं।

यह कहना गलत होगा कि लोकतंत्र की प्रकृति पर सहमति है लेनिन ने तर्क दिया था कि उदावादी लोकतंत्र एक स्क्रीन है, जो जनता के शोषण और दमन को छिपाता है। हाल में कैरोल पेटमैन ने तर्क दिया है कि लोकतंत्र को कार्यस्थल तक लागू होना चाहिए – जहाँ अधिक लोग अपने दिन का अधिकांश समय बिताते हैं – इससे पहले कि हम यह कहें कि हम प्रजातांत्रिक शर्तों के अनुसार जी रहे हैं।

लोकतंत्र की आलोचना का एक विभिन्न प्रकार यह तर्क देता हैं कि लोकतंत्र भी खतरनाक रूप से गलत हो सकता है। अरस्तु ने हमें बताया था कि लोकतंत्र के उचित ढंग से संचालन के लिए उसे एक स्थिर कानून व्यवस्था की जरूरत होती है। अन्यथा लोकतंत्र अनेक लोगों के दमनात्मक निरंकुश तंत्र के रूप में भीड़ का शासन बन सकता है। इसी तरह का विचार द टॉकवी का था कि लोकतंत्र एक नये प्रकार का अधिनायकवाद (बहुमत का अधिनायकवाद) की संभावना को उत्पन्न करता है। मेडिसन ने वर्गवाद के खतरे से आगाह किया था, जिसके अंतर्गत एक बड़ा या छोटा समूह लोगों के आमहित से कोई संबंध नहीं रखता है और जिसका प्रयास अपने हितों के लिए प्रजातांत्रिक प्रणाली से विमुख होना होता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आधुनिक लोकतंत्र अपने लिए नौकरशाही ढाँचे का निर्माण करता है। मैक्स वैबर के अनुसार नौकरशाही ढाँचा लोकतंत्र के संचालन में रोड़े अटकाता है, क्योंकि लोकतंत्र से उत्पन्न नौकरशाही का झुकाव प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का खात्मा करना होगा। पॉरेटो ने कहा था कि यद्यपि प्रजातांत्रिक समाज होने का दावा किया जा सकता है, लेकिन इस शासन व्यवस्था की बागडोर शक्तिशाली अभिजात्यवर्ग के हाथ में अनिवार्य रूप से होगी।

लेकिन, यह तर्क दिया जा सकता है कि शक्ति के पृथकरण और नियंत्रण और संतुलन की अवधारणाएँ निरंकुशतावाद को बहुत हद तक रोक सकती हैं। इससे ज्यादा हमें यह सुनिश्चित करने की जरूरत है कि जो लोग कानून का निर्माण करते हैं, वे उनको लागू भी करें।

22.10 लोकतंत्र और इंटरनेट

कोई भी दूसरा आविष्कार, इस नये तकनीकी युग में इंटरनेट की तरह इतनी शीघ्रता से जन मानस पर नहीं छाया है। इंटरनेट ने बड़ी शीघ्रता से सामूहिक प्रभाव और अतः निर्भरता को विकसित करने में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के विकास को गति प्रदान की है।

इंटरनेट ने लोकतंत्र को कई तरीकों से प्रभावित किया है। वास्तव में, सर्वाधिकारीवादी शासन का विरोध करने में इसकी भूमिका सकारात्मक है, यह सूचना पहुँचाने में मदद करता है और इस प्रकार, प्रश्न के द्वारा सरकार के एकाधिकार की जड़ खोदता है।

दूसरी तरफ, इंटरनेट लोकतंत्र के लिए इस सीमा तक समस्याएं उत्पन्न करता है, कि राज्य की नियामक क्षमता कम हो जाती है। इंटरनेट द्वारा समाजों की अंतर्राष्ट्रीय व्याख्या, सरकार की प्रभावकारी ढंग से शासन की क्षमता को समाप्त करता है। जहाँ तक राष्ट्रीय सुरक्षा का संबंध है, इंटरनेट ने आसमान संघर्ष के लिए नये द्वार खोल दिये हैं। राज्य जनव्यापी आक्रमणों की, अन्य राज्यों से नहीं बल्कि व्यक्तियों से झेल सकता है। यद्यपि, नई सूचना तकनीक संभवया, संतुलन में देखें तो, निहित शक्ति संरचनाओं को कमजोर करने की अपेक्षा बरकरार रखती है।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) महिलाओं के बहुत कम राजनीतिक सहभागिता और प्रतिनिधित्व के कारणों का परीक्षण करें।

....

....

....

....

....

....

2) किस हद तक इंटरनेट ने लोकतंत्र पर प्रभाव डाला है?

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

....

....

....

22.11 सारांश

इस इकाई में आपने प्रतिनिधि लोकतंत्र के बारे में पढ़ा है कि जो लोकतंत्र का आधुनिक ढाँचा है। अब आप लोकतंत्र के अर्थ और इसके विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालने के योग्य हो गये होंगे। इस अध्याय में आप प्रतिनिधि लोकतंत्र के मुलभूत सिद्धांतों से भलीभाँति परिचित हो चुके होंगे ऐसी आशा है। लोकतंत्र वास्तव में कैसे कार्य करता है— निर्वाचन प्रणाली की व्याख्या की गयी है। अंततः और प्रमुखतया ऐसे समकालीन मुद्दों जैसे कि लिंग, विलगाव और जनमत पर भी यहाँ चर्चा की गई है।

22.12 कुछ उपयोगी संदर्भ

डॉल, रॉबर्ट (1956) *ए पैफरैंस टू डैमोक्रेडिक थ्योरी,* शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस।

डॉल, रॉबर्ट (1989) *डैमोक्रेसी एंड इट्स क्रिटिक्स,* येल विश्वविद्यालय प्रेस।

हेल्ड, डेविड (1987) *मॉडलज़ ऑफ डैमोक्रेसी स्टैनफोर्ड,* विश्वविद्यालय प्रेस।

पटनम, रॉवर्ट डी. (1993) *मेकिंग डैमोक्रेसी वर्क सिविल ट्रेडिशन्स इन मार्डन इटली* प्रिन्सटन विश्वविद्यालय प्रेस।

ब्रिथैम, डेविड एण्ड बॉयल, केविन (1995) डैमोक्रेसी– एट्टी क्वेश्चंस ऐंड आनसर्ज़, राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट, इण्डिया इन ऐसोसियेशन विद् यूनेस्को पब्लिशिंग।

22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 22.2 देखें

2) भाग 22.3 देखें

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 22.4.1 देखें

2) भाग 22.5 देखें

बोध प्रश्न 3

1) भाग 22.6 देखें

2) भाग 22.6 देखें

3) भाग 22.6 देखें

बोध प्रश्न 4

1) भाग 22.7 देखें

2) भाग 22.8 देखें

बोध प्रश्न 5

1) भाग 22.9 देखें

2) भाग 22.10 देखें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 23 समाजवादी लोकतंत्र

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 परिचय

23.2 लोकतंत्र एवं समकालीन समाजवाद : एक संकल्पनात्मक फ्रेमवर्क

23.3 पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र

23.4 लोकतंत्र के ग़ैर-पाश्चात्य स्वरूप

23.5 समाजवादी लोकतंत्र

23.6 समाजवाद की चार मूलभूत प्रकृतियाँ : समाजवादी लोकतंत्र का सार

23.6.1 लोकतांत्रिक तकनीकें और समाजवाद

23.6.2 लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति रुझान

23.6.3 इंग्लैड में लोकतांत्रिक समाजवाद

23.7 व्यापक सिद्धांत

23.8 नवीन वामवाद सोवियत मार्क्सवाद पर हमला

23.9 लोकतांत्रिक क्रियाविधियों के माध्यम से समाजवाद के कार्यान्वयन में चुनौतियाँ/कठिनाइयाँ

23.10 सारांश

23.11 शब्दावली

23.12 कुछ उपयोगी संदर्भ

23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.0 उद्देश्य

इस इकाई में लोकतंत्र पर समाजवादी सिद्धांतों और नीतियों की सरकार के स्वरूप के रूप में चर्चा की गई है। लोकतंत्र जीवन का एक तरीका है और आदर्शों के समूह का प्रतिनिधित्व करता है। यह दावा किया जाता है कि सच्चा लोकतंत्र समाजवादी है और सच्चा समाजवाद लोकतांत्रिक है। लोकतंत्र और समाजवाद के बीच संबंध समाजवादी विचारधारा और नीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एक मात्र घटक है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न के लिए सक्षम हो जाएँगे :

- लोकतंत्र के विविध निरूपणों/विवेचनों को समझना;
- उदारवादी पाश्चात्य लोकतंत्र और समाजवादी लोकतंत्र के बीच अन्तर स्पष्ट करना;
- लोकतांत्रिक समाजवाद और नये वामवाद की संकल्पना को परिभाषित करना; और
- नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए अपनाए गए तरीकों का वर्णन करना।

23.1 परिचय

लोकतंत्र शब्द आदर्शों के एक समूह तथा राजनीतिक तंत्र, दोनों को सूचित करता है, यह एक विशेषता है जो कि यह साम्यवाद और समाजवाद शब्दों के साथ भागीदारी करता है। तथापि, 'लोकतंत्र' को 'समाजवाद' अथवा 'साम्यवाद' के मुकाबले समझ पाना कठिन है;

क्योंकि जहाँ तक अनुवर्ती (latter) शब्दों की विचारधाराएँ मार्क्सवाद में उपलब्ध है, लोकतंत्र की कभी भी एक विशिष्ट सैद्धांतिक स्रोत के साथ पहचान नहीं हुई है – अपितु यह पाश्चात्य सभ्यता के उदारीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया का एक उपोत्पाद है। सभी राजनीतिक व्यवस्थायें समाजवादी होने का दावा नहीं करती हैं, परन्तु साम्यवादी व्यवस्था भी लोकतांत्रिक होने का दावा करती है। समाजिक लोकतंत्र को सामान्यतः एक अन्तः प्रवर्धी (endogenous) राज्य और सामाजिक शैली के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है और इसीलिए, 'समाजवादी लोकतंत्र' जो राज्य द्वारा समाज पर लागू की गई एक नीति है, के साथ इसे संभ्रमित नहीं किया जाना चाहिए।

यदि हम समाजवाद के इतिहास पर विचार करें, तो पाएंगे कि सफल समाजवादी आन्दोलन उन्हीं राष्ट्रों से विकसित हुए हैं जिनकी लोकतांत्रिक परम्पराएं मजबूत हैं, जैसे ग्रेट ब्रिटेन, हॉलैण्ड, बेल्ज़ियम, स्विटज़रलैण्ड, आस्ट्रेलिया आदि। ऐसा इसलिए कि जहाँ जहाँ लोकतांत्रिक संवैधानिक शासन आमतौर पर स्वीकार किया जाता है, वहाँ समाजवादी कतिपय कार्यक्रमों पर केन्द्रित रहते हैं, जैसे अल्पसुविधा प्राप्त वर्गों के लिए अवसरों का सृजन जिससे असमानता समाप्त हो, शैक्षणिक अवसर प्रदान करना, विभेदकारी प्रथाओं को समाप्त करना, सभी के लाभ के लिए अर्थव्यवस्था का विनिमयन और अन्ततः प्रतिस्पर्द्धा की बजाए सहयोग पर आधारित समाज के पुनर्निमाण का प्रस्ताव।

इस इकाई में, हम पाश्चात्य उदावादी लोकतंत्र और समाजवादी लोकतंत्र के बीच एक तुलनात्मक प्राक्कलन करने, लोकतांत्रिक समाजवाद तथा नए वामगार्ग जिसका समाजवादी प्रतिरूप है, के सिद्धांत को रेखांकित करने और अन्ततः विशेषरूप से विकासशील और अविकसित राष्ट्रों के लिए समाजवादी लोकतंत्र की अधिकारिकता को समझने का प्रयास करेंगे।

23.2 लोकतंत्र एवं समकालीन समाजवाद : एक संकल्पनात्मक फ्रेमवर्क

MAADHYAM IAS

सर्वप्रथम हम कार्लमार्क्स से पहले आधुनिक लोकतंत्र की संकल्पना की जाँच करें। यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि उनके निकट सहयोगी फ्रीडरिश एन्जिल्स लोकतंत्र की नहीं, अपितु हमेशा शुद्ध लोकतंत्र के बारे में बोलते हैं। इससे उनका तात्पर्य बुर्जुआ राज्य से थ,ा जिसमें आम मताधिकार प्रचलित है; परन्तु निजी सम्पत्ति को स्पर्श नहीं किया जाता है। इसका तात्पर्य था कि सामंतवादी और सैनिक शासन को जड़ से उखाड़ फेंकने के बाद प्रत्यक्ष तौर पर समाजवादी राज्य अथवा युद्ध लोकतंत्र की स्थापना करना संभव था, अर्थात बुर्जुआ पूंजीवादी गणतंत्र सर्वप्रथम सत्ता में आएगा। उस समय जनता ने लोकतांत्रिक राज्य को स्वीकार किया, क्योंकि बुर्जुआ राज्य सामान्य मताधिकार के तरीके से शासित था।

जब मार्क्स ने अपने राजनीतिक क्रियाकलापों का आरम्भ किया, उन्होंने उस समय लोकतंत्र को पहले ही एक महान अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में पाया। यूरोपियन लोकतंत्र का इतिहास पीछे ढाई हज़ार वर्ष तक व्यापक था। प्राचीन ग्रीस के गणतंत्रों में लोकतंत्र का राजनीतिक स्वरूप धनी अथवा अभिजात के 'अल्पसंख्यक' शासन के प्रति संकुचन (contract) था। इसके विरोध में, लोकतंत्र बहुमत, सामान्यतः जनमत का शासन था जिसके द्वारा संपत्ति के मालिकों अथवा अभिजातीयता के धारकों का दावा करने का कोई विशेषाधिकार नहीं था। ग्रीक राजनीति विज्ञान ने इस प्रश्न को स्वयमेव उठाया था कि क्या प्रत्येक राज्य जिसमें नागरिकों के बहुमत की इच्छा से निर्णय होता है, लोकतंत्र है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह बहुमत किस प्रकार बनता है और तैयार होता है अथवा

निश्चित वर्ग का स्वरूप लोकतंत्र से जुड़ा होता है। अरस्तू ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दियाः लोकतंत्र राज्य में गरीबों के शासन से अधिक कुछ नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे अल्पतंत्र में धनी लोगों का शासन होता है।

मध्यकाल में, लोकतांत्रिक स्वरूप स्वयमेव शहरी कम्यूनों (communes) में दिखाई दिया। आधुनिक काल में संक्रमण के दौरान अति परिवर्तनकारी (radical) धार्मिक सम्प्रदाय लोकतांत्रिक विचारकों के अग्रन बने। इस प्रकार लोकतांत्रिक जनसमुदाय और उनके नेता आधुनिक विकास के प्रति शक में संगठित हो गए थे तथा उनके अभिमत कि गणतंत्र और लोकतंत्र, दोनों प्राथमिक तौर पर एक नैतिक मामला, मानव जाति का नैतिक नवीनीकरण था, में पहले ही आधुनिक आर्थिक और सामाजिक विकास की निन्दा अन्तर्विष्ट थी।

आज, लोकतांत्रिक आदर्श व्यष्टिवाद, समाजवाद और राष्ट्रवाद के संयोजन मात्र से कुछ अधिक है। यह मनुष्यों के प्रत्येक समूह के जीवन के चारित्रिक लक्षण की स्वीकृति और प्रोन्नति पर आधारित है, जिससे व्यष्टिवाद क्षेत्रीयवाद अथवा राष्ट्रवाद के एक स्वरूप से जुड़ जाता है और दूसरी तरफ, इसका तात्पर्य किसी एक समूह के संगठन से है जो समाजवाद के आरंभिक स्वरूपों में अन्तर्निहित स्वरूप की तुलना में कम समांगी (homogeneous) होता है क्योंकि लोकतंत्र का अर्थ है स्वैच्छिक परिसंघों की स्वतंत्रता और ऐसे परिसंघों द्वारा कई प्रकार के कार्यों का निष्पादन जो आरंभिक समाजवादियों द्वारा राज्य के लिए छोड़ दिए गए होंगे।

लोकतंत्र, प्रथम प्रधान वैधता की सिद्धांत है। सत्ता तभी विधिसम्मत होती है जब यह जनता के प्राधिकार से व्युत्पन्न हो तथा उनकी सहमति पर आधारित हो। नियामक दृष्टिकोंण से, लोकतंत्र की परिभाषा 'लोगों की सत्ता' शब्दावली के शब्दिक अर्थ से निकलती है। इसकी निश्चित तौर पर पहचान विकसित, प्रतिनिधिक संस्थाओं के अस्तित्व तथा संवैधानिक शासन की स्थापना से होती है। यह सत्ता के प्रत्यक्ष प्रयोग का पूर्वानुमान नहीं करती है, अपितु सत्ता के ठैलिगेशन का जोकि सरकार के 'नियंत्रण' और 'सीमांकन' का एक तरीका है। उस समय से लेकर जब शब्द 'डैमोक्रेशिआ' था मोटे तौर पर एक शताब्दी पहले तक, लोकतंत्र एवं राजनीतिक संकल्पना के रूप में प्रयोग किया जाता था। तथापि, तॉकवी (फ्रॉंसीसी राजदूत और लेखक) अमेरिकी लोकतंत्र के सामाजिक पहलू से प्रभावित हुए और इस प्रकार हम 'सामाजिक लोकतंत्र' की बात करते है। मार्क्सवाद ने 'आर्थिक लोकतंत्र' और श्रेणी समाजवाद अभिव्यक्ति को लोकप्रिय बनाया है; वैब की पुस्तक 'इन्डसट्रियल डैमोक्रेसी' (1897) 'औद्योगिक लोकतंत्र' उपनाम को चालू अवस्था प्रदान की है। उपनाम जैसेकि जनता का लोकतंत्र, संविधान लोकतंत्र अथवा इन जैसे अन्य लोकतंत्र एक विशेष लोकतंत्र को पेश करते हैं। जब 1860वें दशक के अंत में यूरोप में समाजी आन्दोलन का पुनरूत्थान हुआ, सर्वाधिक समाजवादी नेता मार्क्सवाद के प्रभाव में थे। 1881 में, जर्मन सोशल डैमोक्रेटिक पार्टी ने तथा 1897 में स्वीडिश डैमोक्रेटिक सोशल पार्टी ने अपने उद्देश्यों के रूप में उत्पादन, वितरण और विनिमय के सभी साधन जनता के स्वामित्व में स्वीकार किए। अन्य समाजवादी दलों ने अपने संविधानों अथवा घोषणा पत्रों में इन्ही उद्देश्य को अपनाया और ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन ने भी, जिसने 1918 तक समाजवाद को स्वीकार नहीं किया था, कुछ सीमा तक जनता के स्वामित्व के उद्देश्य को अपना लिया।

अब द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से तीन दशक से थोड़ा अधिक समय गुजर जाने के बाद तस्वीर भिन्न है। इटली और फ्रान्स को छोड़कर पश्चिम के सभी विकसित लोकतांत्रिक देशों में साम्यवादी दलों का नाम मात्र का अस्तित्व है और इटली और फ्रांस के साम्यवादी दलों की शक्ति में भी कमी आई है। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों में, सुधारवादी प्रवृत्तियाँ

बढ़ रहीं हैं, जबकि स्वयं रूस में फ्रुश्चेव के इस सिद्धांत को बढ़ती हुई स्वीकृति प्रतीत होती है कि साम्यवादी दलों के लिए साधनों के प्रश्न को छोड़ देना संभव है। दूसरी तरफ, सभी यूरोपियन देशों में सामाजिक लोकतांत्रिक दलों की शक्ति में वृद्धि हुई है। वे या तो सत्ता में रहे हैं अथवा प्रमुख विरोधी दल के रूप में उभरे हैं। वे उत्पादन, वितरण अथवा विनिमय के साधनों के जनता के स्वामित्व के आधार पर अर्थव्यवस्था से संपूर्ण पूजीवादी व्यवस्था को प्रतिस्थापित करने माँग नहीं करते हैं। उनका पूर्ण रोज़गार और सामाजिक सुरक्षा वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था से सामंजस्य बैठ गया है। बीसवीं शताब्दी के सामजवाद लेखकों ने जोर दिया है कि समाजवाद को समानता, स्वतंत्रता और सहचर्य के मूलभूत मूल्यों के संदर्भ में परिभाषित किया जाना चाहिए, न कि किसी विशेष माध्यम से जिसके द्वारा उन मूल्यों को प्राप्त किया जा सके। इसी प्रकार के परिवर्तन सभी यूरोपियन समाजवादियों के कार्यक्रमों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं – ये दल जनता के स्वामित्व के प्रति और अधिक विभेदकारी दृष्टिकोण अपना रहे हैं; तथापि सामाजिक लोकतंत्र जनता की इस माँग का समर्थन करता है कि महत्त्वपूर्ण जनहितों की रक्षा करना आवश्यक है।

इस प्रकार, अविकसित विश्व में समाजवादी पाश्चात्य देशों में साम्यवाद और सामाजिक लोकतंत्र के भाग्य में इन परिवर्तनों और सामाजिक लोकतांत्रिक दलों के बदलते हुए उद्देश्यों के सर्वेक्षण से कुछ महत्त्वपूर्ण पाठ सीख सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) भूतपूर्व साम्यवादी देशों में किस तरीके से लोकतंत्र के अवबोधन में परिवर्तन हुआ है?.

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.3 पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र

राजनीति की आधुनिक उदारवादी संकल्पना ने एक यथार्थवादी, व्यावहारिक, धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक अवस्थिति प्राप्त की। राज्य एक निर्णायक राजनीतिक संगठन बन गया। रूसो ने लोप्रिया संप्रभुता और लोकतंत्र के विचार को जन्म दिया। यह प्रतिष्ठापित किया गया कि लोगों की पहुँच के भीतर, राज्य, सरकार और अर्द्ध-सरकारी संस्थाएं आदि जैसी संस्थाएं राजनीतिक क्रिया कलाप की केन्द्र बन गई। निजी संपत्ति के अधिकारों और व्यष्टिगत स्वतंत्रता का दावा किया जाने लगा। एक प्रगतिशील उदारवादी संकल्पना में राज्य को एक निश्चयात्मक कल्याणकारी अंग के रूप में माना जाता है। उदारवादी लोकतंत्र ने जनता की इच्छाओं के प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक प्रतिस्पर्धी दल के आदर्श का आश्वासन दिया। इसमें विधायिकाओं के आवधिक चुनावों के माध्यम से लोगों के मत को प्रकाश में लाना अन्तर्ग्रस्त है। इसके अतिरिक्त, सरकार सीमित तथा स्वैच्छिक परिसंघों के विश्व में कार्य करती हुई मानी जाती है। समाज बहुकारी के रूप में देखा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि यह स्वायत्त क्षेत्रों और परिसंघों से मिलकर बना है। इस प्रकार सरकार आमहित में शासन के लिए निर्दिष्ट होती है।

पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र ऐसा राजनीतिक सिद्धांत है जो सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में प्रकट हुआ तथा विश्व के अधिमती सिद्धांतों और विचारधाराओं के रूप में आज भी जारी है। इसमें वे समाजवादी देश शामिल नहीं हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की तानाशाही है। इस संकल्पना के विकास में जॉन लॉक, जेरेमी बैनथम और जे.एस. मिल की चर्चा करना आवश्यक है। लॉक ने सीमित सरकार, संवैधानिकता, व्यष्टिगत अधिकारों और विधिसम्मत शासन का योगदान दिया। बैनथम का योगदान व्यष्टिगत उपयोगिता के संदर्भ में आंकलित बहुमत के हित की उपयोगितावादी संकल्पना में सन्निहित है। मिल ने व्यष्टिगत स्वतंत्रता, अभिमतों की बहुलता तथा व्यष्टिगत व्यक्तित्व के विकास के सिद्धांत का योगदान दिया।

MAADHYAM IAS

जब हम उदारवादी राज्य को राजनैतिक रूप से लोकतांत्रिक राज्य के रूप में परिभाषित करते हैं, हमें ध्यान देना चाहिए कि यह मात्र चुनावी प्रक्रिया का ही हवाला नहीं देता है अपितु विधिसम्मत शासन और सम्पत्ति का अधिकार जैसे पहलुओं का भी हवाला देता है। यूनाइटेड किंगडम की तरह लिखित संविधान के बिना उदारवादी प्रणाली में, इसका तात्पर्य है कि संसद द्वारा बनाया गया कानून सर्वोच्च है। तथा उदारवादी लोकतांत्रिक राज्यों में सस्वीकृत सम्पत्ति का अधिकार सरकार को आर्थिक मामलों में भारी परिवर्तन करने से रोकता है। यही कारण है कि सुधारवादी दृष्टिकोण आर्थिक समानता पर बल न दिए जाने के लिए उदारवादी लोकतंत्र की समालोचना करता है। उन्होंने स्वयं को जन लोकतंत्र (people's democracy) कहा, जिसका तात्पर्य है कि उत्पादन के साधन सामाजिक स्वामित्व में हैं।

इस प्रकार, उपरोक्त से लोकतंत्र की उदारवादी संकल्पना की एक अति सुन्दर तस्वीर उभरती है और जो मान्यताओं पर आधारित है : प्रथम, यह मानती है कि व्यष्टि को स्वायत्त दिमाग, बुद्धि और इच्छा शक्ति प्रचुर मात्रा में प्रदत्त है अर्थात वह विवेकशील प्राणी है। अतः वह निर्णय कर सकता है कि उसके लिए क्या सर्वोत्तम है। दूसरे, व्यष्टि एक नीतिपरक प्राणी है, जिसका अर्थ है कि सभी मनुष्य बराबर हैं। प्रत्येक को राजनीति में भागीदारी का समान अवसर मिलना चाहिए। तीसरे, सत्य सापेक्ष और बहुआयामी है तथा निरपेक्ष नहीं होता। इसीलिए, एक विशेष क्षण में, सत्य मात्र विचारों की मुक्त अन्योन्य क्रिया के माध्यम से ही स्थापित किया जा सकता है। सहिष्णुता लोकतंत्र का सार है, मिल द्वारा ''ऑन लिबर्टी'' में प्रबल तर्क दिया गया था। लोकतंत्र में सत्य का अर्थ है कि प्रत्येक राजनीति

में हिस्सा ले सकता है और यह जनता का शासन है, अतः एक लोकतांत्रिक सरकार सभी के हित में काम करती है। नेताओं और दलों के बीच प्रतिस्पर्धा, शासन के ऊपर लोकप्रिय नियंत्रण और व्यष्टियों की अधिकतम स्वतंत्रता सुनिश्चित करती है। विधि सम्मत शासन, विधि के समक्ष समानता और न्यूनतम मौलिक अधिकार एक पाश्चात्य उदावादी लोकतंत्र के लक्षण हैं।

23.4 लोकतंत्र के ग़ैर-पाश्चात्य स्वरूप

कुछ को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भूतपूर्व सोवियत संघ, साम्यवादी चीन, उत्तरी कोरिया और उत्तरी वियतनाम, और ऐसे ही कुछ और लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं। वस्तुतः वे अकेले सच्चा लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं। इस दावे के सही स्वरूप को समझने के लिए, मार्क्स की तरफ वापस जाना महत्त्वपूर्ण होगा। उनका विश्वास था कि पाश्चात्य की राजनीति वर्ग संघर्षों के स्वरूप की थी और यह कि दलों के बीच प्रतिस्पर्धा वर्ग संघर्ष के अन्त के साथ ही समाप्त हो जाएगी। उनके विचार में सच्चा लोकतंत्र केवल वहीं विद्यमान होगा जहाँ एक वर्ग का वर्चस्व हो तथा जो जबर्दस्त जन समुदाय का प्रतीक हो। लोकतंत्र के अन्य सभी स्वरूप बुर्जुआ होने के कारण अस्वीकृत कऱ दिए गए थे। यदि सत्ता संघर्ष प्रतिस्पर्धात्मक आधार पर होता, ताकि यह धन द्वारा प्रभावित हो सके, वहाँ मार्क्स मानते थे कि वह लोकतंत्र बुर्जुआ तथा इसीलिए अयोग्य है।

स्पर्द्धात्मक राजनीति की साम्यवादियों द्वारा एक जालसाज़ी होने के नाते जिन्दा की गई है। वे स्वयमेव किसी अन्य वर्ग के होने का दावा नहीं करते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि सभी उल्लेखनीय समूह रूसी क्रांति के आरंभिक दिनों में ध्वस्त कर दिए गए थे। सोवियत कानूनविद और राजनीतिक समर्थक तर्क देते हैं कि लोकतंत्र का पाश्चात्य स्वरूप एक धोखा तथा पाखण्ड है, क्योंकि यहाँ एक ऐसा आर्थिक तंत्र-पूंजीवाद कायम है जो धनी लोगों का पक्ष लेता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र के प्रमुख लक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) लोकतंत्र के ग़ैर पाश्चात्य स्वरूपों से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

23.5 समाजवादी लोकतंत्र

पश्चिम में जहाँ पूंजीवाद प्रचलन में है यह समाजवादी सिद्धांत के साथ सामंजस्य बिठाने क्रमश हवास अनुकूलन का स्वरूप ले लेता है। हम सभी जानते हैं कि समाजवाद क्या है। अन्य विचारधाराओं की संकल्पनाओं को साथ लेने पर समाजवाद का दूहरा संदर्भ है। एक तरफ यह उन आदर्शों, मूल्यों, गुणों का हवाला देता है जिन्हें प्रायः समाजवादी दर्शन का नाम दिया जाता है। यह सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के उन अनुभवजन्य लक्षणों का हवाला देता है, जोकि समाजवादी लोकतंत्र के – विज़न (vision) को अभिव्यक्त करते हैं। दूसरी तरफ, मूल्यों के स्तर पर महत्त्वपूर्ण हैं स्वतंत्रता, समानता, समुदाय, भाईचारा, सामाजिक न्याय, वर्गहीन समाज, सहयोग प्रगति, शान्ति, समृद्धि, प्रचुरता और प्रसन्नता, कभी-कभी मूलतत्व नकारात्मक रूप में पेश किए जाते हैं, समाजवादी कलह, युद्ध, अन्याय, गरीबी, तंगहाली और अमानवीकरण का प्रतिवाद करते हैं। संस्थाओं के स्तर पर अनुयायी और विरोधी समान रूप से कहेंगे कि समाजवाद पूंजीवादी निजी उद्यम प्रणाली का विरोधी है; जिसे वह धन और संपत्ति के ऊपर नियंत्रण तथा आर्थिक क्रिया कलाप के सामाजिक पर्यवेक्षण की प्रणाली द्वारा विस्थापन की माँग करता है। इस सूत्र में इसका सार है यानि, कि उत्पादन साधनों का समान अथवा सार्वजनिक स्वामित्व।

MAADHYAM IAS

राजनीतिक वार्त्तालाप में नाम स्वयमेव समय-समय पर अस्थायी रहे हैं। उदाहरण के लिए, जॉन रस्किन अपने को गौरव के साथ साम्यवादी कहते थे, जब उन्होंने समाजवाद, गणतंत्रवाद और लोकतंत्र का खंडन किया। एच.एम. हिन्डमैन के लिए समाजवाद शब्द ईसाई-उदारता, सौमयता का प्रतीक था, जबकि सामाजिक लोकतंत्र शब्द का अर्थ उनके लिए आक्रामक मार्क्सवाद था। वास्तव में, आज स्थिति इसके प्रतिकूल होगी। यह प्राऊधन था, नकि मार्क्स और एन्गिल्स जिन्होंने सर्वप्रथम अपने सिद्धांत को 'वैज्ञानिक समाजवाद' का नाम दिया। एक बार बकूनिन ने एक संगठन बनाया जिसे समाजवादी लोकतंत्र के लिए गठबंधन पुकारा गया। मार्क्स ने स्वयमेव अपनी युवावस्था में साम्यवाद को यह कहकर खारिज कर दिया था कि यह ''समाजवाद की अपूर्ण प्राप्ति'' मात्र था तत्पश्चात मार्क्सवादी प्रयोग अधिक व्यवस्थित हो गए, यद्यपि वे कभी भी संदिग्धता से पूर्णरूपेण मुक्त नहीं थे।

23.6 समाजवाद की चार मूलभूत प्रकृतियाँ : समाजवादी लोकतंत्र का सार

इस इकाई में उन प्रवृत्तियों को और अधिक योजनाबद्ध रूपरेखा प्रदान करने का प्रयास किया गया है, जो साथ-साथ समाजवादी लोकतंत्र की धारणा में प्रतिबिम्बित समाजवादी विचारधारा को पूर्णता प्रदान करती है। समानतावाद प्रथम प्रवृत्ति है जो समाजवाद का उत्कृष्ट सिद्धांत है। समानता की प्रबल धारणा समुदाय की, एक संकल्पना में पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। राजनीतिक तौर पर समानतावाद स्पष्ट रूप से पूर्ण लोकतंत्र की माँग करता है, परन्तु लोकतंत्र अपने सहज, उत्कृष्ट, एकात्मक अर्थ में बिना किसी स्थायी दल विभाजन वाला होता है।

नैतिकतावाद, जो अगली प्रवृत्ति है, समाजवाद के ईसाई सिद्धांत को दर्शाता है; अर्थात यह उच्च आदर्शों पर बल देता है जो पारस्परिक सहायता से शत्रुता के स्थान पर न्यायप्रिय स्थिति कायम करने, तथा मानवों के बीच भातृवत प्यार और समझ को बढ़ावा देने की माँग करते हैं। नैतिकतावादी मूल्यों के साथ सर्वाधिक तालमेल वाला राजनीतिक स्वरूप, एक बार फिर लोकतंत्र है, जोकि पेत्रिकवाद से संभवतया कुछ हद तक प्रभावित होता है और जो निश्चित तौर पर व्यक्गित सिद्धांतों से नरमता और जिम्मेदारी की अपेक्षा करता है। वहुमतवादी प्रणाली द्वारा शसित लघु तथा विशाल समुदाय नैतिकवाद आदर्श को प्राप्त करने के लिए समुचित यंत्र हैं।

तार्किकवाद तीसरी प्रवृत्ति है जो विवेक के सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ, प्रमुख मूल्य हैं व्यष्टिगत प्रसन्नता, विवेकशीलता, ज्ञान, उत्पादन में दक्षता और प्रगति के हित में मानव समाज का तर्कपूर्ण उद्देश्यपरक संगठन। तार्किकवाद से अभिप्रेरित राजनीतिक स्वरूप भी लोकतंत्र है, क्योंकि यह प्रवृत्ति मानव मात्र की समानता को अंगीकार करने के लिए अग्रसर होती है तथा व्यष्टिगत मानव विवेक की स्वतः सन्तुष्टि में विश्वास करती है। तथापि इसका ऐसा विश्वास है कि लोकतंत्र योग्यतावाद, निपुण वैज्ञानिकों, तकनीशियनों और बुद्धिमान लोगों द्वारा सतत निर्देशन से प्रभावित होना चाहिए, जो सामान्य जन की प्रसन्नता के प्रोत्साहन के लिए विश्वस्त हैं।

इच्छास्वातंत्र्यवाद जिसे समाजवाद के स्वच्छंद सिद्धांत का नाम दिया जा सकता है, मूलभूत प्रकृतियों में इस अर्थ में अन्तिम है कि यह समाजवादी सिद्धांतों में उत्कृष्ट तथा परिवर्तनवादी है। यह आदर्श स्वतंत्रता पर केन्द्रित है, नियंत्रण की सम्पूर्ण अनु-परिथति के अर्थ में चाहे आंतरिक अथवा बाह्य। यहाँ अनुकूल राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में बात करना कठिन होगा, क्योंकि यह प्रवृत्ति कुल मिलाकर राजनीति का परित्याग करता है। अराजकताबाद इसके आदर्श के निकटतम है; परन्तु पुनः इच्छास्वातंत्र्यवाद मौलिक अर्थ में समानता की स्वीकृति को अंगीकार करता है। इच्छास्वातंत्र्यवाद सर्वाधिक सौम्य तथा सहिष्णु समाजवादी प्रवृत्ति है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

समाजवाद की यह चार प्रवृत्तियाँ हैं, जो समाजवादी लोकतंत्र के सार का निरूपण करती हैं। तथापि, प्रत्येक प्रवृत्ति का सापेक्ष सार एक मामले से दूसरे मामले में बदल जाता है। दूसरे शब्दों में, हम पाएंगे कि एक या अन्य प्रवृत्ति प्रदत्त देश, सिद्धांत, आन्दोलन अथवा ऐतिहासिक अवनति के मामले में दूसरे के ऊपर वर्चस्व कायम करती है। यही कारण है पाश्चात्य नवीन वामवाद में इच्छास्वातंत्र्यवाद का वर्चस्व सामाजिक लोकतंत्र की बढ़ती हुई नरमता और एकीकरण की वजह से है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएं।

1) समाजवादी लोकतंत्र के प्रमुख लक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

2) इच्छास्वातंत्र्यवाद से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

23.6.1 लोकतांत्रिक तकनीकें और समाजवाद

यूरोप में फासिस्टवाद के उत्थान और भूतपूर्व सोवियत संघ में कम्यूनिस्ट पार्टी की तानाशाही के जारी रहने से तीसवें दशक के दौरान ऐसे भी समाजवादी हुए जिन्होंने एक समूहवादी शासन के अधीन लोकतंत्र की तकनीकों की ओर अधिकारिक ध्यान दिया। जबकि सामान्यतः समाजवादी आन्दोलन कई वर्षों तक इस बात पर कायम रहा कि लोकतंत्र के बिना समूहवाद समाजवाद की दूर की चिल्लाहट थी और यह कि देश के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में पूर्णरूपेण अपनाई जाने वाली लोकतांत्रिक क्रियाविधियों के सहयोग के बिना कोई समाजवाद नहीं हो सकता था, ऐसे बहुत थे जिन्होंने तीसवें दशक से पहले की यह स्थिति अंगीकार की कि जो कुछ भी किया जाना आवश्यक था, वह मात्र यह था कि निजी उद्योग को लोक स्वामित्व का उद्योग बना या जाए और लोकतंत्र स्वयमेव स्थापित हो जाएगा। राज्य के स्वामित्व और नियंत्रण में प्रयोग ने साम्यवादी और फासिस्ट देशों एवं लोकतंत्र के स्वरूप वाले देशों में भी, युद्ध तथा शान्ति दोनों कालों में, आन्दोलन के इन विद्यार्थियों को जगाया और उद्योग की एक सहयोगी व्यवस्था के अधीन लोकतांत्रिक प्रक्रिया की रक्षा करने और उसे मजबूत बनाने के उपायों के माध्यमों के बारे में सोचने के लिए बाध्य किया। इस परीक्षण ने उनसे निम्न बातों पर जोर डलवायाः

1) जनसंख्या के लोकतांत्रिक बलों को आरक्षित और मजबूत करने की आवश्यकता, जैसे व्यापक और औद्योगिक –संघ आन्दोलन, उपभोक्ताओं और उत्पादकों की सहकारी संस्थाएं, मजदूरवर्ग, समाजवादी और प्रगतिशील राजनीतिक दल, जन समुदाय के शैक्षिणिक और सांस्कृतिक आन्दोलन तथा इन आन्दोलनों को पूर्णरूपेण लोकतांत्रिक बनाने के लिए प्रयास।

2) औद्योगिक कर्मियों, तथाकथित मध्यवर्ग, कृषिकार्य में लगे लोगों के बीच बेहतर सामाजिक प्रबंधन के लिए निकट सहयोग स्थापित करने की आवश्यकता।

3) स्थानीय, राज्य और संघीय सरकारों पर प्रभावी लोकतांत्रिक तकनीकों करे लागू करने की आवश्यकता, जिससे लोगों की इच्छा के अनुरूप पूर्णरूपेण उद्दीपनशील (responsive) बनायी जा सकें।

4) उद्योग की सहकारी प्रणाली के तहत स्वैच्छिक सहकारी उद्यमों के एक व्यापक तंत्र के प्रोत्साहन की आवश्यकता, जो विशेष रूप से कृषि, आबंटनीय व्यापार और सांस्कृतिक क्रियाकलाप में लोक स्वामित्व वाले उद्योगों के पूरक के रूप में हो।

5) प्रत्येक उद्योग के भीतर क्रियाविधियों की प्रतिष्ठापना की आवश्यकता ताकि उपभोक्ता, मज़दूर वर्ग तथा तकनीकी और प्रशासनिक दल, नीतियों के निर्धारण में पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व कर सकें।

6) अर्द्ध-स्वायत्त स्वरूप वाले जन स्वामित्व के निगम के साथ परीक्षण तथा लोक स्वामित्व के नियंत्रण और प्रशासन का विकेन्द्रीकरण, जिससे वह सामंजस्य बिठाने वाला तथा सामाजिक दृष्टि से दक्ष प्रतीत हो।

7) सिविल सेवा, सार्वजनिक लेखांकन, सामूहिक लेनदेन, व्यक्तिगत संबंध आदि के ठोस तंत्र के माध्यम से दक्ष, ईमानदार और लोकतांत्रिक प्रशासन के प्रति निदेशित प्रशासनिक क्रियाविधियों को विकसित करने की आवश्यकता। उत्कृष्ट कार्य के लिए पुरस्कारों की उचित प्रणाली के माध्यम से औद्योगिक प्रोत्साहनों को बढ़ावा देने के लिए तकनीकों का विकास किया जाना चाहिए।

8) उपभोक्ता की रुचि की स्वतंत्रता की आवश्यकता।

9) जाति, धर्म, रंग, अथवा राष्ट्रीय मूल के कारण जनसंख्या के किसी भी वर्ग के प्रति विभेदकारी प्रथाओं को रोकने और नागरिक स्वतंत्रता को आरक्षित करने की आवश्यकता।

10) अन्य देशों के साथ सहयोग की आवश्यकता, जिससे युद्ध के कारणों को कम किया जा सके, साम्राज्यवादी नियंत्रणों का उन्मूलन हो सके तथा विश्वभर में जीवन स्तर को उठाया जा सके।

23.6.2 लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति रुझान

लोकतांत्रिक समाजवाद के उद्देश्यों में एक बात सदैव समान रही है कि समाज के राजनीतिक क्षेत्रों से गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में लोकतांत्रिक सिद्धांन्तों के अनुप्रयोग को व्यापक बनाकर लोकतंत्र को और अधिक वास्तविकता प्रदान की जाए। पूजा की स्वतंत्रता और राजनीतिक संघों की स्वतंत्रता आज भी लोकतंत्र के सर्वाधिक आवश्यक आधार हैं। समाजवादी 'लोकतंत्र के इन उत्कृष्ट मुद्दों' की प्रोन्नति पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसके प्रतिकूल, समाजवादी दलों ने एक कठिन लड़ाई लड़ी है और सामान्यतः उन राष्ट्रों में एक हारा हुआ संघर्ष लोकतंत्र जहां एक प्राणी मात्र नहीं है, अपितु ऐसी प्रेरणा, आशा व विचार है जिसे अभी प्राप्त किया जाना है। उदाहरणार्थ ऐसा जर्मनी, इटली और फ्रांस में हुआ था।

MAADHYAM IAS

23.6.3 इंग्लैड में लोकतांत्रिक समाजवाद

इग्लैण्ड ने संसदीय संस्थाएं विकसित की जो समाजवाद के विकास की प्रेरक थीं। इग्लैण्ड समय के साथ चला और उसने लोकतंत्र और समाजवाद के बीच सामंजस्य स्थापित किया। समाजवाद को शन्तिपूर्ण ढंग से उभारा गया, जिससे खूनी क्रांति की आवश्यकता न पड़े। लोकतंत्र ने सामाजिक सिद्धांतों के उत्थान को सहन किया।

ब्रिटेन में, मज़दूरों को सरकार के विरुद्ध विशाल पैमाने पर विद्रोह की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सरकार ने उनके हितों की प्रोन्नति के लिए स्वयमेव आवश्यक कदम उठाए। ब्रिटिश भूमि लोकतांत्रिक समाजवाद के विकास के लिए उपयुक्त थी, जबकि दूसरी तरफ रूस और चीन में, वातावरण अनुकूल नहीं था क्योंकि सरकार ने गरीबों के हितों की अनदेखी की और उन्हें दबाने की कोशिश की। परिणामस्वरूप, क्रांतिकारी समाजवाद का उदय हुआ और इसकी लहर ने सरकार के पैर उखाड़ दिए।

लोकतांत्रिक समाजवाद में एकदलीय साम्यवाद की तरह कोई पादरी नहीं है। इधर मार्क्स अथवा लेनिन भी नहीं हैं। इंग्लैण्ड में सर्वाधिक प्रभावशील समाजवादी विचारक प्रायः किसी सरकारी पद पर नहीं रहे हैं। उनका प्रभाव उनके नैतिक प्राधिकार और सरल साहित्यिक शैली के कारण रहा है।

यह आन्दोलन रॉबर्ट ऑवेन, सिडनी तथा बिअर्ट्रिस वेब, आर.एच. टॉनी, जी.डी.एच. कोल, हैरॉल्ड लस्की तथा कई अन्य के विचारों के प्रति अधिक ऋणी है। परन्तु दर्शन अभी भी अपरिभाषित है। भक्तवत्सलम के अनुसार ''लोकतांत्रिक समाजवाद का स्वरूप और उसके घटक किसी भी माध्यम से परिभाषित नहीं किए जा सकते हैं। यह एक व्यापक फ्रेमवर्क है जिसमें हमें अपनी राजनीतिक पृश्ठभूमि और सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विरासत के अनुरूप चलते हुए लोकतंत्र और समाज के अपने विचारों को उपयुक्त स्थान देना पड़ता है।'' अतः लोकतांत्रिक समाजवाद का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। यह विभिन्न देशों में उनकी आवश्यकताओं और अन्य शर्तों के अनुसार अलग अलग हो जाता है। तथापि, लोकतांत्रिक समाजवाद के कतिपय व्यापक सिद्धांतों की ओर हम इशारा कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) लोकतंत्र के समाजवाद के साथ मिलान करने के लिए कुछ तकनीकों की चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) इंग्लैण्ड में लोकतांत्रिक समाजवाद का विकास किस प्रकार हुआ?

....

....

....

....

....

....

23.7 व्यापक सिद्धांत

लोकतांत्रिक समाजवाद संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण व्यष्टिगत हितों की बजाए संपूर्ण समाज के अधिकांश हितों के महत्त्व पर भारी बल देता है। यह व्यष्टियों अथवा अहस्तक्षेप नीति के विरुद्ध है, यह सामुदायिक कल्याण का एक सिद्धांत है। यह प्रतिस्पर्धा की बजाए सहयोग को बढ़ावा देता है तथा नियोक्ता और कर्मचारी के बीच प्रतिद्वंदिता को दूर करता है।

समाजवाद आर्थिक समानता के सिद्धांत का समर्थन करता है। राज्य को कुछ व्यक्तियों के हाथों में धन के संग्रहण पर रोक लगानी चाहिए जिससे अमीर और गरीब के बीच खायी न बढ़े। तथापि, लोकतांत्रिक समाजवाद निरपेक्ष, (absolute) समानता के स्थापन को अपना

लक्ष्य नहीं मानता क्योंकि ऐसा असंभव है। इसका उद्देश्य अमीरों पर उत्तरोत्तर कराधान लागू करके धन की बढ़ती हुई असमानता को दूर करना है। यह सभी के लिए न्याय संगत अवसरों का समर्थन करता है।

लोकतांत्रिक समाजवाद उत्पादन के महत्त्वपूर्ण साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व का भी समर्थन करता है जिन्हें सभी के कल्याण के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। यह पूर्णरूपेण नागरिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों को स्वीकृत किए जाने के पक्ष में है। व्यष्टि अपने जीवनयापन के लिए स्वतंत्र है, वहाँ कोई व्यवधान नहीं होना चाहिए। यह राजनीतिक क्षेत्रों से लेकर आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों तक लोकतंत्र के विस्तार का समर्थक है। इस प्रकार, लोकतंत्र का आधार बढ़ाए जाने की माँग की जाती है। इसके अनुसार, यदि लोकतंत्र को वास्तव में लाना है तो इसे राजनीति की सीमाओं से काफी परे जाना होगा तथा आर्थिक क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ेगा।

यह समुदाय की कीमत पर कुछेक द्वारा भूमि, कारखानों और उत्पादन के अन्य समानों के स्वामित्व के विरुद्ध है। यह स्पष्ट तौर पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि लोकतांत्रिक समाजवाद सभी प्रकार की निजी संपत्ति के विरुद्ध नहीं है, अपितु, यह केवल उस निजी संपत्ति के विरुद्ध है जो शोषण का माध्यम बनती है। यह छोटे-छोटे भूखंड, गृहों और अन्य सीमित संपत्ति की अनुमति देती है, क्योंकि इन्हें समाज विराधी कार्यों में प्रयोग नहीं किया जा सकता। संक्षिप्त में, हम कह सकते हैं कि लोकतांत्रिक समाजवाद न तो मात्र पूंजीवाद का विरोधी है और न राज्य नियंत्रणवाद का। जे.पी. नारायण के अनुसार ''मानव द्वारा मानव को कोई शोषण न हो, कोई अन्याय हो, कोई उत्पीड़न न हो अथवा किसी को अवसरों की मनाही न हो।''

ब्रिटेन में लोकतांत्रिक समाजवाद की जीत का एक उल्लेखनीय परिणाम यह था कि ब्रिटिश राजनीति में महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में साम्यवाद का उन्मूलन हुआ। विकासशील देशों में भी लोकतांत्रिक समाजवाद समानों का आवश्यक सामाजिक-आर्थिक निरूपण करके साम्यवाद और पूंजीवाद की अतिवादी स्थिति का विकल्प मुहैया कराता है।

MAADHYAM IAS

23.8 नवीन वामवाद : सोवियत मार्क्सवाद पर हमला

नवीन वामवाद में अपना एक विशिष्ट प्रकार का लक्षण है। यह समाजवाद में विश्वास करता है, तथापि मानवता को बढ़ावा देने और उसके संरक्षण के लिए संघर्ष करता है जो पूर्ववर्ती सोवियत संघ की समाजवादी प्रणाली में बलि का बकरा बनकर रह गया था। अर्थात् जहाँ समाजवाद की उपलब्धियाँ परंपरागत वामवाद की आधारशिला हैं, वहीं लोकतंत्र और समाजवाद से एकीकृत समाजवाद, सामान्यतः नवीन वामवाद के नाम से जाना जाता है। नवीन वामवाद को पुराने वामवाद से जो अलग करता है, वह है इसका सकारात्मक सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने पर प्रबल ज़ोर। यह स्वतंत्रता और लोकतंत्र में विश्वास करता है तथा इन आदर्शों के लिए संघर्षरत रहता है।

नवीन वामवाद द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अवधि का उत्पाद है। इसका विकास तीन घटकों के कारण हैं : पूर्ववर्ती सोवियत संघ के महान कॉमरेडों द्वारा प्रदत्त सरकारी मार्क्सवाद के विरूपण (version) के प्रति कड़ी प्रतिक्रिया, प्रगतिशील पाश्चात्य देशों की प्रचतर समष्टियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तौर पर गठन के प्रति प्रबल विरोध तथा मानव की योग्यता और प्रतिष्ठ पर अति प्रबल ज़ोर। अर्थात यह आन्दोलन बहुस्तरीय विरोध का परिणाम था – स्टैलिनवादियों की ज़्यादत्तियों के विरुद्ध, सोवियत नेताओं द्वारा यथा प्रदत्त मार्क्सवाद के सैद्धांतिक और कारीगर संबंधी विरूपण के विरुद्ध,

कार्य करने के केन्द्रीकृत और अलोकतांत्रिक तरीकों के विरुद्ध तथा उत्पीड़न के मानवता विरोधी, लालफीताशाही और रूढ़िवादी समाज के विरुद्ध विरोध।

आज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, नवीन वामवाद का पुनरोत्थान जिसे 'नवीन समाजवाद' का नाम दिया जा सकता है। नागरिक अधिकारों के लिए अमेरिकी नीग्रों का संघर्ष, शैक्षणिक प्रणाली में परिवर्तन की माँग करने वाला फ्रांस का छात्र आन्दोलन, राजनीतिक प्रणाली के लोकतंत्रीकरण के लिए स्पेन में मज़दूर वर्ग का संघर्ष ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं जिन्हें वे नवीन वामवादी विचारकों को यह कहने के लिए प्रेरित किया कि यौवनपूर्ण घटक अपेक्षित राज्यकार्यों को प्रभावित कर सकते हैं। परिवर्तन आवश्यक है : वास्तविक लोकतंत्र के लिए परिवर्तन, जिसे जनता के युवा वर्ग द्वारा लाया जा सकता है। ऐसा इसीलिए क्योंकि वे अकेले एक समाजवादी तंत्र के हानिकारक आयामों को समझ सकते हैं और तत्पश्चात्, एक स्वतंत्र, लोकतांत्रिक और प्रतिष्ठित जीवन की स्थापना के लिए संघर्ष कर सकते हैं।

संक्षेप में, नवीन वामवादियों का उद्देश्य मार्क्सवाद के उन रूपों पर हमला करना है जो पूर्ववर्ती सोवियत संघ में विकसित हुए थे। इसकी बजाए वे मार्क्सवाद के व्यावहारिक अंग पर आधारित समाजवाद के नए स्वरूप के शब्दों के बारे में विचार करते हैं। इस प्रकार का समाजवाद लोकतांत्रिक प्रणाली के परिसरों के अनुरूप होना चाहिए ताकि जनता को स्वतंत्रता, विकास और प्रसन्नता का वरदान मिल सके।

23.9 लोकतांत्रिक क्रियाविधियों के माध्यम से समाजवाद के कार्यान्वयन में चुनौतियाँ/कठिनाइयाँ

MAADHYAM IAS

यह कहना कि लोकतांत्रिक उपायों से समाजवादी शासन में परिवर्तन लाना संभव है, अवश्यमेव इस बात का प्रतीक नहीं है कि इन उपायों के द्वारा समाजवाद को लागू करना और उसे कायम रखना भी संभव है। साम्यवादी सिद्धांत ने हमेशा दृढ़तापूर्वक अभियोग लगाया है – और इस मुद्दे पर उसने अभी भी कोई बदलाव नहीं किया है– कि स्वतंत्र चुनाव, भाषण की स्वतंत्रता, संगठन की स्वतंत्रता और स्वतन्त्र बहुमत के निर्णयों की प्रणाली के तहत समाजवाद को आगे बढ़ाना असंभव है।

सोवियत सिद्धांतवादी अपनी इस युक्ति पर अकेले नहीं है कि समाजवाद का कार्यान्वयन और उस पर बने रहना लोकतांत्रिक साधनों से असंभव है। फ्रिडरिश हैयक जैसे दक्षिणपंथी उदावादी उनसे इस बात पर सहमत हैं। वस्तुतः उनका हित इसके प्रतिकूल है; वे लोकतंत्र को कायम रखना तथा समाजवाद का परित्याग करना चाहते हैं। परन्तु यहाँ चर्चा को मुद्दों– यह कि क्या लोकतंत्र और समाजवाद दोनों को रखना संभव है – दोनों विरोधी सहमत हैं कि यह असंभव है। हैयक अपनी पुस्तक ''रोड ऑफ सर्फडम'' में भविष्यवाणी करते हैं कि समाजवाद निश्चित तौर पर लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं का उन्मूलन करेगा।

उनका एक प्रमुख तर्क यह है कि समाजवाद के लिए केन्द्रीकृत नियोजन की अपेक्षा की जाती है और यह कि उस स्थिति में भी जब समाजवाद के लिए विशाल बहुमत है, प्रायः ऐसा कोई बहुमत नहीं होगा जो विशेष नतीजों और साधनों पर सहमत होने के लिए समर्थ हो। ऐसी स्थिति में वह कहतें हैं कि एक लोकतांत्रिक संसद ''निर्देशन नहीं कर सकती है''।

लोकतंत्र और समाजवाद के बीच असंगति के लेनिन-हैयक सिद्धांत के मूल्यांकन में हमें उनके संयुक्त तर्कों को शक्ति को कम नहीं आंकना चाहिए। वे सक्षमतापूर्वक गंभीर

परेशानियाँ और खतरों की ओर इशारा करते हैं। परन्तु वे इस असंभावना को सिद्ध करने में विफल रहते हैं। उनके अभियोग उत्कृष्ट होते हुए भी आधे सच हैं।

यह एक मजबूत तर्क है कि वे जो अपने विशेषाधिकार खो सकते हैं, संभव है हिंसात्मक विरोध में उठ खड़े हों, जब पूर्णरूपेण समाजवादी वैधानिक मुद्दे एक लोकतांत्रिक विधायिका में समाजवाद के समर्थन में बहुमत का निर्माण करते हैं। इसका 1931 की स्पेनिश क्रांति के बाद प्रभावी उदाहरण मिलते हैं, जब नव-निर्वाचित संसद का लोकतांत्रिक बहुमत गणतंत्रीय सरकार के समर्थन के लिए पर्याप्त से मज़बूत अपने निजी सशस्त्र बल तैयार करने से पहले सभी निहित स्वार्थों – राजतंत्रवादी, सेना, गिरिजाघर, बड़े जमींदारों और उद्योगपतियों के विरुद्ध इस वैज्ञानिक निर्णय का कोई औचित्य नहीं है कि ऐसा ही भिड़न्त में संलग्न हो गया। तथापि, जब लोकतांत्रिक क्रियाविधियों से समाजवाद को आगे बढ़ाने का प्रयास किया जाए।

इस समस्या एक अन्य प्रबल तर्क यह है, कि मज़दूर वर्ग जिसने संसदीय बहुमत को जीता है, प्रत्यक्ष लाभों को तीव्रता से और युक्युिक्त सीमाओं से परे प्राप्त करने की अपनी इच्छा में अधीर हो सकता है। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए लोगों को पहले से ही शिक्षित करना आवश्यक होगा, जिससे उन्हें बहुमत की शक्तियों के अर्थपूर्ण प्रयोग के लिए तैयार किया जा सके।

अन्ततः यह एक वजनदार तर्क है जब हैयक चेतावनी देतें हैं कि बहुमत के टूटने की संभावना रहती है, जब कभी भी योजना के बारे में प्रमुख निर्णय आवश्यक हो जाए। यदि पहले से ही खतरे को अच्छी तरह समझलिया जाए तो उचित युक्ति का प्रयोग करके इस पर काबू पाना असंभव नहीं होगा; जैसे बड़ी योजनाओं को अधीन चालू आर्थिक निर्णय करने के लिए किसी बोर्ड अथवा आयोग को शक्ति का प्रत्याभोजन करना।

इस प्रकार लोकतंत्र और समाजवाद के बीच सामंजस्य का प्रश्न अभी भी खुला हुआ है। यह विश्वास का उचित कारण है कि एकतंत्रवादी सड़क पर चलना आवश्यक है, यदि बहुमत का रुझान समाजवाद को निष्पादित करना हो जाए यद्यपि आर्थिक विधी निर्माण और प्रशासन की प्रक्रिया में कतिपय संशोधन आवश्यक होंगे।

समाजवाद और लोकतंत्र के मध्य सामंजस्य संबंधी एक विलक्षण और आशावादी राजनीतिक सिद्धांत की स्थापना उन किसी भी प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन प्रदान कर सकता है, जो कि विद्यमान सोवियत रूस अथवा उसके कुछ अनुगामी देशों में जन्म ले सकती है। इससे लोकतंत्र और समाजवाद दोनों तथा दानों के सहअस्तित्व के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक चर्चाओं में एक अधिक मज़बूत और स्पष्ट भाषा संभव होगी।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलायें।

1) समाजवाद के व्यापक सिद्धांत क्या है?

....

....

....

....

....

....

2) नवीन वामवाद क्या है?

....

....

....

....

....

....

....

3) लोकतांत्रिक क्रियाविधियों के माध्यम से समाजवाद को लागू करने में चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.10 सारांश

इस इकाई में हमने पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र और समाजवादी लोकतंत्र दोनों के बीच मतभेदों और साथ की उनके आवश्यक संघटकों और मूल तत्वों की विस्तार से चर्चा की है।

समाजवादी लोकतंत्र की संकल्पना के स्वयं भीतर ही एक तंत्र है, जो प्रतिस्पर्धा की बजाए सहयोग पर आधारित समाज का निर्माण करता है। पिछले एक दशक से, इटली, फ्राँस, पूर्वी यूरोप और रूस में एक विचारधारा के रूप में साम्यवाद की शक्ति में कमी आई है। दूसरी तरफ, लगभग सभी यूरोपियन देशों में सामाजिक लोकतांत्रिक दलों की ताकत में वृद्धि हुई है। मूलभूत मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, समानता और सहचर्य के संदर्भों में, समाजवादी लोकतंत्र को परिभाषित किया जाना चाहिए। यह संसाधनों और उद्यमों पर सार्वजनिक नियंत्रण की माँग का समर्थन करता है। समाजवादी लोकतंत्र का सार समाजवाद की चार मूलभूत प्रवृतियों में सन्निहित है। ये प्रवृतियाँ हैं : समाजवाद जिसका अर्थ है, समानता की धारणा नैतिकवाद जिसका अर्थ है मानव मात्र के बीच भ्रातृवत प्यार और समझदारी की भावना,

तार्किकवाद जिसका अर्थ है, युक्ति और ज्ञान जो लोकतांत्रिक कार्यों की तरफ अग्रसर करें और इच्छास्वातंत्र्यवाद जो समानता की स्वीकृति के साथ आगे बढ़ता है।

हाल ही में, लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति उत्तरोत्तर प्रवृत्ति विकसित हुई है। यह संकल्पना समाज के व्यापक हितों, सहयोग, आर्थिक समानता, उत्पादन का सार्वजनिक स्वामित्व, जिसे सार्वजनिक हित के लिए प्रयोग किया जाए तथा साम्यवाद की अतिवादिताओं के परिहार पर ज़ोर देती है। स्वतंत्रता के बाद प्रथम तीन दशकों के दौरान, लोकतांत्रिक समाजवाद भारत की सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिक विचारधारा में विकसित हुआ। भारतीय राजनीति के लोकतांत्रिक समाजवादी ध्रुवीकरण को गणतांत्रिक संविधान में 1952 से पंचवर्षीय योजनाओं में और सामान्यतः घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय, दोनों प्रकार के कार्यों में भारत सरकार के संचालन में सजीव शब्दों में समझाया गया है। तथापि भूमण्डलीकरण और उसके परिणामतः आर्थिक सुधारों के मद्देनज़र, स्थिति में भारी परिवर्तन आया है।

नवीन वामवाद के पुनरोत्थान को ''नया समाजवाद'' का नाम दिया गया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इसका उद्देश्य मार्क्सवाद के उस स्वरूप पर हमला बोलना था जो भूतपूर्व सोवियत संघ में विकसित हुआ। नवीन वामवाद ने स्वतंत्रता और विकास के लिए अभिप्रेत लोकतांत्रिक प्रणाली के परिसरों पर ज़ोर दिया।

समाजवाद और लोकतंत्र की मध्य सामंजस्य संबंधी विलक्षण और आशावादी राजनीतिक सिद्धांत की स्थापना और अधिक लोकतांत्रिक संस्थाओं की शुरुआत के प्रति एक प्रोत्साहन है। आज, यदि समाजवादी लोकतंत्र को और अधिक वास्तविक बनाना है, तो इसे लोकतांत्रिक सिद्धांतों को समाज के राजनीतिक क्षेत्रों से लेकर ग़ैर-राजनीतिक क्षेत्रों तक अनुप्रयोग को व्यापक बनाकर किया जा सकता है। इस प्रकार का समाजवाद एक लोकतांत्रिक प्रणाली के परिसरों के अनुरूप होना चाहिए।

23.11 शब्दावली

MAADHYAM IAS

कुलीन तंत्र : कुछ व्यक्तियों द्वारा शासित राज्य।

उदारीकरण : अत्यधिक उदारता और स्वतंत्रता की विचारधारा।

साम्यवाद : सामाजिक व्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधन सार्वजनिक स्वामित्व वाले हों।

समतावाद : मानवता की समानता का दावा करता है।

वाम वाद : वाममर्गियों का राजनीतिक दृष्टिकोण।

23.12 कुछ उपयोगी संदर्भ

आर्थर रॉजैनबर्ग, *डैमोक्रेसी एंड सोशलिज्म,* लंदन, जी. वैल एंड सन्स लि. 1939।

फ्रान्सिस, डब्ल्यू कोकर, *रीसेन्ट पॉलिटीकल थॉट,* न्यूयार्क, 1939।

आर.एन. वर्की, सोशलिज्म, न्यूयॉर्क।

सोशलिज्म : द फर्स्ट 100 ईयर्स; ऐनैलिस्ट, द सेन्टर फार लेवर एंड सोशल स्टडीज़ इनक इटली।

23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 23.1 एवं 23.2

2) देखें भाग 23.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 23.3

2) देखें भाग 23.4

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 23.5

2) देखें भाग 23.6

बोध प्रश्न 4

1) देखें उप-भाग 23.6.1

2) देखें उप-भाग 23.6.3

बोध प्रश्न 5

1) देखें भाग 23.7

2) देखें भाग 23.8

3) देखें भाग 23.9

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 24 व्यक्तिवाद और समुदायवाद

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देष्य
24.1 प्रस्तावना
24.1.1 व्यक्तिवादी बनाम समुदायवादी मत
24.1.2 भारतीय संदर्भ में प्रासंगिकता
24.2 व्यक्तिवाद का अर्थ और विकास
24.2.1 परमाणुवाद (Atomism) और सुव्यवस्थित व्यक्तिवाद (Methodological Individualism)
24.2.2 जॉन रॉल्स व अन्य संविदावादियों (Contractualists) के विचार
24.2.3 उपयोगितावादियों के विचार
24.3 स्वत्व की व्यक्तिवादी संकल्पना
24.4 राज्य की प्रकृति व प्रकार्य संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धांत
24.4.1 राज्य व सरकार के प्रकार्य
24.5 समुदायवाद : एक परिचय
24.6 स्वत्व की व्यक्तिवादी संकल्पना संबंधी समुदायवादी समालोचना
24.6.1 व्यक्तिवाद की दो मुख्य मर्यादाएँ (Limitations)
24.7 राज्यीय तटस्थता की समुदायवादी समालोचना
24.8 सारांष
24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
24.10 बोध प्रष्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.0 उद्देष्य

इस इकाई में हमारा उद्देष्य है, समसामयिक राजनीति-सिद्धांत में चल रहे प्रमुख वाद-विवादों में से एक को समझना और उसका मूल्यांकन करना; अर्थात् उदारवादी व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच तर्क-वितर्क। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धांत को समझ सकें
- उदारवादी व्यक्विाद की समुदायवादी समालोचना का वर्णन एवं मूल्यांकन कर सकें
- व्यक्तिवाद और समुदायवाद के मुख्य सैद्धांतिक विचारों की तुलना कर सकें, तथा
- समसामयिक राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार में इस वादविवाद की प्रासंगिकता को समझ सकें।

24.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आपको समसामयिक राजनीति-सिद्धांत में चल रहे एक मुख्य वादविवाद से परिचित कराया जायेगा, यानी उदारवादी व्यक्तिवाद और समुदायवाद।

व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच वाद-विवाद उन्नीस सौ अस्सी के दषक में माइकल सैंड्ल की पुस्तक *लिब्रलिज़्म एण्ड द लिमिट्स ऑफ़ जस्टिस* (1982) के प्रकाषन के साथ ही राजनीति-सिद्धांत के लिए खास हो गया। इस पुस्तक में सैंडल रॉल्सवादी

उदारवाद की सबसे सषक्त समालोचनाओं को और अधिक परिभाषित करते हैं, जिस आषय का कथन जॉन रॉल्स की पुस्तक अ *थिअरी ऑफ़ जस्टिस* (1971) में पाया जाता है। तभी से यह बहस किसी न किसी रूप में राजनीति-सिद्धांत के अत्यधिक अध्ययन की जानकारी देती रही है। दरअसल, समसामयिक राजनीति-सिद्धांत की मुख्य घटनाओं एवं विषयों में से कुछ उन तर्कों पर आधारित हैं जो इस वाद-विवाद से ही उत्पन्न होते हैं।

व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच बहस के केन्द्र में सवाल है : क्या न्यायसंगत राज्य इस दृष्टिकोण से बनाया जाना चाहिए कि लोगों के कल्याण को प्रोत्साहन मिले अथवा उसे इस दृष्टिकोण से बनाया जाना चाहिए कि एक आदर्ष समुदाय को यथार्थ रूप कैसे प्रदान करें? क्या राजनीतिक वास्तविकता उन व्यक्तियों के फैसलों और कार्रवाइयों द्वारा आकार प्रदान की जाती है, जिनको समुदाय के बंधनों से एक दूरी रखकर (अथवा अलग) खड़े लोगों के रूप में परिभाषित किया जाता है, अथवा उन सामाजिक प्राणियों द्वारा आकार प्रदान की जाती है, जिनकी पहचान और व्यवहार को उन सामाजिक समूहों/समुदायों द्वारा परिभाषित किया जाता है जिनसे वे संबंध रखते हैं? दूसरे शब्दों में, राजनीतिक विष्लेषण की मूल इकाई व्यक्ति है या फिर समुदाय?

24.1.1 व्यक्तिवादी बनाम समुदायवादी मत

इस प्रष्न का जवाब देने में व्यक्तियों और समुदायों के भिन्न-भिन्न मत हैं। जहाँ एक ओर, व्यक्तिजन राजनीतिक वास्तविकता को स्वतंत्र एवं अधिकारधारक व्यक्तियों के निर्णयों एवं कार्रवाइयों द्वारा आकार प्रदान किए जाने के रूप में देखते हैं, दूसरी ओर समुदायवादी जन व्यक्ति और समुदाय के बीच संबंध पर ज़ोर देते हैं और इस संबंध को राजनीति का आधार मानते हैं। तदनुसार, इस बहस का दो तरह के लोगों के बीच वादविवाद के रूप में वर्णन किया जा सकता है – एक तो वे जो वैयक्तिक अधिकारों व स्वायत्तता के पक्ष में हैं, और दूसरे वे जो राजनीतिक जीवन में समुदाय के बंधनों पर ज़ोर देते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.1.2 भारतीय संदर्भ में प्रासंगिकता

व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच बहस विषेष रूप से भारतीय संदर्भ में प्रासंगिक है। भारतीय संविधान पारम्परिक उदारवादी ढाँचे के पथ से भिन्न है, जो कि वैयक्तिक अधिकारों की गारण्टी देता है और समुदाय-सदस्यता के अधिकारों की उपेक्षा करता है। वह वैयक्तिक स्वायत्ता और समुदाय-सदस्यता के दोहरे आदर्षों का अनुमोदन करता है और स्वीकार करता है। संविधान में वैयक्तिक नागरिक अधिकारों व स्वतंत्रताओं की गारण्टी और सभी समुदायों के लिए समान आदर का सिद्धांत, दोनों हैं। व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच बहस का अध्ययन, इसीलिए, समसामयिक भारतीय राजनीति-सिद्धांत एवं व्यवहार में कुछ सवालों व मुद्दों को समझने के लिए भी ज़रूरी है।

यह ग़ौर करना मददगार साबित होगा कि व्यक्तिवाद और समुदायवाद की विभिन्न किस्में हैं। इस इकाई में कुछ मुख्य तर्कों और इन सैद्धांतिक विचारों में मिलने वाले प्रसंगों का अध्ययन करेंगे।

हम उदारवादी व्यक्तिवाद के अर्थ और उत्पत्ति से शुरुआत करते हैं। फिर हम व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य के कुछ मुख्य तर्कों को समझते जायेंगे, यथा स्वत्व (self) की संकल्पना और राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों का बोध करेंगे। इसके बाद पायेंगे उदारवादी व्यक्तिवाद की समुदायवादी समालोचना की भूमिका। फिर हम व्यक्ति की अवधारणा तथा राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों पर समुदायवादियों द्वारा रखे जाने वाले विचारों पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे। प्रस्तुत इकाई उदारवाद और समुदायवाद के कुछ खास योगदानों और सीमाओं पर प्रकाष डालती हुई समाप्त होती है।

बोध प्रश्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अन्त देखें।

1) व्यक्तिवाद और समुदायवाद में बुनियादी अंतर क्या है?

....

....

....

....

....

....

....

2) भारतीय संदर्भ में व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच बहस किस प्रकार प्रासंगिक है?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.2 व्यक्तिवाद का अर्थ और विकास

व्यक्तिवाद नागरिक तथा राज्य व राज्यीय गतिविधियों के उचित कार्यक्षेत्र के बीच संबंध से जुड़े अनेक सिद्धांतों में से एक है। इस संबंध के अन्य सिद्धांत, जो व्यक्तिवाद का विरोध करते है, वे हैं – समाजवाद, सर्वोदय, फासीवाद एवं समुदायवाद, जिनका अध्ययन हम इस इकाई में बाद में करेंगे। इन दूसरे सिद्धांतों से जो बात व्यक्तिवाद को अलग करती है, वो है उनका राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धांत में बुनियादी इकाई के रूप में व्यक्ति पर ज़ोर दिया जाना।

व्यक्तिवाद के मुख्य पक्षधरों में से कुछ हैं – ऐडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा अभी हाल ही के एफ. ए. हयेक एवं रॉबट नॉज़िक। भारत में महादेव गोविन्द रानाडे तथा स्वतंत्र पार्टी ने मुख्य रूप से व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया।

24.2.1 परमाणुवाद (Atomism) और सुव्यवस्थित व्यक्तिवाद (Methodological Individualism)

व्यक्तिवाद की अवधारणा उदारवादी राजनीतिक चिंतन के मुख्यालक्षणों में से एक है, अन्य हैं – सर्वमुक्तिवाद, समतावाद, धर्मनिरपेक्षवाद, तथा सार्वजनिक व निजी के बीच पृथक्करण। व्यक्तिवाद की धारणा विचारों, व्यवहारों व सिद्धांतों की व्यापक विविधता को समाविष्ट

करती है। इन विचारों व सिद्धांतों के केन्द्र में हैं – किसी भी समूह, समुदाय अथवा समष्टि (collective) से ऊपर व्यक्ति को प्रमुखता दिया जाना। व्यक्ति को अपने आप में एक साध्य माना जाता है जबकि राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक संस्थाओं को उस साध्य हेतु महज़ **साधन** समझा जाता है। व्यक्तिवाद की इस धारणा को 'परमाणुवाद' कहा जाता है– उन लक्ष्यों की पूर्ति हेतु व्यक्तियों द्वारा स्थापित समाज संबंधी एक दृष्टिकोण, जो मुख्य रूप से व्यक्तिपरक होते हैं और जो पहले से ही होते हैं अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी विषिष्ट रूप से पूर्व आते हैं। व्यक्तिवाद किसी भी राजनीतिक सिद्धांत अथवा सामाजिक व्याख्या के प्रति व्यक्ति की केन्द्रिकता विषयक सिद्धांत का भी संकेत करता है। इस सिद्धांत को 'सुव्यवस्थित व्यक्तिवाद' भी कहा जाता है – एक सिद्धांत जो यह दावा करता है कि सामाजिक विज्ञान अथवा इतिहास में ऐसी कोई व्याख्या नहीं है जो व्यक्तियों, उनके विषेष गुणों, लक्ष्यों, विष्वासों व कार्यकलापों संबंधी तथ्यों व लक्षणों पर आधारित न हो। दूसरे शब्दों में, सामाजिक समुदायों अथवा व्यवहार के संपूर्ण प्रतिमानों की व्याख्या हमेषा व्यक्ति के संबंध में ही की जानी चाहिए।

अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, व्यक्तिवाद का सिद्धांत लेस-ॲफेॲ (laissez faire) के सिद्धांत से ताल्लुक रखता है जो कि एक फ्रेन्च शब्द है जिसका अर्थ है - 'हस्तक्षेप न करना' अथवा '(हमें) (फलां) करने की अनुमति दो'। लेस-ॲफेॲ का सिद्धांत एक आर्थिक व्यक्तिवाद का सिद्धांत है और राज्य व नागरिक के बीच संबंध के एक व्यापकतर सिद्धांत का हिस्सा है। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांस और इंग्लैण्ड के उन व्यवसायियों, साहूकारों व छोटे विनिर्माताओं का यही युद्धघोष था, जो पैसावादी (mercantilist) राज्य के नियंत्रणों एवं नियमों द्वारा बाधित महसूस करते थे। पैसावादी राज्य की विषेषता थी - अर्थव्यवस्था में बहुत कुछ राज्य की दखलंदाज़ी। इसकी तुलना में आर्थिक लेस-ॲफेॲ का अर्थ था – आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा अहस्तक्षेप अथवा न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति। यह महसूस किया गया कि अर्थव्यवस्था बाज़ार की माँग व आपूर्ति के अनुसार परिचालित होने के लिए छोड़ दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, लेस-ॲफेॲ अथवा आर्थिक व्यक्तिवाद का अर्थ है – सीमित शासन-षक्ति और मुक्त व्यापार।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.2.2 जॉन रॉल्स व अन्य संविदावादियों (Contractualists) के विचार

व्यक्तिवाद अनिवार्यतः एक आधुनिक दष्घ्यघटना है जिसने सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स एवं लॉक के लेखों में आकार लेना शुरू किया। हॉब्स एवं लॉक के समय से ही उदारवादी राजनीति-सिद्धांत ने व्यक्ति व राज्य के बीच संबंध को अच्छी तौर से जाँचने को अपना मुख्य उद्देष्य बना लिया था। अधिकतर उदारवादी राजनीति-सिद्धांतों के अनुसार, सभी व्यक्ति अहस्तांतरणीय अधिकार रखते हैं। शासक वर्ग उन लोगों की सहमति से ही अपनी शक्तियाँ व्युत्पन्न (derive) करता है, जिन पर कि शासन किया जाना होता है। यह सम्मति शासितों एवं शासन करने वालों के बीच एक सामाजिक अनुबंध द्वारा अभिव्यक्त और उसी के आधार पर विहित होती है। तथापि, व्यक्तिवादी विचार का विषिष्ट लक्षण यह दावा है कि सामाजिक अनुबंध हेतु पक्षकार अनिवार्यतः व्यक्तियों के रूप में व्यवहार करने वाले लोग ही हों, न कि किसी सांस्कृतिक अथवा समष्टिगत समूहों के प्रतिनिधियों के रूप में व्यवहार करने वाले लोग।

हॉब्स, लॉक और रूसो ने ऐसे अनेक लोगों की बात की जो राज्य का निर्माण एक सामाजिक अनुबंध के माध्यम से करते थे और साफ तौर पर व्यक्ति व राज्य के बीच मध्यस्थ संघों व समूहों को न लाने की बात कहते थे। वस्तुतः रूसो ने दृढ़ता से कहा कि आम इच्छा यथार्थ रूप से व्यक्त की जानी हो, तो यह जरूरी है कि राज्य के भीतर कोई सहायक समूह न हों। संविदावादी दृष्टिकोण के सबसे नवीनतम मुख्य व्याख्याता, जॉन

रॉल्स, इसी के अनुसार यह मानकर चलते हैं कि मूल अवस्था में पक्षकार जो न्याय-सिद्धांतों को तैयार करते हैं, ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी खुद की राय देते हैं। इसके अतिरिक्त, जिस न्याय की वे बात करते हैं व्यक्तियों के लिए ही होता है। जबकि रॉल्स सामाजिक वर्गों के लिए थोड़ी दिलचस्पी ज़रूर दिखाते हैं, वो इस प्रष्न को नहीं उठाते कि क्या समुदाय/समूहों को न्यायर्थ दावों वाली सत्ता समझा जाये अथवा नहीं।

24.2.3 उपयोगितावादियों के विचार

उदारवादी राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति पर ज़ोर दिया जाना सामाजिक संविदा पहलू तक सीमित नहीं है। अधिक-से-अधिक लोगों की अधिक-से-अधिक खुषहाली की बात करते हुए जेरैमी बैंथम व जे.एस. मिल जैसे उपयोगितावादियों ने भी व्यक्तियों को ही दिमाग़ में रखा था। वस्तुतः अपनी पुस्तक *ऑन लिबर्टी* में मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं निजी मामलों से अलग रहने संबंधी राज्य की आवष्यकता पर बल दिया। इसी प्रकार, वे लोग जो शासितों की सम्मति की बात करते हैं, सामान्यतया इसको एक स्पष्ट धारणा के रूप में लेते हैं कि यह सम्मति व्यक्तियों से ही मिलती है। इसके अलावा, लोकतंत्र के सिद्धांत जिनमें एक व्यक्ति - एक वोट - एक मूल्य तथा बहुमत शासन संबंधी धारणा होती है, स्पष्ट रूप से व्यक्तियों को ही मन में रखते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर देखा, व्यक्तिवाद ने आधुनिक उदारवादी राजनीतिक चिंतन को काफ़ी प्रभावित किया है। तथापि, व्यक्तिवादी सिद्धांत सार्वत्रिक रूप से स्वीकृत अथवा आलोचनामुक्त नहीं है। वर्तमान राजनीति-सिद्धांत राज्य व नागरिक के बीच संबंध के साथ-साथ राज्यीय गतिविधियों के उचित कार्यक्षेत्र के विषय में भी गहरे विभाजित हैं। अगले भाग में हम उदारवादी व्यक्तिवाद विषयक कुछ उन मुख्य धारणाओं पर दृष्टिपात करेंगे जो समुदाय की आलोचना का षिकार हुई हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) 'परमाणुवाद' तथा 'सुव्यवस्थित व्यक्तिवाद' से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) व्यक्तिवाद विषयक संविदावादियों के विचारों पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

24.3 स्वत्व की व्यक्तिवादी संकल्पना

व्यक्तिवाद के सिद्धांत के लिए मुख्य बात है स्वत्व संबंधी उसकी अवधारणा अथवा बोध। वस्तुतः व्यक्तिवाद राज्य व नागरिक के बीच संबंध के साथ राज्यीय गतिविधियों के उचित कार्यक्षेत्र संबंधी भी अपनी सोच स्वत्व की अवधारणा के आधार पर ही तैयार करता है। इस भाग में हम स्वत्व अथवा व्यक्ति संबंधी व्यक्तिवादी अवधारणा का अध्ययन करेंगे।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से, लोग स्वतंत्र, समझदार एवं आत्म-निर्णय में सक्षम हैं। वे **समझदार** इस बात में हैं कि वे ही अपने हितों के सबसे अच्छे पारखी हैं। वे **आत्म-निर्णय** में सक्षम हैं, यानी वे उत्तम जीवन संबंधी अपनी निजी धारणा को निष्चित करने में समर्थ हैं। किसी व्यक्ति की उत्तम जीवन संबंधी अवधारणा उसके उन विष्वासों एवं मूल्यों का समुच्चय होता है जो इस विषय में होते हैं कि वह किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करे तथा कौन सी बात जीवन को सार्थक बनाएगी, लोग इस अर्थ में स्वतंत्र हैं कि वे वर्तमान सामाजिक प्रथाओं में अपनी भागीदारी का सवाल उठाने तथा इन प्रथाओं के अधिक उपयोग में न रहने पर उन्हें छोड़ देने का सामर्थ्य और अधिकार, दोनों रखते हैं। व्यक्तिजन, दूसरे शब्दों में, किसी भी सामाजिक संबंध-विषेष पर प्रष्न करने और उसे निरस्त करने अथवा संषोधित करने के लिए स्वतंत्र हैं। व्यक्तियों के रूप में हम किसी भी सामाजिक प्रथा-विषेष से नाता तोड़ने अथवा पीछे हटने तथा यह प्रष्न करने की क्षमता रखते हैं कि हम उसका अनुगमन ज़ारी रखें अथवा नहीं। कोई भी कठिन कार्य-विषेष अथवा लक्ष्य हमारे लिए समाज द्वारा तय नहीं किया जाता; कोई भी लक्ष्य हमारे स्वयं द्वारा संभावित संषोधन अथवा अस्वीकरण से छूट प्राप्त नहीं है। किसी व्यक्ति के प्रयास-लक्ष्य, उद्देष्य एवं प्रयोजन सदा ऐसी चीजें रही हैं जिनसे वह अपने आप को जोड़ना पसंद करता है और इसीलिए उनसे नाता तोड़ना भी। तदनुसार व्यक्ति इच्छा-प्रयोग द्वारा ही अपने प्रयोजनों, लक्ष्यों से जुड़ा होता है। रॉल्स उक्त तर्क को इस वाक्य में व्यक्त करते हैं: 'स्वत्व साध्यों से पहले है, जो कि उसी के द्वारा पुष्ट किए जाते हैं'।

MAADHYAM IAS

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में भी, पसंद की व्यक्तिगत स्वतंत्रता चाहिए होती है, ठीक-ठीक इसलिए ताकि पता लगा सकें कि जीवन में मूल्यवान क्या है, अपने विष्वासों व मूल्यों को बना सकें, जाँच सकें व दुरुस्त कर सकें। लोगों के पास आवष्यक संसाधन तथा दण्डित किए जाने के बिना अपने विष्वासों एवं मूल्यों के अनुसार अपना जीवन जीने के लिए आवष्यक स्वतंत्रताएँ (तदनुसार, नागरिक एवं वैयक्तिक स्वतंत्रताएँ) अवष्य होनी चाहिए। उन्हें उत्तम जीवन विषयक विभिन्न दृष्टिकोणों की जानकारी प्राप्त करने हेतु तथा इन दृष्टिकोणों की बुद्धिमानीपूर्वक जाँच करने की योग्यता प्राप्त करने हेतु सांस्कृतिक परिस्थितियाँ भी उपलब्ध होनी चाहिए (तदनुसार, षिक्षा तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हेतु संदर्भ)।

स्वतंत्र, समझदार एवं आत्म-निर्णयन् में सक्षम के रूप में व्यक्ति की संकल्पना के आधार पर ही व्यक्तिवादी जन नागरिक व राज्य के बीच संबंध विषयक तथा राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों संबंधी अपने सिद्धांत को और अधिक परिभाषित करते हैं।

बोध प्रष्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) स्वत्व संबंधी व्यक्तिवादी संकल्पना पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

24.4 राज्य की प्रकृति व प्रकार्य संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धांत

राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धांत स्वतंत्र, समझदार एवं आत्म-निर्माणकारी के रूप में स्वत्व की संकल्पना पर आधारित है। व्यक्तिवाद के अनुसार, चूँकि व्यक्तिजन स्वतंत्र, समझदार एवं आत्म-निर्णयन् सक्षम हैं, उनके हितों को इस बात से बेहतर बढ़ावा मिलता है कि उन्हें स्वयं चुननें दे कि वे किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। उत्तम जीवन संबंधी किसी दृष्टिकोण-विषेष को लागू किए जाने हेतु राज्य द्वारा किए जाने वाले प्रयासों से वैयक्तिक हितों को नुकसान पहुँचता है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में स्वतंत्र, समझदार एवं आत्मनिर्णयकारी के रूप में स्वत्व की संकल्पना को राज्य की संकल्पना तटस्थ एवं न्यूनतमवादी हो, ऐसी अपेक्षा होती है। व्यक्तिवाद के लिए राजनीतिक व्यवस्था में अग्रिम मूल्य तब राज्य की उदासीनता ही होना चाहिए। वस्तुतः उदारवादी व्यक्तिवाद का एक विषेष लक्षण है – एक तटस्थ एवं न्यूनतम राजनीतिक सत्ता के रूप में राज्य पर उसका ज़ोर दिया जाना।

MAADHYAM IAS

एक तटस्थ राज्य को एक ऐसे राज्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो हित संबंधी किसी भी वैयक्तिक संकल्पना-विषेष का पक्ष नहीं लेता, न ही उसको संरक्षण देता है, न ही बढ़ावा देता है अथवा विपरीततः उसके विरुद्ध भेदभाव करता है अथवा उसे कानूनन दण्डनीय बनाता है। बल्कि इस प्रकार का राज्य एक ऐसा तटस्थ ढाँचा प्रदान करता है जिसके भीतर हित संबंधी विभिन्न एवं संभाव्यतः परस्पर-विरोधी संकल्पनाओं की खोज की जा सकती है। वह अपने नागरिकों द्वारा मन में रखे जाने वाले उत्तम जीवन संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों एवं संकल्पनाओं को बिना विरोध सहने के प्रति वचनबद्ध होता है। दूसरे शब्दों में, तटस्थ राज्य उत्तम जीवन संबंधी किसी संकल्पना-विषेष को नहीं थोपता। इसकी बजाय वह अपना जीवन व्यतीत करने के सबसे अच्छे तरीके के विषय में लोगों के फैसलों से दूर ही रहता है, जिससे वह हित अथवा जीवन-रीति संबंधी अपनी संकल्पना के अनुषीलन हेतु प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र (एक यथासंभव सीमा तक) हो जाता है।

24.4.1 राज्य व सरकार के प्रकार्य

तब, व्यक्तिवाद के अनुसार, राज्य व सरकार के औचित्यपूर्ण कार्य क्या हैं? व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में लोग अपनी प्राकृतिक अथवा पूर्व-राजनीतिक स्वतंत्रता से सम्पन्न हैं। शासन शासितों की सम्मति से ही उत्पन्न होता है। राज्य कोई प्राकृतिक सत्ता नहीं; बल्कि यह एक कृत्रिम परन्तु आवष्यक रचना है। राज्य को दरअसल एक अनिवार्य बुराई के रूप में परिभाषित किया जाता है। चूँकि राज्य एक आवष्यक बुराई है, सबसे कम शासन करने वाली सरकार को ही सबसे अच्छी सरकार माना जाता है। राज्य के प्रकार्य एवं भूमिका इसी कारण वैयक्तिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता की गारण्टी एवं संरक्षण दिए जाने तक ही

सीमित हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य की भूमिका अल्पतम है और कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने व अपने नागरिकों की सुरक्षा संबंधी प्रबंध एवं तैयारी करने तक ही सीमित है, आगे उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए। राज्य को नागरिकों की आज़ादी में दखलंदाज़ी केवल तभी करनी चाहिए, जब उसे दूसरों की आज़ादी में अनावष्यक रूप से हस्तक्षेप करने से किसी व्यक्ति को रोकना हो।

तटस्थ और अल्पतम के रूप में राज्य को लिया जाना ऊपर चर्चित लेस-अ‍ॅफेअ‍ॅ सिद्धांत से ताल्लुक रखता है, जो कि व्यक्ति को अत्यधिक एवं अनुचित राज्य हस्तक्षेप एवं नियंत्रण से मुक्त छोड़ दिए जाने हेतु दलील देता है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से, एक राज्य जो अपने कर्तव्यों को वैयक्तिक अधिकारों की सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करने से परे परिभाषित करता है, अपने नागरिकों की स्वतंत्रता एवं आत्म-दृढ़ता को प्रतिबंधित करता है।

व्यक्तिवाद, तदनुसार, राज्यीय गतिविधियों के विस्तार एवं वैयक्तिक अधिकारों व स्वतंत्रता के क्षेत्र परिवर्धन (enlargement) के बीच एक प्रतिलोम (inverse) संबंध देखता है।

स्वत्व संबंधी व्यक्तिवादी संकल्पना की, राज्य एवं नागरिक के बीच संबंध से जुड़ी अपनी समझ और राज्यीय गतिविधियों के उचित कार्यक्षेत्र की अनेक सैद्धांतिक पहलुओं से आलोचना की गई है, जिनमें से कुछ हैं – फासीवाद, सर्वोदय, साम्यवाद तथा नारीवाद। तथापि, व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य की सर्वाधिक गंभीर आलोचना समुदायवाद के सिद्धांत में पायी जाती है। आगे हम व्यक्तिवाद की समुदायवादी आलोचना पर दृष्टिपात करेंगे।

बोध प्रश्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) व्यक्तिवादी सिद्धांत में राज्य की भूमिका/उसके प्रकार्यों पर चर्चा करें।

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

....

....

....

....

24.5 समुदायवाद : एक परिचय

उन्नीस सौ अस्सी के दषक से उदारवादी-व्यक्तिवाद सिद्धांत को अपनी सबसे भेदकारी एवं कड़ी चुनौती और आलोचना का सामना करना पड़ा, उस बात में जिसे "समुदायवाद" नाम दिया जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, समुदायवाद (communitarian) शब्द सबसे पहले माइकल सैण्डल द्वारा उनकी पुस्तक *लिब्रलिज़्म एण्ड द लिमिट्स ऑफ जस्टिस* (1982) में प्रकाष में लाया गया, जिसमें उन्होंने जॉन रॉल्स के उदारवादी न्याय

संबंधी सिद्धांत की उदारवादी व्यक्तिवादी बुनियादों की आलोचना को और अधिक परिभाषित किया। उदारवादी व्यक्तिवाद के कुछ उन्य समुदायवादी आलोचक हैंः ऐलिसड्यैर मैकइंटर, माइकल वॉल्ज़र तथा चार्ल्स टेलर। ये समुदायवादी चिंतक हेगेल और रूसो से बहुत अधिक प्रेरित हैं।

समुदायवादी जन सर्वप्रथम एवं सबसे महत्त्वपूर्ण रूप से समुदाय से संबंध रखते हैं। दो या उससे अधिक लोग एक समुदाय का निर्माण करते हैं जब वे हित संबंधी किसी आम अवधारणा में भागीदार होते हैं और इस हित को अपनी पहचान अथवा स्वत्वों के अंषतः निर्माणकारी के रूप में देखते हैं। इस प्रकार का ''निर्माणकारी समुदाय'' कोई घनिष्ट मित्रता, पारिवारिक संबंध, पड़ोस अथवा कोई विस्तृत राजनीतिक समुदाय हो सकता है।

समुदायवादी जन इस बात पर ज़ोर देते हैं कि व्यक्तियों के रूप में हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन में अपनी पहचान, प्रकृतिप्रदत्त योग्यताओं एवं व्यवसाय को सिर्फ़ एक समुदाय के प्रसंग में ही विकसित करे। हम स्वभावतः सामाजिक प्राणी हैं। चूँकि समुदाय ही वैयक्तिक स्वभाव को निष्चित और आकार प्रदान करता है, राजनीतिक जीवन समुदाय से संबंध रखते हुए ही आरम्भ होना चाहिए न कि व्यक्ति से। दूसरे शब्दों में, आदर्ष और न्यायसंगत पर विचार करते हुए सैद्धांतिक चिंतन का केन्द्र समुदाय ही होना चाहिए, न कि व्यक्ति।

समुदायवादी चिंतकों के अनुसार उदारवादी व्यक्तिवाद का मुख्य दोष तब यह है कि वह भ्रम-जनित रूप से और अप्रतिकार्य रूप से व्यक्तिवादी है। व्यक्ति और राज्य के बीच संबंध की उदारवादी संकल्पना, समुदायवाद के अनुसार, अनुचित रूप से सीमित है और साथ ही समाज की यथार्थ प्रकृति की मिथ्या प्रतिनिधि भी। समुदायवादी दृष्टिकोण में, किसी द्वि-स्तरीय संबंध के लिहाज से एक स्तर पर व्यक्ति के साथ सोचना और दूसरे स्तर पर राज्य के साथ, इतना ही काफी नहीं है। समूह व समुदाय व्यक्ति व राज्य के बीच एक मध्यवर्ती स्थिति में हैं और उन्हें इस प्रकार के अधिकार- एवं कर्त्तव्य-धारक इकाइयों में गिना जाना चाहिए जिनके अन्तर्संबंधों की गवेषणा करनी हो। समुदायवादियों के अनुसार, समाज से ऊपर व्यक्तियों के अधिकारों एवं आज़ादी पर ज़ोर देकर, उदारवादी व्यक्तिवाद सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन हेतु समुदाय-सदस्यता एवं पहचान के महत्त्व को अनदेखा करता है। वह उस विस्तारक्षेत्र पर ध्यान नहीं देता जहाँ तक कि वह समाज/समुदाय जिसमें लोग रहते हैं, वे जो हैं को निरूपित करता है और उन मूल्यों को भी, जो वे रखते हैं।

यद्यपि समुदायवादी आलोचकगण उदारवादी व्यक्तिवाद के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, उनमें से कुछ मुख्य प्रसंगों व तर्कों को पहचानना संभव है; जैसा कि स्वत्व संबंधी उदारवादी-व्यक्तिवाद अवधारणा की समालोचना तथा राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों संबंधी उसकी समझ। आगे हम इन तर्कों के संदर्भ में उदारवादी व्यक्तिवाद की समुदायवादी समीक्षा का अध्ययन करेंगे।

बोध प्रष्न 5

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) समुदायवाद क्या है? स्पष्ट करें।

....

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

....

....

24.6 स्वत्व की व्यक्तिवादी संकल्पना संबंधी समुदायवादी समालोचना

अधिकतर समुदायवादी चिंतन ने खुद को स्वयं संबंधी एक स्पष्ट संदर्भ और एक व्यक्तिवादी संकल्पना के परित्याग की भाषा में प्रस्तुत किया है। इस समुदायवादी दावे का सामान्य रूप यह है कि व्यक्तिवादी राजनीति-सिद्धांत हमें (व्यक्तियों के रूप में) इस तरीके से अपने सामाजिक प्रयोजनों व हित-संकल्पनाओं से दूर – अलग ले जाता है कि जो उस तरीके से मेल खाने में सहज ही असफल रहता है जिससे हम वस्तुतः इन प्रयोजनों से संबंध रखते हैं।

24.6.1 व्यक्तिवाद की दो मुख्य मर्यादाएँ (Limitations)

समुदायवादी जन सामाजिक प्रयोजनों से विमुख एवं पृथक् रूप से स्वत्व संबंधी उदारवादी व्यक्तिवादी बोध की दो मुख्य सीमाबद्धताओं की ओर संकेत करते हैं : प्रथम, वह समुदाय के महत्त्व का अवमूल्यन करती है, उसको नगण्य मानती है और उसे पदोन्नत करती है; और दूसरे, वह स्वत्व व उसके प्रयोजनों के बीच संबंध की एक त्रुटियुक्त संकल्पना को पहले से ही मानकर चलती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

पहली समालोचना में, समुदायवाद समुदाय के महत्त्व को कम करने व उसे नगण्य मानने के लिए और अधिक विषेष रूप से उसकी उस सीमा तक उपेक्षा करने के लिए उदारवादी व्यक्तिवाद का विरोध करता है; जहाँ तक कि यही वह समाज या समुदाय है जिसमें लोग रहते हैं, जो इस बात को इच्छित रूप प्रदान करता है कि वे क्या हैं और कौन से मूल्य अपनाते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर देखा, व्यक्तिवाद यह समझता है कि समाज से बाहर लोग आत्म-निर्भर हैं और आत्म-निष्चय हेतु अपनी क्षमताओं को विकसित व प्रयोग करने के लिए उन्हें किसी समुदाय प्रकरण की आवष्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में, व्यक्तिवाद व्यक्ति के लिए एक उत्तम जीवन को कार्यरूप देने में समुदाय-सदस्यता के महत्त्व को मान्यता नहीं देता।

समुदायवाद के अनुसार, तथापि, समुदाय व्यक्ति के उत्तम जीवन हेतु एक आधारभूत और अप्रतिस्थाप्य घटक हैं। लोग कितने भी लोचदार और स्वावलम्बी हों, सामाजिक एवं समुदायिक जीवन से बाहर मानव का अस्तित्व सोचा भी नहीं जा सकता। लोग, समुदायवादियों के अनुसार रॉबिन्सन क्रूसो नहीं हैं जो पूरी तरह से और स्थायी एकाकीपन में रह लें। बल्कि लोग तो उस समुदाय द्वारा संगठित और अपनी पहचान बनाये हुए हैं, जिससे वे संबंध रखते हैं। मनुष्यों के रूप में हम अनिवार्यतः किसी परिवार, धर्म, जनजाति, प्रजाति व राष्ट्र के सदस्य हैं। इस प्रकार, सामाजिक एवं सामुदायिक प्रयोजनों व मूल्यों से दूर होने की बजाय, हमारा एक इतिहास है और विषिष्ट सामाजिक परिस्थितियों में

हमारा स्थान निर्दिष्ट है। इस सामुदायिक सदस्यता से जुड़ाव और नैतिक परियुक्तियाँ ही ''हम जो हैं'' को निर्धारित करती हैं और ''हम जो मूल्य रखते हैं'' को निष्चित रूप प्रदान करती हैं। समुदायवादी जन, तदनुसार, उस स्वत्व संबंधी एक विषेष परिकल्पना को जन्म देने के लिए उदारवादी व्यक्तिवाद की आलोचना करते हैं, जो उस सामाजिक सच्चाई से पृथक्त है, जो उसको स्थापित करती है।

दूसरी समालोचना के अनुसार, समुदायवाद वैयक्तिक स्वत्व और उसके प्रयोजनों के बीच संबंध की एक भ्रम-जनित अथवा मिथ्या समझ रखने के लिए व्यक्तिवाद की आलोचना करता है। जैसा कि ऊपर चर्चा की गयी, व्यक्तिवाद इस अर्थ में 'स्वत्व को उसके साध्यों से पहले' समझता है कि व्यक्तियों के पास उत्तम जीवन की प्रकृति विषयक सबसे गंभीर रूप से ली जाने वाली मान्यताओं को, यदि वे और अधिक पालन योग्य न पायी जायें तो, आलोचित करने, संषोधित करने व निरस्त करने का अधिकार है।

समुदायवाद के अनुसार, स्वत्व संबंधी इस धारणा को स्वीकार करना व्यक्ति द्वारा स्वयं को देह-मुक्त, उत्रृण और सामाजिक लक्ष्यों व जुड़ावों के साथ एक स्वैच्छिक संबंध निभाते व्यक्ति के रूप में देखना है। वे व्यक्तिवाद द्वारा स्वीकृत स्वत्व और उसके साध्यों के बीच संबंध की इस स्वेच्छावादी तस्वीर का विरोध करते हैं। उनके उनुसार, यह तस्वीर उस रीति को अनदेखा करती है जिससे हम सामाजिक भूमिकाओं व समुदाय-सदस्यता द्वारा घिरे हैं या उनमें अवस्थित (embedded) हैं और अंषतः संघटित भी।

स्वत्व संबंधी व्यक्तिवादी संकल्पना की आलोचना करते हुए, समुदायवादी जन यह पूछते हैं कि क्या हम उन खास मूल्यों से वाक़ई पीछे हट सकते हैं जो हम अपनाते हैं, और उन्हें नए मूल्य अपनाने के लिए बदल सकते हैं, या फिर इसकी बजाय हमें सर्वथा ऐसे लोग बना दिया जाता है जो कि उन्हीं मूल्यों से जाने जाते हैं जिन्हें हम सकारते हैं ताकि जुड़ाव की गुंजाइष रहे? मनुष्य जन, उनका तर्क है, अनिवार्यतः सामाजिक प्राणी हैं। इस प्रकार, हम न तो अपने सामाजिक व सामुदायिक लक्ष्यों और लगावों को **चुनते** हैं, न ही उन्हें अस्वीकार करते हैं; बल्कि हम उन्हें **महसूस करते** हैं। हम न तो अपने सामाजिक एवं सामुदायिक लक्ष्यों से **मुक्त** हैं, न ही उनसे दूर खड़े हैं; बल्कि हम स्वयं को उनमें **स्थापित/अवस्थित** पाते हैं। उदाहरण के लिए, हम अपना परिवार, जाति अथवा धर्म चुनते नहीं हैं; हम उनमें स्वयं को स्थापित पाते हैं। फिर हम एक परिवार, धर्म और राष्ट्र में अपने स्थान, पद और परिस्थिति के अनुसार अपने कल्याण संबंधी अवधारणा और लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं। समुदायवाद के अनुसार, हम सारी सामाजिक भूमिकाओं व सामुदायिक पहचानों से कभी मुक्त नहीं होते। सामाजिक समूहों व समुदायों की हमारी सदस्यता ही उत्तम जीवन संबंधी हमारी पहचान और समझ को निर्धारित व स्थापित करती है। हम हमेषा ही सामाजिक संबंधों व समुदाय-सदस्यता से पीछे नहीं हट सकते हैं और न ही उनसे बाहर रहना पसंद कर सकते हैं। हमारे सामाजिक संबंध और भूमिकाएँ, यथाप्रदत्त ही स्वीकार की जानी चाहिए। जैसा कि सैण्डल लिखते हैं : ''मैं उन भूमिकाओं के अर्थ की व्याख्या कर सकता हूँ जिनमें मैं स्वयं को पाता हूँ, परन्तु उन भूमिकाओं को ही, अथवा उनसे अन्तर्जात लक्ष्यों को बेकार बताकर, निरस्त नहीं कर सकता। चूँकि एक व्यक्ति के रूप में मेरे लिए ये लक्ष्य निर्माणकारी हैं, उन्हें 'अपने जीवन में मैं क्या करूँ' निर्धारित करने में यथाप्रदत्त स्वीकार करना पड़ेगा; मेरे जीवन में कल्याण का प्रष्न एक ऐसा प्रष्न ही हो सकता कि उनके अर्थ की सर्वोत्तम व्याख्या कैसे की जाए। यह कहना निरर्थक होगा कि उनका मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि उनके पीछे खड़े रहने में 'मैं' का कोई अस्तित्व नहीं, उनके प्रयोजनों अथवा निर्माणकारी लगावों से ऊपर कोई स्वत्व नहीं''।

MAADHYAM IAS

इस प्रकार, समुदायवादी जन व्यक्तिवाद में पायी जाने वाली व्यक्ति संबंधी पूर्वकालीन असामाजिक व अमूर्त संकल्पना की भर्त्सना करते हैं। उनके अनुसार, यह संकल्पना उस रीति को अनदेखा करती है जिसमें कि इस प्रकार का समाज विद्यमान है जिसमें वे लोग रहते हैं जो दोनों ही लिहाज़ से अपनी समझ का मर्म स्पर्ष करते हैं – स्वयं संबंधी भी और वे अपना जीवनयापन कैसे करें संबंधी भी। एक मूल्यवान जीवन, उनका तर्क है, वो है जो बचनबद्धताओं और संबंधों से भरपूर हो। और उन्हें जो वचनबद्ध बनाता है, सटीक रूप से यह है कि वे इस प्रकार की बातें नहीं हैं जिनके विषय में लोग आये दिन सवाल करें।

बोध प्रश्न 6

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) स्वत्व संबंधी व्यक्तिवादी संकल्पना की समुदायवादी समालोचना पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

24.7 राज्यीय तटस्थता की समुदायवादी समालोचना

उदारवादी व्यक्तिवाद समालोचना का दूसरा मुख्य केन्द्र है, राज्य की प्रकृति एवं प्रकार्यों संबंधी उसकी समझ। जैसा कि ऊपर चर्चा की गयी, उदारवादी व्यक्तिवादी जन राज्य को एक अल्पतम और उदासीन राजनीतिक सत्ता के रूप में लेते हैं, जिसके प्रकार्य वैयक्तिक अधिकारों के रक्षण तथा कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने तक ही सीमित हैं। चूँकि व्यक्तिजन स्वतंत्र, समझदार और आत्म-निर्णयन् में सक्षम हैं, राजनीतिक व्यवस्था में आधारभूत मूल्य, व्यक्तिवाद के अनुसार, राज्य की पक्षपातषून्यता ही होना चाहिए। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया, एक पक्षपातषून्य राज्य वो होता है जो कल्याण संबंधी किसी संकल्पना-विषेष के प्रति वचनबद्ध नहीं होता, और कल्याण संबंधी सभी संकल्पनाओं से समदूरस्थ और उनके प्रति सहिष्णु रहता है।

समुदायवादी जन वैयक्तिक आत्म-निर्णयन् और राज्यीय पक्षपातषून्यता के बीच इस संबंध का विरोध करते हैं। उनके अनुसार, यह दृष्टिकोण कि राज्य मूल्य-तटस्थ होना चाहिए और व्यक्तिजन अपने विकल्प चुनने के लिए स्वतंत्र होने चाहिए, एक परमाणुवादी विचार से उत्पन्न होता है कि स्वायत्तता की रक्षा तभी हो सकती है जब उत्तम जीवन विषयक फैसले राजनीतिक कार्यक्षेत्र से बाहर रखे जायें और एक वैयक्तिक आधार पर किए जायें। इस प्रकार के ''परमाणुवाद'' को ठुकराते हुए, समुदायवादियों का तर्क है कि, यथार्थतः वैयक्तिक फैसलों को अनुभवों को बाँटे जाने, सामूहिक सलाह-मषविरा लिए-दिए जाने और सहभागित व्यवहारों के सामूहिक मूल्यांकन की अपेक्षा होती है। दूसरे शब्दों में,

उत्तम जीवन विषयक वैयक्तिक विकल्पों का प्रयोग केवल किसी खास तरह के समुदाय में ही किया जा सकता है, न कि स्वतंत्रता व तटस्थता द्वारा प्रेरित किसी संस्कृति के चौक में, जिसकी कि उदारवादी व्यक्तिवाद द्वारा गारण्टी दी जाती है।

समुदायवादी दृष्टिकोण, इसीलिए, जन-कल्याण संबंधी राजनीति के पक्ष में उदारवादी पक्षपातषून्यता का परित्याग किए जाने हेतु तर्क देते हैं। समुदायवादी जन जन-कल्याण को उत्तम जीवन की एक सारयुक्त संकल्पना के रूप में लेते हैं जो कि जीवन के समुदाय साधन को परिभाषित करती है। उत्तम जीवन संबंधी विभिन्न वैयक्तिक संकल्पनाओं के प्रति उदासीन रहने की बजाय, जन-कल्याण ऐसे मानक प्रदान करता है जिनके द्वारा वैयक्तिक विकल्पों व मूल्यों का मूल्यांकन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, जन-कल्याण उस आधार का निर्माण करता है जिस पर कल्याण संबंधी वैयक्तिक संकल्पनाओं को श्रेणीबद्ध किया जाता है, और किसी व्यक्ति की संकल्पना को दिया जाने वाला महत्त्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह जन-कल्याण के कितने अनुरूप है अथवा उसमें कितना योगदान देती है।

समुदायवादी दृष्टिकोण में, एक निष्पक्ष राज्य वो नहीं जो कल्याण संबंधी सभी वैयक्तिक संकल्पना की ओर से तटस्थ रहता है। बल्कि एक निष्पक्ष राज्य वह होता है, जो अपने नागरिकों को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे कल्याण संबंधी ऐसी संकल्पनाएँ अपनायें जो आम भलाई के माफिक हों, जबकि इसके खिलाफ़ जाने वाली कल्याण संबंधी संकल्पनाओं को नापसंद करता है। समुदायवाद के अनुसार, राज्य की प्रकृति पक्षपातषून्य अथवा अल्पतम नहीं होनी चाहिए; बल्कि उसे एक उत्तम जीवन की ओर अग्रसर होने में अपने नागरिकों के दिषा-निर्देषन में किसी भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। इस प्रकार, जबकि उदारवादी व्यक्तिवाद हर व्यक्ति को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह अपने स्वयं के ''कल्याण'' को परिभाषित करे और उसके लिए प्रयास करे, समुदायवाद का विष्वास है कि ''कल्याण'' को परिभाषित करने और उसके प्राप्ति-प्रयास में लोगों की मदद करने में किसी राजनीतिक संरचना की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इसके अलावा, समुदायवादियों का तर्क है कि जन-कल्याण की आवष्यकता न सिर्फ लोगों के उत्तम जीवन विषयक फैसलों के दिषा-निर्देषन में होती है, बल्कि एक न्यायसंगत और विधिसंगत राजनीतिक समुदाय की स्थापना में भी होती है। टेलॅर के अनुसार, जन-कल्याण संबंधी धारणा रखने की ज़रूरत है ताकि नागरिकजन एक कल्याणकारी राज्य द्वारा अपेक्षित न्याय संबंधी माँगों को स्वीकार कर सकें। एक कल्याणकारी राज्य में न्याय–सिद्धांत के अन्तस्थल में यह तर्क है कि लाभांवित जन को दूसरों (अलाभांवितों) की खातिर अपने अधिकारों व पुरस्कारों के कुछ अंष का परित्याग करना चाहिए। उदाहरण के लिए, एक उदारवादी पूँजीवादी समाज में, सम्पत्ति-सम्पन्न वर्गों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी सम्पत्ति में से कुछ का (करों के रूप में उगाहया जाने वाला) परित्याग कर दें ताकि सम्पत्ति-विपन्न लोगों को लाभ पहुँचे और एक न्यायसंगत समाज को कायम रखा जा सके। टेलॅर के अनुसार, तथापि, इस प्रकार के परित्याग हेतु मांग एक व्यक्तिवादी समाज में अनुचित लगेगी क्योंकि नागरिकों से अपने अधिकारों का परित्याग ऐसे लोगों की खातिर किए जाने की अपेक्षा रहेगी जिनके साथ वे कोई सामुदायिक पहचान अथवा सर्वमान्य जीवन-रीति का पालन नहीं करते। यदि हम किसी समुदाय अथवा सहभागित जीवन-रीति से दूर रहते हैं, तो निष्चय ही हम उदारवादी न्याय के बोझ को कंधा देने के अनिच्छुक होंगे। समुदायवादी दृष्टिकोण में इसीलिए, न्याय एक ऐसे समुदाय में ही जड़ जमाता है जिसका मुख्य जोड़ आदमी और समुदाय, दोनों की कल्याण संबंधी सहभागित समझ (shared understanding) है।

बोध प्रश्न 7

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) राज्यीय तटस्थता की धारणा संबंधी समुदायवादी समालोचना का परीक्षण करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

24.8 सारांष

ऊपर, हमने व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच वाद-विवाद संबंधी मुख्य धारणाओं पर सूक्ष्म दृष्टि डाली। अब हम इस इकाई का समापन व्यक्तिवाद और समुदायवाद के कुछ योगदानों एवं सीमाबंधनों की ओर संकेत करके करेंगे।

MAADHYAM IAS

जैसे कि पहले ही चर्चा की जा चुकी है, व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच बहस ऐसे लोगों के बीच बहस है जो वैयक्तिक अधिकारों एवं स्वायत्तता का समर्थन करते हैं और जो सामुदायिक बंधनों एवं सामाजिक लगावों पर ज़ोर देते हैं। जबकि व्यक्तिवाद राजनीतिक यथार्थ को स्वतंत्र एवं अधिकार-सम्पन्न व्यक्तियों के निर्णयों एवं कार्यों द्वारा साकार किए जाने के रूप में देखता है, समुदायवादी जन व्यक्ति एवं समुदाय के बीच संबंध पर ज़ोर देते हैं और इस संबंध को ही राजनीति का आधार मानते हैं। इस विरोध के बावज़ूद, व्यक्तिवाद और समुदायवाद दोनों ने ही राजनीति के सिद्धांत एवं व्यवहार में बड़ा योगदान दिया है।

ऐतिहासिक रूप से, व्यक्तिवादी विचारों एवं नीतियों ने संगठित धर्मों, सामाजिक क्रम-व्यवस्थाओं तथा निरंकुष राज्य के विरुद्ध एक उद्धारक आन्दोलन को जन्म दिया। इसने राज्य की निरंकुषता के खिलाफ़ व्यक्ति की योग्यता, प्रतिष्ठा एवं स्वतंत्रता का दावा किया। इसके बदले में उसने सामूहिक निर्णय का लोकतंत्रीकरण करवा दिया। तथापि, व्यक्तिवादी सिद्धांत की कुछ सीमाबद्धताएँ भी हैं। लेस-अॅफेअॅ व्यक्तिवाद की मुख्य मान्यता, कि वह आर्थिक विकास और सामाजिक सामन्जस्य को बढ़ावा देगा, सफल नहीं हुई। इसकी बजाय व्यक्ति की स्वतंत्रता, जो कि निरंकुष राज्य से पहले ही प्राप्त हो चुकी थी, एक मुक्त-बाज़ार अर्थव्यवस्था प्रणाली द्वारा सम्पत्ति-विपन्न वर्ग से बाद में छीन ली गई। ऐसी स्थिति में, वंचित जन ने समर्थनकारी हस्तक्षेप अथवा कल्याण हेतु राज्य का मुँह ताका। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी में, लेस-अॅफेअॅ अथवा आर्थिक व्यक्तिवाद के विचार ने कल्याणकारी उदारवाद का रास्ता दिखाया। आज, एक बार फिर कल्याणकारी राज्य के स्थान पर लेस-अॅफेअॅ सिद्धांत को लाकर व्यक्ति की स्वतंत्रता फिर से पुनर्प्राप्त करने के

पक्ष में तर्क दिए जा रहे हैं। यह दलील खासकर इच्छा-स्वातंत्र्यवादीजन अथवा नव-उदारवादी जन देते हैं।

उदारवादी परिप्रेक्ष्य ने नागरिकों के उत्तम जीवन को निर्धारित करने में सामाजिक/सामुदायिक सदस्यता और मूल्यों के महत्त्व पर उचित रूप से ज़ोर देकर राजनीति के अध्ययन में योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त, भारत जैसे समाजों में, जो कि मूल रूप से समुदायों से मिलकर बने हैं, विभिन्न समुदायिक मूल्यों व पहचानों को मान्यता और सम्मान देना अनिवार्य है। तथापि, समुदायवाद, यदि वैयक्तिक अधिकारों का सहायक नहीं हुआ, तो भविष्य में कभी रूढ़िवादी और दमनकारी सम्पृक्तार्थ ग्रहण कर सकता है क्योंकि वह वर्तमान समुदायों व उनकी परम्पराओं की रक्षा किए जाने का सम्मान करता है। यह बात ऐसे कुछ समूहों के बहिष्करण में परिणत हो सकती है जिनकी जीवन-रीति जन-कल्याण अथवा सहभागित जीवन-रीति के अनुरूप न हो।

समसामयिक राजनीति-सिद्धांत में, व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच सम्पूरकता पर ज़ोर दिए जाने के प्रयास हो रहे हैं। कुछ राजनीतिक सिद्धांती जन जिन्होंने इस प्रकार के प्रयास किए, वे हैं – विल किमलिका, भिक्खु पारेख और चार्ल्स टेलॅर। ये सिद्धांती जन एक ऐसे उदावादी विचार की संभावना को रेखांकित करते हैं जिसका उनसे कोई विवाद न हो और जो कि शायद समुदायवादियों द्वारा पेष किए जाने वाले तर्कों को समर्थन देता है। व्यक्तिवाद और समुदायवाद के बीच सम्पूरकता तलाषने हेतु इस प्रकार के प्रयास समसामयिक राजनीति-सिद्धांत और व्यवहार में कुछ मुख्य विवादों को निपटाने हेतु आवष्यक हैं।

24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ऐबैन्स्टीन, विलियम, *ग्रेट पॅलिटिकॅल थिंकर्स : प्लेटो टु द प्रेज़ेन्ट, ऑक्सफोर्ड,* न्यूयार्क व आई.बी.एच., 1969

हैम्पटन, जीन, *पॅलिटिकॅल फ़िलॅसॅफ़ि,* ऑक्सफोर्ड, दिल्ली, 1998

किम्लिका, विल, *कॅन्टैम्पॅरैरी पॅलिटिकॅल फ़िलॅसॅफ़ि : ऐन इण्ट्रोडक्षन,* क्लेरैन्डन, ऑक्सफोर्ड, 1990

मल्हाल एवं स्विफ़्ट, *लिब्रल्स एण्ड कॅम्युनिटेरियन्स,* ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड, 1992

हेवुड, एन्ड्रयू, *पॅलिटिकॅल आइडियाज़ एण्ड कॅन्सैप्ट्स : ऐन इण्ट्रोडक्षन,* मैकमिलन, लंदन, 1994

24.10 बोध प्रष्नों के उत्तर

बोध प्रष्न 1

1) देखें भाग 24.2 और खासकर उपभाग 24.2.1

2) देखें उपभाग 24.2.2

बोध प्रष्न 2

1) देखें उपभाग 24.3.1

2) देखें उपभाग 24.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 24.4

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 24.5

बोध प्रश्न 5

1) देखें भाग 24.6

बोध प्रश्न 6

1) देखें भाग 24.7

बोध प्रश्न 7

1) देखें भाग 24.8

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 25 फासिज़्म

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देष्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 फासिज़्म के सामान्य स्पष्टीकरण एवं लक्षण
25.3 फासिज़्म के विचारात्मक सूत्र (Strands)
25.4 फासिज़्म के सामाजिक आधार
25.4.1 युद्ध, कूटनीति और राष्ट्रवाद
25.4.2 1929 का आर्थिक संकट
25.4.3 फासिज़्म हेतु राजनीतिक संघटन
25.4.4 आधिपत्य और अवपीड़न का प्रष्न
25.5 फासिज़्म के अधीन राज्य और समाज
25.6 सारांष
25.7 शब्दावली
25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
25.9 बोध प्रष्नों के उत्तर

25.0 उद्देष्य

प्रस्तुत इकाई का मूल उद्देष्य है – आपको फासीवादी विचारों यानी साम्यवाद-विरोधी आन्दोलन तथा चरम दक्षिणपंथी राजनीतिक संघटन के रूप में राज्यों के विकास का बोध कराना। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातों को समझ सकेंगे :

- फासिज़्म के कुछ सामान्य लक्षण तथा अधिनायकीय उद्देष्यों की प्राप्ति हेतु संघटन की प्रकृति;
- एकाधिक सैद्धांतिक विचार जिन्होंने फासीवादी राज्य और उसकी संगठनात्मक शैली के क्रमविकास में योगदान दिया;
- सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ जो कि फासिज़्म के उद्गमन हेतु उत्तरदायी रहीं; तथा
- फासीवादी शासन-प्रणालियों के अधीन राज्य और समाज।

25.1 प्रस्तावना

ज्ञानोदय की योजना ने दैवी स्वीकृति की धारणा पर आधारित समाज और राज्य की पुरातन व्यवस्था के समक्ष एक गंभीर चुनौती रख दी। 18वीं शताब्दी तक, प्रतिनिधित्व और चुने हुए प्रतिनिधियों के इर्द-गिर्द ही संगठित राज्य संबंधी धारणा जड़ पकड़ चुकी थी। इसने एक विषिष्ट राजनैतिक उद्देष्य की प्राप्ति हेतु आधुनिक राजनीति अथवा किसी विषिष्ट धारणा अथवा नीति के इर्द-गिर्द ही लोगों के संघटन का संकेत दिया। इस आधुनिक राजनीति के संस्थागत रूप थे – चुनाव, राजनीतिक दल तथा आधुनिक राजनीतिक संस्कृति के सभी प्रतीकों एवं भूषा वाले आधुनिक समाचार-पत्र, जिन्होंने एक आम जगह बनायी। इस बात ने उन्हें इस सार्वजनिक स्थल पर आने के लिए उपलब्ध राजनैतिक विकल्पों तथा एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करने संबंधी समूचे विस्तार की ओर

प्रवृत्त किया। 19वीं शताब्दी के अंत तक इसने यूरोप के त्रिपक्षीय वैचारिक विभाजन में सुस्पष्ट और नियत आकार ले लिया। अन्तर्युद्ध काल के दौरान अनेक यूरोपीय देषों में उग्र दक्षिणपंथी संगठनों अथवा फासिज़्म को सत्ता में लाने वाली राजनीतिक संघटन प्रक्रियाओं को समझने के लिए उक्त कथन को मनोगत करना अत्यावष्यक है। 1870 के दषक पष्चात् एकाधिकार पूँजीवाद और परिणामी प्रचण्ड साम्राज्यवादी प्रतिद्वंदिताओं ने ही उग्र राष्ट्रवादी विचारधाराओं एवं युद्धप्रियता को उद्दीप्त किया। नए राजनैतिक प्रसंग में, राजनीतिक समर्थन हेतु अपील उन नई, भद्रोचित इतर-वर्ग (non-class) पहचानों के आधार पर दी गई, जो कि विषेष रूप से कार्यस्थल से बाहर थीं। परिणामतः, विलक्षण जन-निर्वाचक वर्गों का जन्म हुआ; जैसे – ''युद्धानुभवी सैनिक'', ''करदाता'', ''खेल-षौकीन'', अथवा महज ''राष्ट्रीय-नागरिक''। इन प्रछन्न सामाजिक मतभेदों के खुले संघर्ष में कायान्तरण को प्रथम विष्वयुद्धोपरांत यूरोप में दक्षिणपंथी फासीवादी तानाषाही की बढ़वार हेतु आवष्यक पृष्ठभूमि के रूप में भी अवष्य देखा जाना चाहिए। यह इकाई फासिज़्म के कुछ सामान्य लक्षणों से आरम्भ होती है और फिर फासिज़्म के सैद्धांतिक एवं सामाजिक आधारों का विवरण प्रस्तुत करती है।

25.2 फासिज़्म के सामान्य स्पष्टीकरण एवं लक्षण

फासिज़्म की व्याख्या बहुविध तरीकों से की गई है। एक पसंदीदा मार्क्सवादी नज़रिया है इसकी व्याख्या एकाधिकार वित्त पूँजी (monopoly finance capital) के एक उग्र, निरंकुष साधन के रूप में करना, जो कि वर्ग-संघर्ष के तीव्रीकरण काल और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में तीक्ष्ण संकटकाल में श्रमिक अधिकारों पर निर्मम प्रहार के रूप में उभरा। एक अन्य व्याख्या फासिज़्म को प्रथम विष्वयुद्ध की बर्बरता और असभ्य अवस्था के परिणामों में सांस्कृतिक एवं नैतिक अभिभव के उत्पादन के रूप में देखती है। कार्ल पोलैन्यी कृत *द ग्रेट ट्रांस्फॉर्मेषन* के अनुसार, प्रथम विष्वयुद्ध ने 19वीं शताब्दी यूरोप की बुनियादों को ध्वस्त कर दिया और युद्ध-संघटन, सुविधाहीनता और विस्थापन द्वारा इंगित एक दीर्घ संकटकाल को उन्मुक्त किया। ऑस्वॉल्ड स्पैंगलर ने अपनी *डिक्लाइन ऑफ द वैस्ट* की रचना 1918 में की और सिद्ध किया कि पाष्चात्य सभ्यता, जो कि उद्योगवाद द्वारा अभिलक्षित है, 20वीं शताब्दी में पतन के कगार पर पहुँच चुकी थी। स्पैंगलर ने एक विकल्प के रूप में 'जीवन-दर्षन' का प्रचार करने के लिए आधुनिकता संबंधी तर्कणापरक प्रवृत्तियों की तीखी आलोचना की। विलहैम रीष, एक नव-मनोविष्लेषक अपनी 'मास-साइकॅलॅजि ऑफ़ फ़ैसिज़्म' में फासीवाद को नितांत स्नायु-संबंधी अथवा रोगात्मक आवेगों के परिणाम के रूप में स्पष्ट करते हैं, जो कि पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था में प्रस्तुत अवस्था में रहते हैं। एक अन्य उदारवादी व्याख्या फासीवाद को जन समाज के एक उत्पाद के रूप सामने रखती है जहाँ नातेदारी, धर्म, व्यवसाय या श्रेणी एवं आवास पर आधारित परंपरागत असली पहचानें खत्म हो जाती हैं और एक नए आकारहीन जन-समाज का जन्म होता है। कुछ अन्य जन इसे एकाधिकार व्यापार-गृहों के लाभ-उद्देष्य के विरुद्ध मध्यवर्गीय अतिवाद की एक अनोखी अभिव्यक्ति से जोड़ते हैं। अन्ततः, इसको किन्हीं विषेष वर्ग-हितों अथवा वर्ग-प्रभुत्व से स्वतंत्र किसी करिष्माई नेता के नेतृत्व में एक प्रकार के बॉनापार्टिज़्म (Bonapartism) अथवा एक स्वायत्त सत्तावादी राज्य के रूप में देखा गया है।

फासीवाद उदारवाद, लोकतंत्र एवं मार्क्सवादी समाजवाद के परित्यजन पर आधारित एक क्रांतिक आन्दोलन के रूप में सामने आया। तथापि, यह रूढ़िवादी सत्तावादी समूहों से भिन्न था। रूढ़िवादी दक्षिण-पंथ ने पारंपरिक वैधताओं का आह्वान किया जो कि चर्च, राजतंत्र, नातेदारी आदि पर निर्भर थीं, जबकि फासीवादी एक क्रांतिक सांस्थानिक परिवर्तन चाहते थे और लोगों को आंगिक राष्ट्रवाद (Organic Nationalism) के नाम पर संगठित

करते थे, जो कि अन्य सभी प्रकार की मानव-पहचानों से ऊपर विषेषाधिकार प्राप्त राष्ट्र की सुसंगत सामूहिकता में एक विष्वास है। जैसा कि मानव-षरीर में होता है, शरीर के विभिन्न अवयवों अथवा अंगों का एक दूसरे से संरचनात्मक संबंध सिर्फ़ उनकी भूमिकाओं को परिभाषित करने और सीमा-निर्धारण करने का उद्देष्य पूरा करता है, अतः फासीवादी राज्य के आंगिक दृष्टिकोण में, राज्य राष्ट्रीय साकार रूप में व्यक्तिजनों की पहचानों और अधिकारों पर पूर्ववर्तिता कायम करेगा। यह दृष्टिकोण अन्तरराष्ट्रीयवाद और अन्तरराष्ट्रीयवाद पर आधारित आन्दोलनों, जैसे – साम्यवाद, फ्रीमैसनरी (मुक्त राजगीरी), लीग ऑफ नेषन्ज़ तथा बहुराष्ट्रीय यहूदी समुदाय, के प्रति फासिज़्म की पक्की शत्रुता हेतु भी ज़िम्मेदार है। आमतौर पर, फासिज़्म ज्ञानोदय व उसके विचारों, जैसे – हेतुवादी भौतिकवाद, व्यक्तिवाद और बहुवाद का सिद्धांत, से विरासत में मिली राजनीतिक संस्कृति के परित्यजन का प्रतीक है। लोकतांत्रिक-बुर्जुआई संस्थाओं एवं मूल्यों के प्रति फासीवादी विरोध-प्रदर्षन ने राजनीति के व्यापक, संवैधानिक तथा जनमत-संग्रह आदि रूपों के प्रयोग को वर्जित नहीं किया, अपितु उन्होंने इन लोकतांत्रिक संस्थाओं का प्रयोग केवल उन्हें अन्दर ही अन्दर नष्ट करने और उनकी महत्ता को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाने के लिए किया। फासिज़्म अपने सभी रूपों में बहुलवाद, वैयक्तिक स्वायत्तता तथा नागरिक व राजनैतिक अधिकारों का सम्मान किए जाने पर आधारित लोकतंत्र की धारणा का विरोध करता था।

फासीवादियों का जन-संघटन राजनीति के सैन्यकरण प्रतिमान पर आधारित था। उन्होंने अपने संघटन में सैन्य प्रतीक और परिभाषिकी का प्रयोग किया। जिस प्रकार सैन्य-संगठन अधिकार व आदेष के बहुत्व अभाव और हाईकमान के प्रति सामान्य सैनिक समुदाय के पूर्ण अधीनीकरण पर आधारित होता है, उसी प्रकार फासिज़्मी संगठन भी पवित्रप्राय प्रतिमूर्ति स्वरूप अपना नेता रखते थे – इटली में ड्यूस (Duce) और जर्मनी में फ़्यूरर (Fuhrer) जिसकी इच्छा सभी मामलों में सर्वोच्च होती थी।

MAADHYAM IAS

राष्ट्रवाद की भावना को मज़बूत करने के लिए और अपनी तानाषाहियों के विरोध को पूरी तरह समाप्त कर देने के लिए एक पार्टी सहायक सेना का प्रायः प्रयोग किया जाता था। फासिज़्मी विचारधारा में पुरुषोचित सिद्धांत, अर्थात् पुरुष-प्रधानता और युवाओं के उत्कर्षण पर अत्यधिक ज़ोर दिया जाना भी राजनीति के इसी सैन्यकरण से संबंधित था।

फासिज़्म का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण था – एक प्रकार के नियमित, वर्ग-सहयोगवादी, एकीकृत राष्ट्रीय-आर्थिक प्राधार का संगठन। एक वर्ग-संघर्ष से मुक्त जन-समुदाय के रूप में समष्टिवाद (Corporatism) की धारणा व्यक्तिवाद की बढ़वार और नए सिरे से केन्द्रकृत होते राज्यों के प्रति अनुक्रिया स्वरूप ही उभरी। यह निजी दायित्वों के निगूढ़ (mystical) 'समाधिकार' संबंधी सामन्तिक विचारधारा का एक अवषिष्टांष (residue) था। परन्तु धीरे-धीरे इसने एक आधुनिक, वर्ग-सहयोगवादी रूप अख़्तियार कर लिया। सामाजिक समष्टिवाद की विचारधारा नगर-निगमों/पालिकाओं को पूर्ण स्वायत्तता दिए जाने में विष्वास करती थी, परन्तु फासीवादी विचारधारा राज्य की आवष्यकताओं एवं अपेक्षाओं के प्रति नगर-निगमों/ पालिकाओं के संपूर्ण अधीनीकरण पर ज़ोर देती थी।

बोध प्रष्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) वे कौन से विभिन्न दृष्टिकोण हैं जो कि फासिज़्म को समझने से सम्बन्धित हैं?

....

....

....

....

....

....

....

....

2) फासिज़्म और रूढ़िवादी दक्षिण पंथी अधिनायकवाद के मध्य भेद कीजिये।

....

....

....

....

....

....

....

25.3 फासिज़्म के विचारात्मक सूत्र (Strands)

MAADHYAM IAS

वैचारिक स्तर पर, ऐसा कोई एक एकीकारी विचार नहीं था जिसने फासीवादी आन्दोलन और राज्य को निर्दिष्ट किया हो। फासीवाद विभिन्न विचारों से विजातीय ऋणदानों से उत्पन्न हुआ। फासीवाद का मूल अवयव, जैसा कि हमने ऊपर देखा, एक प्रकार की सावयव (organic) राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद-विरोधी विचारों का संश्लेषण (synthesis) था। सहजबोध, कार्यषक्ति एवं जीवनषक्ति पर आधारित कार्रवाई संबंधी सोरेल के सिद्धांत का प्रभाव भी फासीवादी जन-संघटन के प्रतिमान में समझने योग्य था। फासीवादियों ने समाज के विकास हेतु डार्विन के विचारों को भी लागू करने का प्रयास किया। उनका विष्वास था कि समाज में लोग उत्तरजीविता के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं और केवल श्रेष्ठतर व्यक्तिजन, समूह एवं प्रजातियाँ ही सफल होती हैं। इस धारणा ने यहूदी-विरुद्ध राजनीति अथवा सामीवाद (Semitism) -विरोध का प्रत्यक्ष पोषण किया, जो मुख्य रूप से जर्मन फासीवाद, बल्कि और जगह भी, अपनाया जाता था। सामाजिक क्षेत्र में डार्विन के विचारों का ऐसा प्रयोग 'सामाजिक-डार्विनवाद' कहलाने लगा। *मेन काम्प* (1924) में हिटलर के आत्मवृत्तात्मक कथन ने इस प्रकार के सामाजिक-डार्विनवादी प्रजातीय विचारों के व्यवहार हेतु सुस्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में हिटलर ने संसदीय लोकतंत्र को पापकर्म बताया, जो कि 'प्रकृति के मूल अभिजातीय सिद्धांत' के विरुद्ध है और समग्र मानव संस्कृति का वर्णन रचनात्मक आर्य प्रजाति के अनन्य उत्पाद के रूप में किया और निकृष्ट एवं रचनात्मकता का अभावग्रस्त बताकर यहूदी समुदाय की निंदा की। जर्मनी में नाज़ी विचारधारा के इस पागलपन से लाखों यहूदियों का जनसंहार जन्मा, यहाँ एक निकृष्ट अमानुष जाति के रूप में वर्गीकृत जनता के पूरी तरह नैर्व्यक्तिक अधिकारीतंत्रीय 'निर्मूलन' (impersonal bureaucratic extermination) को व्यवहार में लाया गया।

राजनीति सिद्धान्ती कार्ल ष्मित ने 1920 के दषक में संसदीय लोकतंत्र संबंधी अपनी आलोचनाओं में एक जनमत संग्रही तानाषाही हेतु तर्क दिया। दार्षनिक मार्टिन हीडैगर ने अपनी प्रौद्योगिक हिंसा हेतु और अस्तित्व की अवमानना हेतु आधुनिकता की कड़ी आलोचना की। अनेक तरीकों से, दक्षिण पंथ के सिद्धांत 1930 के दषक में फासीवादी और नाज़ी क्षेत्र के लिए औचित्य साधन बन गए।

इटली में फासिज़्म तीन विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर बढ़ने के कारण उत्पन्न हुआ। युद्ध में इटली की भागीदारी के मुद्दे पर 1914 में श्रमिक संघों का उग्र श्रमिकसंघवादी परिसंघ में विभाजन हो गया। श्रमिक-संघवादियों का कारखाना स्तर पर विनियमन के माध्यम से 'उत्पादकों' की 'आत्म-मुक्ति' में विष्वास था। किसी मुनासिब वक़्त पर श्रमिक संघ अथवा मज़दूर यूनियनें राज्य का स्थान ले लेंगी और वे ही स्व-षासन के साधनों के रूप में काम करेंगी। अब दक्षिण-पंथी श्रमिकसंघवादी जन उग्र राष्ट्रवाद की ओर चल पड़े। उन्होंने राष्ट्रों का वर्णन वर्गों के रूप में किया, यथा 'धनिकतंत्रीय' अथवा उपनिवेष रखने वाले या फिर 'सर्वहारा वर्ग' अथवा उपनिवेष न रखने वाले 'विपन्न' राष्ट्रों के रूप में। इटली को एक श्रमजीवी राष्ट्र बताया गया। भविष्यवादियों ने जिन्होंने परंपरागत प्रतिमानों एवं विद्यमान संस्थाओं को अस्वीकार कर दिया और 'हिंसा' को बढ़ावा दिया, और जो गति, शक्ति, मोटरों व मषीनों अथवा सभी आधुनिक प्रौद्योगिकीय संभावनाओं के वषीभूत थे, एक दूसरे बड़े वैचारिक कारक का योगदान दिया। 'राष्ट्रीय क्रांति' पर मुसोलिनी का 'समाजवादी' दृष्टिकोण एवं विचार इतावली फासीवाद का तीसरा बड़ा सूत्र था। स्थानीय राजनीतिक अनिवार्य आवष्यकताओं के साथ-साथ विचार की यह विषमजातीयता ही फासीवाद के रूप में भिन्नताओं के लिए ज़िम्मेदार थी, यथा आन्दोलन और राज्य।

25.4 फासिज़्म के सामाजिक आधार

आगामी भागों में हम राजनीतिक व सांस्थानिक बलों के उस स्वरूप पर चर्चा करेंगे जिसमें फासीवादी आन्दोलन और राज्य के विकास में मदद की और उसे कायम रखा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

25.4.1 युद्ध, कूटनीति और राष्ट्रवाद

प्रथम विष्वयुद्ध ने फासिज़्मी राज्य के स्पष्ट और नियत आकार लेने हेतु समाजषास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दषाएँ प्रदान कीं। उसने जन-संघटन और आर्थिक संसाधनों में राष्ट्रवाद की क्षमता को उद्घाटित किया। इसके अलावा उसने आधुनिक राज्य की सेवा में आदेष की, प्राधिकार की अभिन्नता, तथा नैतिक संघटन व प्रचार के महत्त्व को भी दर्षाया। युद्ध के पष्चात्, फासिज़्म एक संसक्त एवं पुनर्संगठित जन-सामाजिक दृष्टिकोण के रूप में उभरा, जो कि शारीरिक बल, हिंसा व क्रूरता की पूजा को उजागर करते हुए गीतों की एक समग्र साम्प्रदायिक उपासना पुस्तिका और मषाल-जुलूस के आधार पर संघटित था।

वैरसायी में विजयी सहबद्ध (Allied) शक्तियों ने जर्मनी से हार की शर्तों को लादने का प्रयास किया। जर्मनी पर कठोर क्षतिपूर्तियाँ थोपी गईं। जर्मनी की सेना में मात्र एक लाख सैनिक रह गए। जर्मनी को अपने अधिकार वाले सीमाक्षेत्रों के लिहाज से भी नुकसान हुआ जिनमें उनके उपनिवेष हाथ से निकल जाना भी शामिल था। नवनिर्मित सीमाओं पर मित्र राष्ट्रों की शान्ति शर्तों की कठोरता पर असंतोष तथा विवादों और टंटों ने भावी संघर्षों के बीज बो दिए। प्रतिद्वंद्वी के दावों पर फैसला सुनाने और विवादों को हल करने हेतु कार्यप्रणाली ही अस्तित्व में नहीं थी। राष्ट्रसंघ के पास शान्तिपूर्ण समाधान लागू करने हेतु कार्यकारी शक्तियों का अभाव था। हिटलर ऑस्ट्रिया के साथ एक होने और जर्मन जनता

के लिए पर्याप्त 'निर्वाह स्थान' (लिबेनसौम) प्राप्त करने के लिए सैन्य बल प्रयोग करने को तैयार था। इतालवी फासिज़्म ने एक 'सर्वहारा' इटली हेतु उपनिवेषों का दावा किया। जापानी सैन्यवादियों ने 'विष्व संसाधनों के न्यायसंगत वितरण' की माँग की और वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सैन्य कार्रवाई किए जाने का पक्ष लिए जाने की इच्छा रखते थे। राष्ट्रवाद, युद्ध और कूटनीति ने राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर व्यक्तियों एवं जनसमूहों पर दबाव डाला कि अपना पक्ष निर्धारित कर लें। इसने जन लोकतांत्रिक स्थान को सीमाबद्ध किए जाने की संभावना भी पैदा कर दी। किसी भी व्यक्ति अथवा समूह को 'राष्ट्रीय शत्रु' अथवा 'देषद्रोही' के रूप में पहचाना जा सकता था और फासीवादी 'राष्ट्रीय' राज्य हेतु राजभक्ति अथवा निष्ठा न रखने के लिए समाप्त कर दिया जाता था। इससे पूर्व पराजय का दोष फासीवादी प्रचार में इन्हीं तत्त्वों के विष्वासघात को दिया जाता था।

25.4.2 1929 का आर्थिक संकट

प्रथम विष्वयुद्ध भौतिक एवं मानवीय दोनों संसाधनों और इस प्रकार उसमें शामिल समाजों की उत्पादन क्षमताओं के व्यापक विध्वंस में परिणत हुआ। युद्धोपरांत यूरोप में पुनर्निर्माण और 'पुनरुद्धार' के लिए वित्त अमेरिका से मिले ऋणों से जुटाया गया। यह प्रक्रिया कृषि मूल्यों में तेज़ी से गिरावट पर अमेरिका में संकट शुरू होने तक सहज रूप से चलती रही। जैसे ही विष्व कृषि उत्पादन यूरोप में 'पुनरुद्धार' के साथ बढ़ने लगा, उत्तर अमेरिका पर मूल्यों में तेज़ गिरावट से मार पड़ी और कई लोग दिवालिया हो गए। शीघ्र ही, अक्तूबर 1929 में, अमेरिका में शेयर बाज़ार प्रभावित हुए। बाज़ारों के भूमण्डलीय एकीकरण के परिणामस्वरूप हुई इस तबाही ने सभी अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित किया।

लाखों लोगों को नौकरियों से निकालकर और उत्पादन को रोक कर बाग़ान, फार्म और कारखाने बंद कर दिए गए। उद्योगपति जिन्होंने बैंकों और वित्तीय संस्थानों से अग्रिम राषि अथवा ऋण लिए हुए थे, चुकाने में दिक्कत महसूस की। अनेक बैंक और वित्तीय संस्थाएँ दिवालिएपन के कगार पर आ गईं। लाखों लोगों के नौकरियों और कारखानों से निकाल दिए जाने से माल और सेवाओं हेतु कोई माँग ही न रही, क्योंकि लोगों की क्रय-षक्ति में गिरावट आ गई थी। इन अर्थव्यवस्थाओं ने पुनरुद्धार के कोई आसार नहीं दर्षाए। ऐसी परिस्थितियों में फासीवादी नेताओं द्वारा अनुमोदित पुनर्सैन्यीकरण ने न सिर्फ़ सेनाओं में, बल्कि आयुध उद्योगों में भी रोज़गार अवसर पैदा किए। चूँकि इससे माल और सेवाओं के लिए माँग में तेज़ी आयी, फासीवादी कार्यक्रम ने संकटों से घिरे लोगों से अपील की – खासकर जब उसने उनके 'राष्ट्रीय गौरव' का भी विष्वास दिलाया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

25.4.3 फासिज़्म हेतु राजनीतिक संघटन

इटली में फासीवादियों का आरंभिक कार्यक्रम जो *फासी दी कॉम्बैटिमैण्टो* (1919) के रूप में शुरू किया गया, में एक गणतंत्र की स्थापना हेतु आह्वान किया गया और आमूल लोकतांत्रिक व समाजवाद संबंधी सुधारों हेतु माँगों को प्रकट किया गया, जिनमें शामिल थे – पूँजीपतियों के बृहद् युद्धकाल लाभों का सरकारीकरण, बड़ी संयुक्त-षेयर कम्पनियों का गोपन और भूमिहीन किसानों के लिए ज़मीन। कार्यक्रम के ये वामपंथी तत्त्व 1920 में छोड़ दिए गए और केवल तीक्ष्ण देषभक्ति, युद्ध-समर्थन, राष्ट्रीय महानता को महत्त्व और समाजवादी पार्टी के प्रति विमुखता का एक भावोत्तेजक मिश्रण ही कायम रखा गया। सरकारी अधिकारियों और सेना के समर्थन और गुप्त सहयोग के साथ फासीवादी गुटों का जन्म लेना वामपंथ की वास्तविक अथवा काल्पनिक सुखप्रद घटनाओं से सीधे जुड़ा था। सेना अधिकारियों, दफ्तरषाहों और व्यवसायियों जैसे परंपरागत रूढ़िवादी आभिजात्यों के समर्थन का लाभ उठाया गया और फासीवादी पार्टी और राज्य पर उसकी छाप छोड़ी गई। एक व्यापक जन-संघटन लाने के लिए फ़ौजी ढंग की नागरिक सेना, अर्ध-सैनिक मत-

प्रचार ढंग के संगठन तथा दलों में संगठित फासीवादी श्रमजीवी संघों को भी जन्म दिया गया। इस पार्टी और उसकी मुख्य परिषद् ने इन सभी संगठनों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया।

इसी प्रकार, जर्मनी में अतिराष्ट्रवादी मनोभाव और जनवादी क्रांतिक माँगों का व्यापक राजनैतिक आधार प्राप्त करने के लिए हिटलर के फासीवादी संगठन जर्मन नैषनल सोषलिस्ट वर्कर्स पार्टी (NSDAP) द्वारा प्रयोग किया गया। इसने एक वृहत्तर जर्मनी का आह्वान किया जिसके पास भू-प्रदेष व उपनिवेष हों, साथ ही, वैरसाइ-संधि का अभिषून्यन (annulment) हो, बड़े एकाधिकार व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण हो, बड़े उद्योगों में लाभ की हिस्सेदारी हो, अनर्जित आयों का उन्मूलन हो और कृषिक सुधार हों। जर्मन फासीवाद ने 1929 के महाअवसाद और जर्मन अर्थव्यवस्था पर उसके प्रभाव द्वारा बढ़ती व्याकुलता का लाभ उठाया। उन्होंने वाइमर गणतंत्र की राजनीतिक अस्थिरता का भी लाभ उठाया, जिसका अपना ही संविधान उसे अन्दर से मटियामेट कर देने के साधन रूप में प्रयोग किया गया। इन सब कारकों ने नाज़ी पार्टी के उदय हेतु परिस्थितियाँ पैदा कर दीं, जो कि जर्मन फासीवाद का संगठन था। इसमें उन देषभक्त जर्मनवादियों के लिए एक विषेष आकर्षण था, जिनके राष्ट्रीय गौरव को प्रथम विष्वयुद्ध में जर्मनी की हार और वरसाइ में तदन्तर मानमर्दन द्वारा क्षति पहुँची थी।

25.4.4 आधिपत्य और अवपीड़न का प्रष्न

फ़्युरर अडॉल्फ हिटलर से जुड़े जर्मन फासीवादी राज्य ने अपने आप ही सर्वाधिक बर्बर और विध्वंसकारी शासन होने की विषिष्टता प्राप्त कर ली थी, जिसने योजनाबद्ध व्यापक हत्याओं और नरसंहार के अंजाम देने के लिए औद्योगिक तकनीकें अपनायीं। गुप्त राज्य पुलिस कार्यालय यथा *गैस्टैपो*, जैसा कि उसे जर्मनी में पुकारा गया, का जन्म 1933 में प्रष्यिन स्वदेषी मंत्रालय के तत्त्वावधान में हुआ, और उसने शीघ्र ही प्रांतीय सरकार से स्वायत्तता प्राप्त कर ली। 1934 से हाइनरिष हिमलर आतंक के इस राष्ट्र-व्यापी फासीवादी अंग के प्रमुख बन गए। इसके प्रष्यिन खण्ड के प्रमुख थे राइनहार्ड हेड्रिच, जो कि भयकारी एस.एस. (SS) से सम्बद्ध एक पार्टी गुप्तचर संगठन एस.डी. (SD) के प्रभारी भी थे। मुखबिरों के एक राष्ट्र-व्यापी जाल के साथ यह जर्मन फासीवादी राज्य का आन्तरिक अनुषासिक अधिषासी बन गया। आतंक के इस प्रकार के संगठनों को प्रत्येक जर्मनवासी की ज़िंदगी और मौत का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। फासीवादी राज्य के किसी भी विरोध को निष्ठुरता से दबा दिया जाता था। परम सत्ता फ़्युरर के हाथों में संकेन्द्रित थी। नज़रबंदी षिविरों के माध्यम से कंजरों, यहूदियों और राजनीतिक विरोधियों को पूरी तरह मिटा डालने के लिए युक्तियुक्त दफ़्तरषाह कार्यतंत्र का प्रयोग फासीवादी राज्य का एक सुविदित पहलू है। ये सब बातें राज्य सत्ता के दमनकारी तंत्र पर फासीवादी राज्य की अत्यधिक निर्भरता की ओर इषारा करती हैं। इसी प्रकार, इटली, स्पेन व अन्य फासीवादी शासन-प्रणालियों में नागरिक समाज की लोकतांत्रिक संस्थानों को ध्वस्त करने और उनके स्थान पर तानाषाहों के निजी आदेष पर आधारित सांस्थानीकृत अधिनायकत्व स्थापित करने का हर संभव प्रयास किया गया। इन सब बातों ने नागरिक समाज को अधिकाधिक अनुषासित किया जाना आवष्यक बना दिया। कुछ विद्वान तो फासिज़्म को 'सर्वसत्तात्मक राज्य' अथवा एक ऐसा राज्य तक बताते हैं, जो अपने नागरिकों के जीवन पर दिन-प्रतिदिन नियंत्रण रखता है। परन्तु आधिनायकीय शासन के बावज़ूद फासिज़्म ने कुछ सम्मति-निर्माण परीक्षणों का उपयोग किया। वैचारिक स्तर पर, राष्ट्रवादी भावनाओं और सामीवाद-विरोध प्रयोग को भी उसके पीछे लोगों की स्वीकृति प्राप्त थी।

MAADHYAM IAS

इसके अलावा, कुछ नए तरीके भी प्रयोग किए गए। 1925 में, इटली में फासीवादी राज्य ने ऑपेरा *नाज़ीनाले डोपोलावोरो* की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देष्य था कामगार लोगों के लिए फुरसत का समय आयोजित करना। उसने स्थानीय क्लबों और पुस्तकालयों, मद्यषालाओं, बिलियर्ड कक्षों व क्रीड़ा-प्रांगण वाली मनोरंजनात्मक सुविधाओं का विषाल जाल फैला रखा था। डोपोलावोरो समाज संगीत गोष्ठियों, नाटकों, फिल्म शो, आदि की व्यवस्था करते थे और बच्चों के लिए पिकनिक व सस्ती गर्मियों की छुट्टियाँ आयोजित करते थे। तीस के दषक तक इटली में ऐसे लगभग 20,000 समाज बन चुके थे।

इसके अतिरिक्त, यद्यपि 1926 का श्रमिकसंघीय कानून (सिंडिकल लॉ) श्रमिकों को उत्पादन के हित में राज्य के नियंत्रण में ले आया और उसने नियोक्ताओं के साथ मोलभाव के अपने एकाधिकार में फासीवादी श्रमजीवी संघों का अनुमोदन किया व हड़तालों पर प्रतिबंध लगा दिया; फासीवादी राज्य ने तीस के ही दषक में श्रमजीवियों के लिए कुछ कल्याणकारी योजनाएँ भी शुरू कीं। 1934 में परिवार भत्ते दिए गए, जो कि आमतौर पर 40 घण्टे का सप्ताह लागू किए जाने से होने वाली आय की क्षति की भरपाई के लिए था। बीमारी और दुर्घटना हेतु बीमा वेतन समझौते में शामिल कर लिया गया और तदोपरांत इसी दषक में क्रिसमस बोनस और अवकाष वेतन भी शुरू किए गए। इस प्रकार के सभी कदमों का अभिप्राय था, राज्य की वैधता को स्थापित करना जिसने कि नागरिक अधिकारों व लोकतांत्रिक अधिकारों का उन्मूलन कर दिया था। इटली के मुकाबले, नाज़ी-षासन के तहत जर्मन श्रमिक कहीं अधिक सख्ती से अनुषासित थे।

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) व्याख्या करें फासिज़्म के विकास में किन वैचारिक सूत्रों का योगदान रहा।

....

....

....

....

....

....

2) इतालवी फासिज़्म जर्मन फासिज़्म से किस प्रकार भिन्न था?

....

....

....

....

....

....

25.5 फासिज़्म के अधीन राज्य और समाज

फासीवादी राज्य वैयक्तिक तानाषाही के सांस्थानीकरण के रूप में उदित हुआ। इटली में, अक्तूबर 1926 में सभी विपक्षी दलों और संगठनों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जन सुरक्षा कानून (1926) ने राज्य की सुरक्षा को व्यक्तिगत अधिकारों से ऊपर रखा। फासिस्ट पार्टी को स्वयं ही अधिकारीतंत्रीय बना दिया और श्रमिकसंघवादी विचारों को पार्टी के भीतर ही दबा दिया गया। उत्तरी इटली के अनेक उद्योगपतियों ने जिनमें फिएट कम्पनी, जिओवानी ओइनयेल भी शामिल थे, मुसोलिनी के फासीवादी संगठन को खूब पैसा दिया। निजी पूँजी श्रमिकों के फासीवादी नियंत्रण की लाभग्राही होती थी। ''निगमित राज्य'' की स्थापना 1934 में नियोक्ताओं व कर्मचारियों के 22 संयुक्त निगमों को लेकर की गई, परन्तु उनके पास आर्थिक निर्णय लिए जाने की वास्तविक शक्ति का अभाव था। इतालवी राष्ट्र के आर्थिक जीवन में राज्य हस्तक्षेप फासीवादी शासन के शुरुआती हिस्से में उपान्तिक ही था। महाअवसाद और अपनी आक्रामक राष्ट्रवादी-सैन्यवादी परियोजना हेतु साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने की आवष्यकता ने विषेष रूप से भूमध्य सागर और अफ्रीका में आर्थिक जीवन में राज्य हस्तक्षेप को बढ़ाने की ओर प्रवृत्त किया। 1930 में औद्योगिक पुनर्निर्माण संस्थान् (IRI) और इंस्त्यूतो मॉबिलिएर इतालियानो (IMI) की स्थापना ने आधुनिक युद्धकार्य सेवा में आर्थिक नियमन को प्रकट किया। तथापि, 1940 में भी औद्योगिक पुनर्निर्माण संस्थान् के पास इतालवी उद्योग की कुल पूँजीगत परिसम्पत्तियों का लगभग 17.8% ही था। राज्य ने खासतौर पर रासायनिक, विद्युत् एवं यंत्र उद्योगों के विकास पर ध्यान दिया और रेलपथ तथा दूरवाणी व आकाषवाणी उद्योग के वैद्युतीकरण के माध्यम से आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन दिया। तथापि, जर्मनी के मुकाबले, इटली के ''युद्ध का एक स्थायी राज्य'' होने संबंधी शासन के शब्दाडम्बर के बावज़ूद सैन्य-उत्पादन में निवेष कम ही था। इसके अतिरिक्त, एकाधिकार पूँजीवादी वर्ग के पूर्व उग्र दोषारोपणों के बावज़ूद, फासीवादी राज्य ने उत्पादक संघीकरण और न्यासीकरण, यथा वृहद् संघों के निर्माण में मदद की।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

मुसोलिनी ने चर्च को भी खुष करने का प्रयास किया। युद्ध से क्षतिग्रस्त गिरजाघरों की मरम्मत के लिए बड़ी-बड़ी आर्थिक सहायतायें दी गईं। 1923 में सभी माध्यमिक विद्यालयों में धार्मिक षिक्षा अनिवार्य कर दी गई। रोम की समस्या अन्ततः 1929 में हल हो गई। चर्च के साथ लैटरन समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए, जिसके माध्यम से धार्मिक षिक्षा का वास्तविक नियंत्रण चर्च के हाथों में सौंप दिया गया और वैटिकन पर शासनार्थ पोप के अधिकार को मान्यता दी गई। चर्च के प्रमुख अयाजकीय संगठन – कैथॅलिक ऐक्षन को आज़ादी दे दी गई, बषर्ते वह राजनीति से दूर रहे।

वैयक्तिक निरंकुषता और सामाजिक जीवन पर पार्टी का नियंत्रण जर्मनी में और अधिक सख्त था। इटली में, बड़े कारोबार, उद्योग, वित्त, सेना एवं व्यावसायिक अधिकारीतंत्र ने काफ़ी हद तक स्वायत्तता अपने पास ही रखी और फासिज़्म इन स्थापित संस्थाओं व अभिजात वर्गों के साथ एक अनकहे समझौते के आधार पर सत्ता में आया। जर्मनी में शक्तिदायी अधिनियम (इनेब्लिंग एक्ट, मार्च 1933) हिटलर की तानाषाही हेतु कानूनी आधार बन गया। विधायी अधिकार कार्यकारिणी को हस्तांतरित कर दिए गए। अधिकारी तंत्र को राजनीतिक रूप से अवांछित और 'अन-आर्य' तत्त्वों से मुक्त कर दिया गया। राज्य के संघीय स्वरूप को नष्ट कर दिया गया। मूल संवैधानिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। ''कानून का शासन'' ''नेता का शासन'' में तब्दील हो गया। फ़्युरर जिसके लिए अधिकारी वर्ग और सेना ने 'बिना शर्त आज्ञापालन' की शपथ ली थी, के इतर-कानूनी द्योतन (extra-legal notion) ने प्रषासनिक कार्यकलाप में निर्णायक भूमिका धारण कर ली

और संविधानवाद को दफ़न कर दिए जाने का संकेत दिया। नेता की इच्छा ही कानून की वैधता का आधार हो गयी। न्यायपालिका की स्वतंत्रता पूरी तरह ध्वस्त हो गई। इसके अतिरिक्त, प्रैस पर पूरी तरह नियंत्रण हो गया। उदारवादी और यहूदियों के स्वामित्व वाले समाचार-पत्रों और सोषलिस्ट प्रैस को बंद करने के लिए दबाव डाला गया। फासीवादी अवधारणा के प्रति विरोधात्मक पाये जाने वाले किसी भी साहित्य अथवा कला पर प्रतिबंध लगा दिया गया। प्रचार और षिक्षा के माध्यम से नागरिकों के सांस्कृतिक जीवन पर नियंत्रण नाज़ी शासन-प्रणाली के मुख्य लक्ष्यों में से एक बन गया। पूरी षिक्षा-प्रणाली फासीवादी आदर्षों के अनुसार कायांतरित हो गयी। पाठ्य-पुस्तकें दोबारा लिखी गईं। यहूदियों द्वारा अध्यापन कार्य निषिद्ध कर दिया गया और 'आर्यन्-जर्मन' प्रमुख-जाति सर्वोच्चता संबंधी प्रजातीय सिद्धांत पाठ्यक्रमों का हिस्सा बन गए।

जर्मनी में फासीवादी राज्य ने श्रमिकों को सम्पूर्ण रूप से अनुषासित करने का भी प्रयास किया। मालिकों द्वारा नियुक्त ''न्यासियों'' ने वेतन तय कर दिए। अक्टूबर 1934 में एक श्रमिक मोर्चा बनाया गया। यह किसी मज़दूर संघ की भाँति नहीं, बल्कि एक प्रचार मषीन के माफ़िक काम करता था, और सदस्यों के रूप में नियोक्ताओं और व्यवसायियों को शामिल करता था। महिलाओं के प्रति फासीवादी राज्य का रवैया अति-रूढ़िवादी पितृसत्तात्मक भावनाओं पर आधारित था। महिलाओं की सामाजिक भूमिका को ''किड्स, किचिन एण्ड चर्च'' अर्थात् ''बच्चे, रसोई और गिरजाघर'' आदि नारों से परिभाषित किया गया।

जर्मनी में फासीवादी का सर्वाधिक दमनकारी पहलू यहूदियों का एक योजनाबद्ध उत्पीड़न रहा। जर्मनी में नाज़ी पार्टी की विचारधारा का द्योतन यहूदियों के प्रति तीव्र घृणा और जर्मन प्रमुख जाति को विषुद्ध आर्य बनाए रखने संबंधी तीव्र सनक द्वारा हुआ। यहूदीजन जर्मनी के निकृष्ट, प्रजातीय रूप से अषुद्ध और सभी बुराइयों की जड़ के रूप में रूढ़िबद्ध थे। नागरिकता, विष्वविद्यालयों व प्रषासन में स्थान, आदि से उन्हें वंचित कर दिया गया था। उनके कारोबारों पर हमले भी किए गए। वे सभी प्रकार के अपूर्व भेदभाव के अधीन थे। तदोपरांत, द्वितीय विष्वयुद्ध के दौरान उनमें से लाखों को नज़रबंदी षिविरों में भेज दिया गया और क़त्लेआम कर दिया गया। कम से कम 1937 तक तो इतालवी फासिज़्म में प्रजातीय सामीवाद-विरोध संबंधी किसी भी योजनाबद्ध नीति का ही अभाव रहा। तथापि, नवम्बर 1938 में, इटली में नाज़ियों के प्रभावाधीन, प्रजातीय यहूदी-विरुद्ध कानून भी पास किए गए।

MAADHYAM IAS

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) फासीवादी राज्य और समाज के प्रमुख लक्षणों का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

25.6 सारांष

इस इकाई में हमने फासीवादी आन्दोलन और राज्य के मूल लक्षणों, फासिज़्म के उदय हेतु परिस्थितियाँ तैयार करने में युद्ध की भूमिका और उन मूलभूत वैचारिक सूत्रों को जाना जिन्होंने फासिज़्म और उसकी संगठनात्मक शैलियों में योगदान दिया। हमें फासिज़्म को रूढ़िवादी दक्षिणपंथी आन्दोलनों से भिन्न, समाज व उसकी संस्थाओं के पुनर्गठन हेतु दक्षिणपंथी पहलू के रूप में लेना चाहिए। उपनिवेष प्राप्त करने के लिए साम्राज्यिक अभियोजनाओं पर चरम राष्ट्रवाद से जुड़ाव, न्यायपालिका, प्रैस, श्रमिक-संगठनों जैसी संस्थाओं का सम्पूर्ण अधीनीकरण तथा सभी कार्यकारी, विधायी एवं न्यायिक शक्तियों का तानाषाहों के हाथों में संकेन्द्रण, और लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति गहरे जड़ें जमाए शत्रुता, आदि फासीवादी राज्यों के कुछ मुख्य तत्त्व थे। तथापि, स्थानीय विषिष्ट परिस्थितियों की वजह से फासीवादी प्रथाओं के भीतर सूक्ष्म भिन्नताएँ थीं। फासिज़्म कोई सजातीय आन्दोलन नहीं था। इसके अतिरिक्त, यद्यपि राज्य के दमनकारी तंत्र का प्रयोग सभी राजनीतिक विरोधों को दूर करने के लिए किया जाता था, फासिज़्मी राज्य तानाषाह शासन-प्रणालियों की वैधता को क़ायम रखने के लिए कुछ निष्चित कदम भी उठाते थे, बेषक यह वैधता उग्र राष्ट्रवादी और जनवादी प्रजातीय संवेदनाओं पर आधारित रही हो।

25.7 शब्दावली

सामीवाद-विरोध/विरुद्ध : यहूदियों के विरुद्ध पक्षघात

समष्टिवाद : एक अर्ध-समूहवादी पंथ जिसने कर्मचारियों एवं नियोक्ताओं को एक सर्वमान्य संगठन में आबद्ध कर उनके बीच सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाने का प्रयास किया।

नागरिक सेना : एक अर्ध-सैनिक संगठन

संघटन : किसी धारणा विषेष के इर्द-गिर्द कार्रवाई हेतु लोगों को तैयार रखना।

सामाजिक-डार्विनवाद : समाज के विकासार्थ डार्विन के विचारों का अनुप्रयोग; यह विष्वास कि समाज में लोग अस्तित्व के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं और केवल सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति, समूह अथवा प्रजातियाँ ही जीतती हैं।

श्रमिक संघवाद : श्रमजीवी संघों अथवा संस्थाओं द्वारा कारखाना स्तर पर विनियमन के माध्यम से उत्पादकों के आत्मोद्धार में विष्वास।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हेवुड, ए, *की कंसेपट्स इन पॉलिटिक्स*, बॅसिंगस्टोक : मैक्मिलन, 2000

टौक्अर, डब्ल्यू (संपादित), *फासिज़्म : ए रीडरज़ गाइड*, हार्मंड्सवर्थ : पैंग्विन, ब्र्कले, सी ए : कैलिफोर्निया प्रैस, 1979

गोल्ड हेगेन, डी.जी., *हिटलरज़ विलिंग ऐक्ज़ीक्यूष्नरज़ : ऑर्डिनरी जमर्नज़ एंड द होलोकास्टः* रैंडम हाऊज़, 1996

हेज़, पॉल, *फासिज़्म,* एलेन एंड अनविन, 1973

वैबर, यूगेन, *वैराइटिज़ ऑफ फासिज़्म,* बैन-वैस्ट रैंड रेनहोल्ड, 1964

MAADHYAM IAS

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 25.2 देखें

2) भाग 25.2 देखें

बोध प्रश्न 2

1) भाग 25.3 देखें

2) भाग 25.3, 25.4 और 25.5 देखें

बोध प्रश्न 3

1) भाग 25.5 देखें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 मार्क्सवाद

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 मार्क्सवाद क्या है?

26.2.1 काल्पनिक (Utopian) और वैज्ञानिक समाजवाद

26.2.2 विकासवादी और क्रांतिवादी समाजवाद

26.3 मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांत

26.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

26.3.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

26.3.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

26.3.4 वर्ग-संघर्ष

26.3.5 क्रांति

26.3.6 सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व

26.3.7 साम्यवाद

26.4 अलगाव का सिद्धांत

26.5 स्वतंत्रता का सिद्धांत

26.6 आलोचनात्मक समीक्षा और अवलोकन

26.7 सारांष

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.9 बोध प्रष्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.0 उद्देष्य

इस इकाई में आप कार्ल मार्क्स तथा अन्य द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद के सिद्धांत और व्यवहार के बारे में जान पाएँगे। दर्षन के बुनियादी तत्त्वों, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग-संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवाद की विस्तार से चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समाजवाद के पूर्व-मार्क्सवाद के सूत्र, जैसे कि काल्पनिक समाजवाद की चर्चा कर पाएँगे;
- मार्क्सवाद के बुनियादी परिकल्पनाओं का आंकलन, वर्णन तथा चर्चा कर सकेंगे;
- मार्क्सवादी सिद्धांत के दूसरे प्रमुख अंगों जैसे अलगाव और स्वतंत्रता के सिद्धांत की विवेचना कर पाएँगे और अंततः; तथा
- मार्क्सवाद की समीक्षा और इसकी समकालीन प्रासंगिकता की विवेचना कर पाएँगे।

26.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देष्य मार्क्सवाद के सिद्धांतों का परीक्षण और व्याख्या करना है, जोकि हमारे युग की सबसे क्रांतिकारी विचारधारा है। उदारवाद के साथ मार्क्सवाद हमारे समय के सबसे प्रमुख दर्षन की श्रेणी में आता है। उदारवाद, आदर्षवाद और मार्क्सवाद राजनीति विज्ञान के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं। सी.एल. वेपर ने राज्य संबंधी विभिन्न विचारधाराओं

को तीन भागों में बाँटा है, जैसे मषीनरी के रूप में, यांत्रिक रूप में और वर्ग के रूप में। दूसरे शब्दों में, राज्य की जैविक विचारधारा, राज्य की यांत्रिक विचारधारा और राज्य की वर्ग संबंधी विचारधारा। जैविक विचारधारा आदर्षवाद है, यांत्रिक विचारधारा उदारवाद है और वर्ग की विचारधारा मार्क्सवाद है।

इस इकाई को मार्क्सवाद की परिभाषा, काल्पनिक और वैज्ञानिक समाजवाद, क्रांतिकारी और विकासवादी समाजवाद, मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धांतों, समीक्षा तथा निष्कर्ष के रूप में विभाजित किया गया है। मार्क्सवाद के सात प्रमुख सिद्धांत हैं, जैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवाद। अलगाव और स्वतंत्रता की अवधारणा जोकि सामन्यतया युवा मार्क्स से संबंधित हैं या मार्क्सवाद के मानवीय मुखौटा की भी चर्चा की गई है।

26.2 मार्क्सवाद क्या है?

मार्क्सवाद सामान्यतया जर्मन दार्षनिक कार्ल मार्क्स के विचारों को दर्षाता है, लेकिन मार्क्सवाद का अर्थ सिर्फ मार्क्स के विचार नहीं हैं। मार्क्सवाद विचारों के उस भाग को प्रकट करता है, जो मुख्य रूप से कार्ल मार्क्स के विचारों को समाहित करते हैं। इसके अंतर्गत मार्क्स, फ्रिडरिष एंगेल्ज़ और उनके समर्थकों के विचार शामिल हैं, जो अपने आप को मार्क्सवादियों के नाम से पुकारते हैं। मार्क्सवाद एक जीवन दर्षन है। मार्क्सवाद विचारक लगातार मार्क्सवादी दर्षन को अपना योगदान देते रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जाता है कि मार्क्स मर गये हैं, परन्तु मार्क्सवाद अभी भी जीवित है।

मार्क्सवादी दर्षन काल मार्क्स के जन्म के पहले भी अस्तित्व में था। इसी कारण से डेविड मैक्लेलन ने मार्क्सवाद पर तीन पुस्तकों को लिखा है; *मार्कसिज़्म बिफोर मार्क्स, थॉट ऑफ मार्क्स और मार्कसिज़्म आफ्टर मार्क्स।* उसी प्रकार पोलिष विचार लेसज़ेक कोलाकोस्की ने मार्क्सवाद पर तीन पुस्तकों को लिखा है। यह बात फिर उठती है कि मार्क्सवाद का अर्थ मात्र कार्ल मार्क्स के विचार नहीं हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.2.1 काल्पनिक (Utopian) और वैज्ञानिक समाजवाद

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मार्क्सवाद का अस्तित्व मार्क्स से पहले से था। ये पहले के समाजवादी विचारकों के रूप में जाने जाते हैं। कार्ल मार्क्स उन्हें काल्पनिक समाजवादी पुकारते हैं। वे काल्पनिक थे, क्योंकि उनकी सामाजिक बुराइयों की पहचान सही थी, लेकिन उनका निदान गलत था। यह अव्यवहारिक था, अतः वे काल्पनिक कहे जाते थे। जहाँ कोई शोषण नहीं था और लोग खुष थे। यूटोपिया शब्द की उत्पत्ति थॉमस मूर की *यूटोपिया* नामक उपन्यास से हुई। यूटोपिया शब्द एक काल्पनिक द्वीप को सूचित करता है, जहाँ एक दोषरहित सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक प्रणाली का अस्तित्व था; कुछ प्रमुख काल्पनिक समाजवादी विचारक हैं रॉबर्ट ओवेन, चार्ल्स फूरियर, लुइस ब्लां, सेंट साइमन, सिसमोंड़ी और प्राऊधौन।

26.2.2 विकासवादी और क्रांतिवादी समाजवाद

समाजवाद आगे विकासवादी और क्रांतिकारी समाजवाद में विभक्त किया जाता है। विकासवादी समाजवाद क्रांति में विष्वास नहीं करता है और समाजवाद को शांतिप्रिय तरीके से प्राप्त करना चाहता है। विकासवादी समाजवादियों का विष्वास संसदीय प्रजातंत्र में है और वे सामाजिक परिवर्तन मतदान के माध्यम से लाना चाहते हैं। वे हिंसा को त्यागते हैं और इस प्रकार हिंसायुक्त क्रांति के विरोधी हैं। वे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को भी

नहीं स्वीकारते हैं और वर्गयुक्त समाज से वर्गविहीन समाज तक को शांतिप्रिय प्रजातांत्रिक परिवर्तन से लाना चाहते हैं। फेबियन समाजवाद, जितड़ (Guild) समाजवाद और प्रजातांत्रिक समाजवाद विकासवादी समाजवाद के विभिन्न प्रकार हैं।

दूसरी तरफ क्रांतिकारी समाजवाद वर्ग-संघर्ष, क्रांति तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में विष्वास करता है। उसके अनुसार सामाजिक परिवर्तन शांतिप्रिय ढंग से नहीं हो सकता है, इसे हिंसात्मक होना चाहिए। शांतिप्रिय क्रांति अपने आप में विरोधाभास पैदा करती है। क्रांति सामाजिक परिवर्तन की दाई है और इस क्रांति को अवहम हिंसात्मक होना चाहिए। क्रांतिकारी मार्क्सवाद, कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के समकक्ष, सामान्यतया समझा जाता है। श्रमिक संघवाद भी क्रांतिकारी समाजवाद का एक रूप है।

विकासवादी समाजवाद भी कार्ल मार्क्स और एंगेल्ज़ की विचारधाराओं में अपने मूल को ढूँढ़ते हैं। उन्होंने राज्य के अपने आप समाप्त होने की बातें की हैं। विकासवादी समाजवाद के प्रतिपादकों ने राज्य के स्वतः विनष्टता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है और तर्क दिया है कि शांतिप्रिय माध्यम से धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित किया जा सकता है और शोषणविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। फिर भी विकासवादी समाजवाद के आलोचक इस धारणा को स्वीकार नहीं करते हैं और तर्क देते हैं कि राज्य के स्वतः विनाष की विचारधारा सिर्फ समाजवादी राज्य या सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व पर लागू होती है और पूँजीवादी राज्य पर नहीं। यह स्वतः विनष्ट नहीं होगा। इसे हिंसात्मक क्रांति के द्वारा नष्ट किया जाना चाहिए। अतः विकासवादी समाजवाद के तर्क में कमी है।

बोध प्रष्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) काल्पनिक और वैज्ञानिक समाजवाद के बीच अंतर स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

2) विकासवादी और क्रांतिकारी समाजवाद के अंतर स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

26.3 मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांत

मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांत इस प्रकार हैं : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवाद। अब, इन सिद्धांतों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

26.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इतिहास की व्याख्या के लिए मार्क्स और एंगेल्ज़ द्वारा विकसित वैज्ञानिक विधि है। यहाँ मार्क्स पूर्ववर्ती विचारकों, विषेषतया, जर्मन दार्षनिक हेगेल से पूरी तरह प्रभावित हैं। द्वन्द्वात्मक (Dialectics) एक बहुत पुरानी विधि है, विरोधी विचारने के संघर्ष के माध्यम से विरोधाभासों को व्यक्त करते हुए सत्य को जानने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। हेगेल ने संवाद (Thesis), प्रति-संवाद (Anti-thesis) तथा संष्लेषण (Synthesis) के तीनों रूपों को विकसित करके इसे पेष किया है। द्वन्द्वात्मक त्रिगुण (Dialectical Triad) के नाम से मुख्य रूप से इसे जाना जाता हैं। प्रगति या विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में, यह विरोधाभासों द्वारा वर्गीकृत किया जाता है। ये विरोधाभास आने वाले परिवर्तन, प्रगति और विकास को प्रेरित करते हैं। संवाद को इसके प्रति–संवाद के द्वारा चुनाती दी जाती है। दोनों में सच्चाई और असत्यता क्षणभंगुर होती है। संवाद और प्रति-संवाद के संघर्ष के परिणामस्वरूप, सच्चाई बरकरार रहती है, लेकिन असत्य तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। ये असत्य तत्त्व विरोधाभासों को जन्म देते हैं। संवाद और प्रति-संवाद के सच्चे तत्त्व संष्लेषण में एक साथ मिला दिये जाते हैं। यह विकसित संष्लेषण समय के अंतराल में संवाद बन जाता है और इस प्रकार यह पुनः अपने विरोधी प्रति-संवाद द्वारा चुनौती प्राप्त करता है, जो पुनः संष्लेषण में बदल जाता है। यह संवाद, प्रति-संवाद और संष्लेषण की प्रक्रिया तब तक चलती है, जब तक यह पूर्णता की अवस्था तक नहीं पहुँच जाती है। इस विकासवादी प्रक्रिया में नयी अवस्था आएगी, जब कोई असत्य तत्त्व नहीं होगा। ये विकास के विभिन्न अवस्थाओं में नष्ट हो जाएँगे। अंततः सिर्फ सत्य ही बचता है, क्योंकि यह कभी भी नष्ट नहीं होता है। यह पूर्ण अवस्था को जन्म देगा और कोई विरोधाभास नहीं होगा और इस प्रकार आगे कोई विकास नहीं होगा। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का अंत पूर्ण सत्य पर पहुँचने के बाद हो जाएगा। यह विरोधाभास है, जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को बढ़ाते हैं और विरोधाभास का पूरा विनाष अपने आप से द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अंत को सूचित करता है।

भौतिकवाद के लिए मार्क्स भौतिकवाद के फ्रेंच विद्यापीठ, मुख्यतया फ्रेंच भौतिकवादी विचारक लुडविग फ्युरबैक के पूरी तरह से ऋणी हैं। यह पदार्थ है, जो आखिरकार में वास्तविकता है न कि विचार। बाद वाला पहले का प्रतिबिम्ब है। हम कैसे अपनी रोटी कमाते हैं, यह हमारे विचारों को निर्धारित करता है। यह व्यक्तियों की चेतना नहीं होती है, जो उनके अस्तित्व का निर्धारण करती है। इसके विपरीत, यह उनका सामाजिक अस्तित्व होता है, जो उनके चेतन का निर्धारण करता है। मार्क्स ने टिप्पणी की है कि ''हेगेल का द्वन्द्वात्मक अपने सिर के बल खड़ा था और मैंने उसे पैरों पर खड़ा किया है''। हेगेल ने द्वन्द्वात्मक आदर्षवाद का विकास किया है। उनके अनुसार ये विचार हैं, जो अंततः पदार्थ होते हैं। विचार आधार या उप-संरचना में निहीत होता है, जो श्रेष्ठ संरचना में सभी चीज़ों को निर्धारित करता है। समाज, राजनीति और अर्थ व्यवस्था इस श्रेष्ठ संरचना के अंतर्गत हैं, जिसे उस समय के प्रचलित प्रभारी विचारों द्वारा आकार प्रदान किया जाता है। अंततः यही विचार हैं, जो पदार्थ के साथ स्थानांतरित होते हैं। मार्क्स के अनुसार, भौतिक या आर्थिक बल उप-संरचना के अंतर्गत आते हैं और विचार श्रेष्ठ संरचना का एक अंग हैं। विचार भौतिक बलों का प्रतिबिम्ब हैं। आर्थिक बल विचार को निर्धारित करता है और न

कि दोनों को। इस प्रकार मार्क्स ने विचार और पदार्थ की स्थिति को पलट दिया है। यही कारण है कि वे दावा करते हैं कि ''हेगेल का विचार नीचे की ओर झुका हुआ था और मैंने उसे ठीक किया है''।

आधार या उप-संरचना के अंतर्गत उत्पादन का तरीका और उत्पादन के संबंध निहित होते हैं। ये दोनों मिलकर उत्पादन के रूप को जन्म देते हैं। उत्पादन के तरीके में परिवर्तन तकनीकी विकास के कारण होता है, यह उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन लाता है। इस प्रकार उत्पादन के रूप के परिवर्तन श्रेष्ठ संरचना में अनुकूल परिवर्तन लाते हैं। समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता, मूल्यों, आदर्शों इत्यादि श्रेष्ठ संरचना के अंग हैं और उत्पादन के रूप द्वारा निर्धारित होते हैं।

26.3.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वन्दात्मक भौतिकवाद के प्रयोग में इतिहास की व्याख्या करता है। यह द्वन्दात्मक भौतिकवाद की मार्क्सवादी विधि को लागू करने में विष्व इतिहास की आर्थिक व्याख्या करता है। विष्व इतिहास को चार अवस्थाओं में बांटा गया है : प्रारम्भिक साम्यवाद, दास प्रथा, सामंतवाद और पूँजीवाद।

प्रारम्भिक साम्यवाद, मानव इतिहास के सबसे प्रारम्भिक काल को सूचित करता है। यह काल सम्पत्तिविहीन, शोषणविहीन, वर्गविहीन और 'राज्यविहीन समाज था। उत्पादन के साधन पिछड़े हुऐ थे, क्योंकि तकनीकी अविकसित थी। समुदाय उत्पादन के साधनों का स्वामी था। वे निजी स्वामीतत्व के अंतर्गत नहीं थे और कोई शोषण नहीं था। षिकार के लिये पत्थर के हथियार, मछली फंसाने के जाल और अंकुड़ी (hooks) उत्पादन के साध ान थे। समूचा समुदाय इनका स्वामी था। उत्पादन सीमित था और स्व-खपत के लिए किया जाता था। कोई अतिरिक्त उत्पादन नहीं था, तो कोई शोषण नहीं था। जब कोई शोषण नहीं था तो कोई वर्ग विभाजन नहीं था। जब कोई वर्ग विभाजन नहीं था, तो कोई वर्ग संघर्ष नहीं था, तो कोई राज्य नहीं था। इस प्रकार यह साम्यवादी समाज था, लेकिन अदिकालीन प्रकार का था। फिर भी ज़िन्दगी कठिन थी। इसे शोषण, कलह और संघर्ष के अभाव के द्वारा निर्धारित किया जाता था।

तकनीक स्थिर नहीं है; यह लगातार विकसित होती है। तकनीकी विकास उत्पादन में सुध ार के लिए होता है। जिससे अतिरिक्त उत्पादन होता है, जो व्यक्तिगत् सम्पत्ति का आर्विभाव करता है। अब उत्पादन के साधन समुदाय के अंतर्गत नही होते हैं, बल्कि निजी स्वामित्व के अंतर्गत आ जाते है। इस प्रकार समाज सम्पत्तिवालों और सम्पत्तिविहीन वर्गों में बंट जाता है। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होने की वजह से सम्पत्ति वाले वर्ग सम्पत्तिविहीन वर्ग का शोषण करते हैं। चूँकि संघर्ष होता है, प्रभावी वर्ग, यानि की सम्पत्ति वाला वर्ग राज्य नाम की एक दमनकारी संस्था का निर्माण करते हैं, जोकि अर्धानस्थ की यानि कि सम्पत्तिहीन वर्ग के विरोध को कुचलता है। इस प्रकार राज्य एक वर्ग यंत्र और दमनकारी संस्था है। यह अपने निर्माता के हितों की रक्षा करता है, जो सम्पत्तिवाले वर्ग हैं।

प्रारम्भ में इस समाज को स्वामी और गुलाम के रूप में बांटा गया है। स्वामी सम्पत्तिवाले (the haves) हैं और गुलाम सम्पत्तिविहीन (the have nots) हैं। गुलाम उत्पादन के सारे कार्य को करते हैं। स्वामी गुलामों की मेहनत पर जीते हैं। वे गुलामों का शोषण करते हैं और जब कभी गुलाम विरोध करते हैं, तब राज्य स्वामी के बचाव में आता है। इस प्रकार, राज्य स्वामी वर्ग के हितों की रक्षा करता है। यह अपनी दमनकारी शक्तियों से गुलामों की आवाज़ को दबाता है।

MAADHYAM IAS

दास प्रथा का सामंतवाद अनुगामी बन जाता है। तकनीकी विकास उत्पादन के साधन में परिवर्तन लाता है और यह उत्पादन और श्रेष्ठ संरचना के संबंध में अनुकूल परिवर्तन लाता है। दास प्रथा उत्पादन के सामंती ढ़ांचे में परिवर्तित हो जाता है और यह समाज, राजनीति, नैतिकता और मूल्य प्रणाली में झलकता है। समाज का सामंतों और किसानों में विभाजन सामंतवाद को दर्षाता है। सामंतों का उत्पादन के साधनों पर अधिपत्य होता है, यह भूमि है, लेकिन किसान उत्पादन कार्य करता है। भूमिध्य का स्वामित्व होने के कारण, सामंत बिना कुछ किये उत्पादन का बड़ा हिस्सा प्राप्त करता है। इस प्रकार सामंत परजीवी (parasite) के सामान होता है, जो किसानों की मेहनत पर संपन्न होता हैं। सामंत किसानों का शोषण करता है और यदि किसान कभी अपने शोषण का विरोध करता है, तो उसके विरोध को राज्य निर्दयता से कुचल देता है, क्योंकि राज्य सामंतो के हितों की रक्षा और उनकी सेवा करता है। जहाँ किसान आश्रित और शोषित वर्ग होता है, वहीं स्वामी प्रभावी और शोषक वर्ग होता है।

पूँजीवाद सामंतवाद का अनुगामी होता है। तकनीकी विकास जारी रहता है, इसलिए उत्पादन की षिक्तियों में परिवर्तन होता है, जो उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबंधों के बीच बेमेल हो जाता है, जिसका समाधान मध्य वर्ग (bourgeois) की क्रांति से होता है। इस प्रकार उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन का सामंती ढाँचा पूँजीवादी ढाँचे में बदल जाता है। समाज का मध्य वर्ग और सर्वहारा वर्ग में विभाजन पूँजीवाद को दर्षाता है। मध्य वर्ग का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, लेकिन सर्वहारा वर्ग उत्पादन करता है। सर्वहारा लोग औद्योगिक श्रमिक होते हैं; वे कम वेतन के बदले अपना श्रम बेचते हैं। यह व्यवहारतः आजीविका के लिए वेतन होता है, जिससे श्रम शक्ति को अबाधित आपूर्ति को बरकरार रखा जा सकता है। उत्पादन स्वयं के खपत के लिए नहीं होता है, बल्कि मुनाफे के लिए होता है। अधिकतम मुनाफे की इच्छा वेतन में कमी और कार्यविधि में बढ़ोत्तरी करती है। यह आगे श्रमिक वर्ग की स्थिति को बिगाड़ता है, जो अंततः उन्हें इस स्थिति में पहुँचा देता हैं, जहाँ खोने के लिए कुछ नहीं होता है। यह सर्वहारा क्रांति के लिए मार्ग प्रषस्त करता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) द्वन्दात्मक भौतिकवाद के अर्थ को अपने शब्दों में व्यक्त करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) प्रारम्भिक साम्यवाद या सामंतवाद के मुख्य्य विषेषताओं की गणना और वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

26.3.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज में शोषण की व्याख्या करने के लिए अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को विकसित किया है। यहाँ मार्क्स वर्गीय अर्थषास्त्रियों के सिद्धांतों से प्रभावित थे। वे मूल्य के श्रम सिद्धांत से सहमत थे। सामान का मूल्य इसके उत्पादन में लगे श्रम की मात्रा से आंका जाता है। श्रम भी एक सामान है। इसे दूसरे सामानों की तरह खरीदा और बेचा जा सकता है। उत्पादन के चार कारकों में श्रम सबसे सर्वोच्च है। इसके अभाव में उत्पादन के दूसरे कारक बेकार हैं। भूमि पूँजी और संगठन उत्पादन के अन्य दूसरे कारक बेकार हैं। भूमि पूँजी और संगठन उत्पादन के अन्य दूसरे कारक हैं। उत्पादन के इन कारकों के लिए श्रम का प्रयोग होता है, जो उन्हें उत्पादक बनाता है। श्रम के अभाव में वे बंजर होते हैं।

यदि वेतन श्रमिक द्वारा उत्पन्न की गयी रकम के अनुपात में दिया जाता है, तो कोई शोषण नहीं होता है, लेकिन यह अवस्था पूँजीवाद में नयी होती हैं। श्रम इस अर्थ में अनोखा होता है कि यह अपने रख-रखाव से ज़्यादा मूल्य उत्पन्न करता है। श्रमिक द्वारा उत्पन्न किये गये मूल्य तथा श्रमिकों को वेतन के रूप में दिए गए मूल्य में अंतर होता है, जिससे अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न तथा पूँजीपति को मुनाफा होता है। उदाहरण के तौर पर, यदि कोई श्रमिक एक महीने में 25,000 रुपये मूल्य उत्पन्न करता है और उसे वेतन के रूप में 15,000 रुपये दिये जाते हैं, तो बचे हुए 10,000 रुपये पूँजीवादी का लाभ होगा। इस प्रकार श्रमिक सदैव अधिक मूल्य पैदा करते हैं, जितना उसे वास्तव में मिलता है। श्रमिक द्वारा उत्पन्न यह अतिरिक्त मूल्य मध्यवर्ग (bourgeois) का लाभ होता है, जिसका बचाव वर्गीय अर्थषास्त्री करते हैं, क्योंकि यह संपत्ति संग्रह करता है, जिसे आगे नये उद्योगों तथा उपक्रमों में लगाया जाता है और जिससे विकास और खुषहाली आती है। मार्क्सवादियों के अनुसार, यह श्रमिकों का शोषण हैं, जिसे समाप्त किया जाना चाहिए।

पूँजीवाद के विकास और प्रतियोगिता में बढ़ोतरी होने से श्रमिकों के वेतन में लगातार गिरावट आती है और आजीविका स्तर की अवस्था आ जाती है। आजीविका वेतन रहने और श्रम शक्ति के स्थायीकरण के लिए न्यूनतम वेतन होता है। इस प्रकार पूँजीवाद में गहन प्रतियोगिता सर्वहारा की अति क्षति का सूचक होता है। यह वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देता है और अंततः क्रांति को लाता है।

26.3.4 वर्ग-संघर्ष

मार्क्स के अनुसार, अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। सिवाय प्रारम्भिक साम्यवादी अवस्था को छोड़कर सभी ऐतिहासिक कालों में प्रभावी और आश्रित वर्गों या सम्पत्ति वाले और सम्पत्तिविहीन के बीच सक्रिय विरोध रहा है। यह सक्रिय

विरोध वर्ग विरोधाभासों से पैदा होता है; यह सम्पत्तिविहीन वर्ग का सम्पत्ति वाले वर्ग द्वारा शोषण के परिणामस्वरूप होता है। पूरे इतिहास में प्रत्येक युग में दो विरोधी वर्ग रहे हैं। दास प्रथा में स्वामी और दास, सामंतवादी प्रथा में सामंत और मध्य वर्ग उत्पादन के साध ानों के स्वामी हैं। दास, किसान और सर्वहारा उत्पादन करते हैं, लेकिन उनके उत्पाद को उनके शोषकों के द्वारा ले लिया जाता है और बदले में उन्हें सिर्फ़ दैनिक गुज़ारे के लिए वेतन देते हैं। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होने के कारण सम्पत्ति वाले वर्ग सम्पत्तिविहीन का शोषण करते हैं। यही वर्ग संघर्ष का मुख्य स्रोत और कारण हैं। विरोधी वर्गों के बीच कोई समझौता या मेल संभव नहीं है। प्रत्येक युग में विरोधी वर्गों के अन्तर्निहित विरोधाभासों को सिर्फ़ शोषित वर्गों के सर्वनाश से सुलझाया जा सकता है।

26.3.5 क्रांति

वर्ग संघर्ष क्रांति के लिए मार्ग प्रषस्त करता है। वर्ग संघर्ष अतींद्रिय (imperaceptible) होता है, लेकिन क्रांति अनुभवगम्य (perceptible) होती है। वर्ग संघर्ष की तीव्रता क्रांति के लिए आधार का निर्माण करती है। वर्ग संघर्ष लम्बे समय तक चलने वाली गतिविधि है, लेकिन क्रांति थोड़े समय के लिए तेज़ी से और हिंसात्सक होती है। मार्क्स के शब्दों में ''क्रांति सामाजिक परिवर्तन की आवष्यक दाई होती है''। सामंती क्रांति ने दास प्रथा को खत्म कर दिया, मध्यवर्गीय क्रांति ने सामंतवाद को खत्म किया और सर्वहारा क्रांति पूँजीवाद का अंत करेगी। इस प्रकार किसी भी युग में सामाजिक परिवर्तन सदैव क्रांति के द्वारा किया जाता है।

क्रांति होती है, जब उत्पादन की शक्तियों या साधनों और उत्पादन के संबंधों के बीच असामंजस्य होता है। इस असमांजस्य का सामाधान करने के लिए क्रांति होती है, जो उत्पादन के साधनों या शक्तियों के साथ सामंजस्य लाने के लिए उत्पादन के संबंधों और श्रेष्ठ सरंचना में अनुकूल परिवर्तन लाती है। तकनीकी विकास उत्पादन के साधनों में परिवर्तन लाता है। हस्तषिल्प आपको सामंती समाज प्रदान करते हैं और आपचालित (steam) मिल, औद्योगिक पूँजीवादी समाज देते है।

MAADHYAM IAS

सर्वहारा क्रांति इतिहास के वार्षिकी वृत्तांत में अंतिम क्रांति होगी। क्रांति विरोधाभासों के समाधान के लिए होती है। इसलिए क्रांति नहीं होगी, यदि समाज में कोई विरोधाभास नहीं होगा। सर्वहारा क्रांति के बाद, आगे कोई क्रांति नहीं होगी, क्योंकि कोई विरोधाभास नहीं होगा फिर भी, क्रांति तब होगी, केवल जब उत्पादन की शक्तियां पूरी तरह परिपक्व हो जायेंगी और उत्पादन के संबंधों से मेल नहीं खायेंगी। क्रांति इस बेमेल का अंत करती है।

सामाजिक विकास के क्रम और दिषा को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। कोई भी अवस्था दूसरी अवस्था को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती है। कोई भी अवस्था छोटी-परिधि वाली नही हो सकती है। प्रारम्भिक साम्यवाद से दास प्रथा, दास प्रथा से सामंतवाद और सामंतवाद से पूँजीवाद सर्वहारा का अधिनायकत्व या समाजवाद पूँजीवाद पर विजय प्राप्त करेगा, जो सामाजिक विकास की अंतिम से पहली अवस्था होती है। सर्वहारा का अधिनायकत्व अंततः साम्यवाद की स्थापना करेगा। सर्वहारा क्रांति के साथ, क्रांति का स्वतः अंत हो जाएगा।

26.3.6 सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व

सर्वहारा क्रांति सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना करेगी। यह समाजवादी राज्य के नाम से भी जानी जाती है। मध्यवर्ग द्वारा उत्पन्न राज्य के अंग, सर्वहारा के दबाने वालों को, सर्वहारा मध्य वर्ग के विरुद्ध राज्य के यंत्र का इस्तेमाल करेगा। मध्य वर्ग पुरानी व्यवस्था

को पुनः प्राप्त करने के लिए विरोधी-क्रांति करने की कोषिष करेगा और इस प्रकार राज्य की दमनकारी संस्थाओं द्वारा मध्य वर्ग को नियंत्रित करने की आवष्यकता होती है।

राज्य सदैव दमन का साधन रहा है। प्रभावी वर्ग ने आश्रित वर्ग पर दमन करने के लिए राज्य की उत्पत्ति की है। यह एक वर्ग साधन है। राज्य रक्षा करता है और अपने निर्माता के हितों का ख्याल करता है, जो सम्पत्ति संपन्न वर्ग होता है। यह वर्ग सदैव अल्पसंख्यक रहा है, चाहे वह स्वामी या सामंत या पूँजीपति हो। इस प्रकार अल्पसंख्यक बहुसंख्यक का शोषण करते रहे हैं, जैसे गुलामों या किसानों या सर्वहारा का राज्य के दमनकारी अंगों द्वारा। सर्वहारा के अधिनायकत्व के अंतर्गत, पहली बार राज्य बहुसंख्यक के नियंत्रण में आता है। अब पहली बार राज्य के दमनकारी यंत्र का उपयोग बहुसंख्यक के विरुद्ध अल्पसंख्यक द्वारा होता है।

मार्क्स के अनुसार सभी राज्यों का अधिनायकत्व रहा है। अतः समाजवादी राज्य कोई अपवाद नहीं है। यह भी एक अधिनायकत्व है। राज्य का इस्तेमाल सदैव एक वर्ग का दूसरे वर्ग को दबाने के लिए किया जाता रहा है। समाजवादी राज्य में सर्वहारा वर्ग राज्य के दमनकारी अंगों जैसे सेना, पुलिस, जेल, न्यायिक प्रणाली इत्यादि का प्रयोग मध्य वर्ग के विरुद्ध करेगा। मार्क्स तर्क देते हैं कि यदि प्रजातंत्र का अर्थ बहुसंख्यक का शासन होता है, तो सर्वहारा राज्य सबसे प्रजातांत्रिक राज्य है क्योंकि पहली बार इतिहास के वार्षिकी में सत्ता बहुसंख्यक के हाथों में आती है। सर्वहारा राज्य के पहले, सत्ता बहुसंख्यक के हाथों में आती है। सर्वहारा राज्य के पहले, सत्ता सदैव अल्पसंख्यकों के हाथों में रही है। इसलिए यदि बहुमत का शासन मापदंड हैं, तो मात्र सर्वहारा राज्य ही प्रजातांत्रिक राज्य कहा जा सकता है।

26.3.7 साम्यवाद

सर्वहारा के अधिनायकत्व की जीवित देखभाल के अंतर्गत, समाजवादी राज्य साम्यवाद के रूप में उभरेगा। समाजवाद का क्षणभंगुर अवस्था है। यह साम्यवाद से संभावित उद्भव का रास्ता प्रषस्त करेगा, जो स्थिर और स्थायी होता है। यह सामाजिक विकास का काल होगा। साम्यवाद की स्थापना के बाद आगे कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं होगा। द्वन्दात्मक प्रक्रिया का अंत हो जाएगा। एक पूर्ण, विवेकषील सामाजिक प्रणाली की स्थापना होगी जो कि शत्रुओं और विरोधाभासों से मुक्त होगी। कोई वर्ग विरोधाभास नहीं होगा, इसलिए कोई वर्ग संघर्ष नहीं होगा। वास्तव में साम्यवाद वर्गविहीन, निजी सम्पत्तिविहीन और शोषणविहीन समाज होगा।

साम्यवाद समाज में उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के रूप में कोई निजी सम्पत्ति नहीं होगी। उत्पादन के साधनों पर समुदाय का स्वामित्व होगा। सहयोग न कि प्रतियोगिता साम्यवादी समाज का आधार होगा। उत्पादन खपत के लिए होगा न कि मुनाफा कमाने के लिए; मुनाफे की प्रवृत्ति सामाजिक आवष्यकताओं में बदल जाएगी। जब कोई निजी सम्पत्ति नहीं होगी, तो कोई शोषण नहीं होगा। जब कोई शोषण नही होगा, तो कोई वर्ग विभाजन, कोई सम्पत्ति सम्पन्न और सम्पत्तिविहीन वर्ग, या कोई प्रभावी और आश्रित वर्ग नहीं होगा। जब कोई वर्ग विभाजन नहीं होता है, तो कोई वर्ग संघर्ष नहीं होता है, इसलिए राज्य की आवष्यकता नहीं होती है। इस कारण से साम्यवादी समाज वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज होगा।

राज्य शोषण का मंत्र होता है, यह वर्ग यंत्र होता है, परिणामस्वरूप समाज में वर्ग विभाजन होता है। साम्यवाद में श्रमिकों का मात्र एक वर्ग होता है, कोई दूसरा वर्ग दबाने और दमन करने के लिए नहीं होता है, अतः राज्य की कोई आवष्यकता नहीं होगी। यह साम्यवादी

MAADHYAM IAS

समाज में फालतू बन जाएगा। इसे संग्रहालय को सौंप दिया जाएगा। राज्य फिर भी खत्म नहीं होगा। यह धीरे-धीरे विलीन हो जाएगा।

साम्यवादी समाज लुईस ब्लां (Louise Blanc) के सिद्धांत – 'प्रत्येक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेंगें और प्रत्येक की अपनी आवष्यकता के अनुसार प्राप्त होगा,' – के अनुसार शासित होगा। परजीवियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा नहीं। सिर्फ श्रमिकों का एक वर्ग होगा। समूचा समाज श्रमिक वर्ग में बदल जायेगा। शोषण का कोई स्थान नहीं होगा। यह समतावादी समाज होगा। लोगों के बीच सद्भावपूर्ण संबंध होगा।

बोध प्रष्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

2) वर्ग संघर्ष की अवधारणा की चर्चा कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

3) साम्यवादी समाज की प्रमुख विषेषताओं का वर्णन तथा मूल्यांकन करें।

....

....

....

....

....

....

....

26.4 अलगाव का सिद्धांत

मार्क्सवादी दर्षन में दो विषिष्ट काल रहे हैं। 1844 का *इक्नॉमिक एण्ड फिलॉसॉफिक मैन्युस्क्रिप्टस* मार्क्सवाद के मानवीय चेहरे को उजागर करता है। इसमें बिना वर्ग शत्रुता, वर्ग संघर्ष तथा हिंसात्मक क्रांति के संदर्भ के पूँजीवाद को विष्लेषित किया गया है। यहाँ पूँजीवाद के बुरे प्रभावों की अलगाव, पहचान और स्वतंत्रता के खोने के आधार पर व्याख्या की गयी है। मार्क्स के इन दृष्टिकोणों को युवा मार्क्स के साथ जोड़ा जाता हैं। 1848 के साम्यवादी कम्युनिस्ट *मैनिफैस्टो* में मार्क्स के दर्षन में एक बदलाव देखने को मिलता है। बाद का मार्क्स परिपक्व मार्क्स के नाम से जाना जाता है, जिन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांत की स्थापना की। मार्क्स के प्रारम्भिक विचारों को सिर्फ 1932 में प्रकाषन के साथ ही जाना गया था।

अलगाव का सिद्धांत एक मार्क्सवादी अवधारणा है। हंगेरियन मार्क्सवादी जार्ज लुकास ने 1932 के प्रकाषन के पहले ही पूरी तरह से अपने बलबूते अलगाव के सिद्धांत को विकसित किया है। फिर भी अलगाव की अवधारणा मैन्युस्क्रिप्टस प्रकाषन के बाद ही लोकप्रिय बनी। मार्क्स ने अलगाव के चार स्तरों का ज़िक्र किया है। सर्वप्रथम मनुष्य अपने उत्पाद और काय प्रक्रिया से अलग-थलग पड़ जाता है, क्योंकि श्रमिक की कैसे उत्पादन करे। द्वितीय व्यक्ति प्रकृति से अलग हो जाता है। उसका कार्य उसे एक रचनात्मक श्रमिक के रूप में संतोष प्रदान नहीं करता है। यांत्रिकीकरण के अन्तर्गत, कार्य तेज़ी से समयबद्ध और उबानेवाला बनता जा रहा है। तीसरे, व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अलग से हो जाता है। पूँजीवादी प्रणाली का प्रतियोगी चरित्र प्रत्येक को अन्य के खर्च पर जीने को मजबूर कर एक दूसरे से अलग कर देता है। आखिरकार व्यक्ति स्वयं से कट जाता है। आवष्यकता का क्षेत्र उसके जीवन को काबू करता है और सांस्कृतिक विरासत के लिए कोई समय नहीं होता है। पूँजीवादी प्रणाली पूँजी और सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के द्वारा उत्पन्न अवस्थाओं को सभी मानवीय संकायों और क्षमताओं में अधीनस्थत करती है। पूँजीपति अपने आप में श्रमिक से कम नहीं होता है, लेकिन पैसे के निरंकुष शासन का गुलाम बन जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.5 स्वतंत्रता का सिद्धांत

मानववादी दर्षन के रूप में मार्क्सवाद मुख्यतया मानव स्वतन्त्रता का दर्षन है। स्वतन्त्रता न सिर्फ मानवीय आवष्यकताओं की भौतिक संतृष्टता है, बल्कि अमानवीयकरण, संबंध विच्छेद और अलगाव की अवस्थाओं को दूर करना भी है। पूँजीवादी प्रणाली आवष्यकता को स्वतंत्रता के विरोधी के रूप में वर्गीकृत करती है। आवष्यकता उन अवस्थाओं को सूचित करती है, जिसके अंतर्गत प्रकृति के अनिवार्य नियम व्यक्ति के जीवन को शासित करते हैं। प्रकृति के इन नियमों में मानव इच्छा की स्वतंत्रता निहित होती है। व्यक्ति इन नियमों के वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त कर सकता है, लेकिन उन्हें अपनी इच्छा से बदल नहीं सकता है। स्वतंत्रता आवष्यकता से अलग हट नहीं सकती है। स्वतन्त्रता प्रकृति के इन नियमों के ज्ञान में निहित होती है और इन नियमों को क्षमता प्रदान करने जो मानव समाज के स्वतन्त्रता के निष्चित लक्ष्य की ओर कार्य करता है।

इस प्रकार पूँजीवादी प्रणाली को चलाने वाली उत्पादक शक्तियों का ठोस ज्ञान और एक कार्यक्रम, आवष्यकता की राजधानी से स्वतन्त्रता की राजधानी तक मानवीय परिवर्तन को निष्पादन करेगा। मानव समाज की स्वतंत्रता और सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव सिर्फ पूँजीवाद के विनाष और साम्यवाद की स्थापना से ही संभव होता है।

बोध प्रश्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) आप अलगाव के सिद्धांत या स्वतन्त्रता के सिद्धांत का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

....

26.6 आलोचनात्मक समीक्षा और अवलोकन

मार्क्सवाद कठोर आलोचना का विषय रहा है। इसने समाज को दो वर्गों, जिनके पास कुछ (the haves) और जिनके पास कुछ नहीं है (the have-nots) में विभाजित किया है। यह वास्तविकता से दूर है। समाज बहुत जटिल होता है और कुई समूहों में बंटा होता है। जैसे कि मार्क्सवाद की परिकल्पना है, वैसा कोई स्पष्ट वर्गों का विभाजन नहीं होता है। ज्यादातर, इसमें विषाल मध्य वर्ग होता है। मार्क्सवादी विचारकों ने भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद के विकास के साथ, मध्य वर्ग विलीन हो जाएगा और सर्वहारा वर्ग के साथ मिल जाएगा लेकिन अभी तक ऐसा नहीं हुआ है और ऐसा होने की कोई संभावना नहीं है। वास्तव में इसके विपरीत हुआ है; मध्य वर्ग ने अपनी स्थिति को मजबूत किया है और अपने आकार को बढ़ाया है। मार्क्सवादियों ने पूँजीपति वर्ग के सिमटने की बातें की थीं। यहाँ पुनः ठीक इसके विपरीत हुआ है। सिमटने के बदले पूँजीपति वर्ग का आधार विस्तृत हुआ है। मार्क्स ने पूँजी संग्रह की बात की थी, लेकिन पूँजी का बिखराव हो गया है। सर्वहारा वर्ग की स्थिति वैसी नहीं बिगड़ी है, जैसे कि मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी। इस प्रकार, पूँजीवाद की वास्तविक कार्यकारी प्रणाली ने वर्गों के मार्क्सवादी सिद्धांत को गलत साबित किया है।

मार्क्सवादियों ने भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद अन्तर्विरोध के कारण बिखर जाएगा। लेकिन, अभी तक ऐसा घटित नहीं हुआ है। कोई विकसित पूँजीवादी व्यवस्था ध्वस्त नहीं हुई है। पूँजीवाद ने अपने लचीलेपन को साबित किया है। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्था, दुनिया के विभिन्न भागों में ध्वस्त हो गयी है। पूँजीवाद के पास सामंजस्य बिठाने की अपार शक्ति है। यही इसके जीवंत होने का मुख्य कारण है। मार्क्स पूँजीवाद का सही आंकलन करने में असफल रहे हैं।

मार्क्स के अनुसार, सर्वहारा क्रांति तभी होगी, जब पूँजीवाद परिपक्व हो जायेगा। पिछड़े सामंतवादी समाज में सर्वहारा क्रांति के घटित और सफल होने का अवसर नहीं होता है। लेकिन वास्तव में यही घटित हुआ है। क्रांति सिर्फ सामंतवादी समाजों जैसे रूस, चीन, वियतनाम, क्यूबा इत्यादि देषों में हुई हैं। यह रूसी मार्क्सवादियों के दो गुटों, प्लैखनॉव (Plekhnov) के नेतृत्व में मैंषेविक्स (Mensheviks) और लेनिन के नेतृत्व में बॉलषेविक्स (Bolsheviks) के बीच विवाद का मुख्य मुद्दा था। अंततः बॉलषेविक्स का मैनषेविक्स के

ऊपर वर्चस्व रहा, लेकिन वे मार्क्स के विचारों के अधिक नज़दीक थे। मार्क्स के अनुसार, उनके विचार सामाजिक विकास के जन्म की वेदना को कम कर सकते हैं, लेकिन किसी भी अवस्था को नज़रअंदाज नहीं कर सकते। फिर भी लेनिन और ट्रॉटस्की ने रूस में और माओ ने चीन में पूँजीवाद की स्थापना की प्रक्रिया से गुज़रे बिना सामंतवादी समाज में साम्यवाद की स्थापना की। इस प्रत्यक्ष विरोधाभास के समाधान के लिए ट्रॉटस्की ने *थ्योरी ऑफ परमानेंट रिवॉल्युषन,* को विकसित किया। उन्होंने अपने सिद्धांत में मध्यवर्ग की क्रांति को सर्वहारा की क्रांति के साथ मिला दिया। ये दोनों क्रांतियां ट्रॉटस्की की दृष्टि में साथ-साथ घट सकती हैं। यद्यपि यह अधिक व्यवहारिक विचार प्रतीत होता है, यह मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों को नहीं स्वीकार करता है।

आर्थिक निर्धारकवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत की कठोर आलोचना की गयी है। यह सिर्फ आर्थिक कारक ही नहीं होता है, बल्कि दूसरे कारक भी सामाजिक परिवर्तन लाने में समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि अर्थव्यवस्था, राजनीति, समाज, नैतिकता, मूल्य प्रणाली इत्यादि को निर्धारित करती है, तब अर्थव्यवस्था भी अपने आप इनके द्वारा निर्धारित होती है। यह दो तरफा प्रक्रिया है। आर्थिक शक्तियाँ राजनीति, समाज, संस्कृति, धर्म, मूल्यों, आदर्षों इत्यादि के प्रभावों से अछूती नहीं है। यदि आधार या नींव अधिरचना को आकार देते हैं, तो अधिरचना भी नींव को आकार देती है। इस प्रकार आर्थिक निर्धारकवाद के सिद्धांत को स्वीकारा नहीं जा सकता है। बाद के मार्क्सवादी विचारकों, जैसे कि ग्रामसी ने अधिरचना की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया।

सर्वहारा का अधिनायकत्व और साम्यवाद की मार्क्सवादी अवधारणाओं, में कई कमियाँ हैं। सर्वहारा क्रांति के बाद सर्वहारा मध्य वर्ग से राज्य की मषीनरी को छीन लेगा। साम्यवाद की स्थापना के बाद राज्य फालतू हो जाएगा और धीरे-धीरे विलीन हो जाएगा। यह घटित नहीं हुआ है। समाजवादी समाज में राज्य वास्तव में सर्व-षक्तिमान बन गया। कमज़ोर होने के बदले राज्य ने अपनी स्थिति दृढ़ बना ली है और इसके मुरझाने की कोई संभावना नहीं है। राज्य समाजवादी और मार्क्सवादी समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहेगा और इसे संग्रहालय को कभी भी सौंपे जाने की कोई संभावना नहीं है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

समाजवादी समाज की जहाँ कहीं भी स्थापना की गयीं है, या तो उसे उतार फेंका गया या नज़रअंदाज किया गया है। जहाँ कहीं भी यह अभी भी जीवित है, इसे बहुत सारे परिवर्त्तन करने के लिए मजबूर होना पड़ा है, जो वर्गीय मार्क्सवाद की विचारधारा से मेल नहीं खाता है। पूर्वी यूरोप में सामयवाद की असफलता, रूस में बिखराव और चीन में आर्थिक सुधारों ने फ्रांसिस फुकुयामा सरीखे विचारकों को मार्क्सवाद की ऑबिटयुरी (obituary) लिखने को बाध्य किया है। फुकुयामा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *एण्ड ऑफ हिस्ट्री* में शीतमुद्रा कालीन संसार (post-coldwar) में साम्यवाद के ऊपर पूँजीवाद की विजय का दावा किया है। उनके अनुसार पूँजीवाद की साम्यवाद पर विजय, इतिहास के अंत को दर्षाता है। यहाँ फुकुयामा हेगेल के अर्थ में इतिहास की बात करते हैं। पूँजीवाद के बाद आगे कोई आर्थिक और राजनीतिक विकास नहीं होगा। पूँजीवाद सबसे विवेकषील और पूर्ण प्रणाली है। यह सबसे पूर्ण विचारधारा और दर्षन है। इसलिए, वैचारिक और दार्षनिक विकास का अंत पूँजीवाद के उद्भव के साथ ही हो जाता है। इसका मुख्य चुनौतीकर्त्ता साम्यवाद पराजित हो गया है और यह आगे अपने दावों को साबित करता है कि यह मानवता द्वारा कभी भी विकसित प्रणालियों में से सबसे उत्तम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली है।

फुकुयामा के द्वारा दिए गए सिद्धांत को स्वीकार करना बहुत ही कठिन है। मार्क्सवाद की प्रमुखता दो क्षेत्रों में निहित है। सर्वप्रथम, इसे सामाजिक विष्लेषण का एक कारक बनाया

गया है। द्वितीय, यह आवाज़विहीन को आवाज़ देता है। यह गरीबों, उत्पीड़ित और दमित लोगों का दर्षन हैं। यदि मार्क्सवाद की देन का विष्लेषण इन दोनों क्षेत्रों के संदर्भ में किया जाये तो, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह अभी भी प्रासंगिक है और फिजूल नहीं है, जैसा कि उदारवादी आलोचकों द्वारा दावा किया जाता है। सामाजिक विष्लेषण के एक आयाम के रूप में मार्क्सवाद आज भी प्रासंगिक है, जैसा कि यह पहले था। सामाजिक विष्लेषण की एक विधि के रूप में इसका महत्त्व कभी भी समाप्त नहीं होगा, चाहे सामाजवादी राज्य जीवित रहता है या समाप्त हो जाता है।

मार्क्सवाद एक विचारधारा के रूप में अपनी श्रेष्ठता निष्चियतया खो चुका है, लेकिन यह पूरी तरह से फालतू नहीं है। जब तक शोषण रहेगा, लोगों का दमन और उत्पीड़न होता रहेगा, मार्क्सवाद प्रासंगिक बना रहेगा। मार्क्सवाद, शोषित और उत्पीड़ित के दर्षन के रूप में उनकी मुक्ति के लिए जनता को प्रेरित करता रहेगा। इसलिए, इसकी पराजय और अप्रासंगिकता का प्रष्न नहीं है। वास्तव में, प्रणालियाँ जो बिखर चुकी हैं, वे वर्गीय मार्क्सवादी सिद्धांतों पर संगठित नहीं थी। वे मार्क्सवादी-लेनिनवाद और स्टालिनवाद से अलग थीं। इसलिए यह लेनिनवादी-स्टालिनवादी प्रणालियाँ है, जो यूरोप और जहाँ कहीं भी वे हैं, बिखर चुकी हैं और जो वर्गीय मार्क्सवाद नहीं है।

मार्क्सवाद एक आयाम के रूप में सामाजिक विष्लेषण के लिए विद्वानों के द्वारा उपयोग किया जाता रहेगा और शोषित-दमित लोग अपनी मुक्ति के लिए मार्क्सवादी दर्षन का समर्थन करते रहेंगें। यहाँ मार्क्सवाद कभी भी अप्रासंगिक नहीं बनेगा। यह सदैव उदारवाद का वैकल्पिक दर्षन बना रहेगा। मार्क्सवाद उदारवाद के अत्याचारों पर प्रभावकारी रोक के रूप में भी कार्य करेगा। यह पूँजीवादी प्रणाली की कठोरता को कम करेगा।

बोध प्रष्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) मार्क्सवादी सिद्धांत पर प्रहार के प्रमुख आधारों की विवेचना करें।

....

....

....

....

....

2) मार्क्सवाद की समकालीन प्रासंगिकता का परीक्षण कीजिए।

....

....

....

....

....

26.7 सारांष

इस इकाई में हमने विभिन्न प्रकार के समाजवाद जैसे काल्पनिक और वैज्ञानिक समाजवाद, विकासवादी तथा क्रांतिकारी समाजवाद की चर्चा की है। मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों जैसे द्वन्दात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा का अधिनायकत्व और साम्यवाद की विस्तारपूर्वक जानकारी दी गयी है। ये सिद्धांत वैज्ञानिक और क्रांतिकारी समाजवाद के आधार का निर्माण करते हैं। मार्क्सवाद मात्र वर्ग विद्वेष, वर्ग संघर्ष, वर्ग विरोध और हिंसात्मक क्रांति का दर्षन नहीं है। यह बुनियादी तौर पर मानवता और स्वतन्त्रता का दर्षन है। पूँजीवादी समाज ने संबंध-विच्छेद, विलगाव और पहचान और स्वतंत्रता के विनाष को बढ़ावा दिया है। हम मार्क्स के मानवीय चेहरे को उनके प्रारम्भिक लेखों में, विषेषकर उनके *इक्नॉमिक एण्ड फिलॉसॉफिक मैन्यूस्क्रिपट्स ऑफ 1844* में पाते हैं। विलगाव और स्वतन्त्रता के सिद्धांत में, हम मानववादी मार्क्स को पाते हैं। साम्यवादी घोषणा पत्र और *दास कैपिटल* में, जो कि उनके बाद के लेखन हैं, उसमें हम एक परिपक्व और क्रांतिकारी मार्क्स को पाते हैं। इस प्रकार युवा और मानवादी मार्क्स और परिपक्व और क्रांतिकारी, दो मार्क्स हैं। फिर भी, दोनों के बीच कोई विभाजन नहीं हैं। दोनों के मध्य विचारों का प्रवाह है, और इसलिए कोई भी भिन्नता छिछोली है।

मार्क्सवाद एक जीवंत दर्षन है। मार्क्स के बाद इसे लेनिन, ट्रॉटस्की, स्टैलिन, रोज़ा लग्जंमबर्ग, ग्राम्सी, लुकास, ऐलथूज़ैर, माओ आदि विचारकों ने समृद्ध किया है। विचारधारा और इतिहास के अंत के प्रतिपादकों ने मार्क्सवाद के, उल्लेख खत्म होने का किया है। लेकिन मार्क्सवाद सामाजिक विष्लेषण के एक आयाम और उत्पीड़ित वर्ग के दर्षन के रूप में प्रासंगिक रहेगा। यह जनमानस को उनकी मुक्ति के लिए संघर्ष हेतु प्रेरित करेगा। मार्क्सवाद एक क्रांतिकारी दर्षन है। यह एक सामाजिक परिवर्तन का दर्षन है। मार्क्स के शब्दों में, दार्षनिकों ने विष्व की व्याख्या का प्रयास किया है, पर सवाल है इसे बदलने का इसका उद्‌देष्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण से मुक्त समतावादी समाज की स्थापना करना है। सिर्फ मार्क्सवाद के माध्यम से, शायद मानवता आवष्यकता के क्षेत्र से स्वतन्त्रता के क्षेत्र तक बढ़ेगी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐविनेरी, श्लोमों, *द सोषल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ कार्ल मार्क्स,* कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971

बर्लिन, इज़ाइया, *कार्ल मार्क्स : हिज़ लाईफ एण्ड ऐनवाइरमैंट,* न्यू यॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996

फुकुयामा, फ्रांसिस, *दी एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड द लास्ट मैन,* न्यू यार्क, फ्री प्रेस, 1992

टकर, रॉबर्ट, *फिलॉस्फी एण्ड मिथ ऑफ कार्ल मार्क्स,* कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1961

मैकक्लेलैंड़, जे.एस., *ए हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न पॉलिटिकल थॉट,* लंदन, राऊटलेज, 1996

26.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 26.3.1 और 26.32 देखें

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 26.4.1 देखें
2) उप-भाग 26.4.2 देखें

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 26.4.3 देखें
2) उप-भाग 26.4.4 देखें
3) उप-भाग 26.4.7 देखें

बोध प्रश्न 4

1) भाग 26.5 और 26.6 देखें

बोध प्रश्न 5

1) भाग 26.7 देखें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 मार्क्सवाद

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देष्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 मार्क्सवाद क्या है?
26.2.1 काल्पनिक (Utopian) और वैज्ञानिक समाजवाद
26.2.2 विकासवादी और क्रांतिवादी समाजवाद
26.3 मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांत
26.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
26.3.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद
26.3.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
26.3.4 वर्ग-संघर्ष
26.3.5 क्रांति
26.3.6 सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व
26.3.7 साम्यवाद
26.4 अलगाव का सिद्धांत
26.5 स्वतंत्रता का सिद्धांत
26.6 आलोचनात्मक समीक्षा और अवलोकन
26.7 सारांष
26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
26.9 बोध प्रष्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.0 उद्देष्य

इस इकाई में आप कार्ल मार्क्स तथा अन्य द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद के सिद्धांत और व्यवहार के बारे में जान पाएँगे। दर्षन के बुनियादी तत्त्वों, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग-संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवाद की विस्तार से चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समाजवाद के पूर्व-मार्क्सवाद के सूत्र, जैसे कि काल्पनिक समाजवाद की चर्चा कर पाएँगे;
- मार्क्सवाद के बुनियादी परिकल्पनाओं का आंकलन, वर्णन तथा चर्चा कर सकेंगे;
- मार्क्सवादी सिद्धांत के दूसरे प्रमुख अंगों जैसे अलगाव और स्वतंत्रता के सिद्धांत की विवेचना कर पाएँगे और अंततः; तथा
- मार्क्सवाद की समीक्षा और इसकी समकालीन प्रासंगिकता की विवेचना कर पाएँगे।

26.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देष्य मार्क्सवाद के सिद्धांतों का परीक्षण और व्याख्या करना है, जोकि हमारे युग की सबसे क्रांतिकारी विचारधारा है। उदारवाद के साथ मार्क्सवाद हमारे समय के सबसे प्रमुख दर्षन की श्रेणी में आता है। उदारवाद, आदर्षवाद और मार्क्सवाद राजनीति विज्ञान के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं। सी.एल. वेपर ने राज्य संबंधी विभिन्न विचारधाराओं

को तीन भागों में बाँटा है, जैसे मषीनरी के रूप में, यांत्रिक रूप में और वर्ग के रूप में। दूसरे शब्दों में, राज्य की जैविक विचारधारा, राज्य की यांत्रिक विचारधारा और राज्य की वर्ग संबंधी विचारधारा। जैविक विचारधारा आदर्षवाद है, यांत्रिक विचारधारा उदारवाद है और वर्ग की विचारधारा मार्क्सवाद है।

इस इकाई को मार्क्सवाद की परिभाषा, काल्पनिक और वैज्ञानिक समाजवाद, क्रांतिकारी और विकासवादी समाजवाद, मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धांतों, समीक्षा तथा निष्कर्ष के रूप में विभाजित किया गया है। मार्क्सवाद के सात प्रमुख सिद्धांत हैं, जैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवाद। अलगाव और स्वतंत्रता की अवधारणा जोकि सामन्यतया युवा मार्क्स से संबंधित हैं या मार्क्सवाद के मानवीय मुखौटा की भी चर्चा की गई है।

26.2 मार्क्सवाद क्या है?

मार्क्सवाद सामान्यतया जर्मन दार्षनिक कार्ल मार्क्स के विचारों को दर्षाता है, लेकिन मार्क्सवाद का अर्थ सिर्फ मार्क्स के विचार नहीं हैं। मार्क्सवाद विचारों के उस भाग को प्रकट करता है, जो मुख्य रूप से कार्ल मार्क्स के विचारों को समाहित करते हैं। इसके अंतर्गत मार्क्स, फ्रिडरिष एंगेल्ज़ और उनके समर्थकों के विचार शामिल हैं, जो अपने आप को मार्क्सवादियों के नाम से पुकारते हैं। मार्क्सवाद एक जीवन दर्षन है। मार्क्सवाद विचारक लगातार मार्क्सवादी दर्षन को अपना योगदान देते रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जाता है कि मार्क्स मर गये हैं, परन्तु मार्क्सवाद अभी भी जीवित है।

मार्क्सवादी दर्षन काल मार्क्स के जन्म के पहले भी अस्तित्व में था। इसी कारण से डेविड मैक्लेलन ने मार्क्सवाद पर तीन पुस्तकों को लिखा है; *मार्कसिज़्म बिफोर मार्क्स, थॉट ऑफ मार्क्स और मार्कसिज़्म आफ्टर मार्क्स।* उसी प्रकार पोलिष विचार लेसज़ेक कोलाकोस्की ने मार्क्सवाद पर तीन पुस्तकों को लिखा है। यह बात फिर उठती है कि मार्क्सवाद का अर्थ मात्र कार्ल मार्क्स के विचार नहीं हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.2.1 काल्पनिक (Utopian) और वैज्ञानिक समाजवाद

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मार्क्सवाद का अस्तित्व मार्क्स से पहले से था। ये पहले के समाजवादी विचारकों के रूप में जाने जाते हैं। कार्ल मार्क्स उन्हें काल्पनिक समाजवादी पुकारते हैं। वे काल्पनिक थे, क्योंकि उनकी सामाजिक बुराइयों की पहचान सही थी, लेकिन उनका निदान गलत था। यह अव्यवहारिक था, अतः वे काल्पनिक कहे जाते थे। जहाँ कोई शोषण नहीं था और लोग खुष थे। यूटोपिया शब्द की उत्पत्ति थॉमस मूर की *यूटोपिया* नामक उपन्यास से हुई। यूटोपिया शब्द एक काल्पनिक द्वीप को सूचित करता है, जहाँ एक दोषरहित सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक प्रणाली का अस्तित्व था; कुछ प्रमुख काल्पनिक समाजवादी विचारक हैं रॉबर्ट ओवेन, चार्ल्स फूरियर, लुइस ब्लां, सेंट साइमन, सिसमोंड़ी और प्राऊधौन।

26.2.2 विकासवादी और क्रांतिवादी समाजवाद

समाजवाद आगे विकासवादी और क्रांतिकारी समाजवाद में विभक्त किया जाता है। विकासवादी समाजवाद क्रांति में विष्वास नहीं करता है और समाजवाद को शांतिप्रिय तरीके से प्राप्त करना चाहता है। विकासवादी समाजवादियों का विष्वास संसदीय प्रजातंत्र में है और वे सामाजिक परिवर्तन मतदान के माध्यम से लाना चाहते हैं। वे हिंसा को त्यागते हैं और इस प्रकार हिंसायुक्त क्रांति के विरोधी हैं। वे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को भी

नहीं स्वीकारते हैं और वर्गयुक्त समाज से वर्गविहीन समाज तक को शांतिप्रिय प्रजातांत्रिक परिवर्तन से लाना चाहते हैं। फेबियन समाजवाद, जितड़ (Guild) समाजवाद और प्रजातांत्रिक समाजवाद विकासवादी समाजवाद के विभिन्न प्रकार हैं।

दूसरी तरफ क्रांतिकारी समाजवाद वर्ग-संघर्ष, क्रांति तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में विष्वास करता है। उसके अनुसार सामाजिक परिवर्तन शांतिप्रिय ढंग से नहीं हो सकता है, इसे हिंसात्मक होना चाहिए। शांतिप्रिय क्रांति अपने आप में विरोधाभास पैदा करती है। क्रांति सामाजिक परिवर्तन की दाई है और इस क्रांति को अवहम हिंसात्मक होना चाहिए। क्रांतिकारी मार्क्सवाद, कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के समकक्ष, सामान्यतया समझा जाता है। श्रमिक संघवाद भी क्रांतिकारी समाजवाद का एक रूप है।

विकासवादी समाजवाद भी कार्ल मार्क्स और एंगेल्ज़ की विचारधाराओं में अपने मूल को ढूँढ़ते हैं। उन्होंने राज्य के अपने आप समाप्त होने की बातें की हैं। विकासवादी समाजवाद के प्रतिपादकों ने राज्य के स्वतः विनष्टता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है और तर्क दिया है कि शांतिप्रिय माध्यम से धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित किया जा सकता है और शोषणविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। फिर भी विकासवादी समाजवाद के आलोचक इस धारणा को स्वीकार नहीं करते हैं और तर्क देते हैं कि राज्य के स्वतः विनाष की विचारधारा सिर्फ समाजवादी राज्य या सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व पर लागू होती है और पूँजीवादी राज्य पर नहीं। यह स्वतः विनष्ट नहीं होगा। इसे हिंसात्मक क्रांति के द्वारा नष्ट किया जाना चाहिए। अतः विकासवादी समाजवाद के तर्क में कमी है।

बोध प्रष्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) काल्पनिक और वैज्ञानिक समाजवाद के बीच अंतर स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

....

2) विकासवादी और क्रांतिकारी समाजवाद के अंतर स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

26.3 मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांत

मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांत इस प्रकार हैं : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवाद। अब, इन सिद्धांतों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

26.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इतिहास की व्याख्या के लिए मार्क्स और एंगेल्ज़ द्वारा विकसित वैज्ञानिक विधि है। यहाँ मार्क्स पूर्ववर्ती विचारकों, विषेषतया, जर्मन दार्षनिक हेगेल से पूरी तरह प्रभावित हैं। द्वन्द्वात्मक (Dialectics) एक बहुत पुरानी विधि है, विरोधी विचारने के संघर्ष के माध्यम से विरोधाभासों को व्यक्त करते हुए सत्य को जानने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। हेगेल ने संवाद (Thesis), प्रति-संवाद (Anti-thesis) तथा संष्लेषण (Synthesis) के तीनों रूपों को विकसित करके इसे पेष किया है। द्वन्द्वात्मक त्रिगुण (Dialectical Triad) के नाम से मुख्य रूप से इसे जाना जाता हैं। प्रगति या विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में, यह विरोधाभासों द्वारा वर्गीकृत किया जाता है। ये विरोधाभास आने वाले परिवर्तन, प्रगति और विकास को प्रेरित करते हैं। संवाद को इसके प्रति–संवाद के द्वारा चुनाती दी जाती है। दोनों में सच्चाई और असत्यता क्षणभंगुर होती है। संवाद और प्रति-संवाद के संघर्ष के परिणामस्वरूप, सच्चाई बरकरार रहती है, लेकिन असत्य तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। ये असत्य तत्त्व विरोधाभासों को जन्म देते हैं। संवाद और प्रति-संवाद के सच्चे तत्त्व संष्लेषण में एक साथ मिला दिये जाते हैं। यह विकसित संष्लेषण समय के अंतराल में संवाद बन जाता है और इस प्रकार यह पुनः अपने विरोधी प्रति-संवाद द्वारा चुनौती प्राप्त करता है, जो पुनः संष्लेषण में बदल जाता है। यह संवाद, प्रति-संवाद और संष्लेषण की प्रक्रिया तब तक चलती है, जब तक यह पूर्णता की अवस्था तक नहीं पहुँच जाती है। इस विकासवादी प्रक्रिया में नयी अवस्था आएगी, जब कोई असत्य तत्त्व नहीं होगा। ये विकास के विभिन्न अवस्थाओं में नष्ट हो जाएँगे। अंततः सिर्फ सत्य ही बचता है, क्योंकि यह कभी भी नष्ट नहीं होता है। यह पूर्ण अवस्था को जन्म देगा और कोई विरोधाभास नहीं होगा और इस प्रकार आगे कोई विकास नहीं होगा। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का अंत पूर्ण सत्य पर पहुँचने के बाद हो जाएगा। यह विरोधाभास है, जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को बढ़ाते हैं और विरोधाभास का पूरा विनाष अपने आप से द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अंत को सूचित करता है।

भौतिकवाद के लिए मार्क्स भौतिकवाद के फ्रेंच विद्यापीठ, मुख्यतया फ्रेंच भौतिकवादी विचारक लुडविग फ्युरबैक के पूरी तरह से ऋणी हैं। यह पदार्थ है, जो आखिरकार में वास्तविकता है न कि विचार। बाद वाला पहले का प्रतिबिम्ब है। हम कैसे अपनी रोटी कमाते हैं, यह हमारे विचारों को निर्धारित करता है। यह व्यक्तियों की चेतना नहीं होती है, जो उनके अस्तित्व का निर्धारण करती है। इसके विपरीत, यह उनका सामाजिक अस्तित्व होता है, जो उनके चेतन का निर्धारण करता है। मार्क्स ने टिप्पणी की है कि ''हेगेल का द्वन्द्वात्मक अपने सिर के बल खड़ा था और मैंने उसे पैरों पर खड़ा किया है''। हेगेल ने द्वन्द्वात्मक आदर्षवाद का विकास किया है। उनके अनुसार ये विचार हैं, जो अंततः पदार्थ होते हैं। विचार आधार या उप-संरचना में निहीत होता है, जो श्रेष्ठ संरचना में सभी चीज़ों को निर्धारित करता है। समाज, राजनीति और अर्थ व्यवस्था इस श्रेष्ठ संरचना के अंतर्गत हैं, जिसे उस समय के प्रचलित प्रभारी विचारों द्वारा आकार प्रदान किया जाता है। अंततः यही विचार हैं, जो पदार्थ के साथ स्थानांतरित होते हैं। मार्क्स के अनुसार, भौतिक या आर्थिक बल उप-संरचना के अंतर्गत आते हैं और विचार श्रेष्ठ संरचना का एक अंग हैं। विचार भौतिक बलों का प्रतिबिम्ब हैं। आर्थिक बल विचार को निर्धारित करता है और न

कि दोनों को। इस प्रकार मार्क्स ने विचार और पदार्थ की स्थिति को पलट दिया है। यही कारण है कि वे दावा करते हैं कि ''हेगेल का विचार नीचे की ओर झुका हुआ था और मैंने उसे ठीक किया है''।

आधार या उप-संरचना के अंतर्गत उत्पादन का तरीका और उत्पादन के संबंध निहित होते हैं। ये दोनों मिलकर उत्पादन के रूप को जन्म देते हैं। उत्पादन के तरीके में परिवर्तन तकनीकी विकास के कारण होता है, यह उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन लाता है। इस प्रकार उत्पादन के रूप के परिवर्तन श्रेष्ठ संरचना में अनुकूल परिवर्तन लाते हैं। समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता, मूल्यों, आदर्षों इत्यादि श्रेष्ठ संरचना के अंग हैं और उत्पादन के रूप द्वारा निर्धारित होते हैं।

26.3.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वन्दात्मक भौतिकवाद के प्रयोग में इतिहास की व्याख्या करता है। यह द्वन्दात्मक भौतिकवाद की मार्क्सवादी विधि को लागू करने में विष्व इतिहास की आर्थिक व्याख्या करता है। विष्व इतिहास को चार अवस्थाओं में बांटा गया है : प्रारम्भिक साम्यवाद, दास प्रथा, सामंतवाद और पूँजीवाद।

प्रारम्भिक साम्यवाद, मानव इतिहास के सबसे प्रारम्भिक काल को सूचित करता है। यह काल सम्पत्तिविहीन, शोषणविहीन, वर्गविहीन और 'राज्यविहीन समाज था। उत्पादन के साधन पिछड़े हुऐ थे, क्योंकि तकनीकी अविकसित थी। समुदाय उत्पादन के साधनों का स्वामी था। वे निजी स्वामीतत्व के अंतर्गत नहीं थे और कोई शोषण नहीं था। षिकार के लिये पत्थर के हथियार, मछली फंसाने के जाल और अंकुड़ी (hooks) उत्पादन के साधान थे। समूचा समुदाय इनका स्वामी था। उत्पादन सीमित था और स्व-खपत के लिए किया जाता था। कोई अतिरिक्त उत्पादन नहीं था, तो कोई शोषण नहीं था। जब कोई शोषण नहीं था तो कोई वर्ग विभाजन नहीं था। जब कोई वर्ग विभाजन नहीं था, तो कोई वर्ग संघर्ष नहीं था, तो कोई राज्य नहीं था। इस प्रकार यह साम्यवादी समाज था, लेकिन अदिकालीन प्रकार का था। फिर भी ज़िन्दगी कठिन थी। इसे शोषण, कलह और संघर्ष के अभाव के द्वारा निर्धारित किया जाता था।

तकनीक स्थिर नहीं है; यह लगातार विकसित होती है। तकनीकी विकास उत्पादन में सुधार के लिए होता है। जिससे अतिरिक्त उत्पादन होता है, जो व्यक्तिगत् सम्पत्ति का आर्विभाव करता है। अब उत्पादन के साधन समुदाय के अंतर्गत नही होते हैं, बल्कि निजी स्वामित्व के अंतर्गत आ जाते है। इस प्रकार समाज सम्पत्तिवालों और सम्पत्तिविहीन वर्गों में बंट जाता है। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होने की वजह से सम्पत्ति वाले वर्ग सम्पत्तिविहीन वर्ग का शोषण करते हैं। चूँकि संघर्ष होता है, प्रभावी वर्ग, यानि की सम्पत्ति वाला वर्ग राज्य नाम की एक दमनकारी संस्था का निर्माण करते हैं, जोकि अर्धानस्थ की यानि कि सम्पत्तिहीन वर्ग के विरोध को कुचलता है। इस प्रकार राज्य एक वर्ग यंत्र और दमनकारी संस्था है। यह अपने निर्माता के हितों की रक्षा करता है, जो सम्पत्तिवाले वर्ग हैं।

प्रारम्भ में इस समाज को स्वामी और गुलाम के रूप में बांटा गया है। स्वामी सम्पत्तिवाले (the haves) हैं और गुलाम सम्पत्तिविहीन (the have nots) हैं। गुलाम उत्पादन के सारे कार्य को करते हैं। स्वामी गुलामों की मेहनत पर जीते हैं। वे गुलामों का शोषण करते हैं और जब कभी गुलाम विरोध करते हैं, तब राज्य स्वामी के बचाव में आता है। इस प्रकार, राज्य स्वामी वर्ग के हितों की रक्षा करता है। यह अपनी दमनकारी शक्तियों से गुलामों की आवाज़ को दबाता है।

MAADHYAM IAS

दास प्रथा का सामंतवाद अनुगामी बन जाता है। तकनीकी विकास उत्पादन के साधन में परिवर्तन लाता है और यह उत्पादन और श्रेष्ठ संरचना के संबंध में अनुकूल परिवर्तन लाता है। दास प्रथा उत्पादन के सामंती ढ़ांचे में परिवर्तित हो जाता है और यह समाज, राजनीति, नैतिकता और मूल्य प्रणाली में झलकता है। समाज का सामंतों और किसानों में विभाजन सामंतवाद को दर्षाता है। सामंतों का उत्पादन के साधनों पर अधिपत्य होता है, यह भूमि है, लेकिन किसान उत्पादन कार्य करता है। भूमिध्य का स्वामित्व होने के कारण, सामंत बिना कुछ किये उत्पादन का बड़ा हिस्सा प्राप्त करता है। इस प्रकार सामंत परजीवी (parasite) के सामान होता है, जो किसानों की मेहनत पर संपन्न होता हैं। सामंत किसानों का शोषण करता है और यदि किसान कभी अपने शोषण का विरोध करता है, तो उसके विरोध को राज्य निर्दयता से कुचल देता है, क्योंकि राज्य सामंतो के हितों की रक्षा और उनकी सेवा करता है। जहाँ किसान आश्रित और शोषित वर्ग होता है, वहीं स्वामी प्रभावी और शोषक वर्ग होता है।

पूँजीवाद सामंतवाद का अनुगामी होता है। तकनीकी विकास जारी रहता है, इसलिए उत्पादन की षिक्तियों में परिवर्तन होता है, जो उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबंधों के बीच बेमेल हो जाता है, जिसका समाधान मध्य वर्ग (bourgeois) की क्रांति से होता है। इस प्रकार उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन का सामंती ढाँचा पूँजीवादी ढाँचे में बदल जाता है। समाज का मध्य वर्ग और सर्वहारा वर्ग में विभाजन पूँजीवाद को दर्षाता है। मध्य वर्ग का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, लेकिन सर्वहारा वर्ग उत्पादन करता है। सर्वहारा लोग औद्योगिक श्रमिक होते हैं; वे कम वेतन के बदले अपना श्रम बेचते हैं। यह व्यवहारतः आजीविका के लिए वेतन होता है, जिससे श्रम शक्ति को अबाधित आपूर्ति को बरकरार रखा जा सकता है। उत्पादन स्वयं के खपत के लिए नहीं होता है, बल्कि मुनाफे के लिए होता है। अधिकतम मुनाफे की इच्छा वेतन में कमी और कार्यविधि में बढ़ोत्तरी करती है। यह आगे श्रमिक वर्ग की स्थिति को बिगाड़ता है, जो अंततः उन्हें इस स्थिति में पहुँचा देता हैं, जहाँ खोने के लिए कुछ नहीं होता है। यह सर्वहारा क्रांति के लिए मार्ग प्रषस्त करता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) द्वन्दात्मक भौतिकवाद के अर्थ को अपने शब्दों में व्यक्त करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) प्रारम्भिक साम्यवाद या सामंतवाद के मुख्य विषेषताओं की गणना और वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

26.3.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज में शोषण की व्याख्या करने के लिए अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को विकसित किया है। यहाँ मार्क्स वर्गीय अर्थषास्त्रियों के सिद्धांतों से प्रभावित थे। वे मूल्य के श्रम सिद्धांत से सहमत थे। सामान का मूल्य इसके उत्पादन में लगे श्रम की मात्रा से आंका जाता है। श्रम भी एक सामान है। इसे दूसरे सामानों की तरह खरीदा और बेचा जा सकता है। उत्पादन के चार कारकों में श्रम सबसे सर्वोच्च है। इसके अभाव में उत्पादन के दूसरे कारक बेकार हैं। भूमि पूँजी और संगठन उत्पादन के अन्य दूसरे कारक बेकार हैं। भूमि पूँजी और संगठन उत्पादन के अन्य दूसरे कारक हैं। उत्पादन के इन कारकों के लिए श्रम का प्रयोग होता है, जो उन्हें उत्पादक बनाता है। श्रम के अभाव में वे बंजर होते हैं।

यदि वेतन श्रमिक द्वारा उत्पन्न की गयी रकम के अनुपात में दिया जाता है, तो कोई शोषण नहीं होता है, लेकिन यह अवस्था पूँजीवाद में नयी होती हैं। श्रम इस अर्थ में अनोखा होता है कि यह अपने रख-रखाव से ज़्यादा मूल्य उत्पन्न करता है। श्रमिक द्वारा उत्पन्न किये गये मूल्य तथा श्रमिकों को वेतन के रूप में दिए गए मूल्य में अंतर होता है, जिससे अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न तथा पूँजीपति को मुनाफा होता है। उदाहरण के तौर पर, यदि कोई श्रमिक एक महीने में 25,000 रुपये मूल्य उत्पन्न करता है और उसे वेतन के रूप में 15,000 रुपये दिये जाते हैं, तो बचे हुए 10,000 रुपये पूँजीवादी का लाभ होगा। इस प्रकार श्रमिक सदैव अधिक मूल्य पैदा करते हैं, जितना उसे वास्तव में मिलता है। श्रमिक द्वारा उत्पन्न यह अतिरिक्त मूल्य मध्यवर्ग (bourgeois) का लाभ होता है, जिसका बचाव वर्गीय अर्थषास्त्री करते हैं, क्योंकि यह संपत्ति संग्रह करता है, जिसे आगे नये उद्योगों तथा उपक्रमों में लगाया जाता है और जिससे विकास और खुषहाली आती है। मार्क्सवादियों के अनुसार, यह श्रमिकों का शोषण हैं, जिसे समाप्त किया जाना चाहिए।

पूँजीवाद के विकास और प्रतियोगिता में बढ़ोतरी होने से श्रमिकों के वेतन में लगातार गिरावट आती है और आजीविका स्तर की अवस्था आ जाती है। आजीविका वेतन रहने और श्रम शक्ति के स्थायीकरण के लिए न्यूनतम वेतन होता है। इस प्रकार पूँजीवाद में गहन प्रतियोगिता सर्वहारा की अति क्षति का सूचक होता है। यह वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देता है और अंततः क्रांति को लाता है।

26.3.4 वर्ग-संघर्ष

मार्क्स के अनुसार, अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। सिवाय प्रारम्भिक साम्यवादी अवस्था को छोड़कर सभी ऐतिहासिक कालों में प्रभावी और आश्रित वर्गों या सम्पत्ति वाले और सम्पत्तिविहीन के बीच सक्रिय विरोध रहा है। यह सक्रिय

विरोध वर्ग विरोधाभासों से पैदा होता है; यह सम्पत्तिविहीन वर्ग का सम्पत्ति वाले वर्ग द्वारा शोषण के परिणामस्वरूप होता है। पूरे इतिहास में प्रत्येक युग में दो विरोधी वर्ग रहे हैं। दास प्रथा में स्वामी और दास, सामंतवादी प्रथा में सामंत और मध्य वर्ग उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं। दास, किसान और सर्वहारा उत्पादन करते हैं, लेकिन उनके उत्पाद को उनके शोषकों के द्वारा ले लिया जाता है और बदले में उन्हें सिर्फ़ दैनिक गुज़ारे के लिए वेतन देते हैं। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होने के कारण सम्पत्ति वाले वर्ग सम्पत्तिविहीन का शोषण करते हैं। यही वर्ग संघर्ष का मुख्य स्रोत और कारण हैं। विरोधी वर्गों के बीच कोई समझौता या मेल संभव नहीं है। प्रत्येक युग में विरोधी वर्गों के अन्तर्निहित विरोधाभासों को सिर्फ़ शोषित वर्गों के सर्वनाश से सुलझाया जा सकता है।

26.3.5 क्रांति

वर्ग संघर्ष क्रांति के लिए मार्ग प्रषस्त करता है। वर्ग संघर्ष अतींद्रिय (imperaceptible) होता है, लेकिन क्रांति अनुभवगम्य (perceptible) होती है। वर्ग संघर्ष की तीव्रता क्रांति के लिए आधार का निर्माण करती है। वर्ग संघर्ष लम्बे समय तक चलने वाली गतिविधि है, लेकिन क्रांति थोड़े समय के लिए तेज़ी से और हिंसात्सक होती है। मार्क्स के शब्दों में ''क्रांति सामाजिक परिवर्तन की आवष्यक दाई होती है''। सामंती क्रांति ने दास प्रथा को खत्म कर दिया, मध्यवर्गीय क्रांति ने सामंतवाद को खत्म किया और सर्वहारा क्रांति पूँजीवाद का अंत करेगी। इस प्रकार किसी भी युग में सामाजिक परिवर्तन सदैव क्रांति के द्वारा किया जाता है।

क्रांति होती है, जब उत्पादन की शक्तियों या साधनों और उत्पादन के संबंधों के बीच असामंजस्य होता है। इस असमांजस्य का सामाधान करने के लिए क्रांति होती है, जो उत्पादन के साधनों या शक्तियों के साथ सामंजस्य लाने के लिए उत्पादन के संबंधों और श्रेष्ठ सरंचना में अनुकूल परिवर्तन लाती है। तकनीकी विकास उत्पादन के साधनों में परिवर्तन लाता है। हस्तषिल्प आपको सामंती समाज प्रदान करते हैं और आपचालित (steam) मिल, औद्योगिक पूँजीवादी समाज देते है।

सर्वहारा क्रांति इतिहास के वार्षिकी वृत्तांत में अंतिम क्रांति होगी। क्रांति विरोधाभासों के समाधान के लिए होती है। इसलिए क्रांति नहीं होगी, यदि समाज में कोई विरोधाभास नहीं होगा। सर्वहारा क्रांति के बाद, आगे कोई क्रांति नहीं होगी, क्योंकि कोई विरोधाभास नहीं होगा फिर भी, क्रांति तब होगी, केवल जब उत्पादन की शक्तियां पूरी तरह परिपक्व हो जायेंगी और उत्पादन के संबंधों से मेल नहीं खायेंगी। क्रांति इस बेमेल का अंत करती है।

सामाजिक विकास के क्रम और दिषा को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। कोई भी अवस्था दूसरी अवस्था को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती है। कोई भी अवस्था छोटी-परिधि वाली नही हो सकती है। प्रारम्भिक साम्यवाद से दास प्रथा, दास प्रथा से सामंतवाद और सामंतवाद से पूँजीवाद सर्वहारा का अधिनायकत्व या समाजवाद पूँजीवाद पर विजय प्राप्त करेगा, जो सामाजिक विकास की अंतिम से पहली अवस्था होती है। सर्वहारा का अधिनायकत्व अंततः साम्यवाद की स्थापना करेगा। सर्वहारा क्रांति के साथ, क्रांति का स्वतः अंत हो जाएगा।

26.3.6 सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व

सर्वहारा क्रांति सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना करेगी। यह समाजवादी राज्य के नाम से भी जानी जाती है। मध्यवर्ग द्वारा उत्पन्न राज्य के अंग, सर्वहारा के दबाने वालों को, सर्वहारा मध्य वर्ग के विरुद्ध राज्य के यंत्र का इस्तेमाल करेगा। मध्य वर्ग पुरानी व्यवस्था

MAADHYAM IAS

को पुनः प्राप्त करने के लिए विरोधी-क्रांति करने की कोषिष करेगा और इस प्रकार राज्य की दमनकारी संस्थाओं द्वारा मध्य वर्ग को नियंत्रित करने की आवष्यकता होती है।

राज्य सदैव दमन का साधन रहा है। प्रभावी वर्ग ने आश्रित वर्ग पर दमन करने के लिए राज्य की उत्पत्ति की है। यह एक वर्ग साधन है। राज्य रक्षा करता है और अपने निर्माता के हितों का ख्याल करता है, जो सम्पत्ति संपन्न वर्ग होता है। यह वर्ग सदैव अल्पसंख्यक रहा है, चाहे वह स्वामी या सामंत या पूँजीपति हो। इस प्रकार अल्पसंख्यक बहुसंख्यक का शोषण करते रहे हैं, जैसे गुलामों या किसानों या सर्वहारा का राज्य के दमनकारी अंगों द्वारा। सर्वहारा के अधिनायकत्व के अंतर्गत, पहली बार राज्य बहुसंख्यक के नियंत्रण में आता है। अब पहली बार राज्य के दमनकारी यंत्र का उपयोग बहुसंख्यक के विरुद्ध अल्पसंख्यक द्वारा होता है।

मार्क्स के अनुसार सभी राज्यों का अधिनायकत्व रहा है। अतः समाजवादी राज्य कोई अपवाद नहीं है। यह भी एक अधिनायकत्व है। राज्य का इस्तेमाल सदैव एक वर्ग का दूसरे वर्ग को दबाने के लिए किया जाता रहा है। समाजवादी राज्य में सर्वहारा वर्ग राज्य के दमनकारी अंगों जैसे सेना, पुलिस, जेल, न्यायिक प्रणाली इत्यादि का प्रयोग मध्य वर्ग के विरुद्ध करेगा। मार्क्स तर्क देते हैं कि यदि प्रजातंत्र का अर्थ बहुसंख्यक का शासन होता है, तो सर्वहारा राज्य सबसे प्रजातांत्रिक राज्य है क्योंकि पहली बार इतिहास के वार्षिकी में सत्ता बहुसंख्यक के हाथों में आती है। सर्वहारा राज्य के पहले, सत्ता बहुसंख्यक के हाथों में आती है। सर्वहारा राज्य के पहले, सत्ता सदैव अल्पसंख्यकों के हाथों में रही है। इसलिए यदि बहुमत का शासन मापदंड हैं, तो मात्र सर्वहारा राज्य ही प्रजातांत्रिक राज्य कहा जा सकता है।

MAADHYAM IAS

26.3.7 साम्यवाद

सर्वहारा के अधिनायकत्व की जीवित देखभाल के अंतर्गत, समाजवादी राज्य साम्यवाद के रूप में उभरेगा। समाजवाद का क्षणभंगुर अवस्था है। यह साम्यवाद से संभावित उद्‌भव का रास्ता प्रषस्त करेगा, जो स्थिर और स्थायी होता है। यह सामाजिक विकास का काल होगा। साम्यवाद की स्थापना के बाद आगे कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं होगा। द्वन्दात्मक प्रक्रिया का अंत हो जाएगा। एक पूर्ण, विवेकषील सामाजिक प्रणाली की स्थापना होगी जो कि शत्रुओं और विरोधाभासों से मुक्त होगी। कोई वर्ग विरोधाभास नहीं होगा, इसलिए कोई वर्ग संघर्ष नहीं होगा। वास्तव में साम्यवाद वर्गविहीन, निजी सम्पत्तिविहीन और शोषणविहीन समाज होगा।

साम्यवाद समाज में उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के रूप में कोई निजी सम्पत्ति नहीं होगी। उत्पादन के साधनों पर समुदाय का स्वामित्व होगा। सहयोग न कि प्रतियोगिता साम्यवादी समाज का आधार होगा। उत्पादन खपत के लिए होगा न कि मुनाफा कमाने के लिए; मुनाफे की प्रवृत्ति सामाजिक आवष्यकताओं में बदल जाएगी। जब कोई निजी सम्पत्ति नहीं होगी, तो कोई शोषण नहीं होगा। जब कोई शोषण नही होगा, तो कोई वर्ग विभाजन, कोई सम्पत्ति सम्पन्न और सम्पत्तिविहीन वर्ग, या कोई प्रभावी और आश्रित वर्ग नहीं होगा। जब कोई वर्ग विभाजन नहीं होता है, तो कोई वर्ग संघर्ष नहीं होता है, इसलिए राज्य की आवष्यकता नहीं होती है। इस कारण से साम्यवादी समाज वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज होगा।

राज्य शोषण का मंत्र होता है, यह वर्ग यंत्र होता है, परिणामस्वरूप समाज में वर्ग विभाजन होता है। साम्यवाद में श्रमिकों का मात्र एक वर्ग होता है, कोई दूसरा वर्ग दबाने और दमन करने के लिए नहीं होता है, अतः राज्य की कोई आवष्यकता नहीं होगी। यह साम्यवादी

समाज में फालतू बन जाएगा। इसे संग्राहालय को सौंप दिया जाएगा। राज्य फिर भी खत्म नहीं होगा। यह धीरे-धीरे विलीन हो जाएगा।

साम्यवादी समाज लुईस ब्लां (Louise Blanc) के सिद्धांत – 'प्रत्येक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेंगें और प्रत्येक की अपनी आवष्यकता के अनुसार प्राप्त होगा,' – के अनुसार शासित होगा। परजीवियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा नहीं। सिर्फ श्रमिकों का एक वर्ग होगा। समूचा समाज श्रमिक वर्ग में बदल जायेगा। शोषण का कोई स्थान नहीं होगा। यह समतावादी समाज होगा। लोगों के बीच सद्भावपूर्ण संबंध होगा।

बोध प्रष्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

2) वर्ग संघर्ष की अवधारणा की चर्चा कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

3) साम्यवादी समाज की प्रमुख विषेषताओं का वर्णन तथा मूल्यांकन करें।

....

....

....

....

....

....

....

26.4 अलगाव का सिद्धांत

मार्क्सवादी दर्षन में दो विषिष्ट काल रहे हैं। 1844 का *इक्नॉमिक एण्ड फिलॉसॉफिक मैन्युस्क्रिप्टस* मार्क्सवाद के मानवीय चेहरे को उजागर करता है। इसमें बिना वर्ग शत्रुता, वर्ग संघर्ष तथा हिंसात्मक क्रांति के संदर्भ के पूँजीवाद को विष्लेषित किया गया है। यहाँ पूँजीवाद के बुरे प्रभावों की अलगाव, पहचान और स्वतंत्रता के खोने के आधार पर व्याख्या की गयी है। मार्क्स के इन दृष्टिकोणों को युवा मार्क्स के साथ जोड़ा जाता हैं। 1848 के साम्यवादी कम्युनिस्ट *मैनिफैस्टो* में मार्क्स के दर्षन में एक बदलाव देखने को मिलता है। बाद का मार्क्स परिपक्व मार्क्स के नाम से जाना जाता है, जिन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांत की स्थापना की। मार्क्स के प्रारम्भिक विचारों को सिर्फ 1932 में प्रकाषन के साथ ही जाना गया था।

अलगाव का सिद्धांत एक मार्क्सवादी अवधारणा है। हंगेरियन मार्क्सवादी जार्ज लुकास ने 1932 के प्रकाषन के पहले ही पूरी तरह से अपने बलबूते अलगाव के सिद्धांत को विकसित किया है। फिर भी अलगाव की अवधारणा मैन्युस्क्रिप्टस प्रकाषन के बाद ही लोकप्रिय बनी। मार्क्स ने अलगाव के चार स्तरों का ज़िक्र किया है। सर्वप्रथम मनुष्य अपने उत्पाद और काय प्रक्रिया से अलग-थलग पड़ जाता है, क्योंकि श्रमिक की कैसे उत्पादन करे। द्वितीय व्यक्ति प्रकृति से अलग हो जाता है। उसका कार्य उसे एक रचनात्मक श्रमिक के रूप में संतोष प्रदान नहीं करता है। यांत्रिकीकरण के अन्तर्गत, कार्य तेज़ी से समयबद्ध और उबानेवाला बनता जा रहा है। तीसरे, व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अलग से हो जाता है। पूँजीवादी प्रणाली का प्रतियोगी चरित्र प्रत्येक को अन्य के खर्च पर जीने को मजबूर कर एक दूसरे से अलग कर देता है। आखिरकार व्यक्ति स्वयं से कट जाता है। आवष्यकता का क्षेत्र उसके जीवन को काबू करता है और सांस्कृतिक विरासत के लिए कोई समय नहीं होता है। पूँजीवादी प्रणाली पूँजी और सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के द्वारा उत्पन्न अवस्थाओं को सभी मानवीय संकायों और क्षमताओं में अधीनस्थत करती है। पूँजीपति अपने आप में श्रमिक से कम नहीं होता है, लेकिन पैसे के निरंकुष शासन का गुलाम बन जाता है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

26.5 स्वतंत्रता का सिद्धांत

मानववादी दर्षन के रूप में मार्क्सवाद मुख्यतया मानव स्वतन्त्रता का दर्षन है। स्वतन्त्रता न सिर्फ मानवीय आवष्यकताओं की भौतिक संतृष्टता है, बल्कि अमानवीयकरण, संबंध विच्छेद और अलगाव की अवस्थाओं को दूर करना भी है। पूँजीवादी प्रणाली आवष्यकता को स्वतंत्रता के विरोधी के रूप में वर्गीकृत करती है। आवष्यकता उन अवस्थाओं को सूचित करती है, जिसके अंतर्गत प्रकृति के अनिवार्य नियम व्यक्ति के जीवन को शासित करते हैं। प्रकृति के इन नियमों में मानव इच्छा की स्वतंत्रता निहित होती है। व्यक्ति इन नियमों के वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त कर सकता है, लेकिन उन्हें अपनी इच्छा से बदल नहीं सकता है। स्वतंत्रता आवष्यकता से अलग हट नहीं सकती है। स्वतन्त्रता प्रकृति के इन नियमों के ज्ञान में निहित होती है और इन नियमों को क्षमता प्रदान करने जो मानव समाज के स्वतन्त्रता के निष्चित लक्ष्य की ओर कार्य करता है।

इस प्रकार पूँजीवादी प्रणाली को चलाने वाली उत्पादक शक्तियों का ठोस ज्ञान और एक कार्यक्रम, आवष्यकता की राजधानी से स्वतन्त्रता की राजधानी तक मानवीय परिवर्तन को निष्पादन करेगा। मानव समाज की स्वतंत्रता और सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव सिर्फ पूँजीवाद के विनाष और साम्यवाद की स्थापना से ही संभव होता है।

बोध प्रश्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) आप अलगाव के सिद्धांत या स्वतन्त्रता के सिद्धांत का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

....

26.6 आलोचनात्मक समीक्षा और अवलोकन

मार्क्सवाद कठोर आलोचना का विषय रहा है। इसने समाज को दो वर्गों, जिनके पास कुछ (the haves) और जिनके पास कुछ नहीं है (the have-nots) में विभाजित किया है। यह वास्तविकता से दूर है। समाज बहुत जटिल होता है और कुई समूहों में बंटा होता है। जैसे कि मार्क्सवाद की परिकल्पना है, वैसा कोई स्पष्ट वर्गों का विभाजन नहीं होता है। ज्यादातर, इसमें विषाल मध्य वर्ग होता है। मार्क्सवादी विचारकों ने भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद के विकास के साथ, मध्य वर्ग विलीन हो जाएगा और सर्वहारा वर्ग के साथ मिल जाएगा लेकिन अभी तक ऐसा नहीं हुआ है और ऐसा होने की कोई संभावना नहीं है। वास्तव में इसके विपरीत हुआ है; मध्य वर्ग ने अपनी स्थिति को मजबूत किया है और अपने आकार को बढ़ाया है। मार्क्सवादियों ने पूँजीपति वर्ग के सिमटने की बातें की थीं। यहाँ पुनः ठीक इसके विपरीत हुआ है। सिमटने के बदले पूँजीपति वर्ग का आधार विस्तृत हुआ है। मार्क्स ने पूँजी संग्रह की बात की थी, लेकिन पूँजी का बिखराव हो गया है। सर्वहारा वर्ग की स्थिति वैसी नहीं बिगड़ी है, जैसे कि मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी। इस प्रकार, पूँजीवाद की वास्तविक कार्यकारी प्रणाली ने वर्गों के मार्क्सवादी सिद्धांत को गलत साबित किया है।

मार्क्सवादियों ने भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद अन्तर्विरोध के कारण बिखर जाएगा। लेकिन, अभी तक ऐसा घटित नहीं हुआ है। कोई विकसित पूँजीवादी व्यवस्था ध्वस्त नहीं हुई है। पूँजीवाद ने अपने लचीलेपन को साबित किया है। दूसरी ओर, समाजवादी व्यवस्था, दुनिया के विभिन्न भागों में ध्वस्त हो गयी है। पूँजीवाद के पास सामंजस्य बिठाने की अपार शक्ति है। यही इसके जीवंत होने का मुख्य कारण है। मार्क्स पूँजीवाद का सही आंकलन करने में असफल रहे हैं।

मार्क्स के अनुसार, सर्वहारा क्रांति तभी होगी, जब पूँजीवाद परिपक्व हो जायेगा। पिछड़े सामंतवादी समाज में सर्वहारा क्रांति के घटित और सफल होने का अवसर नहीं होता है। लेकिन वास्तव में यही घटित हुआ है। क्रांति सिर्फ सामंतवादी समाजों जैसे रूस, चीन, वियतनाम, क्यूबा इत्यादि देषों में हुई हैं। यह रूसी मार्क्सवादियों के दो गुटों, प्लैखनॉव (Plekhnov) के नेतृत्व में मैंषेविक्स (Mensheviks) और लेनिन के नेतृत्व में बॉलषेविक्स (Bolsheviks) के बीच विवाद का मुख्य मुद्दा था। अंततः बॉलषेविक्स का मैनषेविक्स के

ऊपर वर्चस्व रहा, लेकिन वे मार्क्स के विचारों के अधिक नज़दीक थे। मार्क्स के अनुसार, उनके विचार सामाजिक विकास के जन्म की वेदना को कम कर सकते हैं, लेकिन किसी भी अवस्था को नज़रअंदाज नहीं कर सकते। फिर भी लेनिन और ट्रॉटस्की ने रूस में और माओ ने चीन में पूँजीवाद की स्थापना की प्रक्रिया से गुज़रे बिना सामंतवादी समाज में साम्यवाद की स्थापना की। इस प्रत्यक्ष विरोधाभास के समाधान के लिए ट्रॉटस्की ने *थ्योरी ऑफ परमानेंट रिवॉल्युषन,* को विकसित किया। उन्होंने अपने सिद्धांत में मध्यवर्ग की क्रांति को सर्वहारा की क्रांति के साथ मिला दिया। ये दोनों क्रांतियां ट्रॉटस्की की दृष्टि में साथ-साथ घट सकती हैं। यद्यपि यह अधिक व्यवहारिक विचार प्रतीत होता है, यह मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों को नहीं स्वीकार करता है।

आर्थिक निर्धारकवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत की कठोर आलोचना की गयी है। यह सिर्फ आर्थिक कारक ही नहीं होता है, बल्कि दूसरे कारक भी सामाजिक परिवर्तन लाने में समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि अर्थव्यवस्था, राजनीति, समाज, नैतिकता, मूल्य प्रणाली इत्यादि को निर्धारित करती है, तब अर्थव्यवस्था भी अपने आप इनके द्वारा निर्धारित होती है। यह दो तरफा प्रक्रिया है। आर्थिक शक्तियाँ राजनीति, समाज, संस्कृति, धर्म, मूल्यों, आदर्षों इत्यादि के प्रभावों से अछूती नहीं है। यदि आधार या नींव अधिरचना को आकार देते हैं, तो अधिरचना भी नींव को आकार देती है। इस प्रकार आर्थिक निर्धारकवाद के सिद्धांत को स्वीकारा नहीं जा सकता है। बाद के मार्क्सवादी विचारकों, जैसे कि ग्रामसी ने अधिरचना की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया।

सर्वहारा का अधिनायकत्व और साम्यवाद की मार्क्सवादी अवधारणाओं, में कई कमियाँ हैं। सर्वहारा क्रांति के बाद सर्वहारा मध्य वर्ग से राज्य की मषीनरी को छीन लेगा। साम्यवाद की स्थापना के बाद राज्य फालतू हो जाएगा और धीरे-धीरे विलीन हो जाएगा। यह घटित नहीं हुआ है। समाजवादी समाज में राज्य वास्तव में सर्व-षक्तिमान बन गया। कमज़ोर होने के बदले राज्य ने अपनी स्थिति दृढ़ बना ली है और इसके मुरझाने की कोई संभावना नहीं है। राज्य समाजवादी और मार्क्सवादी समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहेगा और इसे संग्रहालय को कभी भी सौंपे जाने की कोई संभावना नहीं है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

समाजवादी समाज की जहाँ कहीं भी स्थापना की गयीं है, या तो उसे उतार फेंका गया या नज़रअंदाज किया गया है। जहाँ कहीं भी यह अभी भी जीवित है, इसे बहुत सारे परिवर्त्तन करने के लिए मजबूर होना पड़ा है, जो वर्गीय मार्क्सवाद की विचारधारा से मेल नहीं खाता है। पूर्वी यूरोप में सामयवाद की असफलता, रूस में बिखराव और चीन में आर्थिक सुधारों ने फ्रांसिस फुकुयामा सरीखे विचारकों को मार्क्सवाद की ऑबिटयुरी (obituary) लिखने को बाध्य किया है। फुकुयामा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *एण्ड ऑफ हिस्ट्री* में शीतमुद्रा कालीन संसार (post-coldwar) में साम्यवाद के ऊपर पूँजीवाद की विजय का दावा किया है। उनके अनुसार पूँजीवाद की साम्यवाद पर विजय, इतिहास के अंत को दर्षाता है। यहाँ फुकुयामा हेगेल के अर्थ में इतिहास की बात करते हैं। पूँजीवाद के बाद आगे कोई आर्थिक और राजनीतिक विकास नहीं होगा। पूँजीवाद सबसे विवेकषील और पूर्ण प्रणाली है। यह सबसे पूर्ण विचारधारा और दर्षन है। इसलिए, वैचारिक और दार्षनिक विकास का अंत पूँजीवाद के उद्भव के साथ ही हो जाता है। इसका मुख्य चुनौतीकर्त्ता साम्यवाद पराजित हो गया है और यह आगे अपने दावों को साबित करता है कि यह मानवता द्वारा कभी भी विकसित प्रणालियों में से सबसे उत्तम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली है।

फुकुयामा के द्वारा दिए गए सिद्धांत को स्वीकार करना बहुत ही कठिन है। मार्क्सवाद की प्रमुखता दो क्षेत्रों में निहित है। सर्वप्रथम, इसे सामाजिक विष्लेषण का एक कारक बनाया

गया है। द्वितीय, यह आवाज़विहीन को आवाज़ देता है। यह गरीबों, उत्पीड़ित और दमित लोगों का दर्षन हैं। यदि मार्क्सवाद की देन का विष्लेषण इन दोनों क्षेत्रों के संदर्भ में किया जाये तो, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह अभी भी प्रासंगिक है और फिजूल नहीं है, जैसा कि उदारवादी आलोचकों द्वारा दावा किया जाता है। सामाजिक विष्लेषण के एक आयाम के रूप में मार्क्सवाद आज भी प्रासंगिक है, जैसा कि यह पहले था। सामाजिक विष्लेषण की एक विधि के रूप में इसका महत्त्व कभी भी समाप्त नहीं होगा, चाहे सामाजवादी राज्य जीवित रहता है या समाप्त हो जाता है।

मार्क्सवाद एक विचारधारा के रूप में अपनी श्रेष्ठता निष्चियतया खो चुका है, लेकिन यह पूरी तरह से फालतू नहीं है। जब तक शोषण रहेगा, लोगों का दमन और उत्पीड़न होता रहेगा, मार्क्सवाद प्रासंगिक बना रहेगा। मार्क्सवाद, शोषित और उत्पीड़ित के दर्षन के रूप में उनकी मुक्ति के लिए जनता को प्रेरित करता रहेगा। इसलिए, इसकी पराजय और अप्रासंगिकता का प्रष्न नहीं है। वास्तव में, प्रणालियाँ जो बिखर चुकी हैं, वे वर्गीय मार्क्सवादी सिद्धांतों पर संगठित नहीं थी। वे मार्क्सवादी-लेनिनवाद और स्टालिनवाद से अलग थीं। इसलिए यह लेनिनवादी-स्टालिनवादी प्रणालियाँ है, जो यूरोप और जहाँ कहीं भी वे हैं, बिखर चुकी हैं और जो वर्गीय मार्क्सवाद नहीं है।

मार्क्सवाद एक आयाम के रूप में सामाजिक विष्लेषण के लिए विद्वानों के द्वारा उपयोग किया जाता रहेगा और शोषित-दमित लोग अपनी मुक्ति के लिए मार्क्सवादी दर्षन का समर्थन करते रहेंगें। यहाँ मार्क्सवाद कभी भी अप्रासंगिक नहीं बनेगा। यह सदैव उदारवाद का वैकल्पिक दर्षन बना रहेगा। मार्क्सवाद उदारवाद के अत्याचारों पर प्रभावकारी रोक के रूप में भी कार्य करेगा। यह पूँजीवादी प्रणाली की कठोरता को कम करेगा।

बोध प्रष्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) मार्क्सवादी सिद्धांत पर प्रहार के प्रमुख आधारों की विवेचना करें।

....

....

....

....

....

2) मार्क्सवाद की समकालीन प्रासंगिकता का परीक्षण कीजिए।

....

....

....

....

....

26.7 सारांष

इस इकाई में हमने विभिन्न प्रकार के समाजवाद जैसे काल्पनिक और वैज्ञानिक समाजवाद, विकासवादी तथा क्रांतिकारी समाजवाद की चर्चा की है। मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों जैसे द्वन्दात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग संघर्ष, क्रांति, सर्वहारा का अधिनायकत्व और साम्यवाद की विस्तारपूर्वक जानकारी दी गयी है। ये सिद्धांत वैज्ञानिक और क्रांतिकारी समाजवाद के आधार का निर्माण करते हैं। मार्क्सवाद मात्र वर्ग विद्वेष, वर्ग संघर्ष, वर्ग विरोध और हिंसात्मक क्रांति का दर्षन नहीं है। यह बुनियादी तौर पर मानवता और स्वतन्त्रता का दर्षन है। पूँजीवादी समाज ने संबंध-विच्छेद, विलगाव और पहचान और स्वतंत्रता के विनाष को बढ़ावा दिया है। हम मार्क्स के मानवीय चेहरे को उनके प्रारम्भिक लेखों में, विषेषकर उनके *इक्नॉमिक एण्ड फिलॉसॉफिक मैन्यूस्क्रिपट्स ऑफ 1844* में पाते हैं। विलगाव और स्वतंत्रता के सिद्धांत में, हम मानववादी मार्क्स को पाते हैं। साम्यवादी घोषणा पत्र और *दास कैपिटल* में, जो कि उनके बाद के लेखन हैं, उसमें हम एक परिपक्व और क्रांतिकारी मार्क्स को पाते हैं। इस प्रकार युवा और मानवादी मार्क्स और परिपक्व और क्रांतिकारी, दो मार्क्स हैं। फिर भी, दोनों के बीच कोई विभाजन नहीं हैं। दोनों के मध्य विचारों का प्रवाह है, और इसलिए कोई भी भिन्नता छिछोली है।

मार्क्सवाद एक जीवंत दर्षन है। मार्क्स के बाद इसे लेनिन, ट्रॉटस्की, स्टैलिन, रोज़ा लग्जंमबर्ग, ग्राम्सी, लुकास, ऐलथूज़ैर, माओ आदि विचारकों ने समृद्ध किया है। विचारधारा और इतिहास के अंत के प्रतिपादकों ने मार्क्सवाद के, उल्लेख खत्म होने का किया है। लेकिन मार्क्सवाद सामाजिक विष्लेषण के एक आयाम और उत्पीड़ित वर्ग के दर्षन के रूप में प्रासंगिक रहेगा। यह जनमानस को उनकी मुक्ति के लिए संघर्ष हेतु प्रेरित करेगा। मार्क्सवाद एक क्रांतिकारी दर्षन है। यह एक सामाजिक परिवर्तन का दर्षन है। मार्क्स के शब्दों में, दार्षनिकों ने विष्व की व्याख्या का प्रयास किया है, पर सवाल है इसे बदलने का इसका उद्देष्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण से मुक्त समतावादी समाज की स्थापना करना है। सिर्फ मार्क्सवाद के माध्यम से, शायद मानवता आवष्यकता के क्षेत्र से स्वतन्त्रता के क्षेत्र तक बढ़ेगी।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐविनेरी, श्लोमों, *द सोषल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ कार्ल मार्क्स,* कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971

बर्लिन, इज़ाइया, *कार्ल मार्क्स : हिज़ लाईफ एण्ड ऐनवाइरमैंट,* न्यू यॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996

फुकुयामा, फ्रांसिस, *दी एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड द लास्ट मैन,* न्यू यार्क, फ्री प्रेस, 1992

टकर, रॉबर्ट, *फिलॉस्फी एण्ड मिथ ऑफ कार्ल मार्क्स,* कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1961

मैकक्लेलैंड़, जे.एस., *ए हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न पॉलिटिकल थॉट,* लंदन, राऊटलेज, 1996

26.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 26.3.1 और 26.32 देखें

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 26.4.1 देखें
2) उप-भाग 26.4.2 देखें

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 26.4.3 देखें
2) उप-भाग 26.4.4 देखें
3) उप-भाग 26.4.7 देखें

बोध प्रश्न 4

1) भाग 26.5 और 26.6 देखें

बोध प्रश्न 5

1) भाग 26.7 देखें

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 27 गाँधीवाद (धर्म, स्वराज, सर्वोदय और सत्याग्रह)

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देष्य
27.1 परिचय : गाँधी के लेख
27.2 कुछ प्रभाव जिन्होंने गाँधी के राजनीतिक चिंतन को मूर्त्त रूप दिया
27.3 स्वराज : आन्तरिक स्वतंत्रता और बाह्य स्वतंत्रता
27.4 स्वतंत्रता और संसदीय स्वराज
27.4.1 संसदीय स्वराज के कुछ लक्षण
27.5 सर्वोदय : सामाजिक सेवा के द्वारा आत्मानुभूति (Self-Realisation) के रूप में स्वराज
27.6 सत्याग्रह बनाम शान्तिपूर्ण विरोध
27.6.1 सत्याग्रह के सिद्धांत और पद्धतियाँ
27.6.2 सत्याग्रह पर कुछ मूल्यात्मक टिप्पणियाँ
27.7 सारांष
27.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
27.9 बोध प्रष्नों के उत्तर

27.0 उद्देष्य

इस इकाई में, हमारा उद्देष्य मोहनदास करमचंद गाँधी (1869-1948) जो सही अर्थों में महात्मा के रूप में श्रद्धेय हैं, के नैतिक-राजनीतिक सिद्धांत के अर्थ और महत्त्व की प्रसंगाश्रित बोधगम्यता (contextual understanding) प्राप्त करना है। उनके मुख्य राजनीतिक विचारों में स्वराज, सर्वोदय और सत्याग्रह शामिल हैं। इन राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में हम निम्न प्रष्न उठाते हैं, जिनके उत्तर इस इकाई में तलाष करेंगे :

> गाँधीवादी *स्वराज* का क्या अर्थ है? मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा राजनीतिक आज़ादी की तुलना में यह किस प्रकार बेहतर है। संसदीय प्रजातंत्र, आत्म-नियंत्रण, आत्म-अनुभूति आदि से यह किस प्रकार जुड़ा हुआ है।

गाँधी के अनुसार, सर्वोदय का क्या अर्थ है? उनके अनुसार, *सर्वोदय* और आत्म-अनुभूति के बीच क्या सम्बन्ध है? सर्वोदय उपयोगितावाद और साम्यवाद के राजनीतिक सिद्धांत से किस प्रकार भिन्न है?

राजनीतिक विरोध और सामाजिक परिवर्तन के *सत्याग्रह* मार्ग के विषिष्ट सिद्धांत और तरीके क्या हैं? *सत्याग्रह* किस प्रकार शांतिपूर्ण विरोध से भिन्न है?

27.1 परिचय : गाँधी के लेख

गाँधी के नैतिक-राजनीतिक विचार उनकी उन किताबों और चार साप्ताहिक पत्र/पत्रिकाओं में उनके उन लेखों, पत्रों और सम्पादकीय से प्राप्त हो सकते हैं, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीका और भारत में अपने सार्वजनिक जीवन के दौरान भिन्न-भिन्न समय पर

सम्पादित किए अथवा प्रकाषित किए। ये साप्ताहिक पत्र/पत्रिकाएँ हैंः *इंडियन ओपीनियन, यंग इंडिया, हरिजन* और *नवजीवन*। गाँधी की कुछ पुस्तकें जिन्हें उनकी पत्रिकाओं में पहली बार सीरियल के रूप में दिया गया, थीं : *हिन्द स्वराज, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, द स्टोरी ऑफ माई एक्सपैरीमेंट्स विद ट्रुथ, आश्रम आब्ज़र्वेन्स इन एक्षन, ए गाइड टू हैल्थ, डिसकोर्सेज़ ऑन गीता एंड कन्सट्रक्टिव प्रोग्राम*। गाँधी ने प्लैटो की *ऐपौलोजी*, डब्ल्यू. साल्टर की *एथीकल रिलीजन*, जॉन रस्किन की *अनटू दिस लास्ट*, हैनरी डैविड थोररू की *प्रिंसीपल्स ऑफ सिविल डिसओबीडिएन्स* तथा लियो टॉलस्टाय की *लैटर टू ए हिन्दू* पुस्तकों के भावानुवाद और/ अथवा अनुवाद (गुजराती में) भी लिखे तथा प्रकाषित किए। गाँधी के लगभग सभी लेख *कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी* (प्रकाषन प्रखण्ड, भारत सरकार) के 100 खण्डों में पाए जा सकते हैं। इनमें उनके अनेक भाषण, साक्षात्कार और पत्र व्यवहार शामिल हैं।

गाँधी के लेख किसी अकादमिक तरीके से प्रस्तुत नहीं किए गए थे, अपितु वे जाति भेद, उपनिवेषवाद, आर्थिक शोषण, अस्पृष्यता और साम्यवाद के विरुद्ध विषाल जनसमुदाय द्वारा वास्तविक राजनीतिक संघर्ष के मध्य प्रकट हुए थे। गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका (1893-1914) और भारत (1915-1948) में इन संघर्षों का नेतृत्व किया था। उन्होंने इंग्लैण्ड की अनेक यात्राओं के दौरान उनके लिए मुहिम भी चलाई थी। संयोगवष उन्होंने इंग्लैण्ड में अध्ययन किया और वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपने कुछ लेख उन्होंने अपने मौनव्रत और उपवास के दिनों में तथा दक्षिण अफ्रीका और भारत में कई बार कारावास के दौरान लिखे। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक, *हिन्द स्वराज,* नवम्बर 1909 में इंग्लैण्ड से दक्षिण अफ्रीका को वापसी यात्रा के दौरान *किल्डोनन कैसिल* जहाज पर लिखी गई थी।

27.2 कुछ प्रभाव जिन्होंने गाँधी के राजनीतिक चिंतन को मूर्त्त रूप दिया

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

गाँधी के नैतिक-राजनीतिक सिद्धांत की ऐतिहासिक-प्रसंगाश्रित जानकारी के लिए यह ध्यान में रखना आवष्यक है कि वर्ष 1905 से 1918 के दौरान ब्रिटिष साम्राज्य पद्धति के प्रति उनका दृष्टिकोण परिवर्तन की धीमी प्रक्रिया से गुजरा। पहले उनका शाही समर्थन से मोहभंग हुआ जो बाद में पूर्ण विरोध में बदल गया। कुछ ऐसी घटनाएँ जिन्होंने गाँधी की राजनीतिक सोच में यह परिवर्तन किया, थीं : बंगाल का विभाजन, दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रति जाति भेद, रॉलट कानून, जलियाँवाला बाग का विषाल हत्याकांड और खिलाफत मुद्दा।

उस अवधि के दौरान गाँधी के राजनीतिक विचारों में यह परिवर्तन नीचे दी नई पुस्तकों के द्वारा भी हुआ, जिनका उन्होंने अध्ययन किया था।

i) **आधुनिक सभ्यता पर आलोचनात्मक लेख** (जिनमें कुछ पुस्तकें ग़ैर-नैष्ठिक ईसाइयत पर शामिल हैं)

   इस अवधि के दौरान गाँधी ने टॉलस्टाय, रस्किन, कारपेण्टर, मैटलैंड, साल्टर, आर. पी. दत्त, दादाभाई नारोजी आदि की रचनाओं का अध्ययन किया। इनमें से लियो टॉलस्टाय की पुस्तक *किंगडम ऑफ गॉड विदिन यू'* एवम् *गौस्पेल इन ब्रीफ* और जॉन रस्किन की *अनटू दिस लास्ट* ने गाँधी पर गहरा प्रभाव छोड़ा। थे और कुछ सीमा तक अन्य लेखकों के लेखन ने आधुनिक पाष्चात्य सभ्यता से उनके मोहभंग में योगदान किया। इन लेखनों से, गाँधी ने व्यष्टिवादी, उपयोगितावादी और सत्तावादी सिद्धांतों जिन पर साम्राज्यवादी/उपनिवेषी सरकार कायम थी, के विकल्प के कुछ

नियामक विचार भी प्राप्त किए। स्वराज और सर्वोदय के गाँधी के विचार (नीचे देखें) जिनका अर्थ था, दूसरों की सेवा से आत्म-अनुभूति, टॉलस्टाय और रस्किन द्वारा भारी प्रभावित हुए थे।

ii) **हिन्दू धार्मिक दर्शनः** गाँधी ने भागवत् गीता और हिन्दू धर्म की अनेक पवित्र पुस्तकों का भी अध्ययन किया, जिनमें से कुछ उनके जैनी परामर्षदाता, राजचन्द मेहता, जिन्हें रायचन्दभाई के नाम से भी पुकारा जाता था, ने पढ़ने के लिए सिफारिष की थी। ये किताबें योग, *आदिवेता वेदान्त,* जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सांख्य आदि पर थीं। इन पुस्तकों ने गाँधी को धार्मिक प्रेरणा देने वाले नियमों अथवा व्यक्तिगत और सामूहिक आचरण के सिद्धांतों जैसे, *सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और समभाव* के मूल्यों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। गाँधी ने उनमें व्यष्टिवाद, उपयोगितावाद और हिंसा के प्रबल, आधुनिक / पाष्चात्य मूल्यों अथवा सिद्धांतों का वैकल्पिक अथवा संषोधनात्मक रूप देखा। उदाहरणार्थ, उन्होंने *भागवत गीता* में एक "अवैध आचरण पथ प्रदर्षक" पाया। पन्द्रहवीं शताब्दी के एक संत कवि नरसिंह मेहता के भजनों ने भी इसमें दूसरों, विषेष रूप से गरीब और जरूरतमंद, की सेवा के मूल्य को पूरी तरह भर दिया था।

इन अध्ययनों और उपरोक्त घटनाओं ने गाँधी को 1919-20 में साम्राज्यवादी / उपनिवेषी सरकार का पूर्ण विरोधी बना दिया। 1920 में कलकत्ता में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक विषेष सत्र में गाँधी ने कहा कि भारत का लक्ष्य स्वराज से कम कुछ नहीं है।

उनके जीवन में इस निर्णयात्मक चरण के दौरान उनके विचारों और कार्यों में बदलाव की इस प्रक्रिया के माध्यम से उन्होंने अपने नैतिक-राजनीतिक सिद्धांत और *सत्याग्रह, स्वराज* और *सर्वोदय* के अभ्यास का विकास किया। इसी के साथ, इनसे उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें उपनिवेषी/साम्राज्यवादी आधुनिकता के राजनीतिक सिद्धांत का एक मुक्तिदाता विकल्प उपलब्ध हो रहा है। उनका यह भी विष्वास था कि स्वराज और सर्वोदय का उनका संदर्ष (conception) अनुदारक परम्परागत मान्यताओं का एक मुक्तिकारी विकल्प है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रष्न 1

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) कुछ महत्त्वपूर्ण लेखनो / लेखकों को बताएँ जिन्होंने मोहनदास कर्मचन्द गाँधी को प्रभावित किया।

....

....

....

....

....

....

....

2) संक्षिप्त में उन प्रभावों का उल्लेख करें जिन्होंने गाँधी की सामाजिक आर्थिक सोच को मूर्त रूप दिया।

....

....

....

....

....

....

....

27.3 स्वराज : आन्तरिक स्वतंत्रता और बाह्य स्वतंत्रता

स्वराज से गाँधी का तात्पर्य बाह्य अथवा राजनीतिक स्वतंत्रता तथा आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक स्वतंत्रता, दोनों से था। ''बाह्य स्वतंत्रता'' में उन्होंने राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतंत्रता और संसदीय स्वराज को शामिल किया था। बाह्य स्वतंत्रता के रूप वे हैं, जिनमें वे लोगों को बाहरी नियंत्रण अथवा दूसरों के शासन से मुक्त कराना चाहते हैं, भले ही वे विदेषी हों अथवा अपने निजी देष के वासी हों।

''आन्तरिक स्वतंत्रता'' से उनका तात्पर्य उन अन्तस्थ (inner) बाधाओं से स्वतंत्रता थी जैसे अज्ञान, भ्रांतियाँ, स्वार्थ, लालच, असहिष्णुता और घृणा। गाँधी के अनुसार, ये व्यष्टि की स्व-अनुभूति और *मोक्ष* प्राप्ति अर्थात् *ब्रह्म* अथवा *परमात्मा* के साथ आत्मा की अपनी पहचान की अनुभूति में बाधा डालती हैं। इस प्रकार, उन्होंने लिखा है, ''स्वयं पर शासन सच्चा स्वराज है, यह *मोक्ष* अथवा मुक्ति के समतुल्य है।'' गाँधी ने इन दोनों प्रकार के स्वराज के संदर्भ में, सैद्धांतिक और व्यावहारिक, इन दोनों तरह से मौलिक योगदान किया। उनके *स्वराज* का आदर्ष एक वर्ग के रूप में था, जिसकी चार अवियोज्य (inseparable) भुजाएँ होती हैंः i) राजनीतिक स्वतंत्रता; ii) आर्थिक स्वतंत्रता; iii) दूसरों के प्रति सामाजिक सम्बन्धों और नैतिक अनिवार्यताओं में अहिंसा, और iv) धर्म के रूप में सत्य। गाँधी का वर्णन निम्न उद्धरण से प्रमाणित होता है :

> *स्वराज* की मेरी धारणा के बारे में कोई ग़लती नहीं होनी चाहिए। यह विदेषी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता तथा पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है। इस प्रकार एक तरफ आप राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हों तथा दूसरी ओर आर्थिक रूप से। इसके दो अन्य पक्ष भी हैं। उनमें से एक नैतिक और सामाजिक है, तदनुरूप पक्ष *धर्म* है अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति का धर्म। इसमें हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाइयत आदि शामिल हैं, परन्तु यह उन सबसे श्रेष्ठ है। आप इसे सत्य के नाम से जान सकते हैं, जो सर्वव्याप्त है और यह सम्पूर्ण विनाष और सम्पूर्ण परिवर्तन के बाद भी बना रहेगा। नैतिक और सामाजिक उत्थान की उस शब्द से मान्यता दी जानी चाहिए, जिसे हम प्रयोग करते रहे हैं, अर्थात् अहिंसा। हम इसे *स्वराज* का वर्ग कह सकते हैं। इस वर्ग की बनावट विकृत हो जाएगी, यदि इसका एक भी कोण असत्य हो। कांग्रेस की भाषा में, हम, सत्य और अहिंसा के बिना, सही अर्थों में परमात्मा पर विष्वास किए बिना राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते हैं और इस प्रकार नैतिक और सामाजिक उत्थान होता है।

27.4 स्वतंत्रता और संसदीय स्वराज

गाँधी की बाह्य स्वतंत्रता के रूप में स्वराज की धारणा का प्रथम घटक राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतंत्रता है। उन्होंने किसी अन्य एकमात्र व्यष्टि की तुलना में राजनीतिक सत्ता के साम्राज्यवादी सरकार से भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व को हस्तांतरण में महान योगदान दिया। उन्हें सही अर्थों में ''राष्ट्रपिता'' कहा जाता है।

इस बात पर कायम रहते हुए कि राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतंत्रता स्वराज की उनकी धारणा का एक अनिवार्य अर्थ थी, गाँधी का तर्क था कि यह उसका मात्र एक आंषिक अथवा अपूर्ण अर्थ अथवा संघटक है। उनके दृष्टिकोण में, स्वराज का अधिक पूर्ण और गहरी धारणा ''अनन्ततः अधिक महान है और उसमें स्वतंत्रता शामिल है।'' स्वराज की अधिक पूर्ण धारणा में राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतंत्रता के अलावा, निम्नलिखित अतिरिक्त घटक शामिल हैं। एक ''संसदीय अथवा लोकतांत्रिक स्वराज'' तथा ''दूसरों की सेवा से आत्म-अनुभूति के रूप में स्वराज''। व्यापक स्वराज के इन दो अतिरिक्त घटकों में से इस खंड में पहले घटक की चर्चा की गई है तथा दूसरे घटक पर अगले खंड में चर्चा होगी।

1931 में, गाँधी ने घोषणा की कि वह ''प्रौढ़ मताधिकार से संयोजित थे।'' एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा, ''लोक स्वराज का अर्थ है व्यष्टियों का समग्र स्वराज (स्व-षासन)।'' उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में इसका वर्णन किया :

> स्वराज से मेरा तात्पर्य है लोगों की सहमति से भारत की सरकार जैसा भी प्रौढ़ जनसंख्या, पुरुष अथवा महिला, मूल निवासी अथवा अधिवासी के अधिकांष द्वारा अभिनिष्चित की जाए.... (वा)स्तविक स्वराज कुछ लोगों द्वारा सत्ता प्राप्त करने से नहीं आएगा, अपितु यह सभी के द्वारा उस क्षमता के प्राप्त करने पर आएगा जिससे उस सत्ता का विरोध किया जा सके जब इसका दुरुपयोग हो रहा हो। दूसरे शब्दों में, स्वराज जनसमुदाय को इस प्रकार षिक्षित करके प्राप्त किया जाना चाहिए जिससे उसे सत्ता के विनियमन और नियंत्रण करने की अपनी क्षमता का बोध हो।

उपरोक्त परिच्छेद में उस आदर्ष को संप्रेषित किया गया है जिसे गाँधी ने ''संसदीय अथवा लोकतांत्रिक स्वराज'' कहकर पुकारा और जिसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन का अधिकांष अर्पित कर दिया।

हिन्द स्वराज (1990) में, गाँधी ने आधुनिक सभ्यता नामतः संसद, कानून-अदालतें, पुलिस, सेना, मषीनरी, अस्पताल, रेलवे आदि, के प्रतिष्ठानों के मूल्य अथवा भूमिका का अत्यधिक नकारात्मक दृष्टिकोण लिया था। उन्होंने कहा कि आधुनिक सभ्यता के ये प्रतिष्ठान नैतिकता से दूर चले गए थे, जबकि इसके विपरीत, ''भारतीय सभ्यता की प्रवृत्ति नैतिकता के उत्थान की है।'' तदनुसार, आधुनिक पाष्चात्य सभ्यता के प्रतिष्ठानों के स्थान पर उन्होंने सत्य और अहिंसा के आध्यात्मिक मूल्यों के अनुसार व्यष्टियों द्वारा ''वास्तविक स्वषासन..... (नामतः) स्वयं पर शासन और स्वयं पर नियंत्रण'' का एक वैकल्पिक आदर्ष प्रस्तुत किया।

तथापि, भारतीय जनसमुदाय को स्वतंत्रता संघर्ष में गतिषील बनाने में अपने सक्रिय योगदान के एक वर्ष के अन्दर गाँधी ने आधुनिक सभ्यता के अपने आरंभिक विचारों में आंषिक संषोधन किया। यह संषोधन उनके स्वतंत्रता संघर्ष में मात्र सक्रिय भाग लेने के कारण ही नहीं था, अपितु इस समालोचना के कारण भी था जिसे अनेक राजनीतिक

विचारकों और राजनीतिक नेताओं ने गाँधी की पुस्तक में लिखा देखा। किसी भी तरह 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत में अपनी अंतिम वापसी के लगभग एक वर्ष के अंदर, गाँधी ने आधुनिक जीवन के प्रतिष्ठानों के प्रति अपेक्षाकृत सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। इन प्रतिष्ठानों में संसद, कानून-अदालतें, मषीनरी, रेलवे और अस्पताल शामिल है। अपने *हिन्द स्वराज* में बताए अनुसार, उन्हें प्रत्यक्ष तौर पर खारिज करने की बजाए अब उन्होंने उन्हें अनिच्छापूर्वक उसमें शामिल कर लिया, जिसे उन्होंने ''संसदीय स्वराज की प्राप्ति के लिए क्षम्य कार्यक्रम'' कहा था।

उन्होंने कहा कि उनका *हिन्द स्वराज* अन्धकारमय अनजाने युगों की तरफ वापस जाने के प्रयास के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए, अपितु उसे ''सदाचार के पैमाने में'' ''आधुनिक सभ्यता की जाँच के लिए प्रयास के रूप में लिया जाना चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि अपने आदर्ष स्वराज के नाम पर वह स्वप्न नहीं देखेंगे जैसा करने का उन पर आरोप था, ''कोई रेलवे नहीं, कोई मषीनरी नहीं, कोई सेना नहीं, कोई कानून नहीं और कोई अदालत नहीं''। अपितु वह उनका पुनर्गठन करेंगे, जिससे वे ''लोगों के कल्याण के लिए'' कार्य कर सकें, न कि आजकल की तरह वे जनसमुदाय को परेषान रखें। अब उन्होंने ''संसदीय'' अर्थात् ''लोकतांत्रिक स्वराज'' को एक व्यापक स्वराज की अपनी धारणा के एक बहुत आवष्यक और मूल्यवान घटक के रूप में देखा। उन्होंने 1920 में लिखा था, ''जहाँ तक मैं देखता हूँ, स्वराज लोगों द्वारा चुनी हुई एक ऐसी संसद होगी जिसका वित्त, पुलिस, थल सेना, जल सेना, अदालतों और षिक्षण संस्थानों पर पूर्ण अधिकार होगा।''

''संसदीय स्वराज'' के संगठनात्मक लक्षणों के बारे में गाँधी ने इसे ग्राम्य आधारित, विकेन्द्रीकृत ढाँचे के रूप में प्राथमिकता दी, जिसमें सभी अपितु सरकार को निम्नतम स्तर उसके तत्काल निम्नतर स्तर द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो। यह विकेन्द्रित, ग्राम्य आधारित संसदीय/ लोकतांत्रिक स्वराज का नमूना वह नमूना नहीं था, जिसका कांग्रेस द्वारा पक्ष लिया गया था और जिसे भारतीय संविधान द्वारा अपनाया गया। तथापि, संविधान में कुछ तथाकथित गाँधीवादी प्रतिष्ठान शामिल किए गए हैं, जैसे ग्राम-पंचायत। पुनष्च, व्यक्तिगत और नागरिक स्वतंत्रता तथा संविधान के उदारवादी-लोकतांत्रिक राजनीतिक दर्षन के लोकतांत्रिक आधिकारिक घटक गाँधी के निजी नैतिक-राजनीतिक दर्षन के मौलिक रूप में हैं।

27.4.1 संसदीय स्वराज के कुछ लक्षण

संसदीय स्वराज की स्थापना के लिए अपने व्यावहारिक और सैद्धान्तिक कार्यों में गाँधी ने इसे चार लक्षणों से सम्पन्न करने पर ध्यान केन्द्रित किया : सार्वभौमिक प्रौढ़ मताधिकार, नागरिक असैनिक स्वतंत्रता, अल्पसंख्यक अधिकार तथा गरीब और शोषित वर्ग के लिए न्याय के प्रति प्राथमिक वचनबद्धता। उनका विष्वास था कि ये संसदीय स्वराज के आवष्यक घटक हैं।

गाँधी ने व्यक्तिगत और नागरिक स्वतंत्रताओं को संसदीय स्वराज की 'बुनियाद' और 'साँस' की संज्ञा दी। सितम्बर 1940 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के समक्ष एक भाषण में उन्होंने कहा, ''भाषण और कलम की स्वतंत्रता स्वराज की बुनियाद है।'' उन्होंने आगे बताया कि अहिंसात्मक तरीके से स्वराज प्राप्त करने का ''यही एकमात्र उपाय है।''

मौलिक अधिकारों पर कांग्रेस का प्रसिद्ध कराची संकल्प (1931) जिसका मसौदा जवाहरलाल नेहरू द्वारा गाँधी के परामर्ष से तैयार किया गया था, स्वयं गाँधी द्वारा अपनाए जाने के लिए पेष किया गया था। इसमें गाँधी द्वारा दिए गए कई सुझाव और संषोधन शामिल थे। वस्तुतः, गाँधी ही इस संकल्प के प्रवर्त्तक थे। संकल्प में व्यक्तिगत तथा नागरिक

स्वतंत्रताओं और लोकतांत्रिक, राजनीतिक अधिकारों की एक सर्वाधिक प्रभावषाली सूची शामिल थी।

> व्यक्तिगत और नागरिक स्वतंत्रताओं की प्रमुखता पर चिन्ता व्यक्त करते हुए, गाँधी ने लिखा था :
>
> अहिंसा के अनुपालन के अनुरूप नागरिक स्वतंत्रता स्वराज के प्रति पहला कदम है। यह स्वतंत्रता की बुनियाद है। इसमें षिथिलता अथवा समझौते की कोई गुंजाइष नहीं है। यह जीवन का जल है। मैंने कभी जल को पतला किए जाने के बारे में नहीं सुना है।

अब, हमें संसदीय स्वराज की गाँधीवादी धारणा के अल्पसंख्यक अधिकारों के घटक पर विचार करना चाहिए। गाँधी संसदीय लोकतंत्र के इस खतरे से पूरी तरह आगाह थे कि अल्पसंख्यक समूह अथवा समुदाय बहुमत की नृषंसता, अथवा असहिष्णुता का षिकार हो सकते हैं। जहाँ वह लोकतांत्रिक सरकार के क्रियाविधिक, बहुमत शासन के सिद्धांतों के प्रति दृढ़निष्चित थे, वहीं वह इसके दूसरे दुहरे और अविभाज्य सिद्धांत नामतः अल्पसंख्यक समुदायों के मौलिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक अधिकारों की प्रतिभूति अथवा उनके संरक्षण के प्रति समान रूप से वचनबद्ध थे। 1931 में, उन्होंने कहा था :

> यह बताया गया है कि भारतीय स्वराज बहुमत वाले समुदाय अर्थात् हिन्दुओं का शासन होगा। इससे बड़ी कोई गलती नहीं हो सकती। यदि यह सत्य है, तो मैं किसी के लिए भी इसे स्वराज कहलाना पसंद नहीं करूँगा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इससे संघर्ष करूँगा, क्योंकि मेरे लिए *हिन्द स्वराज* सभी लोगों का शासन है, न्याय का शासन है। भले ही इस शासन में मंत्रिगण हिन्दू हों अथवा मुसलमान अथवा सिख और भले ही विधायिकाएँ व्यापक तौर पर हिन्दुओं अथवा मुसलमानों अथवा किसी अन्य समुदाय से भरी जाएँ, उन्हें सबको समान न्याय देना पड़ेगा। और भारत में... किसी भी समुदाय को स्वराज पर किसी अन्य द्वारा एकाधिकार किए जाने की किसी आषंका की आवष्यकता नहीं है।....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

गाँधी इस बात पर कायम रहे कि अल्पसंख्यक समुदायों के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के ''प्रथम कोटि के महत्त्व के मामलों'' को बहुमत शासन के लोकतांत्रिक, क्रियाविधिक सिद्धान्त के दायरे से बाहर रखा जाएगा। गहन अन्तरदृष्टि का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था :

> लोकतंत्र ऐसा राज्य नहीं है, जहाँ लोग भेड़ की तरह कार्य करें। लोकतंत्र में, विचार और कार्य की व्यष्टिगत स्वतंत्रता को विशेष संरक्षण दिया जाता है। अतः मेरा विष्वास है कि अल्पसंख्यक को बहुसंख्यक से भिन्न व्यवहार/ कार्य करने का पूरा अधिकार है।
>
> यह जानते हुए भी कि हम सब एक जैसा नहीं सोचेंगे, आचरण का सुनहरी नियम..... पारस्परिक सहिष्णुता है और हम सत्य को टुकड़ों में और दर्षन के विभिन्न नज़रिए से देखते हैं। चेतनता सभी के लिए समान नहीं होती। इसीलिए जब यह व्यष्टिगत आचरण के लिए एक अच्छी पथ प्रदर्षक है, उसे सभी पर लागू किया जाना प्रत्येक के विवेक की स्वतंत्रता में असहय हस्तक्षेप करना होगा।

गाँधी के संसदीय/ लोकतांत्रिक स्वराज की संकल्पना का बहुत ही विषेष लक्षण इसकी मौलिक संस्थाओं के प्रति न्यायसंगत व्यवहार है, जो गरीब और ज़रूरतमंदों के हितों को

प्रमुखता देते हुए सभी के कल्याण को प्रोन्नत करने की मांग करता है। उन्होंने कहा था, ''षासन की अहिंसात्मक पद्धति स्पष्ट तौर पर उस समय तक एक असंभव स्थिति है, जब तक अमीर और करोड़ों गरीबों के बीच विषाल खाई को भरा नहीं जाता''। पुनः उनका उद्धरण है :

> आर्थिक स्वतंत्रता.... अहिंसात्मक स्वतंत्रता की सर्व-कुंजी है।.... इसका तात्पर्य है, एक तरफ उन अमीरों जिनके हाथों में राष्ट्र की अधिकांष सम्पदा केन्द्रित है, को नीचे स्तर पर लाना तथा दूसरी तरफ, करोड़ों अर्द्ध-भूखे नंगों का जीवनस्तर उठाया जाना। शासन की अहिंसात्मक पद्धति स्पष्ट तौर पर तब तक असंभव है, जब तक अमीर और करोड़ों भूखों के बीच व्यापक खाई बनी रहेगी।

गाँधी प्रायः अपने आदर्ष स्वराज को '''गरीब आदमी का स्वराज'' कहते थे। 1947 में, आज़ादी के अवसर पर, उन्होंने अपने देषवासियों को सलाह दी कि गरीबों के प्रति मात्र लोक नीति स्तर पर ही अधिमान्य अभिगमन (preferential approach) न प्रदान किया जाए, अपितु इसे व्यक्तिगत स्तर पर भी अपनाया जाए। उन्होंने कहा था :

> मैं आपको एक रक्षा कवच दूँगा। जब कभी आप संषय में हों, अथवा स्वाभिमान/अहम् आप पर बुरी तरह हावी हो उस समय निम्न परीक्षण को अपनाए। ऐसे सबसे गरीब और सबसे कमजोर आदमी का चेहरा याद करें जिसे आपने देखा है, और स्वयं से प्रष्न करें कि आपके द्वारा उठाए गए कदम से उसका कोई उपयोग होगा। क्या उसे इससे कोई लाभ मिलेगा? क्या यह उसके निजी जीवन और भाग्य पर नियंत्रण कायम कर पाएगा? दूसरे शब्दों में, क्या यह भूखे और आध्यात्मिक रूप से भूखे मर रहे करोड़ों लोगों को स्वराज्य दिला पाएगा?

गाँधी के स्वाभाविक/ विभाज्य न्याय की संकल्पना उनके सम्पत्ति में न्यासिता के सिद्धांत में निहित है, जिसका वे अक्सर ''आर्थिक समानता'' के संदर्भ में हवाला दिया करते थे। उनका विष्वास था कि सांविधिक न्यासिता आर्थिक जीवन को संगठित करने का एक तरीका है, जो अधिक उत्पादकता के लिए व्यष्टियों को उनके विधिसम्मत प्रोत्साहनों से वंचित किए बिना तथा समाज को सम्पत्ति में वृद्धि से वंचित किए बिना सम्पत्ति का एक अहिंसक, न्यायोचित वितरण प्रदान करता है।

मार्च 1946 में, गाँधी ने लिखा था, ''मान लीजिए कल भारत एक स्वतंत्र देष बन जाता है, सभी पूँजीवादियों को सांविधिक न्यासी बनने का एक अवसर प्राप्त होगा।'' उन्होंने आगे कहा था :

> जहाँ तक सम्पत्ति के विद्यमान मालिकों का सम्बन्ध है, उन्हें वर्ग-संघर्ष के बीच अपनी प्राथमिकताएँ चुननी होंगी तथा स्वेच्छा से स्वयं को अपनी सम्पत्ति का न्यासी होना पड़ेगा। उन्हें अपनी धन दौलत का संरक्षक बने रहने तथा अपनी प्रतिभा को सम्पत्ति की वृद्धि के लिए उपयोग करने की अनुमति दी जायगी। वे अपनी प्रतिभा का उपयोग स्वयं के लिए करने की बजाए राष्ट्र के कल्याण के लिए तथा कोई शोषण किए बिना करेंगे। राज्य उनके कमीषन की दर विनियमित करेगा जिसे वे अपनी प्रदत्त सेवा और समाज के लिए उसके मूल्य के अनुरूप प्राप्त करेंगे। उनके बच्चे उसके संरक्षक तभी बनेंगे यदि वे स्वयं को उसके योग्य सिद्ध करते हैं (*हरिजन* 31-3-1946)।

'थ्यौरी ऑफ ट्रस्टीषिप' शीर्षक से लिखे गए एक लेख में (*हरिजन*, 16 दिसम्बर, 1939), गाँधी ने लिखा था :

MAADHYAM IAS

"मुझे यह मानने में संकोच नहीं है कि कई पूँजीवादी मेरे मित्रवत् हैं और मुझसे आषंकित नहीं है। वे जानते हैं कि मैं पूँजीवाद को पूरी तरह समाप्त करना चाहता हूँ और यदि यह पूरी तरह संभव नहीं हो, तो जहाँ तक संभव हो सर्वाधिक प्रगतिषील समाजवादियों और साम्यवादियों को भी समाप्त करना चाहूँगा। परन्तु हमारे तरीके अलग हैं, हमारी भाषाएँ अलग हैं। मेरे 'न्यासिता' के सिद्धान्त में कोई बदलाव नहीं है, निष्चित रूप से कोई छद्मावरण (camouflage) नहीं है। मेरा विष्वास है कि यह सभी सिद्धांतों के बाद भी कायम रहेगा। इसके पीछे दर्षन और धर्म की संस्वीकृति है।

बोध प्रष्न 2

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) गाँधी के स्वराज के चार मूल घटक क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

....

2) आधुनिक पाष्चात्य सभ्यता पर गाँधी की समालोचना पर चर्चा करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

....

....

27.5 सर्वोदय : सामाजिक सेवा के द्वारा आत्मानुभूति (Self-Realisation) के रूप में स्वराज

इस खंड को हम यह उल्लेख करते हुए आरंभ करेंगे कि जहाँ *स्वराज* गाँधी की स्वतंत्रता के विचार का सूचक है, वहीं *सर्वोदय* (सभी के कल्याण) उनके समानता के विचार को संप्रेषित करता है। हम यह भी देखेंगे कि सर्वोदय का गाँधी का सिद्धांत (जिसे प्रायः अहिंसक समाजवाद के रूप में लिया जाता है) उपयोगितावाद, साम्यवाद और उन सिद्धांतों

का एक संषोधित रूप है जो जाति, प्रजाति, रंग और लिंग के आधार पर असमानताओं और अपवर्जनों (exclusions) को न्यायनिर्णीत ठहराते हैं।

''*सर्वोदय*'' वह शीर्षक है जो गाँधी ने जॉन रस्किन की ''अनटू दिस लास्ट'' के अपने भावानुवाद को दिया था। उस पुस्तक में, रस्किन ने आत्म-हित की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विज्ञान की एक नैतिक समालोचना की। उन्होंने हमारे जीवन में ''सामाजिक अनुराग'' की भूमिका प्रस्तुत की। रस्किन के अध्ययन ने गाँधी के जीवन का ''एक तात्कालिक और व्यावहारिक विरूपण'' किया। उन्होंने रस्किन की पुस्तक से तीन पाठ याद किए, जिसके नाम हैं (i) सभी की भलाई में व्यष्टि की भलाई है; (ii) वकील के कार्य का भी उतना ही मूल्य है जितना एक नाई के कार्य का; क्योंकि सभी को अपने कार्य से जीविका कमाने का समान हक है; और (iii) एक श्रमिक का जीवन अर्थात् भूमि के कृषिक और हस्तकलादि का जीवन, जीने योग्य जीवन है।

इन तीन सिद्धांतों में से प्रथम सिद्धांत सर्वोदय (सभी का हित) प्रमुख सिद्धांत है। अन्य दोनों सिद्धांतों का यह स्रोत भी है। गाँधी ने स्पष्ट किया कि वह रस्किन की पुस्तक पढ़ने से पहले भी प्रथम सिद्धांत के बारे में जानते थे। रस्किन की पुस्तक ने इसकी पुष्टि की और इसे आधुनिक कलेवर प्रदान किया। जैसा कि हम नीचे देखेंगे, स्वराज के मामले की तरह सर्वोदय पर गाँधी के विचारों का अधिकांष हिन्दू धर्म की पवित्र पुस्तकों से लिया गया था।

सर्वादय (सर्वहित) पर गाँधी जी की सोच के पीछे कई पहलू हैं। वे इस प्रकार हैं :

1) जीवन में हमारा उद्देष्य आत्मानुभूति अथवा *मोक्ष* है।
2) आत्मानुभूति अथवा *मोक्ष* का अर्थ है, *ब्रह्म* परमात्मा के साथ स्वयं अथवा *आत्मा* की पहचान। इसके लिए अनुषासन अथवा आत्मषुद्धि के योग की आवष्यकता है।
3) *ब्रह्म* के साथ अपनी पहचान की अनुभूति का मार्ग अथवा दूसरे शब्दों में, परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग उसकी सम्पूर्ण रचना अथवा विष्व में परमात्मा का दर्षन करना है।
4) सबसे प्यार और सबकी सेवा इस विष्व में आत्मानुभूति अथवा *मोक्ष* का मार्ग है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इन विचारों को संप्रेषित करते हुए गाँधी ने निम्नवत लिखा था :

- मानव का अन्तिम उद्देष्य परमात्मा की प्राप्ति है, और सभी को अपने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रियाकलापों को परमात्मा के दर्षन के अन्तिम उद्देष्य द्वारा दिषा निर्देषित करना होता है। सभी मानव प्राणियों की तत्काल सेवा इस प्रयास का सामान्यतः इसलिए आवष्यक अंग बन जाता है, क्योंकि परमात्मा को तलाष करने का एकमात्र मार्ग उसका उसकी रचना में दर्षन करता है और उसके साथ एकरूप हो जाना है। इसे सभी की सेवा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

- इस विद्यमान महत्त्वपूर्ण जीवन में मोक्ष प्राप्त करने के लिए मैं स्वयं की अनुभूति के लिए अधीर हूँ। मेरी राष्ट्रीय सेवा अपनी आत्मा को मांस के बन्धन से मुक्त करने के लिए मेरे प्रषिक्षण का अंग है। इस प्रकार मानते हुए मेरी सेवा को पूर्णतः स्वार्थवष माना जाए। मेरे लिए, मुक्ति का मार्ग अपने देष और उसके माध्यम से मानवता की सेवा में सतत मेहनत में सन्निहित है।

गाँधी ने इनमें से कई विचार हिन्दू धर्म की पवित्र पुस्तकों से प्राप्त किए। उनमें, उन्होंने ''आन्तरिक अनुषासन'' जिसे उन्होंने स्वराज का 'मूल अर्थ' समझा, के मूल्य को स्पष्ट तौर पर प्राप्त किया। उन्होंने लिखा था :

> *स्वराज* का मूल अर्थ स्वषासन है। इस प्रकार का *स्वराज* आन्तरिक रूप से अनुषासित शासन के रूप में माना जा सकता है। स्वतंत्रता की कुछ सीमा है। स्वतंत्रता का अर्थ है, ऐसा लाइसेंस जो चाहे सो करो। स्वराज सकारात्मक है। स्वतंत्रता नकारात्मक है....। *स्वराज* शब्द एक पवित्र शब्द है, वैदिक शब्द है जिसका अर्थ स्व-षासन और स्वतः-निग्रह है, न कि उन सभी बाधाओं से मुक्ति जिसका अर्थ प्रायः 'स्वतंत्रता' होता है।

गाँधी ने युद्ध और हिंसा की व्यर्थता का निरूपण करने वाली *भगवत् गीता* का विवेचन किया। अहिंसा और सत्य के अतिरिक्त, नैतिकता के अन्य सिद्धांत गाँधी के अनुसार जिनका *गीता* उपदेष देती है : *तप, दान* और *यज्ञ* हैं। उन्होंने *भगवत् गीता* के तीसरे अध्याय में 'सेवा का उपदेष' प्राप्त किया। इससे उसे दूसरों के हित की इच्छा करना सिखाया। *गीता पर अपने उपदेषों में* उन्होंने बताया था कि परमात्मा अथवा ब्रह्म सभी प्राणियों में रहता है, जिनमें ''लंगड़ा, पंगु और सताए हुए'' भी शामिल हैं।

सबकी सेवा के विचार पर, गाँधी अपने माता-पिता, वैष्णव सन्त-कवियों, विषेष रूप से नरसिंह मेहता के उपदेषों, तथा रस्किन के लेखों तथा ग़ैर-नैष्ठिक ईसाइयों, विषेष रूप से लियो टॉलस्टाय से भी गहन रूप से प्रभावित हुये।

गाँधी का विष्वास था कि आत्म-निग्रह अैर आत्म-षुद्धि के बिना, हम दूसरों को मोक्षोन्मुख सेवा प्रदान नहीं कर सकते हैं। इस अभियोग को कि ये संन्यासियों के आदर्ष हैं, को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि वे ''सामान्यतः मानवता द्वारा अंगीकरण'' के लिए अभिप्रेत हैं। उन्होंने लिखा था :

> कोई भी कार्यकर्त्ता जिसने अपनी इच्छाओं पर काबू नहीं पाया है, हरिजनों, साम्प्रदायिक एकता, खादी, गौ-रक्षा और गाँव के पुनर्गठन के लिए कोई उचित सेवा प्रदान करने की आषा नहीं कर सकता है। इन जैसे महान् कारणों को मात्र बौद्धिक यंत्र से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उनके लिए आध्यात्मिक प्रयास अथवा आत्मबल की आवष्यकता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

गाँधी के अनुसार, वह क्षेत्र जिस पर किसी की मोक्ष-प्राप्ति अथवा सभी की निस्वार्थ सेवा के बीच सम्बन्ध बनते हैं, राजनीति का क्षेत्र है नामतः ''मेरे देष की सेवा में कड़ी मेहनत और उसके माध्यम से मानवता की सेवा'' का क्षेत्र। मोक्ष-प्राप्ति और सेवा केन्द्रित राजनीति के बीच सम्बन्ध गाँधी के लेखन और सार्वजनिक कार्यों में एक सतत प्रकरण था। सही अर्थों में, उन्होंने अपनी आत्मकथा निम्न कथन के साथ सम्पन्न की :

> ब्रह्माण्ड और सर्व-व्याप्त सत्य की आत्मा को आमने-सामने देखने के लिए, हमें संसार के निकृष्टतम प्राणी के साथ एक रूप होकर प्रेम करने के लिए सक्षम होना चाहिए। और ऐसा मानव जो उसके पष्चात् महत्त्वाकांक्षी बना रहता है, जीवन के किसी भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता है। यही कारण है कि सत्य के प्रति मेरी निष्ठा ने मुझे राजनीति के क्षेत्र की तरफ आकर्षित किया; और मैं जरा सी झिझक के बिना और उस पर भी पूर्ण विनम्रता के साथ कह सकता हूँ कि वे जो यह कहते हैं कि धर्म को राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है, नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है। आत्म-षुद्धि के बिना जीवित रहने वाले प्रत्येक प्राणी के साथ पहचान असम्भव है; आत्मबुद्धि के बिना, अहिंसा के नियम का अनुपालन एक स्वप्न पात्र बना रहेगा।

उन्होंने *गोखले के भाषणों* पर आमुख में लिखा। गाँधी ने साधुओं, ऋषियों, मुनियों, मौलवियों और पुजारियों से राजनीतिक संन्यासी बनने के लिए आग्रह किया। उन्होंने राजनीतिक कायोकर्त्ताओं से भी आध्यात्मिक और नैतिक रूप से संलग्न रहने के लिए

मुलाकात की। अपने ''लास्ट विल एण्ड टेस्टामेंट'' में, उन्होंने विद्यमान कांग्रेस संगठन को विघटित करने और इसे एक लोक सेवक संघ के रूप में फलने-फूलने की सिफारिष की। उनकी इच्छा थी कि उसके सदस्य उसके द्वारा स्वयं को स्वराज और सर्वोदय कार्यक्रम के बकाया कार्य को पूरा करने में अर्पित करेंगे, जिसे उन्होंने निम्नवत् पंक्तिबद्ध किया :

> भारत को अभी भी अपने शहरों और कस्बों से भिन्न अपने सात सौ हज़ार गाँवों के संदर्भ में सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी है।

गाँधी ने यह भी निर्धारित किया कि लोक सेवक अस्पृष्यता का संत्याग करेंगे और उन्हें ''अन्तर-सामुदायिक एकता, सभी धर्मों के लिए बराबर सम्मान तथा जाति, मत और लिंग की ओर ध्यान दिए बिना सभी के लिए अवसरों और प्रास्थिति की समानता'' के आदर्ष में विष्वास करना होगा।

सर्वोदय के बारे में गाँधी की नैतिक-राजनीतिक संकल्पना पाष्चात्य उपयोगितावाद और परम्परागत जाति प्रथा की असमानताओं और अपवर्जनों (exclusions) दोनों का संषोधित रूप है। उपयोगितावाद की उनकी समालोचना उनके सर्वोदय की प्रस्तावना में देखी जा सकती हे, जो रस्किन की पुस्तक, *अनटू दिस लास्ट* का उनका भावान्तर था। गाँधी ने लिखा था :

> आमतौर पर पश्चिम के लोग मानते हैं कि मानव का सम्पूर्ण कर्तव्य अधिकांष मानवता की प्रसन्नता में वृद्धि करना है और प्रसन्नता का अर्थ मात्र शारीरिक प्रसन्नता और आर्थिक समृद्धि से लगाया जाता है। यदि इस प्रसन्नता पर विजय हासिल करने में नैतिकता के नियम टूट जाते है तो इससे बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ता है। पुनः, चूँकि अधिकांष की प्रसन्नता प्राप्त करना उनका लक्ष्य होता है, पश्चिम वाले यह नहीं विचार करते हैं कि एक अल्पसंख्यक का बलिदान करके इसे प्राप्त करने में कोई हानि भी होती है। इस प्रकार की विचारधारा के परिणाम यूरोप के चेहरे पर व्यापक रूप से अंकित हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1926 में, गाँधी ने निम्नलिखित शब्दों के माध्यम से उपयोगितावाद और सर्वोदय में अन्तर स्पष्ट किया :

> एक अहिंसा का उपासक उपयोगितावादी सूत्र (अधिसंख्यक का अधिकतम हित) के प्रति योगदान नहीं कर सकता है। वह सभी के अधिकतम हित के लिए संघर्ष करेगा और अपने आदर्ष को प्राप्त करने में अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देगा। वह स्वयं मरते-मरते भी शेष लोगों की सेवा करेगा। सभी के अधिकतम हित में निरपवाद रूप में अधिसंख्यक का हित शामिल होता है और इसीलिए, वह और उपयोगितावादी अपने जीवन में कई मुद्दों पर अभिमुख होंगे; परन्तु ऐसा समय भी आ सकता है जब वे एक-दूसरे से अलग हो जाएँगे और भिन्न दिषाओं में कार्य भी करेंगे। उपयोगितावादी तार्किक होने के कारण कभी भी स्वयं का बलिदान नहीं करेगा। निरपेक्षवादी (अर्थात् सार्वभौमवादी अथवा अहिंसा का उपासक) स्वयं का बलिदान भी कर देगा।

बोध प्रश्न 3

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) गाँधीवादी सर्वोदय के आवष्यक घटक क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

....

2) सर्वोदय की संकल्पना पर भगवत् गीता के प्रभाव को उजागर करें।

....

....

....

....

....

....

27.6 सत्याग्रह बनाम शान्तिपूर्ण विरोध

विरोध करने की गाँधीवादी अहिंसक राजनीतिक कार्रवाई तथा सामाजिक और राजनीतिक सत्ता के असत्यपूर्ण और हिंसक तरीकों को बदलने का नाम सत्याग्रह है। 1906-14 के दौरान, गाँधी ने उस जाति-भेद की नीति का विरोध करने के लिए सफलतापूर्वक राजनीतिक कार्रवाई के इस तरीके का प्रयोग किया, जिसे दक्षिण अफ्रीका की ब्रिटिष उपनिवेषी सरकार द्वारा भारतीय प्रवासियों के विरुद्ध अपनाया गया था। भारत में, उन्होंने कई स्थानीय सत्याग्रहों का नेतृत्व किया जिनमें से कुछ उल्लेखनीय थे जैसे चम्पारन, अहमदाबाद, वैयकॉम, बरदौली और खेड़ा में हुए सत्याग्रह। उन्होंने 1919 में रॉलट एक्ट के विरुद्ध किए गए सत्याग्रह से आरंभ होकर कई अखिल भारतीय सत्याग्रह आन्दालनों का भी नेतृत्व किया।

MAADHYAM IAS

गाँधी ने स्वीकार किया कि उनके सत्याग्रह का सिद्धांत कुछ सीमा तक हेनरी डेविड थोरो के लेखों से प्रभावित हुआ था। थोरो के निबन्ध, ''आन द ड्यूटी ऑफ सिविल डिसआबीडिएंस'' में गाँधी ने राज्य के निग्रही लक्षणों पर अपने विचारों का तथा अपनी निजी चेतनता के व्यष्टिगत आभार पर पुष्टीकरण पाया। गाँधी ने लिखा था, ''थोरो और रस्किन से मैं अपने संघर्ष के पक्ष में तर्क तलाष कर सकता था।''

गाँधी के दक्षिण अफ्रीका में जातिभेद के विरुद्ध आरंभिक संघर्षों का 'षांतिपूर्ण विरोध' के रूप में वर्णन किया गया था। परन्तु शीघ्र ही उन्हें अंग्रेजों की यह शब्दावली आंषिक रूप से असन्तोषजनक महसूस हुई, क्योंकि यह आम भारतीय की समझ से परे थी और अंषतः इसलिए कि यह उनके राजनीतिक संघर्ष के तरीके के विषेष स्वरूप को सामने नहीं ला पायी। इसी कारण, 1916 में उन्होंने अपनी साप्ताहिकी ''इंडियन ओपीनियन'' के पाठकों को एक वैकल्पिक नाम का सुझाव देने के लिए आमंत्रित किया। सबसे श्रेष्ठ सुझाव *सदाग्रह* प्राप्त हुआ जिसका अर्थ था ''नेक कार्य में दृढ़ता''। गाँधी ने इसे बदलकर *सत्याग्रह* कर दिया, क्योंकि यह उनके अधिमान्य विचार ''सत्य-बल'' को संप्रेषित करता था। उन्होंने अपनी पसन्द की निम्न शब्दों में व्याख्या की :

> सत्य में प्रेम अन्तर्निहित है तथा आग्रह (दृढ़ता) संकट की सूचक है, अतः इसीलिए यह बल का पर्यायवाची बन जाता है। इस प्रकार मैंने भारतीय आन्दोलन को ''सत्याग्रह'' कहना आरंभ किया, जिसका अर्थ है ऐसा बल जो सत्य और प्रेम अथवा अहिंसा के लिए पैदा हुआ है और उन्होंने 'षांतिपूर्ण विरोध' शब्दावली का प्रयोग छोड़ दिया।

गाँधी ने *शारीरिक बल = पषु बल = शस्त्र बल* को *आत्म बल = प्रेम बल = सत्य-बल* से अलग कर दिया। उन्होंने पूर्ववर्ती को हिंसक तरीके के रूप में बताया जिसे, आधुनिक सभ्यता में और द्वारा अपनाया जाता है। उन्होंने बताया कि सत्याग्रह आत्मबल अथवा सत्य के बल पर विष्वास करता है और यह स्वराज के लिए उचित शब्द है। उन्होंने लिखा था :

> सत्याग्रह व्यक्तिगत पीड़ा के द्वारा अधिकांष को प्राप्त करने का एक तरीका है; यह शस्त्रों द्वारा विरोध के प्रतिकूल है। जब मैं किसी ऐसे कार्य को करने से मना करता हूँ जो मेरी चेतना के विरुद्ध है, मैं आत्मबल का प्रयोग करता हूँ। उदाहरणार्थ, आज की सरकार ने एक कानून पारित किया है जो मुझ पर लागू होता है। मैं इसे पसन्द नहीं करता हूँ। यदि मैं हिंसा का प्रयोग करके शासन को वह कानून समाप्त करने के लिए मज़बूर करता हूँ, तो मैं शक्ति बल का नियोजन कर रहा हूँ। यदि मैं कानून का पालन नहीं करता हूँ और उसके उल्लंघन के लिए शान्ति को स्वीकार करता हूँ, तो मैं आत्मबल का प्रयोग करता हूँ। इसके लिए आत्म बलिदान की आवष्यकता होती है।

गाँधी के अनुसार भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए सत्याग्रह व्यावहारिक रूप से आवष्यक तथा नैतिक रूप से वांछनीय था। उन्होंने कहा था कि चूँकि ''अंग्रेज़ प्रबलता से सषस्त्र हैं'', भारतीयों को उनकी बराबरी का सषस्त्र बनने अथवा प्रभावी ढंग से निपटने में अनेकानेक वर्ष लगेंगे। इस व्यावहारिक कठिनाई से भी अधिक, गाँधी ने हिंसा के अनैतिक तरीके को स्वीकृति नहीं दी। उनका इषारा था कि ''विषाल पैमाने पर भारत को सषस्त्र बनाना उसे यूरोपियन बनाना है'' अथवा, दूसरे शब्दों में, नैतिक रूप से दोषयुक्त आधुनिक यूरोपियन सभ्यता द्वारा निरन्तर पथभ्रष्ट होते रहना है।

गाँधी के अनुसार, 'षान्तिपूर्ण विरोध' की तुलना में सत्याग्रह के विषिष्ट लक्षण निम्नवत् हैं:

i) जबकि शान्तिपूर्ण विरोधी अपने विपक्षी के प्रति घृणा का आश्रय लेते है, सत्याग्रही अपने विरोधियों के प्रति प्रेमभाव रखते हैं।

ii) शान्तिप्रिय विरोधी, सत्याग्रहियों से भिन्न, अपने विपक्षियों को परेषान कर सकते है और चोट पहुँचा सकते हैं।

iii) सत्याग्रह, शांतिपूर्ण विरोध से भिन्न, अपने प्रियजनों पर भी लागू किया जा सकता है।

iv) शान्तिपूर्ण विरोध कमज़ोर अथवा असहायों द्वारा किया जाने वाला विरोध है और इसमें हिंसा के प्रयोग को अलग नहीं किया जा सकता, जबकि सत्याग्रह शक्तिषाली द्वारा नैतिक राजनीतिक कार्रवाई है और इसमें हिंसा शामिल नहीं है। स्वयं को कमज़ोर मानने के विष्वास में शान्तिपूर्ण विरोधी शुरुआती मौके पर संघर्ष को छोड़ने के लिए प्रवृत्त होगा। ''दूसरी तरफ'' गाँधी ने लिखा, ''यदि हम स्वयं को शक्तिषाली मानते हुए सत्याग्रह का आश्रय लेते हैं, इसके दो निष्चित परिणाम होंगे। शक्ति के विचार से प्रोत्साहित होकर हम प्रतिदिन और अधिक मज़बूत होते जाएँगे। हमारी शक्ति में वृद्धि से, हमारा सत्याग्रह भी अधिक प्रभावी होगा और इसे छोड़ने के लिए हम कभी भी किसी भी अवसर की बाट नहीं देखेंगे।''

MAADHYAM IAS

27.6.1 सत्याग्रह के सिद्धांत और पद्धतियाँ

सत्याग्रह सत्य, अहिंसा और तप के सिद्धांतों पर आधारित है। गाँधी ने 9 जनवरी 1920 को इलाहाबाद में लॉर्ड हण्टर की अध्यक्षता में हुई अव्यवस्था जाँच समिति (Disorders Inquiry Committee) के समक्ष अपने मौखिक निवेदन में इसका स्पष्टीकरण दिया था। सुसंगत प्रष्न और उनके जवाब नीचे यथास्थिति दिए जाते हैं:

प्रष्न : गाँधी महोदय, मैं यह मानता हूँ कि सत्याग्रह आन्दोलन के रचयिता आप हैं?

उत्तर : हाँ, श्रीमान।

प्रष्न : आप इसे संक्षिप्त में समझाएँ?

उत्तर : यह एक ऐसा आन्दोलन है जो हिंसा के तरीकों को प्रतिस्थापित करने के लिए अभिप्रेत तथा पूर्णतः सत्य पर आधारित आन्दोलन है। यह जैसा कि मैंने कल्पना की है, राजनीतिक क्षेत्र में घरेलू कानून का एक विस्तार है और अपने अनुभव से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इस आन्दोलन और एकमात्र इसी आन्दोलन से भारत षिकायतों के निवारण के लिए देष के इस सिरे से उस सिरे तक फैली हुई हिंसा की संभावनाओं से छुटकारा पा सकता है।

प्रष्न : विषेष कानूनों के न्याय और अन्याय के प्रति लोगों के मत भिन्न होते हैं?

उत्तर : यही मुख्य कारण है जिससे हिंसा कम हो सकती है तथा एक सत्याग्रही अपने विरोधी को स्वतंत्रता और उदारता के वे सभी अधिकार देता है, जो वह स्वयं के लिए आरक्षित करता है। वह व्यक्तिगत तौर पर चोटग्रस्त होते हुए संघर्ष करेगा।

गाँधी का धर्मषास्त्र की परम्परा में विष्वास था, जिसके अनुसार धर्म जो 'घर' (सुदृढ़ होना, कायम रहना अलावा समर्थन करना) से व्युत्पन्न है, ब्रह्माण्डों को विनियमित करने वाले नैतिक कानून का हवाला देता है। इसका सार सत्य है जिसकी जड़ें (अस्तित्व, वास्तविकता, अधिकार, जो है और जो होगा) सत् हैं। गाँधी ने लिखा था :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

> शब्द सत्य सत् शब्द से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है होना। और सत्य के अलावा वास्तव में कुछ नहीं है अथवा विद्यमान नहीं है। यही कारण है कि सत् अथवा सत्य परमात्मा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम है। वास्तव में यह कहना कि परमात्मा सत्य है, की तुलना में, यह कहना अधिक ठीक होगा कि सत्य भगवान है। यह अनुभूति हो जाएगी कि सत् अथवा सत्य ही सही है और परमात्मा का पूर्णरूपेण सही नाम है।

चूँकि ''सत्य के अलावा वास्तव में कुछ नहीं है अथवा विद्यमान नहीं है'', गाँधी का कहना है कि व्यावहारिक-राजनीतिक क्षेत्र भी इसमें शामिल होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, गाँधी के लिए सत्य अथवा नैतिकता से राजनीति को अलग करना स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने कहा था :

> कुछ दोस्तों ने मुझसे कहा है कि सत्य और अहिंसा का राजनीति अथवा सांसारिक, क्रियाकलापों में कोई स्थान नहीं है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मेरे लिए व्यष्टि के उद्धार के उपाय के रूप में उनका कोई उपयोग नहीं है। दैनिक जीवन में उन्हें शामिल करना और उनका अनुप्रयोग करना अभी तक मेरा परीक्षण रहा है।

गाँधी का सत्याग्रह सत्य और अहिंसा को राजनीतिक क्षेत्र में शामिल करने का एक परीक्षण है।

गाँधी के अनुसार, यद्यपि सत्य निरपेक्ष है, इसके बारे में हमारा ज्ञान और अनुभव सापेक्ष तथा आंषिक है। जिसे हम सत्य मानते हैं वह दूसरों के लिए असत्य हो सकता है। वस्तुतः, सत्याग्रही यह मानता है कि उसके विरोधी अथवा उस पर जुल्म करने वाले भी सत्याग्रही हैं जो इस आधार पर कार्य करते हैं जिसे वे सत्य महसूस करते हैं। इसका कारण यह है कि अहिंसा सत्य की खोज का साधन है। गाँधी लिखता है, ''मूल सिद्धांत जिस पर अहिंसा का आचरण आश्रित है, यह है कि जो किसी एक के लिए हितकारी होता है वह समान रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए भी लागू होता है। सार रूप में सम्पूर्ण मानवता एक जैसी है। जो कुछ एक के लिए संभव है, वही प्रत्येक के लिए संभव है।'' सापेक्ष सत्य के आधार पर कार्य करते हुए, सत्याग्रही मूल संघर्ष का निवारण चाहते हैं और प्रतिद्वन्द्वी सत्य के दावों की वैधता को उचित ठहराने के अहिंसक मार्ग के माध्यम से सामाजिक तालमेल सुनिष्चित करते हैं। गाँधी ने लिखा है :

> ऐसा प्रतीत होता है कि इस दैनिक शरीर में सत्य की पूर्ण अनुभूति की असंभावना ने प्राचीन सत्य की खोज करने वाले को अहिंसा का प्रषंसक बना दिया। उसके सामने प्रष्न उपस्थित हुआ कि क्या वह उन्हें बर्दाष्त करे जो उसके लिए परेषानियाँ पैदा करते हैं अथवा उन्हें नष्ट कर दे। इस जिज्ञासु ने महसूस किया कि वह जो दूसरों को नष्ट करने में लगा रहा, आगे का कोई मार्ग नहीं बना सका अपितु साधारणतया वहीं रुका रहा जहाँ वह था, जबकि वह आदमी जिसने उन्हें बर्दाष्त किया जिन्होंने उसके लिए परेषानियाँ पैदा कीं, आगे बढ़ गया और कई बार दूसरों को भी अपने साथ ले गया... जितना अधिक उसने हिंसा की उतना ही वह सत्य से वंचित होता गया। ऐसा क्यों, कल्पित शत्रु से संघर्ष करते समय उसने अन्दर के शत्रु की ओर ध्यान नहीं दिया।

सत्याग्रही विरोधी अथवा उत्पीड़क को समाप्त करने के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण विवादग्रस्त अथवा उत्पीड़क सम्बन्ध का पुनर्गठन करने के लिए सत्य-बल अथवा प्रेम-बल का प्रयोग करते हैं, जिससे आरंभिक संघर्ष के प्रति दोनों दल एक विषेष प्रकार की पारस्परिकता और नैतिक अन्तनिर्भरता महसूस कर सकें। सत्याग्रह के द्वारा, उत्पीड़न के षिकार, अपने विष्वास और कार्यों से इनकार करने वाले अपने कपटपूर्ण सत्य से अपने उत्पीड़कों को बन्धनमुक्त करने में सहायता करके स्वयं की मुक्ति चाहते हैं। गाँधी ने *हिन्द स्वराज* में लिखा था कि ''सत्याग्रह प्रयोगकर्त्ता और उसे जिस पर इसे प्रयोग किया जाता है, को महिमान्वित करता है।'' गाँधी ने लिखा है :

> अपने नकारात्मक स्वरूप में इस (अहिंसा) का अर्थ किसी जीवित प्राणी को, चाहे शरीर से अथवा मन से, चोट पहुँचाना नहीं है। अतः किसी गलत कार्य करने वाले व्यक्ति को मैं चोट नहीं पहुँचा सकता, न उसके प्रति कोई दुर्भावना रख सकता और इस प्रकार उसे कोई मानसिक पीड़ा भी नहीं दे सकता। अपने सकारात्मक स्वरूप में, अहिंसा का अर्थ अति व्यापक प्रेम, महानतम उदारता से है। यदि मैं अहिंसा का अनुगामी हूँ, मैं अपने दुष्मन अथवा मुझसे अजनबी से वैसा ही प्रेम करूँगा जैसे मैं गलत काम करने वाले अपने पिता अथवा पुत्र से करूँगा। इस क्रियात्मक अहिंसा में अवष्यमेव रूप से सत्य और निर्भीकता शामिल हैं।

ऊपर आरंभ में जो कुछ कहा गया है, के परिप्रेक्ष्य में, हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गाँधी के लिये जो दूसरों को नुकसान पहुँचाने के लिए इनकार करने में विष्वास रखे, नैतिक और व्यावहारिक सच का एक नकारात्मक परीक्षण है। इसका सकारात्मक परीक्षण दूसरों का कल्याण करने के लिए अभिप्रेत कार्य है।

MAADHYAM IAS

> हमारी इच्छाओं और उद्देष्यों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। स्वार्थपूर्ण और स्वार्थरहित। सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ अनैतिक हैं, जबकि दूसरों का हित करने के लिए स्वयं को उत्कृष्ट बनाने की इच्छा वास्तव में नैतिक है। सर्वाधिक नैतिक नियम यह है कि हमें मानवता की भलाई के लिए अथक रूप से कार्य करना चाहिए।

अब तक हमने सत्याग्रह के दो घटकों, नामतः सत्य और अहिंसा पर विचार किया है। तीसरा घटक तप (स्वयं कष्ट उठाना) है। दूसरे के प्रति प्रेम पर आधारित कार्रवाई जैसा हमने आरंभ में देखा, उस प्रेम की परीक्षा है। व्यक्तिगत रूप से कष्ट झेलना, गाँधी लिखते हैं, '' अहिंसा का सार है और दूसरों के प्रति हिंसा के लिए चुना गया एवजी (substitute) है''। यह समझना चाहिए कि सत्याग्रहियों द्वारा स्वयं कष्ट झेलना उनकी कायरता अथवा कमज़ोरी नहीं है; यह उन लोगों की अपेक्षा साहस के उत्कृष्ट स्वरूप पर आधारित है जो हिंसा का आश्रय लेते हैं और यह अपने विरोधी अथवा उत्पीड़क के नैतिक उत्थान में सहायता के लिए अभिप्रेत है।

संघर्ष समाधान की सत्याग्रही विधि में, स्वयं प्रताड़ना युक्तिसंगतता की पूरक भूमिका निभाती है। विवेचना के माध्यम से दूसरों को तैयार करना वास्तव में सत्याग्रह का सार है। परन्तु सत्याग्रह मूलभूत सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अथवा वैचारिक संघर्ष, जिसमें युक्तिसंगत समझौता आसानी से अथवा तत्काल संभव नहीं होगा, के समाधान में युक्ति की सीमाओं को मान्यता प्रदान करता है। वास्तव में, गाँधी का आग्रह था कि सत्याग्रह की प्रत्यक्ष कार्रवाई तकनीकें विरोधियों अथवा उत्पीड़कों के साथ विवेचना की आम प्रक्रियाओं को लागू करने के बाद ही तथा मात्र उनकी युक्तिसंगत सहमति प्राप्त करने अथवा बातचीत करने के लिए लागू की जानी चाहिए। उन्होंने लिखा है :

> चूँकि सत्याग्रह प्रत्यक्ष कार्रवाई के सर्वाधिक शक्तिषाली तरीकों में से एक है, एक सत्याग्रही सत्याग्रह का आश्रय लेने से पहले दूसरे सभी उपायों की परीक्षा करता है। इसलिए, वह अविचल और निरन्तर निर्वाचित प्रधिकारी के पास पहुँचेगा, वह जनमत को अपील करेगा, जनमत के बारे में षिक्षा देगा, शान्तिपूर्वक अपनी इस स्थिति उन सबके समक्ष बताएगा जो उसे ध्यान से सुनना चाहते हैं और वह जब ये सारे प्रयास विफल हो जाएँगे, सत्याग्रह का आश्रय लेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

एक सत्याग्रह अभियान में, सत्याग्रही (1) विवेचना अर्थात् अपने विरोधियों को उनकी गलत स्थिति के बारे में समझाकर और साथ-साथ उनकी प्रतिकूल दलीलों के लिए तैयार रहकर; और (2) सत्याग्रहियों की आत्म-प्रताड़ना के माध्यम से विरोधियों को अपील करके विवादित सामाजिक ''व्यवस्था'' अथवा मानदण्डों की सचाई को वैध बनाना चाहते हैं।

सत्याग्रह के अनेक तरीके हैं : (1) सत्याग्रहियों द्वारा शुद्धिकारी अथवा पष्चात्तापपूर्ण कार्य, जैसे संकल्प लेना, प्रार्थनाएँ करना और व्रत रखना; (2) असहयोग के कार्य, जैसे उपेक्षा (बायकॉट) करना, हड़ताल करना, उपवास करना और हिजरत (अर्थात् स्वैच्छिक प्रवजन); (3) नागरिक अवज्ञा के कार्य, जैसे धरना देना, करों का भुगतान न करना और विषिष्ट कानूनों की अवज्ञा करना; और (4) सामाजिक सुधार और सामाजिक सेवा का रचनात्मक कार्यक्रम, जैसे अन्तर-समुदाय एकता को बढ़ावा देना, अस्पृष्यता दूर करना, प्रौढ़ षिक्षा, तथा आर्थिक और सामाजिक असमानताओं का निराकरण।

सत्याग्रही, कार्यक्रम के प्रत्येक चरण में, सत्य का आचरण जैसा वे इसे देखते हैं, करते समय, अपने निजी दोषों पर विचार करते हैं तथा विरोधियों को सत्याग्रही की स्थिति को त्रुटिपूर्ण सिद्ध करने के लिए प्रत्येक मौका देते हैं। सत्याग्रह में ''हिंसा का प्रयोग वर्जित

है क्योंकि मानव निरपेक्ष सत्य को जानने में सक्षम नहीं है और इसलिए दंड देने के लिए भी सक्षम नहीं है।'' ध्यान देने योग्य आदर्श समुदायवादी सत्य के स्वतः विनियमित समाज का आदर्श है, जिसमें प्रत्येक स्वयं पर इस तरह शासन करना है जिससे वह अपने पड़ौसी के लिए कभी भी किसी भी प्रकार की परेषानी का कारण न बने। जोन बॉण्डुरां लिखती हैं, ''सत्याग्रह का दावा अहिंसक कार्रवाई करके किया जाता है, मानवीय आवष्यकताओं की पूर्ति द्वारा यथा निर्णीत सत्य। पारस्परिक संतुष्टि और सहमति से हुए समाधान के स्वरूप में विलय हो जाएगा''। इस प्रकार, सत्याग्रहियों द्वारा अनुपालनीय महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक सिद्धांत सत्याग्रहियों द्वारा सापेक्षता, अहिंसा और सहिष्णुता तथा स्वयं प्रताड़ना के रूप में सत्य को ग्रहण करना है। गाँधी ने निम्न परिच्छेद में इन क्रियात्मक सिद्धांतों को न्यायसंगत ठहराया :

> सत्याग्रह के अनुप्रयोग में मैंने पाया कि आरंभिक चरणों में सत्य के अनुसरण ने अपने विरोधियों के ऊपर की जाने वाली हिंसा को स्वीकार नहीं किया, अपितु उसे धैर्य और सहानुभूति द्वारा गलती करने से रोकना चाहिए। क्योंकि जो कुछ एक को सत्य प्रतीत होता है, दूसरे को वही असत्य प्रतीत होता है।

सच्चे हितों के बारे में लोगों की धारणा और न्याययुक्त कानूनों में अन्तर होता है। यही मुख्य कारण है जिससे हिंसा समाप्त हो जाती है और एक सत्याग्रही अपने विरोधी को स्वतंत्रता और उदारता की भावनाओं को वही अधिकार देता है जो वह स्वयं के लिए आरक्षित रखता है और वह स्वयं को व्यक्तिगत तौर पर प्रताड़ित करके संघर्ष करेगा।

लोकतंत्र का विकास संभव नहीं है, यदि हम दूसरे पक्ष को सुनने को तैयार न हों। हम उस युक्ति के दरवाज़े बंद कर देते हैं, जब हम अपने विरोधियों को सुनने अथवा सुने जाने के लिए मना कर देते हैं और उनका मज़ाक बनाते हैं। यदि अहिष्णुता आदत बन जाए, वहाँ हम सत्य से भटक जाने का जोखिम उठाते हैं। जबकि प्रकृति ने हमको सीमित समझदारी प्रदान की है, हमें हमको दिए गए ज्ञान के अनुसार निर्भयतापूर्वक कार्य करना चाहिए। हमें हमेषा अपना दिमाग खुला रखना चाहिए और यह जानने के लिए तैयार रहना चाहिए कि जिसे हम सत्य समझते थे, वास्तव में वह कुल मिलाकर असत्य था। दिमाग का यह खुलापन हमारे अन्दर सत्य को मजबूत करता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रष्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) गाँधी ने शान्तिपूर्ण विरोध और सत्याग्रह में किस प्रकार अन्तर किया?

....

....

....

....

....

....

....

2) सत्याग्रह के तरीकों का संक्षिप्त में वर्णन करें।

....

....

....

....

....

27.6.2 सत्याग्रह पर कुछ मूल्यात्मक टिप्पणियाँ

सत्याग्रह के गाँधी के सिद्धांत और अभ्यास पर विचार करते समय अनेक समालोचनाएँ बनी रहती हैं कि अहिंसा और स्वतः प्रताड़ना हिंसा करने वालों के विरुद्ध अव्यवहारिक तरीके हैं। इनका कहना है कि गाँधीवादी तरीका ''दूसरे संसार का'' तथा ''अमानवीय के प्रतिफल'' है। गाँधी ने कहा था कि अहिंसा और स्वतः प्रताड़ना 'असांसारिक नहीं' अपितु अवष्यमेव सांसारिक लोगों के लिए है। उन्होंने स्वीकार किया कि इन सिद्धांतों पर अमल करना बहुत मुष्किल था, परन्तु उनका आग्रह था कि हमें इनके आधार पर आगे बढ़ने अथवा उन पर कायम रहने की आवष्यकता है। उन्होंने लिखा था, ''षरीर निर्वाह करते समय पूर्ण अहिंसा यूक्लिड के बिन्दु अथवा सरल रेखा जैसा सिद्धांत है।'' गाँधी ने सही कहा था कि यह वांछनीय है और एक प्रबल अहिंसक समाज की स्थापना करना संभव है।

इस पर अभी भी आपत्ति की जा सकती है कि सत्याग्रह सत्याग्रही से मृत्यु पर्यन्त भी स्वतः प्रपीड़न की माँग करता है। यह सत्य है कि स्वतः प्रपीड़न सत्याग्रह का एक प्रमुख घटक है। तथापि, प्रपीड़न के खिलाफ हिंसात्मक और अहिंसात्मक विरोध में, आत्म बलिदान भी अन्तर्ग्रस्त होता है। यही कारण है कि गाँधी ने सत्याग्रह के प्रयोग की अनुमति मात्र उस स्थिति में दी, जब संघर्ष मौलिक मुद्दों पर हो और अहिंसा के सभी अपेक्षाकृत सौम्य तरीके विफल हो गए हों। उन्होंने 1921 में लिखा था, ''मैं उस समय गहन रूप से व्यथित होऊँगा, यदि प्रत्येक संकल्पनीय अवसर पर हम में प्रत्येक स्वयं अपने ऊपर कानून बनाकर रहेगा और हमारी भावी राष्ट्रीय सभा की प्रत्येक कार्रवाई की सुनहरी मापदंड से संवीक्षा करेगा। मैं अधिकतर मामलों में अपने निर्णय को राष्ट्रीय प्रतिनिधियों को अभ्यर्पित कर दूँगा।'' परन्तु जब अहिंसक विरोध के सभी सौम्य तरीके विफल हो जाएं और उसके बाद भी हिंसक उत्पीड़न की स्थिति बनी रहे, गाँधी का कहना था कि सत्य के लिए अहिंसक योद्धा के मृत्यु पर्यन्त भी स्व-प्रपीड़न हिंसक विरोधी की हार में मृत्यु की तुलना में व्यष्टिगत स्वतंत्रता के लिए कहीं बेहतर स्थिति है।

गाँधी ने हिंसक विरोध की तुलना में राजनीतिक विरोध और सामाजिक परिवर्तन के माध्यम से सत्याग्रह के गुण दोषों की स्वयंमेव कई बार व्याख्या की है। 1924 में, इन अफवाहों पर प्रतिक्रिया करते हुए कि उन्हें संभवतया सोवियत संघ जाने के लिए निमंत्रण मिलने वाला था, गाँधी ने लिखा था :

> मैं सफलता के लिए लघु हिंसा की पीड़ा में विष्वास नहीं करता हूँ। वॉल्सनिक के उन दोस्तों जिनका ध्यान मुझ पर केन्द्रित है को महसूस करना चाहिए कि मैं कितने भी अधिक श्रेष्ठ उद्देष्यों से सहानुभूति रखूँ अथवा उनकी प्रषंसा करूँ, मैं श्रेष्ठतम कारणों के लिए भी हिंसक तरीकों का ऐसा विरोधी हूँ जो कभी समझौता नहीं करता। अतः हिंसा के विद्यालय और मेरे बीच वास्तव में कोई तालमेल नहीं हो सकता।

दो साल बाद, गाँधी ने हिंसक और अहिंसक तरीकों के बीच निम्न स्पष्टीकरण किया :

> मेरा अहिंसात्मक विरोध एक भिन्न योजना पर क्रियात्मक विरोध है। बुराई करने वाले के अहिंसात्मक विरोध का यह अर्थ नहीं है कि किसी भी प्रकार का विरोध न किया जाए, अपितु इसका अर्थ यह है कि बुराई का बुराई से नहीं अपितु अच्छाई से विरोध किया जाए। इस प्रकार विरोध एक श्रेष्ठतर और निरपेक्षतः प्रभावी क्षेत्र के लिए अंतरित है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, लियो टॉलस्टाय की रचना *''द किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदिन यू'* ने अहिंसक विरोध की आधुनिक अवस्था के विरोधात्मक स्वरूप और उसके प्रति वचनबद्धता पर गाँधी के विचारों पर भारी प्रभाव छोड़ा। गाँधी ने स्वीकार किया कि टॉलस्टाय को पढ़ने से उन्हें ''सार्वभौमिक प्रेम की अनन्त संभावनाओं'' की अनुभूति हुई और उन्हें ''अहिंसा में दृढ़ विष्वासी'' बना दिया। गाँधी और टॉलस्टाय एक-दूसरे के अनुरूप थे। गाँधी को अपने अन्तिम पत्र में, टॉलस्टाय ने स्वीकार किया कि दक्षिण अफ्रीका में उनका सत्याग्रह आन्दोलन उत्पीड़ित द्वारा बन्धनमुक्ति के संघर्ष का एक नया और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तरीका था।

टॉलस्टाय की तरह, आइंस्टीन ने भी गाँधीवादी सत्याग्रह की गहन प्रषंसा में लिखा है। गाँधी के 70वें जन्मदिन के लिए एक अभिनंदन ग्रंथ (festschrift) में प्रकाषित श्रद्धांजलि में उन्होंने लिखा था :

> राजनीतिक इतिहास में गाँधी अपूर्व हैं। उन्होंने उत्पीड़ित लोगों के मुक्ति संघर्ष के लिए पूर्णतः नई और मानवीय तकनीक का अन्वेषण किया है और उस पर महानतम ऊर्जा और समर्पण के साथ अमल किया है। सभ्यतामूलक विष्व के माध्यम से विचार करने वाले लोगों पर जो नैतिक प्रभाव उन्होंने छोड़ा है, वह प्रभाव उस प्रभाव से अधिक टिकाऊ होगा जो संभवतया अपने अत्यधिक पषुबल से हमारे वर्तमान युग में प्रतीत होता है। राजनीति विषारदों का कार्य तभी स्थायी होता है, यदि वे अपने व्यक्तिगत उदाहरण के माध्यम से और उस प्रभाव के बारे में षिक्षा देकर अपने लोगों में नैतिक बलों का आह्वान कर पाएँ और एकता कायम कर सकें।

MAADHYAM IAS

बोध प्रष्न 5

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अन्त देखें।

1) सत्याग्रह की संकल्पना का समालोचनात्मक निर्धारण करें।

....

....

....

....

27.7 सारांष

इस इकाई में, आपने गाँधीवाद के प्रमुख बौद्धिक घटकों के बारे में पढ़ा है जैसे धर्म, स्वराज, सर्वोदय और सत्याग्रह। इस इकाई में कुछ प्रसिद्ध विचारकों का आपसे परिचय कराया गया, जिनके विचारों और लेखों ने महात्मा गाँधी की सामाजिक और राजनीतिक सोच को मूर्त रूप दिया। जैसा आपने सीखा है, स्वराज की संकल्पना में बहिर्मुखी और

अन्तर्मुखी दोनों आयाम हैं। संसदीय स्वराज के विचार और सर्वोदय पर पृथक् से विस्तार में चर्चा की गई है। सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण विरोध की संकल्पना और सत्याग्रह के सिद्धांत और तरीकों की, अन्तिम पर न्यूनतम नहीं, व्याख्या की गई है। यह इकाई सत्याग्रह के समालोचनात्मक निर्धारण के साथ समाप्त हुई है। आषा की जाती है कि अब आप गाँधीवादी विचारों के मौलिक रूप को समझने में अधिक बेहतर स्थिति में होंगे।

27.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आर. अय्यर, *द मॉरल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी* (ओ.यू.पी., 2000)।

ए. जे. पारेल, (संपा.), *गाँधी : हिन्द स्वराज एण्ड अदर राइटिंग्स* (फाउण्डेषन बुक्स, न्यू दिल्ली, 1997)।

भीकू पारेख, *कॉलॉनिअलिज़्म, ट्रेडिषन एण्ड रिफॉर्म : ऐन एनैलिसिस ऑफ गाँधीज़ पॉलिटिकल डिस्कोर्स* (न्यू दिल्ली : सेज, 1989)।

डी. डैल्टन, *गाँधी'ज़ पॉवर* (ओ.यू.पी. 1993)।

थॉमस पन्थम, *पॉलिटिकल थ्योरिज़ एण्ड सोषयल रिकन्स्ट्रक्षन : ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ द लिट्रेचर ऑन इण्डिया* (न्यू दिल्ली : सेज 1995), चेप्टर 4 : ''गाँधी : स्वराज, सर्वोदय एण्ड सत्याग्रह।''

थॉमस पन्थम, ''हेबरमासज़ प्रैक्टिकल डिसकोर्सिज़ एण्ड गाँधी'ज़ सत्याग्रह'', इन भीखू पारेख एण्ड थॉमस पन्थम, (सं.) *पॉलिटिकल डिस्कोर्सिज़ : एक्सप्लोरेषन्स इन इण्डियन एण्ड वैस्टर्न पॉलिटिकल थॉट* (न्यू दिल्ली : सेज, 1987)।

27.9 बोध प्रष्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रष्न 1

1) देखें भाग 27.1
2) देखें भाग 27.2

बोध प्रष्न 2

1) देखें भाग 27.3
2) देखें भाग 27.4

बोध प्रष्न 3

1) देखें भाग 27.5
2) देखें भाग 27.5

बोध प्रष्न 4

1) देखें भाग 27.6
2) देखें उप-भाग 27.6.1

बोध प्रष्न 5

1) देखें उप-भाग 27.6.2

इकाई 28 राज्य और वैश्वीकरण

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 परिचय

28.2 वैश्वीकरण और उसका संदर्भ

28.3 वैश्वीकरण के आयाम

28.3.1 आर्थिक वैश्वीकरण

28.3.2 राजनीतिक वैश्वीकरण

28.3.3 वैश्वीकरण एवं संस्कृति

28.4 राष्ट्र-राज्य और संप्रभुता

28.4.1 राज्य की परिभाषा और अर्थ

28.4.2 संप्रभुता

28.4.3 संप्रभुता को खतरा

28.5 वैश्वीकरण, राज्य और बहुराष्ट्रीय निगम

28.6 वैश्वीकरण, राज्य और क्षेत्रीयता

28.7 वैश्वीकरण और द्वैतवाद (Dualism)

28.7.1 विश्व का दो कैम्पों में विभाजन

28.8 एक मूल्यांकन

28.9 सारांश

28.10 कुछ उपयोगी संदर्भ

28.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्य-वैश्वीकरण अन्तरसंबंध (interface) की जाँच की गई है। इस इकाई से गुज़रने के बाद, आप निम्न के बारे में सक्षम हो जाएँगे :

- वैश्वीकरण के अर्थ को परिभाषित करना और उसकी विवेचना करना;
- वैश्वीकरण के विभिन्न आयामों पर चर्चा करना;
- राज्य को परिभाषित करना और वैश्वीकरण के दृष्टिगत इसकी संप्रभुता के खतरों पर चर्चा करना;
- वैश्वीकरण के संदर्भ में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका पर चर्चा करना; तथा
- वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप राज्य के भविष्य पर टिप्पणी करना।

28.1 परिचय

वैश्वीकरण के संदर्भ में, आधुनिक राज्य भारी परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा है। वैश्वीकरण प्रक्रियाओं से मुक्त अनेक बलों ने जनप्रिय कल्पना के केन्द्र के रूप में राज्य को प्रभावित किया है। राष्ट्र-राज्य विभिन्न स्तरों पर अपनी जनता के साथ अपने रिश्तों को पुनर्भाषित

करने के लिए सामने आए हैं। यद्यपि राज्य की संप्रभुता अभी भी महत्त्वपूर्ण है, यह स्थानीय स्तर पर विभाजन तथा भूमण्डलीय स्तर पर एकीकरण से बुरी तरह संकुचित हुई है।

विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्र-राज्य के विरूपण से क्षेत्रीय विरचनाओं की विशिष्टता पर निर्भर करते हुए विभिन्न रूप प्रगट होते हैं। इस पाठ में वैश्वीकरण के कई अर्थों और प्रथम भाग में राष्ट्र-राज्य हेतु इसके निहितार्थों पर विवेचना की गई है। बाद में, यह राष्ट्र-राज्य के विरूपण के विभिन्न आयामों को प्रकट करता है।

28.2 वैश्वीकरण और उसका संदर्भ

हमारे स्पष्टीकरण के लिए समान ध्वनि वाले शब्दों, वैश्वीकरण और भूमण्डलवाद को वर्गीकृत किया जाना चाहिए। वैश्वीकरण शब्द एक प्रक्रिया का हवाला देता है, जबकि भूमण्डलवाद ऐसा शब्द है जो विचारों, मूल्यों, प्रथाओं के ऐसे समूह का हवाला देता है जो आजकल वैश्वीकरण के नाम पर होने वाले परिवर्तनों की वचनबद्धता के समर्थन की माँग करता है। संक्षिप्त में, भूमण्डलवाद का अर्थ है, वैश्वीकरण के लिए एक विचारधारा अथवा उसको न्यायोचित ठहराने का फ्रेमवर्क।

आधुनिक युग के वैश्वीकरण की कुछ गलतफहमियों को दूर करना भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ क्षेत्रों में, वैश्वीकरण को इससे सम्बन्धित भाव में इस प्रकार समझ सकते हैं कि वैश्वीकरण अति प्राचीन समय से एक विचार और एक प्रथा के रूप में अस्तित्व में रहा है। यह जानकारी उचित ऐतिहासिक अर्थों में कम जान पड़ती है, क्योंकि यह विद्यमान संदर्भ में वैश्वीकरण की विशिष्टता को मान्यता प्रदान नहीं करती। वैश्वीकरण एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया से प्रकट हुआ है, जिसे पूँजीवादी विस्तार के पीछे दलीलों से ख़तरा बना हुआ है। यह भूमण्डलीय स्तर पर विशिष्ट प्रकार के राजनीतिक और सांस्कृतिक पर्यावरण में फलने-फूलने की माँग करता है। इससे भूमण्डलीय, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर से लेकर स्थानीय स्तर तक भारी परिवर्तन हुए हैं। इसने एक या दो दशक के दौरान विश्व को पूरी तरह बदल दिया है।

अपने आर्थिक स्वरूप में वैश्वीकरण उन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के साथ एक समेकित अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार का समर्थन करता है जो सामने आ रही हैं। यह सांस्कृतिक स्तर पर मूल्यों और संस्कृतियों का समांगीकरण (homogenisation) चाहता है और यह इस शब्द के राजनीतिक अर्थ में राष्ट्र-राज्य संप्रभुता सत्ता को हाशिए पर लाने अथवा कम करने के लिए भूमण्डलीय राजनीतिक व्यवस्था के प्रति योगदान करता है। अन्तर्विरोध के तौर पर, वैश्वीकरण स्थानीय स्तर पर विविधता और विभाजन को भी सही मानता है। एक चारित्रिक लक्षण के रूप में भूमण्डलीय स्तर पर सार्वभौमिक और स्थानीय स्तर पर विभाजन वैश्वीकरण को जितना समांगी बनाता है, उतना ही विरोधाभासी बना देता है।

प्रत्यक्षतः दो विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें विद्यमान भूमण्डलीकृत होने वाले विश्व मे देखा जा सकता है। प्रथम, राज्य क्षेत्रीय व्यापार और राजनीतिक समझौतों पर हस्ताक्षर करने की दौड़ में अपनी संप्रभुता को छोड़ते प्रतीत हो रहे हैं। दूसरे, विद्यमान राज्यों के भीतर स्वतंत्रता के कुछ उपायों पर दत्तचित्त होकर विभिन्न समूह अधिक संप्रभुता के लिए उत्तेजित हो रहे हैं। क्या विश्व अधिक समेकित हो रहा है अथवा इसके और अधिक टुकड़े हो रहे हैं? क्या हम और अधिक अन्तरराष्ट्रीय अथवा और अधिक स्थानीय हो रहे हैं? सभी मामलों में उत्तर स्पष्टतः स्वीकृति में मिलेगा। उत्तर अमेरिकी मुक्त व्यापार करार (NAFTA), एकमात्र यूरोपीयन बाज़ार और नवोद्भूत बहुपार्श्वीय एजेन्सी, विश्व व्यापार संगठन (WTO) सभी और अधिक समेकन के प्रति उठने वाले कदम हैं। भूमण्डलवाद के प्रति अन्तरराष्ट्रीय

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

हलचल अप्रशाम्य है। उपभोक्तावादी पूँजीवाद हमेशा विस्तार करने वाले बाज़ारों तथा सामान एवं सेवाओं का उत्पादन और उनका वितरण करने वाले हमेशा अधिकाधिक दक्ष तरीकों की अपेक्षा करता है। संक्रामी कम्पनियाँ सस्ते श्रम और कच्चे माल तथा संसाधित सामग्री के लिए अपनी तलाश में राष्ट्रीय सीमाओं के परिगमन के तरीके खोजने के लिए अधिकाधिक निपुण होती जा रही हैं।

इसी प्रकार, दक्षिण एशिया अथवा विश्व के अन्य क्षेत्रों में प्रजातीय, जाति, वर्ग, लिंग, जनजातीय और पारिस्थितिकीय समूह विद्यमान राज्यों के भीतर अधिक स्वायत्तता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। स्थानीय दावे वास्तव में भूमण्डलीय कारण बन चुके हैं। सांस्कृतिक तौर पर, व्यष्टियों अथवा समूहों के लिए राष्ट्रीय पहचान का विचार प्रजातीय, क्षेत्रीय, जाति और धार्मिक पहचान की किलेबन्दी के पक्ष में तेज़ी से समाप्त होता जा रहा है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अन्त देखें।

1) वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.3 वैश्वीकरण के आयाम

28.3.1 आर्थिक वैश्वीकरण

आज वैश्वीकरण का क्या अर्थ है? चालू संदर्भ में, आर्थिक रूप से बात करने पर इसका अर्थ है मूल्यों, उत्पादों, वेतनों, ब्याज दरों और लाभों का समांगीकरण जिससे विश्व में सभी बराबर हो जाएँ। मुक्त बाज़ार, पारदर्शिता और लचीलेपन के बहाने तथाकथित *"इलैक्ट्रौनिकी हर्ड"* में देशों में और देशों से बाहर विशाल पूँजी राशियाँ पाश्चात्य देशों के राजनीतिक और आर्थिक लाभ के लिए हस्तान्तरित होती हैं; जिससे विदेशी पूँजी आए तथा आज और कल की प्रौद्योगिकी का लाभ मिल सके।

28.3.2 राजनीतिक वैश्वीकरण

राजनीतिक शब्दों में, वैश्वीकरण का अर्थ है राष्ट्र-राज्य को इस तरीके से अभिलेखबद्ध (reorder) करना जो भूमण्डलीय एकता के अनुकूल हो। राष्ट्र-राज्यों की संप्रभुता की उम्मीद ही भूमण्डलीय स्तर की संप्रभुता के पश्चात् की जाती है। एक भूमण्डलीय राज्य व्यवस्था ही वांछित लक्ष्य माना जा सकता है। विश्व के वैश्वीकरण की प्रक्रिया में राष्ट्र-राज्य को हाशिए पर रखना सबसे बड़ी चुनौती है।

विश्व का वैश्वीकरण विधियों और विनियमनों की एक जटिल व्यवस्था द्वारा समर्थन प्राप्त है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), विश्व बैंक और अन्य अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ

(IFIs) के नियामक क्षेत्र, गैट (GATT) और विश्व व्यापार संगठन (WTO) विश्वभर में समान नीतियाँ, बाध्यताएँ और प्रतिबन्ध लागू करने के लिए एक नए विश्व शासन के रूप में तेज़ी से उभर रहे हैं। ये संस्थाएँ इस व्यवस्था को पूर्ण बनाने में निर्णायक हैं, जिससे व्यष्टि राष्ट्र-राज्यों को आबद्ध रहना है। इस प्रक्रिया का अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक आयाम यह है कि राष्ट्रीय सरकारों पर अपने कानूनों को बदलने के लिए निरन्तर दबाव डाला जा रहा है, जिससे वे भूमण्डलीय शासन की उभरती व्यवस्था में अधिक स्पर्द्धात्मक हो सकें। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक अथवा विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं के नियामक क्षेत्रों को कमज़ोर राष्ट्र-राज्यों की आपत्तियों से कभी-कभार फर्क पड़ता है।

28.3.3 वैश्वीकरण एवं संस्कृति

वैश्वीकरण की प्रक्रिया को समझने में अन्य मुख्य क्षेत्र संस्कृति है। अपने मौलिक रूप में वैश्वीकरण का अर्थ मूल्यों का सार्वभौमीकरण भी है। मूल्यों का सार्वभौमीकरण सार्वभौमिक मूल्यों के अनुसार बदलते हुए लिया जाना चाहिए। मूल्यों के सार्वभौमिकीकरण में पूर्वकल्पित है कि एक निश्चित प्रकार की भूमण्डलीय व्यवस्था हो, जिसके प्रति बदले हुए राष्ट्रों, क्षेत्रों और स्थानों के सभी मूल्यों, प्रथाओं और परम्पराओं में बदलाव किया जाना चाहिए। वैश्वीकरण मूल्यों और संस्कृतियों के निरपेक्ष समांगीकरण की माँग करता है। सांस्कृतिक भूमण्लीकरण निरन्तर स्थानीय और राष्ट्रीय संस्कृतियों को मुख्यतः पश्चिम के आधिपत्य वाली भूमण्डलीय संस्कृति के साथ समेकन करने की माँग करता है। जब हम आर्थिक वैश्वीकरण के साथ सांस्कृतिक वैश्वीकरण पर दृष्टिपात करते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवादी बाज़ार का विस्तार स्थानीय संस्कृतियों के भूमण्डलीय बदलाव की सहूलियत से स्थानीय बाज़ारों के समेकन पर लटका हुआ है/निर्भर है।

एक प्रसिद्ध समाजवादी, ऐंथानी गिड्डन्स महसूस करते हैं कि विश्व पूँजीवाद, उद्योगीकरण और आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के संदर्भ में संगठनात्मक समूह भूमण्डलीय नेटवर्क का सार्वभौमीकरण करते हैं और समय-स्थान फासले को भी बढ़ा देते हैं, जिससे स्थानीय-भूमण्डलीय अन्तरसंबंध एक जटिल समस्या बन जाता है। "तब वैश्वीकरण को विश्वव्यापी सामाजिक सम्बन्धों में वृद्धि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिससे दूरस्थ स्थल इस प्रकार जुड़ जाते हैं, ताकि स्थानीय घटनाएँ, कई मील दूर की घटनाएँ अथवा उसके प्रतिकूल नज़र आएँ"।

सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के रूप में वैश्वीकरण विश्व के सिकुड़ने और कुल मिलाकर सम्पूर्ण विश्व की चेतना के विस्तार का हवाला देता है। सूचना युग के उत्थान को भूमण्डल के आरपार संस्कृतिकरण प्रक्रिया की सहवर्ती घटना के रूप में देखा जाना चाहिए। वैश्वीकरण के सभी आयाम पर्याप्त रूप से निम्न लक्षण सम्पन्न हैं – *"सामग्री आदान-प्रदान स्थानीय होते हैं, राजनीतिक आदान-प्रदान अन्तरराष्ट्रीय होते हैं तथा सांकेतिक आदान-प्रदान भूमंडलीय होते हैं।"*

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये अंत में देखें।

1) आर्थिक अथवा राजनीतिक वैश्वीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

....

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

2) वैश्वीकरण-संस्कृति अन्तरसंबंध की जाँच करें।

....

....

....

....

....

....

28.4 राष्ट्र-राज्य और संप्रभुता

आधुनिक युग में राष्ट्र-राज्य की राजनीतिक शक्ति, सम्पन्नता के आधार को समझना और उसके सापेक्षतः संक्षिप्त इतिहास पर चर्चा करना महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र-राज्य का उन नागरिकों और शासन के रूप में वर्णन किया जाता है, जो भौगोलिक रूप से विशिष्ट सीमाओं के भीतर कार्य करते हैं। इस संयोजन को अभिनिश्चित करने के लिए राष्ट्र-राज्य को अपने नागरिकों की तरफ से स्वतःचैतन्य विश्वास की आवश्यकता है, जो सामूहिक रूप से देश की प्रदत्त जनसंख्या के मात्र ढेर/गिनती की तुलना में अधिक शक्तिपूर्ण है। राष्ट्र-राज्य नागरिक का प्रतीक है, उसे पूर्णतः संशक्तता के साथ सम्बन्धित होने का बोध कराता है। यह सिविल प्रशासन और स्वतः चैतन्य देशभक्ति के गठबन्धन की अपेक्षा करता है। राष्ट्र-राज्य अपने उन नागरिकों की आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को मूर्त्त रूप देता है जो उसमें निष्ठा रखते हैं।

28.4.1 राज्य की परिभाषा और अर्थ

समाजशास्त्रियों के बीच एक व्यापक करार हुआ है कि राज्य को किस प्रकार परिभाषित किया जाए। संयुक्त परिभाषा में तीन घटक शामिल होंगे। प्रथम, राज्य संस्थाओं का एक समूह है, जिसकी राज्य के निजी कर्मचारियों द्वारा व्यवस्था की जाती है। राज्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था हिंसा और प्रपीड़न पर काबू पाने के साधनों की संस्था है। दूसरे, ये संस्थाएँ भौगोलिक रूप से घिरे हुए क्षेत्र के मध्य में हैं, जिसका आमतौर पर एक समाज के रूप में हवाला दिया जाता है। निर्णायक तौर पर, राज्य आन्तरिक रूप से अपने उन राष्ट्रीय समाज तथा बाह्य रूप से उन विशाल समाजों की ओर देखता है जिनके बीच उसे मार्ग तय करना चाहिए; प्रायः एक क्षेत्र में उसका व्यवहार दूसरे क्षेत्र में उसके क्रियाकलापों द्वारा समझाया जा सकता है। तीसरे, राज्य का अपने क्षेत्र के भीतर कानून बनाने का एकाधिकार होता है, जिसे हम संप्रभुता कहते हैं। यह सभी नागरिकों द्वारा सहयोजित एक साझा राजनीतिक संस्कृति के गठन के प्रति अभिमुख होती है।

28.4.2 संप्रभुता

राज्य का कानून/ नियम बनाने का अनन्य अधिकार प्रायः संप्रभुता के रूप में जाना जाता है। आधुनिक विश्व और सम्पूर्ण शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के विकास में संकल्पना की धारणा

एक प्रमुख/मूल विचार है। आरंभ में, व्यवस्था बनाए रखने के लिए विधिमान्य हिंसा करना स्पष्टतः राज्य का अधिकार था। परन्तु धीरे-धीरे संप्रभु राष्ट्र-राज्य ने सामाजिक न्याय जैसी संकल्पना अपनी क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर शामिल करके अनन्य प्राधिकार के ऊपर और अधिक विधिमान्य दावे किए। इस प्रकार, नागरिकों ने अपनी समस्याओं के समाधान के लिए अपने राष्ट्र-राज्यों की क्षमता से उम्मीदें विकसित की हैं। प्राधिकार लागू करने में उद्देश्य परकता राष्ट्र-राज्यों के कार्यों को वैधता प्रदान करती है। राज्य स्वायत्त और संप्रभु होता है, और एक प्रदत्त राष्ट्रीय समाज में सार्वभौमिक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है।

28.4.3 संप्रभुता को खतरा

तथापि, राष्ट्र-राज्य बीसवीं शताब्दी के अंत में वैश्वीकरण के आने से संकटपूर्ण स्थिति में फँस गया है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य की स्वतंत्र रूप से कार्य करने की क्षमता को भूमण्डलीय स्तर पर बाह्य बलों द्वारा तथा स्थानीय स्तर पर आन्तरिक बलों द्वारा क्षति पहुँचाई गई है। इसने राष्ट्र-राज्य की तरह उसके अस्तित्व के बहु-आयामी होने की वैधता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। राष्ट्र-राज्य भूमण्डलीय समेकन और स्थानीय विघटन के बलों द्वारा बीचों बीच फँसा लिए गए हैं।

लोगों के जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रिश्ते की रचना राष्ट्र-राज्य के साथ उनका सम्बन्ध है। राष्ट्र, लोग जिनके अब तक राज्यों के साथ विशेषाधिकारपूर्ण सम्बन्ध थे, के पास ऐसे सम्बन्ध अब नहीं रहे क्योंकि राज्य निजी तौर पर न तो भूमण्डलीय शक्तियों के साथ बातचीत करने के लिए सक्षम है और न वे अपने उन नागरिकों के मध्य एकता का बोध कायम करने की स्थिति में हैं, जो अनन्य पहचान बनाकर रहना चाहते हैं। तृतीय विश्व के देश इसे अधिक गंभीरता से महसूस करते हैं, क्योंकि दोनों सीमाओं पर राज्यों की (अ) योग्यता अधिक प्रबल है। नागरिक संगठनों के नए स्वरूप तलाश कर रहे हैं, जिनमें विभिन्न तरीकों से उनकी पहचान/अस्तित्व के दावे अन्तर्ग्रस्त हैं। इसके प्रभाव कई गुने हैं। स्थानीय समुदाय जो अधिक संसाधनों की माँग कर रहे हैं, कभी-कभी देखेंगे कि उनके हित राष्ट्र-राज्यों का आश्रय लेने तथा किसी दूसरे समय उनका विध्वंश करने में अन्तर्निहित हैं। अन्तरराष्ट्रीय संगठन अधिक वैधता की माँग करेंगे और इसे सुनिश्चित करने का एक तरीका यह है कि समर्थक देशों की अपनी निजी वैधता है।

MAADHYAM IAS

विश्व शिखरवार्ताओं की हाल की स्थिति में यह समझाना पड़ेगा कि स्थानीय समुदाय किस प्रकार सीमा पार की हस्तियाँ बनने की माँग कर रहें हैं। मानव अधिकार ग्रुपों की वियाना शिखरवार्ता, महिला ग्रुपों की बीजिंग शिखरवार्ता, पारिस्थितिकी ग्रुपों की रियो शिखरवार्ता, जातिवाद के विरुद्ध डरबन शिखरवार्ता अथवा विश्व समाज फोरम, सभी प्रजाति, जाति, लिंग, पारिस्थितिक मुद्दों के आधार पर राष्ट्र की सीमाओं से परे स्थानीय समुदायों को अपने पक्ष में करने के लिए प्रयासरत हैं। वे राष्ट्र-राज्यों के दायरे से परे सामाजिक न्याय का प्रश्न उठाते हैं, और उन्हें भूमण्डलीय प्रक्रिया से जोड़ते हैं। उदाहरणार्थ, मानव अधिकारों को किसी देश के भीतर आकर्षक रिकॉर्ड किसी उधार देने वाली भूमण्डलीय एजेंसी अथवा दाता एजेंसी से ऋण, सहायता अनुदान लेने के योग्य बनने के लिए काफी बेहतर होना चाहिए, क्योंकि मानव अधिकार के रिकॉर्ड अन्तरराष्ट्रीय उधारी संव्यवहारों में एक निर्णायक मुद्दे के रूप में छाए हुए हैं। इससे पता चलता है कि राष्ट्र-राज्य किस प्रकार घरेलू और भूमण्डलीय ताकतों दोनों से कितना अधिक दबाव में है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये अंत में देखें।

1) अपने निजी शब्दों में राज्य की परिभाषा दें।

....

....

....

....

....

2) वैश्वीकरण के मद्देनज़र राज्य संप्रभुता के ख़तरों से अवगत कराएँ।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

28.5 वैश्वीकरण, राज्य और बहुराष्ट्रीय निगम

उत्पादन, वित्तपोषण और वाणिज्य के क्षेत्र में भूमण्डलीय एकता सर्वाधिक दृश्यमान है। राष्ट्रीय सीमाओं से परे कार्यरत बहुराष्ट्रीय निगम (MNCs) भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था को आधिकाधिक प्रभावित कर रहे हैं। मानकतावादी फैक्टरी-संकेन्द्रित उत्पादन जिसे राष्ट्र-राज्यों की संरक्षणात्मक नीतियों के आधार पर अपनाया गया था, से भिन्न, विद्यमान वित्तीय क्रियाकलाप जिसे मानकतावाद के बाद के विशिष्टगुण युक्त बताया गया है, बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा नियंत्रित हैं। आरंभिक अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति के असफल हो जाने से तथा तत्पश्चात् असमंजन, निजीकरण और उदारीकरण के आधार पर नई-उदारवादी सोच की भूमण्डलीय स्वीकृति हो जाने से, अन्तिम तीन दशकों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का वस्तुतः प्रसार हुआ है।

समसामयिक द्राक्षा संचयन (contemporary visage) का वैश्वीकरण सर्वाधिक दृश्यमान है और इसकी मीडिया तथा आर्थिक मोर्चे पर घोषणा की जाती है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की बढ़ती हुई संख्या का एक महत्त्वपूर्ण और वर्धमान क्षेत्र भूमण्डलीय बाजार में समेकित हो

रहा है। वित्तीय बाजार और पूँजी प्रवाह अन्तरराष्ट्रीय सीमाओं के पार जाने की स्थिति में हैं तथा इच्छामात्र से संप्रभु राज्य के नियंत्रणों को तोड़ सकते हैं। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार भूमण्डलीय उत्पादन के 20 प्रतिशत के बराबर है और प्रतिवर्ष लगभग 5 खरब डॉलर अनुमानित है। सीमा पार के संव्यवहार, प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों (FDIs) और बहुराष्ट्रीय निगमों का महत्त्व राष्ट्रों के आर्थिक भाग्य का अवनिर्धारण करने में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है और इसका अधिकांश, राज्य नियंत्रण के अनुकूल नहीं है।

पाँच सौ उत्कृष्ट अन्तरराष्ट्रीय कम्पनियाँ भूमंडलीय उत्पादन के एक विशाल और वर्धमान हिस्से के लिए उत्तरदायी हैं। वर्ष 2000 में पाँच सौ उत्कृष्ट निगमों के क्षेत्रीय वितरण से एक रोचक प्रवृत्ति का पता चलता है। निगमों की अधिकांश संख्या (56) बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्रों से जुड़ी हुई है। इससे हाल के वर्षों में अन्तरराष्ट्रीय बैंकों और वित्तीय संस्थाओं की बढ़ती हुई संख्या और वित्तीय पूँजी में चमत्कारिक वृद्धि का स्पष्टतः पता चलता है। वित्तीय क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश की युक्तिसंगतता स्पष्ट है, अर्थव्यवस्था में दीर्घकालिक निवेश की तुलना में भूमण्डलीय वित्तीय बाज़ारों में सट्टेबाजी (अव्यवहारिक) निवेशों से त्वरित लाभ उठाया जा सकता था। जहाँ तक बहुराष्ट्रीय निगमों का सम्बन्ध है, पेट्रोलियम शोधन, ऑटोमोबाइल, दूरसंचार, खाद्य और औषधि भंडार तथा इलेक्ट्रॉनिक उद्योग बैंकों का अनुसरण करते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा वर्धमान आर्थिक आधिपत्य ने भूमण्डलीय पैमाने पर निगमित शासन की स्थापना की है। यद्यपि बहुराष्ट्रीय निगम राष्ट्र-राज्य संप्रभुता को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकते जैसा कुछ क्षेत्रों में विचार किया गया है, यह निश्चित रूप से इन राज्यों के समक्ष, विशेषकर विकासशील और अविकसित देशों में नीति विकल्पों को मूर्त्त रूप दे रहे हैं। बहुराष्ट्रीय निगम अभी भी इन राष्ट्रों में अपनी प्रविष्टि के लिए राज्यों से निर्णय लेने की अपेक्षा करते हैं। राज्य को इन राष्ट्रों में इन बहुराष्ट्रीय निगमों के सुगम संव्यवहार के लिए सुविधाएं मुहैया करानी पड़ती है और राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित करनी पड़ती है। निजी तौर पर, भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था का अपने पक्ष में मोड़ देने के लिए न तो उनके पास शक्ति है और न क्षमता। अपितु, बहुराष्ट्रीय निगम समसामयिक भूमंडलीय अर्थव्यवस्था को मूर्त्त रूप देने के लिए राष्ट्र-राज्यों और अन्तरराष्ट्रीय शासकीय संगठनों के समर्थन की माँग करते हैं।

28.6 वैश्वीकरण, राज्य और क्षेत्रीयता

आर्थिक उदारवाद के प्रति इस प्रत्यक्ष परिवर्तन के राजनीतिक सिद्धांत कहीं अधिक जटिल बन रहे हैं। यदि 1980वें दशक के अन्तिम वर्षों में प्रमाणांक बाज़ारोन्मुख था, राजनीति में राष्ट्रवादी तनावों का बड़े पैमाने पर तथा विश्व अर्थव्यवस्था को समुचित रूप से प्रयुक्त व करने में संस्थाओं की कमज़ोरी का पुनः प्रवर्तन हुआ। नई राजनीतिक संरचनाओं जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे जा सके, के गठन के लिए कुछ प्रयास किए गए हैं। 1992 के अंत में यूरोपीयन संघ ने अपने बारह सदस्य देशों के भीतर एकमात्र बाज़ार की स्थापना की। इसके अतिरिक्त यह आर्थिक सहयोग के बुनियादी समर्थन से एक राजनीतिक संघ के गठन के लिए संघर्ष कर रहा है। दूरस्थ पूर्वी यूरोप की सरकारें उन योजनाओं पर विचार कर रही हैं जो, बढ़ते हुए आर्थिक गठबंधन की तरह क्षेत्र के भीतर राजनीतिक सहयोग में वृद्धि करें। संयुक्त राज्य अमेरिका जिसका कनाडा और मेक्सिको के साथ मुक्त व्यापार करार स्थापित हो चुका है, अब एफ.टी.ए. (FTA) की संकल्पना को दक्षिण अमेरिका में लागू करने के लिए तैयार है।

हाल के वर्षों में दक्षेस देशों के अनुभव से हम जितना जानते हैं, दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार करार (SAFTA) इन देशों की ओर से, उनके बीच मतभेदों के बावजूद और विशेष रूप से इससे भी अधिक, पाकिस्तान और भारत के बीच शत्रुता, एक बाध्यकारी प्रयोग बन गया है। दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार करार दक्षिण एशिया के मौद्रिक संघ से भी एक कदम आगे है। यह तथ्य कि देशों के मौद्रिक संघ की संभावना पर इस्लामाबाद में जनवरी, 2004 में आयोजित दक्षेस शिखरवार्ता में गंभीरता से विचार किया गया है, इस बात का सूचक है कि दक्षेस किस दिशा में जाना चाहता है।

इन व्यापारिक गठजोड़ों को राजनीतिक रूप देने के लिए प्रयास किए जाएँगे। विकसित और विकासशील देशों के बीच इन उदारवादी सिद्धांतों को लागू करने के प्रयास क्षेत्रीय आर्थिक निकायों की अन्यथा व्याप्ति (emergence) को आसान बना देंगे। ये क्षेत्रीय निकाय उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आर्थिक अर्थव्यवस्था के अनुरूप बहुराष्ट्रीय राजनीतिक भ्रूण के रूप में देखे जा सकते हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये अंत में देखें।

1) वैश्वीकरण के संदर्भ में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका की विवेचना करें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

28.7 वैश्वीकरण और द्वैतवाद (Dualism)

वैश्वीकरण का विभिन्न प्रकार के हित रखने वाले ग्रुपों द्वारा इतना अधिक प्रतिरोध क्यों हो रहा है? इनमें सबसे आगे पर्यावरणवादी, श्रमिक नेता, सांस्कृतिक परम्परावादी, विभिन्न आग्रहों वाले धार्मिक नेता और ग़ैर-सरकारी संगठन हैं। इससे बढ़ते हुए विरोध के बावजूद, पश्चिम के नेतृत्व और उसकी आर्थिक सम्पन्नता के साथ वैश्वीकरण असीमित गति से आगे बढ़ रहा है।

वैश्वीकरण में औद्योगिक क्रांति के बाद सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों का सर्वाधिक मौलिक विकेन्द्रीकृत पुनर्गठन अंतर्गृस्त है। फिर भी इन परिवर्तनों के गंभीर निहितार्थ शायद ही कभी गंभीरता से सार्वजनिक संवीक्षा अथवा बहस के लिए सामने लाए गए हों। विश्व की बड़े पैमाने पर पुनर्व्यवस्था के बावजूद, न तो विश्व के नेताओं, न शैक्षणिक संस्थाओं और न विशाल मीडिया ने कभी यह जानने के लिए कि जिसका सूत्रपात हो रहा है अथवा, विशेष रूप से विकासशील देशों पर इसके प्रभावों की बहुआयामिता का पता लगाने के लिए भी कोई विश्वस्त प्रयास किए हैं।

विगत दशक में, हम अप्रत्याशित घटनाओं की एक शृंखला के साक्षी रहे हैं : शीत युद्ध का अंत, बाज़ार में महत्त्वाकांक्षी सुधार जिन्हें पहले अर्थव्यवस्थाओं के रूप में नियोजित किया

गया था; और पश्चिमी यूरोप, उत्तरी अमेरिका तथा पूर्व एशिया में आर्थिक समेकन की प्रक्रिया और अधिकांश प्रमुख विक्रेताओं द्वारा संरक्षणवादी उपायों के बढ़ते हुए प्रयोग (विशेष रूप से विकासशील देशों के विरुद्ध औद्योगीकरण के बाद प्रगतिशील देशों द्वारा) की गति में तीव्रता लाना।

इसका मूल सिद्धांत प्रतिनिधिक आर्थिक वृद्धि की निरपेक्ष प्राथमिकता और अनियंत्रित मुक्त व्यापार के इर्द-गिर्द घूमता है, जिससे वृद्धि में गति लाने के लिए मुक्त व्यापार किया जा सके। मुक्त व्यापार निर्यात प्रतिस्थापना के उन अवरोधों को हटा देता है, जो आर्थिक स्वयं-संतुष्टि की प्रोन्नति के लिए अभिमुख होते हैं। यह लोक उद्यमों के त्वरित निजीकरण तथा उपभोक्तावाद की आक्रामक प्रोन्नति वाली निर्यात-आयात मूलक अर्थव्यवस्थाओं का पक्षधर है, जो भूमण्डलीय विकास के संयोजित किए जाने पर पाश्चात्य दर्शन को सही अर्थों में प्रतिबिम्बित करता है। इससे भी अधिक नए अन्तरराष्ट्रीय ढाँचे का नियामक सिद्धांत यह भी कल्पना करता है कि सभी देश तथा वे देश भी जिनकी संस्कृतियाँ उतनी विविध हैं जितनी मिश्र, भारत, चीन, इण्डोनेशिया, जापान, कोरिया, स्वीडन और ब्राज़ील की, कुछ अन्य देशों के साथ, अब अपनी उभरती हुई नौकाओं को एक साथ मिलकर चलाते हैं। इस प्रक्रिया का निबल परिणाम उन शक्तिशाली देशों को उन्मुक्त करना है, जो उत्पादों और सेवाओं में एक पाश्चात्य सांस्कृतिक एकरूपता की वृद्धि को प्रोत्साहित करते हैं। आर्थिक वैश्वीकरण विकासशील राष्ट्रों के ऊपर स्थानीय परम्पराओं को छोड़ने के लिए निरन्तर दबाव बनाए रखेगा तथा और अधिक स्वतः तुष्ट अर्थव्यवस्थाओं के विकास के लिए तत्पर कार्यक्रमों को विखंडित करेगा।

पश्चिम से इस प्रकार के दबाव का एक अच्छा उदाहरण बांग्लादेश है। बांग्लादेश में, बैंकिंग का निजीकरण कर दिया गया है और यह देश बीमा क्षेत्र में अब प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दे रहा है। बैंक जो आरंभ में ज़रूरतमंद और ग्रामीण क्षेत्र की सहायता के स्पष्ट प्रयोजनार्थ राष्ट्रीयकृत किए गए थे, निजीकरण की ओर बढ़ रहे हैं।

MAADHYAM IAS

विकासशील देशों के लिए वैश्वीकरण को अनिश्चितता के साथ आलिंगनबद्ध करना संकटपूर्ण हो चुका है। इसके नकारात्मक परिणामों की चर्चा कभी-कभार की जाती है। इसकी बजाए, आर्थिक विकास में कमी के लिए विशेष प्रकार से कुशासन, भ्रष्टाचार और पक्षपातपूर्ण व्यवहार दोषी है। वैश्वीकरण के विचार की अन्धी स्वीकृति विकासशील देशों के नज़रिए से अस्वीकार्य, नैसर्गिक और सर्वथा भयानक है।

28.7.1 विश्व का दो कैम्पों में विभाजन

वैश्वीकरण की प्रक्रिया विश्व के दो कैम्पों में विभाजन के लिए अग्रसर है। पश्चिम का तर्क है कि वैश्वीकरण का लाभ व्यापक है और इससे विकसित और विकासशील, दोनों राष्ट्रों को लाभ होता है। विकासशील देश वैश्वीकरण को अधिक संदेह की दृष्टि से देखते हैं। यदि नहीं, तो अनपेक्षित दोषदर्शिता बनी रहती है। हमें वैश्वीकरण पर उनकी सापेक्ष स्थितियों पर विचार करना चाहिए।

वैश्वीकरण के लाभों हेतु पश्चिमी दावे इस प्रकार हैं : यह (1) संस्थागत तथा व्यक्तिगत विकास दोनों प्रकार के विकास के लिए प्रचुर पूँजी निवेश मुहैया कराता है। (2) विकासशील देशों के नागरिकों को रोज़गार के बढ़े हुए अवसर प्रदान करता है (3) शिक्षा के माध्यम से जन समुदाय के कल्याण के लिए सुधार की संकल्पनाओं में वृद्धि करता है। (4) अवस्थापना विकास को गति प्रदान करता है जैसे, सड़कें, शक्ति संयंत्र और आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक संचार। (5) प्रगतिशील राष्ट्रों द्वारा विकासशील देशों को बिना किसी लागत के प्रौद्योगिकी

की व्यवस्था करता है। इस प्रक्रिया से संभवतः सार्वभौमिक तौर पर कार्यकारी शर्तें, मानक, अभिवृत्तियाँ और मूल्य समान हो जाएँगे।

इसके प्रतिकूल, विकासशील देशों का तर्क है कि वैश्वीकरण वचनबद्धता के मुकाबले प्रचुरता से काफी कम मुहैया करा रहा है। उनके अनुसार : (1) वैश्वीकरण ने विकासशील देशों को उनके द्वारा इन देशों में किए गए निवेश की अपेक्षा लाभों से अधिक धन लिए जाने के कारण पूँजी रहित कर दिया है। (2) निवेश में पूँजी अधिक लगाने की बजाए, कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ स्थानीय देनदारों से उधार लेती हैं और इस प्रकार उन दुर्लभ पूँजी संसाधनों का क्षय कर रहीं हैं, जिन्हें देश के कारोबारियाँ द्वारा उपयोग में लाया जाना चाहिए। (3) नई प्रौद्योगिकियों से लाभों की वचनबद्धता संभवतया निकट भविष्य में निराशाजनक सिद्ध होगी, क्योंकि इसके कारण होने वाली निर्भरता से विकासशील देशों में नवीनीकरण अवरुद्ध हो जाता है। (4) वैश्वीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों से विज्ञापन की एक बेहतरीन, परिष्कृत ब्राण्ड सामने आती है जो उपभोक्तावाद और विलास वस्तुओं के आयातीकरण को बढ़ावा देती है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादों और सेवाओं के विपणन में सफलता से घरेलू निवेशों जो घरेलू आर्थिक वृद्धि की जान हैं, में कमी आती है। (5) वैश्वीकरण में, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विदेशों में आर्थिक सहायता देकर व्यापार पर वाणिज्यिक प्रतिबन्धों का प्रतिकार कर सकती हैं। वास्तव में, यह उन्हें व्यापार अवरोधों पर काबू पाने, उत्पादन जारी रखने और विकासशील देशों की लागत पर लाभ कमाने की अनुमति देता है।

आज की तरह, उभरते हुए विश्व पूँजीवाद के किन्हीं पूर्ण विकल्पों के लिए बहुत ही कम आशा प्रतीत होती है। विश्व व्यापार संगठन जैसी बहुपार्श्वीय संस्थाओं के उभरने से, प्रत्येक देश वस्तुतः विश्व अर्थव्यवस्था में फँस गया है और धीरे-धीरे अपनी अर्थव्यवस्था को मुक्त कर रहा है। मैक्सिको जैसे देश जो एक दशक पहले राज्य के नियंत्रण और स्वामित्व पर विश्वास रखते थे, बुरी तरह से निजीकरण कर रहे हैं। थाइलैण्ड अपने बजट का संतुलन बना रहा है; पेरु टैरिफ दर कम कर रहा है। दक्षिण एशियाई क्षेत्र में भी देश, जिन्होंने नब्बे के दशक के प्रारम्भ में यद्यपि विलम्ब से शुरुआत की थी, उत्तरोत्तर उदारीकरण को अपनाए जा रहे हैं और अपनी अर्थव्यवस्थाओं को मुक्त कर रहे हैं। बीसवीं शताब्दी का आर्थिक उदारवाद निजी स्वामित्व, कारोबार में राज्य के लिए घटती हुई भूमिका, न्यूनतर व्यापार अवरोध, करों में कमी, और प्रदत्त आर्थिक व्यवस्था में सर्वाधिक दक्ष वितरक के रूप में बाज़ार पर आम विश्वास के लिए उत्तरदायी है।

वैश्वीकरण को समझने की समस्या उसके उस द्वैतवाद में सन्निहित है, जो विद्यमान अर्थ-व्यवस्था को नियंत्रित करता है। यदि वैश्वीकरण एकीकृत विश्व का हवाला देता है, यह भी उतना ही सत्य है कि विश्व दो असमय हिस्सों – गरीब और अमीर, *राष्ट्रों* में उत्तरोत्तर विभाजन की ओर अग्रसर है, जिसमें अधिक प्रगतिशील पाश्चात्य राष्ट्र तथाकथित मुक्त व्यापार और नई भूमण्डलीय व्यवस्था द्वारा वकालत की गई मुक्तता का लाभ उठा रहे हैं। राष्ट्रीय सीमाओं का भेदन उन्नत देशों के पक्ष में कार्य कर रहा है। इस दुवृत्त अर्थव्यवस्था के भिन्न-भिन्न देशों के लिए भिन्न-भिन्न निहितार्थ हैं। कई गहन अध्ययनों से पता चलता है कि असमानता और न्याय के मुद्दे उभरती हुई भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक चिन्ता का विषय बनने जा रहे हैं।

जैसी कि ऊपर चर्चा की गई थी, वैश्वीकरण ने राष्ट्र-राज्यों को, विशेष रूप से तृतीय विश्व में, आर्थिक, सांस्कृतिक और सांस्कृतिक रूप से प्रभावित किया है। पश्चिम के वर्चस्व में अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार व्यापार की शर्तों पर बातचीत करने के लिए दक्षिण देशों (गरीब देशों का पर्यायवाची) के लिए बहुत कम गुंजाइश छोड़ता है। यद्यपि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के

MAADHYAM IAS

क्रियाकलाप सीमाओं से परे हैं, तथापि उनके हित आज भी उनके पैत्रिक देशों से जुड़े हुए हैं जो अक्सर उन्नत पश्चिमी देश हैं। बहुराष्ट्रीय निगम अपने हितों में इतने बहुराष्ट्रीय नहीं हैं।

सूचना युग के आने से, विश्व सिकुड़कर जैसा कि मार्शल मैकलुहान ने कहा है, एक भूमण्डलीय गाँव बन गया है जहाँ राजनीतिक और सांस्कृतिक अर्थों में, राष्ट्रीय सीमाओं में और अधिक रन्ध्र (porous) हो गए हैं। इस प्रकार, और अधिक पराजेय तृतीय विश्व पर पश्चिम द्वारा राजनीतिक और सांस्कृतिक घातक प्रहारों के बारे में इससे और अधिक व्यग्रता तथा सजीव चिन्ताएँ प्रस्तुत होती हैं। नई सूचना के साथ संयोजित होकर भूमण्डलीय आर्थिक व्यवस्था से उन्नत देशों में राष्ट्र-राज्य को मज़बूत होने तथा तृतीय विश्व में राज्य के कमज़ोर होने की संभावना है। यह द्वैतवाद और विरोधाभास उभरती हुई भूमण्डलीय व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य को विशिष्ट लक्षण देने जा रहे हैं।

बोध प्रश्न 5

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये अंत में देखें।

1) विकसित और विकासशील राष्ट्रों के संदर्श से वैश्वीकरण की विवेचना करें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.8 एक मूल्यांकन

भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता के सापेक्ष पतन से प्रमुखतः तृतीय विश्व के देशों में जहाँ राज्य की अपेक्षाएँ बहुत उत्कृष्ट हैं तथा राज्य की क्षमताएँ कम हैं, एक लोकतांत्रिक पराभव (deficit) पैदा हो रहा है। नागरिक उन मुद्दों पर जिनके ऊपर राज्य का कोई स्वायत्त नियंत्रण नहीं है, अपनी राष्ट्रीय सरकारों को उत्तरदायी बनाए हुए हैं। अपने नागरिकों द्वारा वाहित निष्ठा के प्रति प्रबल बोध जो उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष से विकसित हुआ, राष्ट्रीय सरकारों की स्वायत्तता के पतन के अनुरूप कमज़ोर नहीं हुआ है। 'भूमण्डलीय गाँव' के आगमन के बावजूद व्यष्टि अभी तक उभरते हुए परमराष्ट्रीय निकायों जैसे 'यूरोपीयन संघ' के प्रति बहुत कम निष्ठा महसूस करते हैं। यह कुल मिलाकर ऐसे परमराष्ट्रीय निकायों के प्रति दक्षिण में नागरिकों की सम्बद्धता की और अधिक दूरगामी उम्मीद है। इसी प्रकार, एक राष्ट्र के भीतर राज्य की तरह नागरिकों की वफादारी पर भलीभाँति नियंत्रण रखने के लिए उभरती हुई पहचानों की कल्पना करना कठिन है। फिर भी हम देख सकते हैं कि तृतीय विश्व में लोकतांत्रिक पराभव बड़े पैमाने पर तनाव पैदा करने जा रहा है। वैश्वीकरण पश्चिम की अपनी अन्याय व्यवस्था की तुलना में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मुकाबलों पर तृतीय विश्व पर और अधिक कष्टकारी तनाव कायम रखता है।

भूमण्डलीय प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप न तो राष्ट्र और न ही राज्य गायब होने वाले हैं। शुरुआती तौर पर ऐसी कोई प्रतिस्थानी संरचना नहीं है, जो राष्ट्र-राज्य से जुड़े हुए सभी परम्परागत कार्यों को सम्पन्न कर सके। इसी के साथ लोक राज्य-संकेन्द्रित राष्ट्रीयवाद को पूर्णरूपेण छोड़ने को तैयार नहीं है, क्योंकि राष्ट्रीयवाद ऐतिहासिक रूप से अंतःस्थापित है और सांस्कृतिक रूप से अनुभव किया जाता है। फिर भी इसे नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि पहचान के लिए राज्य का विखंडन राष्ट्र-राज्य का प्रतिस्थायी नहीं हो सकता है। निष्ठा के अर्थ बदल रहे हैं और अनिवार्यतः परिणामस्वरूप विविध वफादारियाँ दृष्टिगोचर होगीं। निश्चित तौर पर, यद्यपि राष्ट्र-राज्य गायब नहीं होगा, परन्तु इस तरीके से नहीं होंगे जैसे ये अब हैं। नागरिकों की निष्ठा के स्वरूप और स्थितियों में बदलाव आएगा।

बोध प्रश्न 6

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) वैश्वीकरण की वर्तमान और भावी प्रकृतियों पर समालोचना लिखें।

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.9 सारांश

इस इकाई में, आपने वैश्वीकरण के संदर्भ में राज्य के बारे में अध्ययन किया है। दोनों शब्दों की परिभाषा/अर्थ को समझाया गया है। भूमंडलीकरण के विभिन्न आयामों, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक – को स्पर्श किया गया है। वैश्वीकरण की स्थिति में राज्य संप्रभुता की आशंकाओं पर इस इकाई में विस्तार से चर्चा की गई है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका पर भी चर्चा की गई है। इस इकाई में, वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप विश्व के दो कैम्पों में बँट जाने के निहितार्थों का भी उल्लेख किया गया है। आशा की जाती है कि अब आप शब्द वैश्वीकरण को उसके अनेक सूक्ष्म भेदों, विशेष रूप से आधुनिक राज्य के साथ उसके अन्तरसंबंध को भलीभाँति समझ पाएँगे।

28.10 कुछ उपयोगी संदर्भ

अप्पादोराई, अर्जुन, *माडर्निटी एट लार्ज : कल्चरल डाईमेन्शन्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन*, मिनियापोलिज़, मिनेसोट्टा, 1996।

गिडेन्स, ऐन्थनी, *कॉन्सेक्यून्सेन्स ऑफ मॉडर्निटी*, कैम्ब्रिज, पॉलिटी, 1990

28.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 28.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप-भाग 28.3.1 और 28.3.2

2) देखें उप-भाग 28.3.3

बोध प्रश्न 3

1) देखें उप-भाग 28.4.1

2) देखें उप-भाग 28.4.2 और 28.4.3

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 28.5

बोध प्रश्न 5

1) देखें भाग 28.7 एवं उप-भाग 28.7.1

बोध प्रश्न 6

1) देखें भाग 28.8

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 29 धर्मनिरपेक्षता

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य

29.1 परिचय

29.2 धर्मनिरपेक्षता के लिए भारतीय आवश्यकता का बोध और उसके बारे में बहस

29.3 धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य संदर्भ

29.4 भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यकता का ऐतिहासिक समाजशास्त्र

29.4.1 ढाँचागत परिवर्तन : आधुनिकीकरण और उसके परिणाम

29.4.2 सामाजिक जीवन के संगठन में परिवर्तन

29.5 भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का उचित स्वरूप

29.5.1 सभ्यतामूलक मतभेद

29.5.2 भारत में अव्यवहार्य पाश्चात्य पृथकीकरण

29.5.3 पृथकीकरण का सिद्धान्त : भारतीय संदर्भ में पुनः आकलन की आवश्यकता

29.5.4 पुनः आंकलित समाधान : सैद्धान्तिक दूरी

29.6 सारांश

29.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

इस पाठ में हम निम्न मुद्दों पर चर्चा करेंगे :

- धर्मनिरपेक्षता को समझने का कौन सा तरीका/दृष्टिकोण श्रेयस्कर है?
- धर्मनिरपेक्षता का भारतीय संदर्भ क्या है?
- तनावों पर काबू पाने में परम्परा क्यों असमर्थ हो रही है?
- भारत में धर्मनिरपेक्षता की जड़ें किस प्रकार जम रही हैं?
- क्या धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य स्वरूप भारत को लागू होता है?
- भारत में संक्रमण (Transition) की क्या कठिनाइयाँ हैं?
- भारत में धर्मनिरपेक्षता का उचित स्वरूप क्या है?
- ऐसा क्यों उचित है?

आशा की जाती है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप उपरोक्त प्रत्येक मुद्दे पर सही उत्तर देने की स्थिति में होंगे।

29.1 परिचय

यदि हम व्यापक विश्व के संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा की तलाश करेंगे, तो सर्वाधिक स्वीकार्य एक परिभाषा इस प्रकार होगी : यह एक सिद्धान्त है जो धर्म के राजनीति से पृथकीकरण के पक्ष में तर्क देता है (इसे भारत में धर्मनिरपेक्षता कहते हैं)। यहाँ प्रमुख शब्द पृथकीकरण है। ऊपरी तौर पर, यह एक सामान्य, आसान सिद्धान्त प्रतीत होता है।

MAADHYAM IAS

परन्तु इसकी सूक्ष्म जाँच से पता चलेगा कि ऐसा नहीं है। पृथकीकरण के कई जटिल अर्थ हो सकते हैं। यदि हम इसका एक ही अर्थ बनाए रखेंगे तो वह मुश्किल में डाल सकता है। विभिन्न समाजों में इसका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। भारतीय मामले में विषमताएँ अपूर्व हैं। हम यह प्रदर्शित करने की कोशिश करेंगे कि धर्मनिरपेक्षता का भारतीय स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि पृथकीकरण को किस प्रकार समझें।

29.2 धर्मनिरपेक्षता के लिए भारतीय आवश्यकता का बोध और उसके बारे में बहस

इन्हें समझने के लिए हमें इन प्रश्नों के साथ शुरुआत करनी चाहिए : धर्मनिरपेक्षता के लिए भारतीय आवश्यकता को समझना कितना श्रेयस्कर है और उसके बाद में बहस? यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षवाद विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में सबसे प्रथम उभरी हुई एक संकल्पना, सिद्धान्त और प्रथाओं के रूप में है नामतः, पश्चिम में। यह मात्र पिछले 100 वर्षों में, इसमें भी 1950 में संविधान को अपनाए जाने से 50 वर्षों में हुआ है कि धर्मनिरपेक्षता भारतीय समाज में विवाद का विषय बन गया है। और पिछले 10-15 वर्षों में, यह गंभीर विवादों और संघर्षों का मामला भी बना है। भारत के मामले में, क्योंकि यह आधुनिक विचारों के विकास के इतिहास और उनके वास्तवीकरण में विलम्ब से शामिल हुआ, हमें दो प्रकार के प्रश्नों पर विचार करना है। ये प्रश्न हैं : हमें धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता क्यों है? भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का सुसंगत स्वरूप क्या हो सकता है? और यह प्रथम प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि भारत में बौद्धिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के सक्रियतावादी लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो यह विश्वास और तर्क करता है कि हम धर्मनिरपेक्षता के बिना भी काम चला सकते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उनका तर्क इस प्रकार होता है : हमारी परम्पराएँ बहुवादी और लचीली हैं और इस प्रकार वे सहिष्णुता का बेहतर संसाधन हो सकती हैं : यह हमारे निजी इतिहास में हमारा संसाधन है। अतः हमें अपने समाज पर एक विदेशी संकल्पना, धर्मनिरपेक्षवाद को आरोपित करने की आवश्यकता नहीं है। जब हम सभी सहमत हैं कि हमारी परम्पराएँ बहुवादी और लचीली हैं, हमें यह समझने की ज़रूरत है कि यह सोच कि भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता नहीं है, अति त्रुटिपूर्ण है क्योंकि ये बहुवादी परम्पराएँ विद्यमान परिस्थितियों में लोकतंत्र को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती हैं।

29.3 धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य संदर्भ

उपरोक्त दो प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि धर्मनिरपेक्षता अथवा पाश्चात्य संदर्भ के मूल पर विचार किया जाए। इस तरीके से हमारे सामने ऐतिहासिक मतभेदों की एक तस्वीर उभरकर आएगी, जिससे इन प्रश्नों के संभावित उत्तर दिए जा सकते हैं। यूरोप के इतिहास में अनेक वस्तुएँ अथवा परिस्थितियाँ हैं जिनमें से बोधगम्यता के दो सिद्धान्त धर्मनिरपेक्ष विचार के सम्बन्ध में उभरते हैं। यूरोप ने मध्यकालीन युगों और 17वीं शताब्दी के मध्य तक रोमन कैथोलिक गिरजाघर और तत्कालीन राज्यों (संस्था के रूप में राज्य) के बीच सर्वोच्चता के लिए एक प्रमुख संघर्ष देखा। इन उच्चस्तरीय संगठित और शक्तिशाली दोनों प्रकार की, दो प्रमुख संस्थाओं के बीच सर्वोच्चता के लिए संघर्ष, गिरजाघर बनाम राज्य विवाद के रूप में जाना गया है। तब, प्रतिवादी मत (Protestantism) के उत्थान (रोमन कैथोलिक के पोप के विरुद्ध उपदेश करने वाले लूथर और कैल्विन के साथ) के समय 16वीं शताब्दी के मध्य से रोमन कैथोलिक गिरजाघर और प्रोटेस्टेंट मत के बीच असहिष्णु विवाद की स्थिति पैदा हुई। यह विवाद आगे चलकर 17वीं शताब्दी के प्रारंभ में

दोनों के बीच एक प्रमुख युद्ध में बदल गया जो 30 वर्षों के लम्बे समय तक चलता रहा जिसमें यूरोप भर में करोड़ों लोगों की हत्या तथा अपंगता हुई। इसे 30 वर्ष वाले युद्ध अथवा कट्टरपंथी युद्ध के नाम से जाना गया। यह युद्ध वेस्टफेलिया की संधि के साथ समाप्त हुआ, जो दो युद्धरत ग्रुपों के बीच 'आरजी समझौते' (ऐसा करार जिस पर संघर्षरत दलों के हित पूरे हो सकें) के बाद हो पाई थी। यह आरजी समझौता (Modus Vivandi) धीरे-धीरे आगे चलकर राजनीतिक व्यवस्था के एक सिद्धांत (हाब्बस, डेस्कार्टस, लॉक एट अल के लेखन को पढ़ें) में बदल गया और इसका राजनीतिक वर्ग में प्रसार किया गया। धर्मनिरपेक्षवाद एक ऐसा सिद्धांत बना जो राज्य और गिरजाघर के बीच पृथकीकरण की स्पष्ट व्यवस्था देता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात धर्म का व्यक्तिगत मामले में परिवर्तन था जो उस समय पृथकीकरण सिद्धांत के प्रवर्त्तन में व्याप्त रहा। प्रोटेस्टेंट आन्दोलन के बीच, कई गिरजाघर उभर रहे थे जिनके अपने विशिष्ट सिद्धांत तथा प्रबल अवधारणाएँ थी। यह स्वीकार किया गया कि कोई भी इस बात पर आपत्ति नहीं करेगा कि विशेष व्यक्ति किस गिरजाघर से सम्बन्ध रखता है। विश्वास किसी की अन्तरात्मा का मामला था जो व्यष्टि का कुछ सीमा तक व्यक्तिगत तथा निजी मामला था। (स्वगत as an aside) के रूप में, अन्तरात्मा के मामले में दखलन्दाजी न करना इस प्रकार अधिकारों के सिद्धांत की एक बुनियाद बन गया, दूसरी बुनियाद सम्पत्ति की अलंघ्यता बनी)। एक व्यक्ति विशेष के निजी मामले के रूप में अन्तरात्मा के सिद्धांत के साथ एक तरफ गिरजाघर/धर्म तथा दूसरी तरफ राज्य/राजनीति को रखने का सिद्धांत एक मत के रूप में धर्मनिरपेक्षता के उदय का आधार बना। दूसरे शब्दों में, धर्म को सार्वजनिक कार्यों और नीति निर्माण से अलग रखना था जो राजनीति और राज्य का अनन्य क्षेत्र था।

यह सुस्पष्ट है कि कोई भी पाश्चात्य अनुभव से कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं ले सकता, क्योंकि भारत में कभी भी कोई गिरजाघर अथवा शक्तिशाली संघटित राज्य नहीं था। मौर्य अथवा मुगल साम्राज्य विषयांतरक (episodic) थे; अर्थात् ऐसी अवस्था सतत मौजूद नहीं थी। इस प्रकार, गिरजाघर और राज्य के बीच टकराव का विचार भारतीय सभ्यता के लिए विदेशी है। हमारे संदर्भ और ऐतिहासिक सम्पदा बहुत भिन्न हैं। इसीलिए धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता और उसका मार्ग अवश्यमेव भिन्न होगा। परन्तु अन्तरात्मा के सिद्धांत के महत्त्व का, यद्यपि भिन्न तरीके से, इनकार नहीं किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में, पश्चिम के ऐतिहासिक संदर्भ की दृष्टि से क्या विशिष्ट है?

....

....

....

....

....

....

2) यह संदर्भ भारत के लिए क्या सुझाव देता है?

....

....

....

....

....

....

29.4 भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यकता का ऐतिहासिक समाजशास्त्र

हमारा धर्मनिरपेक्षवाद प्रमुखतः दो बुराइयों के विरुद्ध निर्देशित है; प्रथम, विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच धार्मिक टकराव और उसका अतिरेक स्वरूप जैसे साम्प्रदायिक हिंसा और दंगे, और दूसरे, राज्य पर अधिभावी धार्मिक समुदायों का ख़तरा जिनमें से प्रत्येक के पास 'बेहतर जीवन' का अपनी निजी दृष्टिकोण होता है, जो दूसरों के लिए भी वैध हो। दोनों 18वीं शताब्दी के दूसरे अर्द्धशतक में एक समस्या के रूप में उभरे। कभी-कभी ये ग़ैर अनुपाती रूप से महत्त्वपूर्ण बने तथा अन्य समय पर, महत्त्वहीन रह गए। परन्तु अन्तिम 20 वर्षों में, इन दोनों प्रवृत्तियों में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है, जिससे भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण रेशे को भी खतरा पैदा हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर हमें भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता क्यों हुई के ऐतिहासिक समाजशास्त्र के विषय में बतायेगा। इस कहानी पर कुछ विस्तार से चर्चा करना ठीक रहेगा।

MAADHYAM IAS

भारत के उपनिवेशी शासन के अधीन आने के बाद, भारतीय समाज में परस्पर सूक्ष्मता से जुड़े हुए दो परिवर्तन हुए। एक ढाँचागत परिवर्तनों के स्वरूप से संबंधित था तथा दूसरा, हमारे संगठित सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ था। दोनों के दूरगामी परिणाम थे।

29.4.1 ढाँचागत परिवर्तन : आधुनिकीकरण और उसके परिणाम

पहले आधुनिकीकरण पर चर्चा करें यथा नागरिक सम्पत्ति, व्यापक व्यापार, उद्योग, शहरी जीवन, पूँजी संचयन, आधुनिक (अधार्मिक) शिक्षा आदि। उपनिवेशी आधुनिकीकरण अत्यधिक शोषणकारी था जिससे क्षेत्रों और समुदायों के बीच असमान विभाजन हुआ, तथापि, इसके कारण विभिन्न भागों में व्यवसायों/रीति-रिवाजों के संहिताकरण और उनके अनुप्रयोग से देश का आर्थिक समेकन, समान प्रशासनिक नियंत्रण हुआ तथा सांस्कृतिक सद्भाव में वृद्धि हुई। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। इससे भारत तथा भूमण्डलीय ढाँचागत स्थितियों में अधिकाधिक समानता आ रही थी। इससे व्यष्टीयन की प्रक्रिया आरंभ हुई, अर्थात् समुदायों के भीतर व्यक्ति शनैःशनैः व्यष्टि बनते जा रहे है (जैसा कि हमारे पाश्चात्य समाजों में है)। ये दोनों विकास साथ-साथ मिलकर नई मानसिक क्षमताओं का आधार बने। एक उदाहरण लें, विश्व में किसी जगह से विचारों की सापेक्षता प्रकट हुई। हम सभी इस बात से अवगत हैं कि व्यक्ति की समानता, अधिकारों और प्रतिष्ठा आदि के विचारों ने भारत में लोगों के अधिकार को किस प्रकार उतना ही पोषण किया, जैसा कि विश्व में किसी अन्य जगह पर वे दूसरों के प्रति हैं। ऐसा हमारे सामाजिक जीवन में समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों के मुद्रण का विकास, उनका बढ़ता हुआ महत्त्व और

उनकी लोकप्रियता से देखा जा सकता है। मुद्दे उठते हैं और उन पर गर्मागर्म बहस होती है। चर्चाओं का विस्तार मात्र प्रतिष्ठित व्यक्तियों के स्तर तक ही नहीं है, अपितु विभिन्न लोकप्रिय स्तरों पर भी है। कोई भी विचारों को विदेशी अथवा भारतीय मूल के आधार पर विभक्त नहीं करता। वे इन विचारों पर नए, हितकारी और भारतीय समाज के लिए सुसंगत होने के कारण बहस करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रत्येक आदमी एक-दूसरे से उत्तेजना में बातें कर रहा है।

दूसरे, इसके परिणामस्वरूप एक बड़ी संख्या में व्यक्ति जो पहले कर्मकांडी स्थिति और धार्मिक विश्वासों के समुदायों के भीतर आबद्ध थे, इन बंधनों को छोड़ते जा रहे हैं। यही कारण है जिससे हम कहते हैं कि नए प्रकार के लोगों अर्थात् जन समुदायों का सृजन हुआ था। इससे कई उलझने सामने आईं। जन समुदाय लोगों का मात्र अभेदीकृत (undiffe rantiated) समूह नहीं था। इसके विभिन्न ढाँचागत स्वरूप प्रकट हुए, जैसे नए वर्गों का गठन, नामतः, पूँजीवादी और कार्यकर्ता, आधुनिक ज़मींदार और किसान तथा भूमिहीन कृषिक श्रमिक, पेशेवर ग्रुप जैसे वकील, लेखाकार और डॉक्टर आदि। इसके भारतीय जीवन में सामाजिक रचना पर चिरस्थायी प्रभाव पड़े हैं। ऐसा नहीं है कि पुरानी शैली के आधुनिकता से पहले के समुदाय, जैसे जातियाँ अथवा छोटे-छोटे धार्मिक ग्रुप अस्तित्व में नहीं रहे, अपितु उनके आंतरिक स्वरूप में अत्यधिक परिवर्तन आ गया। ये आय और निपुणता के आधार पर विभेदीकृत हुए, जैसा पहले नहीं था। इन समुदायों में, जो एक-दूसरे को धकियाते थे, नए हित उभरे। पहले समुदाय बिना किसी प्रतिस्पर्द्धा के अगल-बगल में रहते थे और उसी स्थिति में जिसमें वे रहते थे, अपनी स्थानीय स्वायत्तता का पूर्ण आनन्द लेते थे। वह स्थानीय स्वायत्तता शिथिल होने लगी और आज यह गायब हो गई है।

29.4.2 सामाजिक जीवन के संगठन में परिवर्तन

सामुदायिक सीमाओं को बड़े पैमाने पर पुनः खींचने के प्रयास तथा आधुनिक विश्व के दृष्टिगोचर विध्वंस का मुकाबला करने के लिए उनमें एकता बनाने तथा उसी प्रक्रिया में समुदायों के लिए लाभ अर्जित करने के प्रयास भी किए गए। आधुनिकता का विरोध और अपने हितों/लाभ के लिए सौदेबाजी करना, विरोधात्मक रूप से, एक ही सिक्के के दो पहलू थे और हैं। इन परिवर्तनों का परिणाम समाज में और अधिक शिथिलतापूर्ण विविधता नहीं थी, यह स्वयमेव आंशिक प्रतिक्रिया के साथ जीवित था। अब इसने अपने एकमात्र विकल्प के रूप में आधुनिकता को मुकाबले पर पाया। इस ख़तरे पर काबू पाने और स्वयं की रक्षा के लिए, अनेकानेक समुदायों जिनमें से प्रत्येक अलग-अलग तरीकों से विशाल परम्पराओं से जुड़ा हुआ था, ने भी सामाजिक हित के लिए विभिन्न विचार प्रस्तुत किए। अच्छाई की इन धारणाओं में से प्रत्येक धारणा एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, अपितु अच्छाई की संकल्पना आधुनिकता में भी सन्निहित थी और जिसका उपनिवेशी लूट-खसोट द्वारा विध्वंस कर दिया गया था।

अनेक समुदायों जिनमें से प्रत्येक न्यूनतम अन्तःक्रियाओं के साथ रहता था, का खुशहाल सहअस्तित्व यद्यपि मित्रवत् समझ के कारण था, आगे बना रह सकता था, निश्चित नहीं था (जैसा कि आदिकाल में था)। यह लोगों की वंशानुगत क्षमताओं, जिनसे वे अन्तर-व्यक्ति, अन्तर-समुदाय और अन्तःसमुदाय सम्बन्धों को बनाए रखते थे, पर अत्यधिक दबाव का कारण था। यह नई सामाजिक व्यवस्था में सत्ता में साझेदारी के लिए संघर्ष के साथ-साथ उपनिवेशी अर्थव्यवस्था जो उस समय मूर्त्त रूप में थी, की स्थापना और प्रशासन द्वारा उत्पन्न नई प्रतिस्पर्द्धा के अलावा घटित हुआ। इस स्थिति के लिए विभिन्न स्थितियों वाले विश्वों के बीच मतों और विचारों के विनिमय तथा अपसृत हितों और अच्छाई के विविध विचारों के अधिनिर्णयन के लिए अन्तर्वादियों (interlocutors) की आवश्यकता थी। सफल

MAADHYAM IAS

मध्यस्थता के लिए या तो अनेक समुदायों से बाहर रह रहे लोगों की अथवा उनकी आवश्यकता थी, जो इन समुदायों जिनमें से प्रत्येक अधिकाधिक एकीकृत तथा स्वाग्रही हो रहा था, की सीमा से परे सोच सके। पुरानी शैली का वार्तालाप जो स्थानीय स्वायत्ता का उपभोग करने वाले आसन्न समुदायों के बीच हुआ करता था, लोगों के बीच कायम नहीं था। लोग एक-दूसरे से अधिकाधिक दूर होते जा रहे थे और वस्तुओं की उस विश्व से माँग कर रहे थे जो पुरानी शैली के संव्यवहारों से अपरिचित था। यह सब परम्परागत रूप से स्वतःनिर्मित संसाधनों, जिनमें सहिष्णुता और पारस्परिक संरक्षण के उपाय शामिल हैं, के बीच खाई खोदने के लिए था। इन भिन्न-भिन्न स्थिति वाले विश्वों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दावा करने वाले उनके द्वारा किए गए करार अथवा उपलब्ध ज्ञान हमेशा नाजुक और अस्थायी सिद्ध हुए। दूसरे शब्दों में, अन्तर्वादियों के प्रयासों से वार्तालाप द्वारा हुए सौदे, विशेष रूप से सामाजिक संक्रमण की स्थितियों में, अन्तिम (provisional) स्वरूप वाले होते हैं।

यह ऐसी स्थिति है, जिसमें आसन्न (adjacent) समुदायों के बीच पुरानी शैली का वार्तालाप सफल नहीं होता और अन्तर्वादी अपेक्षित कार्य के लिए विषम हो जाते हैं। अतः, अच्छाई के इन सभी साम्प्रदायिक आधार वाले स्पर्धात्मक विचारों से कुछ अन्यथा अपेक्षित था, उसी समय अच्छाई एवं हितों की स्पर्धात्मक धारणा की मौजूदगी में मध्यस्थता करने के लिए एक मूल्य और व्यवस्था की भी आवश्यकता थी। इस स्थिति के अन्तःस्थित दबावों ने उस आवश्यकता को बढ़ावा दिया, जिसे अब 'शासन के धर्मनिरपेक्ष सिद्धांत' (secular doctrine of govervance) के रूप में जाना जाता है। इसकी सबसे अलग इसलिए अपेक्षा थी, ताकि सार्वजनिक जीवन में कार्य करने के लिए इस तरह से स्थिति की तलाश की जाए जिससे अच्छाई की, स्पर्धात्मक और प्रायः असमाधेय (irreconciliable), धारणाएँ लोगों के मध्य सार्वजनिक अन्तरक्रियाओं की प्रत्येक स्थिति को निष्प्रभावी न कर पाएँ। धर्मनिरपेक्ष होने का कुछ तरीका, अच्छाई की इन स्पर्धात्मक धारणाओं से कुछ इतर तथा दूर पर रहने का सिद्धांत समाज के कई महत्त्वपूर्ण चौराहों पर मूर्तिमान बदलावों के भीतर उत्पन्न एक आवश्यकता थी। इसीलिए कोई भी तर्क दे सकता है कि 'धर्म निरपेक्षवाद' का सिद्धांत एक आन्तरिक रूप से प्रवर्तित उभराव है और इस प्रकार हमारी रुचियों की ओर ध्यान दिए बिना अपनी मौजूदगी का अहसास कराता है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

अब यह सुस्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षवाद की आवश्यकता आन्तरिक सामाजिक रिश्तों और मूलभूत स्वरूप में बदलावों के भीतर और बाहर उद्भूत हुई। यदि एक नए सिद्धांत अथवा मूल्य, अवधारणा चाहे यह धर्म निरपेक्षता हो अथवा अधिकार हों अथवा समानता हो अथवा कुछ भी हो, की आवश्यकता एक समाज के भीतर उद्भूत होती है, तब यह स्पष्ट होना चाहिए कि धारणा अथवा सिद्धांत न तो विदेशी है और न इसे एक अधिरोपण (imposition) के रूप में लिया जा सकता है (जैसा कि नन्दी और मदान तथा चटर्जी सोचते हैं)। एक विश्व में जो ऊपर उल्लिखित प्रक्रियाओं के कारण अधिकाधिक समान होता जा रहा है, कतिपय सिद्धांत अथवा मूल्य और धारणाएँ जिनके माध्यम से इनकी अभिव्यक्ति होती है, हमारे जैसे समाजों में अपनी जड़ जमाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह उनकी आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण हैं, चाहे वे पश्चिम में मौलिक रूप से विद्यमान हों।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) भारत में धर्मनिरपेक्षवाद की आवश्यकता के ऐतिहासिक समाजशास्त्र की विवेचना करें।

29.5 भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का उचित स्वरूप

ऐसा मामला होते हुए, हमें यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि हम एक निश्चित (settled) समाज नहीं हैं, जैसे फ्रांस अथवा जर्मनी; हम संक्रमण स्थिति में हैं और इसीलिए, इसका अर्थ है कि हमें किस प्रकार का धर्म निरपेक्षवाद चाहिए, इस चरण के विशिष्ट लक्षणों द्वारा ही निर्देशित होगा। यहाँ पुराने समाज की सामाजिक संरचना, विश्वास और मानदण्ड, यद्यपि अभी भी मौजूद हैं, तीव्रता से बदल रहे हैं अथवा नए लक्षणों को मार्ग दे रहे हैं। हम दो उदाहरण लेते हैं। हमारी वैवाहिक व्यवस्था में, सजातीय विवाहों का क्षेत्र तेज़ी से बढ़ रहा है और कई मामलों में पसन्द का घटक शनैः-शनैः प्रवेश कर रहा है। लोग पूरी तरह पुराने, धार्मिक रीति-रिवाज़ों अथवा कर्मकाण्डों से अधिक समय तक विनियंत्रित नहीं होना चाहते। वे जो कुछ इच्छा करते हैं, उसके लिए संरक्षण चाहते हैं। एक अन्य उदाहरण में, हम अपनी जाति की पंचायतों के निर्णयों से और अधिक शासित नहीं होना चाहते। बजाए इसके हम निर्वाचित पंचायत को प्राथमिकता देते हैं। लोग जाति अथवा कर्मकाण्डी प्रास्थिति से अविभूत नहीं होना चाहते हैं, जैसा पुरानी जाति पंचायत के कार्यचालन में संभव है।

MAADHYAM IAS

यदि हम इन दोनों और ऐसी अन्य बातों को दिमाग में रखते हैं (हम कई और अधिक के बारे में सोच सकते हैं), यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वे परिस्थितियाँ हैं जहाँ अनेक प्रकार के नए संघर्ष और सामाजिक माँगें उभरती हैं। मैं यहाँ इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि संक्रमण की सभी स्थितियाँ वे स्थितियाँ भी हैं। जहाँ नए संघर्ष प्रचुर हैं और ये संघर्ष नए और पुराने अथवा इनके द्वारा उत्पन्न विवादों और अनिश्चितताओं के बीच हैं। परम्परागत धारणाओं पर आधारित कार्य करने, संघर्षों का समाधान करने के पुराने तरीके आज ऐसा नहीं कर पाएँगे, क्योंकि वे अपर्याप्त और असंगत हो चुके हैं और वे एक-दूसरे से आसन्न रहने वाले स्थानीय समुदायों के बीच छोटे और बार-बार होने वाले संघर्षों का समाधान करने के लिए अभिप्रेत थे। आधुनिक राजनीति में विशाल पैमाने पर इनका प्रयोग आसान नहीं है। अब, हमेशा बदलने वाले स्वरूप के संघर्षों के लिए मात्र सिद्धांत अथवा साधन कभी भी पर्याप्त नहीं होते। धार्मिक और प्रजातीय समुदायों के बीच तथा इन समुदायों के भीतर विरोधियों के बीच हमेशा बदलने वाली नई संघर्ष स्थितियों से निपटने के लिए नीतियों और पहलवाजियों से रचनात्मक कार्य की आवश्यकता है। अपने निजी समुदायों के विरुद्ध अन्तिम उपाय स्थिति को संभाल सकता है।

इस प्रकार की परिवर्तनीय संघर्षमयी साम्प्रदायिक समीकरणों वाली स्थिति के तहत, धर्मनिरपेक्षवाद के सतर्क और लचीले अनुप्रयोग की आवश्यकता है। यह इस अर्थ में रामबाण उपचार नहीं है कि यह सामाजिक और आर्थिक नीतियों की संवेदनशील सोच और प्रशासनिक उपायों के बिना कुछ नहीं कर सकता। परन्तु इसका कोई अन्य प्रतिस्थानी विकल्प नहीं है, जैसा हमने परम्पराओं और रीति-रिवाज़ों के मामले में, इन स्थितियों में कार्य करने के सिद्धांत से देखा है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि यह एक उतनी मुश्किल

स्थिति नहीं है, जिसे असंभव सिद्धांत का नाम दिया जाए अथवा यह कि भारत में धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं हो सकती। [जैसा कि कुछ लेखकों ने दावा किया है] यदि हमें ''कठिन'' और ''असंभव'' के बीच विशिष्ट अन्तर को दिमागी तौर पर करते हैं, तब हम बेहतर समझ सकते हैं कि धर्मनिरपेक्षता भारत में अपने अनुप्रयोग के लिए अवरोधों को झेलते हुए टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुज़र रही है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) क्या धर्मनिरपेक्षता भारतीय समाज पर एक अधिरोपण है?

....

....

....

....

....

....

2) भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए कठिनाइयों के मुख्य कारण क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यहाँ तक आने के बाद प्रश्न उठता है : भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का क्या अर्थ है? दूसरे शब्दों में, हमारे लिए इसका उचित स्वरूप क्या है? यह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हमने इस पाठ के आरंभ में देखा है कि पश्चिम में, धर्मनिरपेक्षवाद गिरजाघर के राज्य से स्पष्ट पृथकीकरण के अभिप्राय के रूप में आया। इस प्रकार इसका अर्थ है कि धर्म को राजनीति से कुछ लेना देना नहीं है। अपने मान्यताप्राप्त क्षेत्रों में वे एक-दूसरे से निर्देश के बिना कार्य करते हैं। अमेरिका में, इसे 'पृथकीकरण की दीवार' का नाम दिया गया। अब इसे पश्चिम में धर्मनिरपेक्षता के सार्वभौमिक प्रतिदर्श के रूप में आमतौर पर देखा जाता है (अर्थात्, डोनाल्ड स्मिथ का भारत के ऊपर किया कार्य, इस विषय पर प्रथम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है)। क्या धर्मनिरपेक्षता का यह स्वरूप भारत के लिए उचित प्रतिदर्श होगा?

29.5.1 सभ्यतामूलक मतभेद

इसे समझने की कोशिश में हमें कुछ बातें अपने ध्यान में रखनी चाहिए। एक, कोई दो समुदाय अथवा सभ्यताएँ (विभिन्न धर्मों द्वारा आधुनिक समय से पहले के काल में प्रायः

सूचित) समान नहीं हैं। आधुनिक भारत में सभ्यता उस सभ्यता से बहुत भिन्न है, जो यह पश्चिम में है अथवा जो यह उस समय थी जब धर्मनिरपेक्षता धर्म के रूप में उभरी। हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत में कभी संगठित गिरजाघर नहीं था अथवा उसके जैसा कुछ नहीं था। परन्तु इससे अधिक भारत में है, जो इसे अद्वितीय एवं एकदम भिन्न, सुई जेनरिस (sui generis) बनाता है। हम इस पर संक्षेप में विचार करते हैं, क्योंकि यह इस बात को प्रभावित करेगा कि हम धर्मनिरपेक्षता को किस रूप में मानते हैं। हिन्दू धर्म में धर्म का सीमांकन अथवा इसे विशिष्ट धर्म के रूप में सामाजिक रूप से किसने मान्यता दी, कभी निश्चित सिद्धांत अथवा व्यादेशित विश्वास (enjoined belief) नहीं रहा है। यद्यपि कुछ अधिक प्रबल विश्वास समान रूप से मौजूद हैं जैसे कर्म, मोक्ष अथवा वर्ण। वर्ण अथवा जाति रैंक के शब्दों में विभिन्न प्रकार से सदस्यों के ऊपर व्यादेशित कर्मकाण्डी रूप से निर्धारित प्रथाएँ हिन्दू धर्म को विशिष्ट मान्यता प्रदान करने का कारण थीं। ये प्रथाएँ सामाजिक संरचना में गहरे तक फँसी हुई थीं और उनकी मात्र उपस्थिति से ही विशिष्ट सामाजिक स्वरूप का पता चलता था। हम विस्तार में इस पर चर्चा नहीं करेंगे, परन्तु कुछ ऐसी बातों पर विचार करेंगे जो इस चर्चा के मुद्दे से प्रत्यक्ष रूप से सुसंगत हैं। शुद्धता और प्रदूषण, अस्पृश्यता, जाति के संदर्भ में मानव प्राणियों के बीच सामाजिक दूरी का विनियमन, मन्दिर में प्रवेश का अधिकार अथवा कुएँ से पानी खींचना और कई अन्य इसी प्रकार की धारणाएँ धार्मिक ग्रंथों पर आधारित हैं अथवा ऐसा विश्वास किया जाता है। ये व्यापक रूप से भारत में प्रचलित थीं और विद्यमान समय में काफी सीमा तक गायब हो चुकी हैं। हम आज भी प्रपीड़न के समाचार पढ़ते हैं, जिसे इन कर्मकाण्डी नियमों को तोड़ने के लिए निम्न जाति के लोगों पर अथवा उन औरतों पर किया जाता है, जो परम्परा द्वारा निर्धारित सीमाओं से आगे बढ़ती हैं।

29.5.2 भारत में अव्यवहार्य है पाश्चात्य पृथकीकरण

इन लक्षणों वाला 'पृथकीकरण' जो पश्चिम में प्रचलित था, सामान्यतः भारत में संभव नहीं होगा; अपितु असंभव होगा। लोकतंत्र को वास्तविक रूप देने के लिए, संस्थागत पृथकीकरण का प्रत्येक चरण कतिपय नियामक प्रतिष्ठानों, मूल्यों जो पृथकीकरण को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं, द्वारा अनुप्राणित करना होगा। भारत व्यष्टियों के बीच समानता सुनिश्चित करना चाहता है और ऐसे हालात पैदा करना चाहता है, जो व्यक्ति की प्रतिष्ठा को अभिनिश्चित करें। कई अन्य बातों के साथ ये सर्वोपरि हैं जिनके बारे में संविधान चर्चा करता है। अब इस पर विचार करें। दलितों का मन्दिरों अथवा गाँवों के कुँओं से बहिष्कार गुणात्मक रूप से उस प्रकार का नहीं हैं, जैसे अमेरिका में समान कारणों के लिए काले लोगों के साथ किया जाता है। हमारे मामले में यह शास्त्रसम्मत अथवा धार्मिक मान्यता प्राप्त है। अमेरिका में काले लोगों के साथ ऐसा/स्थिति नहीं है। यदि अमेरिकी राज्य इन प्रथाओं को कानून से बाहर रखने का विधान करता है, तब यह धर्म में दखलन्दाजी का मामला नहीं रह जाता, जबकि भारत में जब राज्य अस्पृश्यता की ऐसी पृथाओं को कानून से बाहर रखने अथवा महिलाओं की हैसियत को बढ़ाने का विधान करता है, कई आदमी विश्वास करते हैं और ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है कि राज्य धार्मिक मामलों में दखल दे रहा है। हिन्दू धर्म के कानूनों और अन्य समुदायों के कानूनों में कई सुधारों पर इस तरीके से विचार किया गया है।

इनमें कई प्रथाएँ भारतीय संविधान की उन नियामक अपेक्षाओं के प्रतिकूल हैं कि प्रत्येक भारतीय, जाति, धर्म और लिंग की ओर ध्यान दिए बिना, समान माना जाएगा और सभी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा सुनिश्चित की जाएगी। यह उद्देश्य धर्म का अंग मानी जाने वाली कई प्रथाओं को कानून द्वारा अवैध ठहराए बिना सुनिश्चित और अथवा प्राप्त नहीं किया जा सकता। राज्य और गिरजाघर अथवा राजनीति और धर्म के बीच ''पृथकीकरण की दीवार''

MAADHYAM IAS

जैसा कि अमेरिकी संविधान में है, विवादित नहीं है। यह सामान्यतः भारत के मामले में व्यवहार्य नहीं है। यही कारण है कि हम इसे असंभव आदर्श मानते हैं। कई लोग भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता को असंभव मानते हैं, क्योंकि वे भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद पर प्रथम महत्त्वपूर्ण टीकाकार डॉनेल्ड स्मिथ के साथ-साथ धर्म निरपेक्षता की इस धारणा के साथ निर्विवाद रूप से कार्य करते हैं।

29.5.3 पृथकीकरण का सिद्धान्त : भारतीय संदर्भ में पुनः आकलन की आवश्यकता

यह मान लेना अब असंभव है कि तटस्थ सिद्धांतों के आधार पर दृढ़ता से विनियमित कुछ व्यवधान आवश्यक हैं, तब हम कह सकते हैं कि भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य के आधार के रूप में पृथकीकरण पश्चिमी सिद्धांत का पुनः आकलित रूप होना चाहिए। पश्चिमी धारणाओं को आलोचना किए बिना लागू करना संभव नहीं होगा। विभिन्न स्थितियाँ, अपनी विशिष्ट कठिनाइयों के साथ, रचनात्मक अनुप्रयोग की माँग करती हैं। पाश्चात्य-सिद्धांतों की अंधी स्वीकृति अथवा जाँच किए गए प्रतिदर्शों और प्रथाओं को सामान्य रूप से नकारना इसका उत्तर नहीं है।

हमारे सामने एक कठिन स्थिति है। हमें अभिनिश्चित करना है कि संविधान के कई मूल्यों जिनका हम सभी पोषण करते हैं, को अपने वास्तविक जीवन में वास्तविक रूप देना पड़ेगा। दूसरे, लोकतंत्र अपेक्षा करता है कि हम सभी नागरिक बनें क्योंकि नागरिकता के बिना लोकतंत्र प्राप्य नहीं है। अतः हम उन मामलों में दखलन्दाजी चाहते हैं जिन्हें, हमारे संदर्भ में, धार्मिक माना जाता है। परन्तु, दूसरी तरफ हम कुछ स्वरूप अथवा अवस्था में पृथकीकरण की अपेक्षा करते हैं, क्योंकि नागरिकता एक धर्मनिरपेक्षता आदर्श के कुछ स्वरूप के बिना प्राप्य नहीं है। नागरिकता अपने तौर पर न्यूनतम दो शर्तों की माँग करती है; नामतः अभिनिश्चित और चहुतरफा अधिकारों वाले लोग तथा इस प्रकार के व्यक्तियों को किसी विशेष समुदाय के धार्मिक मूल्यों से स्वतंत्र तौर पर परिभाषित किया जाए। व्यष्टि के धर्म से स्वतंत्र मूल्य को निरूपण करने का विचार एक धर्मनिरपेक्ष आदर्श है और भारतीय संदर्भ में इसका अत्यधिक महत्त्व है। मानव से अन्यथा व्यष्टि के मूल्य का निरूपण करने में कोई अन्य प्रतिफल लोकतंत्र के लिए अहितकारी है। हमारी प्रतिष्ठा और योग्यता सामान्यतः इसीलिए है, क्योंकि हम मानव हैं न कि इसलिए कि हम मानव और हिन्दू अथवा मुस्लिम अथवा ईसाई अथवा सिख हैं। यह सच हो सकता है कि हममें से बहुत अधिकांश अर्थ अपने धर्मों से निकालते हैं, क्योंकि वह हमारे जीवन को 'बेहतर' बनाने की व्यवस्था करता है। धर्मनिरपेक्षवाद एक शुष्क सिद्धांत है, यह उत्कृष्ट अर्थ के लिए अभिप्रेत नहीं है। शुष्क सिद्धांत होने के कारण यह समुद्रपारीय देशों के लिए है, जो इनके अधिक उत्कृष्ट अर्थ के लिए संघर्ष करते हैं तथा विश्वास सार्वजनिक विवाद के मामले नहीं होते और यह कि वे राज्य कार्य के किसी भी स्तर पर राजनीतिक जीवन और नीति-निर्माण से अलग रहते हैं।

भारतीय स्थिति में, राजनीति और धर्म अजनबियों की तरह एक-दूसरे के आमने-सामने होने चाहिए, न कि अमेरिका की तरह जहाँ एक 'दीवार' के माध्यम से, जो उनके बीच में खड़ी होती है, एक-दूसरे को देखने पर रोक लगा दी जाती है। अपनी मुलाकात का हवाला देकर अजनबी एक-दूसरे के साथ बराबरी का अथवा बराबरी जैसा व्यवहार करते हैं। परन्तु अजनबी होने के नाते, उनके बीच घनिष्ठता नहीं हो पाती। भारत में धर्मनिरपेक्षता की माँग है कि दो के बीच घनिष्ठता न हो, क्योंकि यह साम्प्रदायिक राजनीति में होती है – भले ही संघ परिवार के प्रतिनिधित्व वाला हिन्दुत्व हो अथवा मुस्लिम लीग अथवा अकाली दल आदि। धार्मिक ग्रुप जितना व्यापक और विशालता में फैले होंगे, देश की एकता को उतना

ही अधिक ख़तरा होगा। इस परिप्रेक्ष्य में जो हमें धार्मिक टकरावों के हमारे निजी इतिहास से हमें प्राप्त हुआ है, हमें भारत में साम्प्रदायिक बलों के ख़तरे पर चर्चा करनी चाहिए। धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता निर्णायक है, यदि हम अपना प्रत्येक दिन सभ्य तरीके से गुज़ारना चाहते हैं। और ज़िन्दगी का प्रत्येक दिन महत्त्वपूर्ण है।

29.5.4 पुनः आकलित समाधान : सैद्धान्तिक दूरी

हम राजीव भार्गव से सहमत होते हुए यह कहकर अब इस चर्चा को संक्षिप्तीकरण करते हैं कि धर्मनिरपेक्षता के भारतीय स्वरूप में, पृथकीकरण का सिद्धांत धर्म और राजनीति के बीच एक सैद्धांतिक दूरी के रूप में समझना होगा। यहाँ सिद्धांततः दूरी को राजनीति की धर्म से स्वतंत्रता के रूप में न कि अवश्यमेव इसके प्रतिकूल देखना होगा। इसका तात्पर्य है कि राज्य के क्रियाकलाप, राजनीतिक नीति निर्यात तथा नीति प्राथमिकताएँ धर्म की दखलन्दाजी से स्वतंत्र है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीति और राज्य कार्य को धार्मिक सुधार की आवश्यकता से कुछ लेना देना नहीं है। एक तरफा पृथकीकरण अभिनिश्चित करना होगा। यह दखलन्दाजी और परहेज दोनों की अनुमति देता है। दखलन्दाजी अन्तर्ग्रस्त मुद्दों के आधार पर सविवेक निर्धारित करनी होगी। अन्त में, पुनरावृत्ति के लिए, सभी पृथाएँ (अथवा विश्वास) भले ही धर्म द्वारा स्वीकृति प्राप्त हों, नामतः अस्पृश्यता, जातिभेद, बहु-विवाह, सार्वजनिक जीवन से महिलाओं का बहिष्कार आदि तत्काल अवैध घोषित करनी होंगी। ये निन्दात्मक रूप से संविधान की उस नियामक व्यवस्था के लिए अहितकारी हैं, जो स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान प्रबल जनप्रिय भागीदारी के माध्यम से अन्तर्ग्रस्त मूल्यों के सामंजस्य पर आधारित है। कई जो कम अहितकारी हैं जैसे मात्र ब्राह्मणों द्वारा जनेऊ धारण करना, महिलाओं को खेत में हल चलाने की अनुमति न देना आदि, आने वाले कुछ समय के लिए सहन की जा सकती हैं और लोगों को इन्हें छोड़ देने के लिए तैयार किया जा सकता है। यहाँ राज्य उदासीन भाव से नियमनवादी होगा। राज्य नियमनवादी इस अर्थ में होगा कि यह सम्पूर्ण भारतीय मानवता के दृष्टिकोण से कार्य करता है, न कि किसी एक धर्म अथवा समुदाय के दृष्टिकोण से। इसे किसी धर्म की सहायता नहीं करनी चाहिए अथवा उसे किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचाना चाहिए। इसे सामान्यतः संविधान के व्यादेशों (injunctions) को लागू करना चाहिए, जिसने इस प्रयोजनार्थ यथार्थतः इसका सृजन किया था। इसकी उदासीनता सभी के लिए समान तरीके से समानता, अधिकारों और प्रतिष्ठा के क्षेत्र द्वारा सुनिश्चित की जानी चाहिए। भारतीय ंविधान ने नागरिकों के रूप में हमारे सहअस्तित्व के लिए एक सच्चे धर्म निरपेक्ष राज्य का गठन किया है (जैसा आरंभ में उल्लेख किया गया)।

धर्म निरपेक्षवाद निःसंदेह राज्य और राजनीति से धर्म के पृथकीकरण का सिद्धांत है; यह मात्र व्यावहारिक आवश्यकता नहीं है। अपितु , पृथकीकरण का एकमात्र सरल अर्थ नहीं है। इसे इसमें अन्तर्निहित संदर्भ और पृथाओं के संबंध में इसका अर्थ और वास्तविक स्वरूप देना होगा। प्रत्येक संदर्भ की अलग अपेक्षाएँ होती हैं और इनसे उनकी निजी बाध्यताएँ जन्म लेती हैं, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। हमारी इस चर्चा से यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षता ऐसा कुछ अधिक नहीं है, जो भारतीय समाज के लिए बाहर का हो। अपितु यह अब इसकी आन्तरिक आवश्यकता बन चुका है। तथापि जो कुछ विदेशी है, वह इसकी पश्चिम से धर्मनिरपेक्षता का इतिहास और अर्थ तलाशने तथा उसे शेष विश्व को लागू होने वाले एकमात्र आदर्श के रूप में दर्शाने की विवेचनारहित प्रवृत्ति है। यह कुछ ऐसा है, जिससे हमें पूर्णरूपेण बचना चाहिए, क्योंकि इसके कुछ आलोचक ऐसा नहीं कर पाते हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राज्य द्वारा कतिपय मामलों में जिन्हें धार्मिक माना जाता है, दखल देने की क्या आवश्यकता है?

....

....

....

....

....

....

2) धर्मनिरपेक्षता का भारतीय स्वरूप क्या होना चाहिए?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) भारत में 'पृथकीकरण' का सिद्धांत क्या होना चाहिए?

....

....

....

....

....

....

29.6 सारांश

इस इकाई में आपने भारत के विशेष संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के विषय में पढ़ा है। धर्मनिरपेक्षता के पश्चिमी संदर्भ – राजनीति और धर्म के बीच एक सख्त दीवार- की व्याख्या की गई है और यह इंगित किया गया है कि किस प्रकार से पश्चिमी अवधारणा भारतीय परिप्रेक्ष्य में अव्यवहारिक है। इकाई ने भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता के ऐतिहासिक समाजशास्त्र का परीक्षण किया है। इसने भारत के लिये एक व्यवहारिक धर्मनिरपेक्षता की चर्चा की है। यह आशा की जाती है कि अब आप धर्मनिरपेक्षता, जो कि

निश्चित रूप से एक जटिल अवधारणा है, के विभिन्न रंगों (nuances) को बेहतर ढंग से समझ सकेंगे।

29.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

1) भारत में धर्मनिरपेक्षता पर उत्कृष्ट वर्णन के लिए देखें : डोनाल्ड ई. स्मिथ, *इंडिया एज़ ए सेक्यूलर स्टेट* (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1963)। इसे भी देखें, वी.पी. लूथरा, *द कॉन्सेप्ट ऑफ सेक्यूलरिज़्म एण्ड इंडिया*, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, 1964)

2) उनके लिए जो धर्मनिरपेक्षता के दावों अथवा ''आडम्बरों'' को नकार देते हैं, अन्य के साथ देखें :

   i) आशीष नंदी, ''ए एण्टी-सैक्यूलरिस्ट मैनीफेस्टो'' सेमिनार, 314, अक्टूबर 1985;

   ii) टी.एन. मदान, ''सैक्यूलरिज़्म इन इट्स प्लेस'' जॅरनल ऑफ एशियन स्टडिज़, 46(4) 1987;

   iii) पार्थो चटर्जी, ''सैक्यूलरिज़्म ऑर टोलेरैन्स'', ईपीडब्ल्यू, जून 1994।

   तीनों रचनाएँ राजीव भार्गव (संपा), *सेक्युलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1998) में मौजूद हैं।

3) धर्मनिरपेक्षता की इन आलोचनाओं को नकारने के लिए देखें :

   i) थॉमस पैन्थम, ''इण्डियन सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स : सॅम रिफलेक्शन्स'', द रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स, सॅमर 1997; एण्ड

   ii) अचिन वनाइक, चैप्टर 4- ''कम्यूनलिज़्म, हिन्दुत्व, एण्ड एण्टी-सैक्यूलरिस्ट्स'' इन *हिज़ कम्यूनलिज़्म कॉन्टेस्टिड*, (विस्तार पब्लिकेशन्स, न्यू दिल्ली, 1997)

4) धर्मनिरपेक्षता के प्रबल पक्ष में देखें :

   i) राजीव भार्गव, ''गिविंग सैक्यूलरिज़्म इट्स ड्यू'' ईपीडब्ल्यू, 9 जुलाई 1994

   ii) राजीव भार्गव, ''ह्वाट इज़ सैक्यूलरिज़्म फॉर?

   iii) अमर्त्य सेन, ''सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स डिस्कॉटेण्ट्स''।

5) अन्तिम दो राजीव भार्गव, (संपा) *सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1998) में प्रकाशित हैं।

6) उन जटिल प्रश्नों और कठिनाइयों जो पृथकीकरण की धारणा का अर्थ आशय स्पष्ट करने में प्रस्तुत हुई हों, के लिए देखें :

   माइकल सेंडल, ''रिलीजियस लिबर्टी : फ्रीडम ऑफ चॉइस एंड फ्रीडम ऑफ कौंशस'' यह निबंध धर्मनिरपेक्षता पर परियोजना बनाने में एक स्वतंत्र मुद्दे के रूप में अन्तरात्मा के महत्त्व को समझने में भी उपयोगी है।

   दो विभिन्न पथों, जिनके माध्यम से धर्मनिरपेक्षता पाश्चात्य समाजों में प्रवर्तित हुईं, के लिए देखें :

   चार्ल्स टेलर, ''मोड्स ऑफ सेक्यूलराइजेशन'', राजीव भार्गव (मुद्रण) *सेक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स* (यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1998) में दोनों मिलेंगे।

MAADHYAM IAS

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 29.3

2) देखें भाग 29.1 और 29.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 29.4

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 29.5

2) देखें भाग 29.5

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 29.5

2) देखें उप-भाग 29.5.2 और 29.5.3

3) देखें उप-भाग 29.5.4

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 30 विकास

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 परिचय
30.2 आधुनिकता और विकास
- 30.2.1 पूँजीवाद का उदय : विकास की उत्पत्ति
- 30.2.2 ज्ञानोदय परम्परा
- 30.2.3 विकास विषयक जॉर्ज लारेन के विचार
- 30.2.4 प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद का युग
- 30.2.5 साम्राज्यवाद का युग
- 30.2.6 नवीन पूँजीवाद की अवस्था

30.3 विकास : पुनः परिभाषित
- 30.3.1 विकास की क्रांतिक समीक्षा
- 30.3.2 संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय और विकास का मुद्दा
- 30.3.3 तीसरी दुनिया का उदय और विकास की अवधारणा
- 30.3.4 सीमित राष्ट्र और विकास
- 30.3.5 'मौलिक आवश्यकताएँ' दृष्टिकोण
- 30.3.6 नव-उदारवादी प्राधार के भीतर विकास
- 30.3.7 विकास का अधिकार
- 30.3.8 विश्व विकास रिपोर्ट, 1991
- 30.3.9 विकास पर अमर्त्य सेन के विचार

30.4 सारांश
30.5 कुछ उपयोगी संदर्भ
30.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है – आपको विकास की धारणा के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराना। सभी अवधारणाओं की ही भाँति विकास से जुड़े भी कुछ अर्थ हैं। ये अर्थ उस तरीके में अभिव्यक्त होते हैं, जिसमें उक्त अवधारणा को समझा गया हो, साथ ही एक विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में समझने के प्रभावी अथवा प्रचलित तरीकों में भी। प्रस्तुत इकाई में हम विकास की अवधारणा को समझने का प्रयास करेंगे, जैसा कि वह समय के साथ क्रम विकसित हुआ, और उन विविध तरीकों को भी जिनमें वह समसामयिक विश्व में समझा जाता है। इस विषय में आपकी समझ बढ़ाने के लिए इकाई के अंत में पाठ्य-सामग्री की एक संक्षिप्त सूची दी गई है।

30.1 परिचय

विकास की अवधारणा को सामान्यतया आर्थिक विकास तथा लोगों के जीवन में परिवर्तनों एवं सुधारों की एक प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है। यदि कोई लोगों से पूछे कि उनके अनुसार विकास क्या है, अधिक संभावना यह है कि सर्वाधिक प्रायिक उल्लिखित तत्त्व

आर्थिक संस्थाओं एवं आर्थिक विकास के संकेतकों से संबंधित होंगे, यथा उद्योगीकरण, प्रौद्योगिक उन्नति, शहरीकरण, धन-संपत्ति एवं जीवन-स्तर में वृद्धि, आदि। नितान्त संभव है कि अधिकतर उत्तरों में, यदि स्पष्टतया नहीं तो संभवतः तुलनार्थ ही, एक संदर्भ बिन्दु के रूप में 'पाश्चात्यकरण' बार-बार आयेगा। 'पश्चिम' अथवा 'आधुनिक' से जुड़े लक्षणों के साथ विकास की पहचान, तिस पर भी, सहज ही सामान्य बोध का विषय नहीं है। इस संबंध की जड़ें स्वयं विकास की अवधारणा के विकास में ही कहीं हैं। यही संबंध है, जिसने इस शब्द की प्रभावी समझ बनाने में योगदान दिया है, और गत अनेक वर्षों में उक्त धारणा के इर्द-गिर्द विरोधों, संघर्षों तथा वाद-विवादों को भी जन्म दिया है। हम, इसी कारण, इस अवधारणा संबंधी अपनी समझ को यह स्वीकार करके आगे बढ़ा सकते हैं कि विकास की अवधारणा ने विशिष्ट ऐतिहासिक प्रसंग में आकार लिया और समय के साथ ही वह विकसित हुई।

मानव समाज ने सदा ही परिवर्तन का अनुभव किया है और सामाजिक-राजनीतिक संगठन एवं आर्थिक कार्यकलापों के सरल से जटिल रूपों तक आगे बढ़ा है। विकास की अवधारणा आर्थिक विकास तथा सामाजिक एवं राजनीतिक प्राधारों के एक विशिष्ट रूप से संबंध रखती है। इस अवधारणा ने सामन्तिक सामाजिक-आर्थिक प्राधारों के विध्वंस तथा पूँजीवाद के विकास के संदर्भ में आधुनिक काल में आकार लिया। आगामी भागों में हम इस अवधारणा के क्रम-विकास पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे कि किस प्रकार यह आधुनिक यूरोप में जन्मी और लोगों व राष्ट्रों के बीच संबंधों को निश्चित करते एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में फैल गयी। अगले ही भाग में पाश्चात्य आधुनिकता के एक पहलू के रूप में विकास की अवधारणा के विधिष्ट सम्पृक्तार्थों को लिया जाएगा। हम यह भी देखेंगे कि किस प्रकार इस सम्पृक्तार्थ की शेष विश्व के लिए महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक शाखा-प्रशाखाएँ थीं। अन्त में, हम एक भाग उन तरीकों पर नज़र डालने के लिए रखेंगे, जिनमें कि विकास की अवधारणा पर हाल के वर्षों में वाद-विवाद हुआ है, ताकि उसे समानता और लोकतंत्र के अधिक सुसंगत बनाया जा सके।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) विकास को आमतौर पर किस प्रकार समझा जाता है?

....

....

....

....

....

....

30.2 आधुनिकता और विकास

30.2.1 पूँजीवाद का उदय : विकास की उत्पत्ति

विकास की अवधारणा को इस प्रकार देखा जाता है, जैसे कि वह पूँजीवाद के उदय के साथ ही प्रकट हुई हो। पूँजीवाद के उदय से पूर्व यहाँ कृषिक समाज हुआ करते थे, जो

सामन्तिक संबंधों द्वारा नियंत्रित होते थे। समाज पदानुक्रमित था और किसी की जन्म पदस्थिति ही सामाजिक पदानुक्रम में उसकी स्थिति को निर्धारित करती थी। सामन्तिक स्वामित्व संबंध लाभ पर कम ज़ोर देते थे और मुख्यतः आत्मनिर्भरता, भरण-पोषण और पारस्परिकता द्वारा नियंत्रित होते थे। आर्थिक विकास, उत्पादन परिणाम, लाभ, व्यापार की स्वतंत्रता आदि पर अपने ज़ोर के साथ पूँजीवाद के उदय ने वे भौतिक दशाएँ प्रदान कीं, जिनमें रहकर विकास की अवधारणा ने आकार लेना शुरू कर दिया।

30.2.2 ज्ञानोदय परम्परा

इसके साथ ही, समय की बौद्धिक परम्परा, यथा ज्ञानोदय परम्परा ने, जैसा कि उसको आमतौर पर कहा जाता है, व्यक्ति की अवधारणा को पुनर्परिभाषित किया। व्यक्ति को, इस नई बौद्धिक परम्परा के भीतर, माना जाने लगा कि जैसे वह तर्क की मानसिक शक्ति रखता है, और युक्तियुक्त निर्णयों को लेने की क्षमता भी रखता है। इस विचारशील व्यक्ति की नियति अब दैवी शक्ति द्वारा निहित नहीं रही थी, न ही वैयक्तिक बंधन को, इसी कारण, अब उन संबंधों के भीतर ही सीमित रखना था जो कि सामन्तिक समाज द्वारा निर्धारित थे। इस बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति ने, जो इन धीमे व अपेक्षाकृत सुस्त सामाजिक-आर्थिक संबंधों के साथ-साथ सामाजिक व राजनीतिक संगठन के पदानुक्रमित आधार के प्रति भी संदेहकारी था, बेड़ियों को तोड़ मुक्त होने के लिए संघर्ष किया।

स्वतंत्र उद्यम और लाभ के सिद्धांत पर आधारित पूँजीवाद ने प्रगति और विकास संबंधी विचारों का पोषण किया। अपूर्व भौतिक प्रगति और लाभार्जन पर ज़ोर देते हुए, यह तर्कसंगत ही था कि सामन्तिक संबंधों को गुप्त रूप से हानि पहुँचाई गई, और साथ ही, शासन के माकूल प्राधार ढह गए। इस ढहाव ने, जो कि वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं विद्यमान सामन्तिक संस्थाओं से स्वायत्त शासन हेतु एक लम्बे चले राजनीतिक संघर्ष के बाद ही संभव हुआ था, स्वच्छंदता, स्वतंत्रा एवं लोकतंत्र की एक उदारवादी धारणा संबंधी राजनीतिक आदर्शों को भी जन्म दिया। बहरहाल, विकास की अवधारणा का जन्म चूँकि पूँजीवाद के साथ ही हुआ, वह मुख्य रूप से प्रगति के साथ ही पहचानी गई, और प्रगति के रूप में विकास के पहिले पहल स्पष्ट वर्णन सूत्र डेविड रिकार्डो एवं ऐडम स्मिथ जैसे विख्यात् राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की पुस्तकों में पाये गए।

MAADHYAM IAS

30.2.3 विकास विषयक जॉर्ज लारेन के विचार

जोर्ज लारेन उल्लेख करते हैं कि विकास की अवधारणा न सिर्फ़ पूँजीवाद के क्रम-विकास के साथ गहरे जुड़ी है, पूँजीवाद का प्रत्येक चरण विकास विषयक अवधारणाओं को एक विशिष्ट श्रृंखला-धारक के रूप में भी देखा जा सकता है (जोर्ज लारेन, 'इन्ट्रोडक्शन', *थिअरीज़ ऑफ़ डिवैलॅपमण्ट*, पॉलिटि प्रैस, कैम्ब्रिज, 1989)। लारेन पूँजीवाद को 1700 से तीन प्रमुख चरणों में विकसित हुए के रूप में मानते हैं और प्रत्येक चरण हेतु विकास के सुसंगत सिद्धांतों की पहचान करते हैं। ये तीन चरण हैं : (i) प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद का युग (1700-1860), (ii) साम्राज्यवाद का युग (1860-1945) और (iii) नवीन पूँजीवाद (1945-1980)।

30.2.4 प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद का युग

प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद की पहचान रही – नए औद्योगिक पूँजीवादी वर्गों के संघर्ष, ताकि वे सामन्तवाद के अन्तिम अवशेषों से स्वयं को मुक्त कर सकें और राजनीतिक सत्ता हासिल कर सकें। यह वो वक्त भी था, जब पूँजीवाद, ब्रिटेन में अपने उद्गम से, बाज़ारों की तलाश

में विश्व भर में फैलना शुरू हो गया। कार्ल मार्क्स बताते हैं कि विकास के अपने प्रथम पड़ावों में औद्योगिक पूँजी ने बलपूर्वक बाज़ार सुनिश्चित करने का प्रयास किया, यथा औपनिवेशिक तरीके से। सैद्धांतिक राजनैतिक अर्थव्यवस्था, जिसका प्रतिनिधित्व ऐडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने किया, का मानना था कि पूँजीवाद ही उत्पादन का परिशुद्ध और परिपूर्ण रूप है, यथा यह विकासार्थ सर्वाधिक प्रेरणाप्रद दशाएँ प्रदान कर सकता है। उनका विश्वास था कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक है। पूँजीवाद की परिशुद्धता तथा संघर्ष-मुक्त प्रत्ययीकरण, तथापि, तब पुनर्विचार के अधीन हो गए जब कामगार-वर्ग संघर्ष उभरकर आये। इन्हीं संघर्षों के प्रसंग में ही कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंजिल ने पूँजीवाद संबंधी अपनी आलोचना को प्रस्तुत किया। मार्क्स और एंजिल ने यह स्वीकार करते हुए कि पूँजीवाद इतिहास में उत्पादन के सर्वाधिक उन्नत तरीके के रूप में एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी, इसी को उत्पादन का प्राकृतिक और परिशुद्ध रूप मानने से इंकार किया। उन्होंने कामगार-वर्ग संघर्षों में पाया कि पूँजीवाद में आंतरिक विरोध की अभिव्यक्ति है और उत्पादन के एक अधिक उन्नत तरीकों द्वारा हस्तांतरण एवं प्रतिस्थापन की संभावना भी।

30.2.5 साम्राज्यवाद का युग

द्वितीय चरण अर्थात् साम्राज्यवाद के युग (1860-1945) की पहचान रही – विशाल निगमों द्वारा बाज़ार का एकाधिकारिक नियंत्रण, औद्योगिक केन्द्रों से पूँजी का आसपास के क्षेत्रों को निर्यात, कच्चा-माल उत्पादन एवं पूँजी संचय दोनों पर परवर्ती का नियंत्रण, तथा उत्पादन के प्रबल तरीके के रूप में पूँजीवाद का सुदृढ़ संस्थापन। इस चरण के दौरान विकास के नव-शास्त्रीय सिद्धांत ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। इसने इस आश्वासन के साथ काम किया कि उत्पादन के पूँजीवादी तरीके की जड़ें मज़बूत हैं और उसमें अपने आप को बनाये रखने की एक अन्तर्निहित ऊर्जा है। नव-शास्त्रीय सिद्धांतियों ने बाज़ार को परिपूर्ण स्वरूप लिया, और इसे कायम रखने वाली प्रक्रियाओं से जुड़े रहे, यथा क्या पैदा किया जाए, कितना पैदा किया जाए, और किस कीमत पर, आदि तय करने संबंधी सूक्ष्म अर्थशास्त्र से। इसी बीच, मार्क्सवादियों ने पूँजीवाद संबंधी अपनी परंपरागत समीक्षा को विस्तार प्रदान करने का प्रयास किया। रोज़ा लक्ज़मबर्ग, बुखारिन, हिल्फर्डिंग तथा लेनिन ने यह मानते हुए कि पूँजीवाद के अन्तर्निहित लक्षणों ने विकास में योगदान दिया, अपनी सामाजिक व्यवस्था में उपनिवेशित देशों को स्थान दिया। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि जब तक औपनिवेशिक बेड़ी नहीं टूट जाती, उपनिवेशित देशों की तरक्की रुकी ही रहेगी। मंदी का ताँता जो 1930 में आर्थिक संकट के शिखर पर जा पहुँचा, के प्रसंग में नव-शास्त्रीय सिद्धांत को जॉन मेनार्ड कीन्स के विचारों ने झिंझोड़ कर रख दिया, जिन्होंने इस बात की वकालत की कि राज्य हस्तक्षेप मंदी के प्रभावों को सुधारने के लिए आवश्यक है।

30.2.6 नवीन पूँजीवाद की अवस्था

नवीन पूँजीवाद की अवस्था 1945 में शुरू हुई और उसे दो चरणों में विभाजित के रूप में देखा जा सकता है – पूर्वती जो 1966 में समाप्त हुआ और परवर्ती जो 1980 तक चलता रहा। इस अवस्था की पहचान थी – आधुनिक उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन और 1966 तक की अवधि आर्थिक विस्तारण एवं बढ़ते लाभों द्वारा अभिलक्षित रही। यह अवधि अनौपनिवेशीकरण प्रक्रिया, एवं विश्व भर में नए-नए स्वतंत्र हुए देशों का उदय, तथा परवर्ती की कार्यसूची में सामाजिक प्रगति एवं आर्थिक विकास के मुद्दों का तदोपरांत प्रचलितीकरण आदि के लिए भी महत्त्वपूर्ण रही। इस संदर्भ में *माडर्नाइज़ेशन थिअरीज़* (रॉस्टॉ, ऑस्लित) ने विकास प्रक्रिया को पारंपरिक (सामन्तिक) समाज से आधुनिक अथवा औद्योगिक समाज की ओर अवस्थांतर गमन के रूप में स्पष्ट किया। ऐतिहासिक रूप से, यह अवस्थांतर गमन

MAADHYAM IAS

पहिले-पहल विकसित देशों में हुआ और दूसरों से उम्मीद की गई कि परिवर्तनों के इन्हीं प्रतिमानों का अनुसरण करें।

इस दौर में मार्क्सवादी सिद्धांतों ने औपनिवेशिक बेड़ियाँ टूटने के बाद भी नए-नए स्वतंत्र हुए देशों में अल्पविकास हेतु कारकों को समझने एवं स्पष्ट करने का प्रयास किया। तदनुसार, *थिअरी ऑफ़ इम्पिरिअलिज़्म* ने तीसरी दुनिया के समाजों में पूँजीवाद के प्रचलितीकरण के आंतरिक प्रभावों की अच्छी छानबीन की। पॉल बरान का तर्क है कि इन देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों ने स्थानीय अल्पतंत्रों से गठजोड़ कर लिया और परिणामस्वरूप अत्यावश्यक आर्थिक संसाधनों को संचय एवं विकास से बचाकर कुछ तो महानगरों में अनुचित रूप से स्थानांतरित कर दिया गया और कुछ को विलासितापूर्ण उपभोग में उड़ा दिया गया। साम्राज्यवादी देश, इन सिद्धांतों के कथनानुसार, मूलतः अल्पविकसित देशों के उद्योगीकरण के खिलाफ हैं और सत्ता में पुराने शासक वर्ग को कायम रखने का प्रयास करते हैं। 1966 तक नवीन पूँजीवाद की अवस्था एक नए दौर में प्रवेश कर गई, जिसकी पहचान थी – आर्थिक विकास का धीमा पड़ना और लाभ की गिरती दर। इस दौर में नव-उदारवादियों (उदाहरणार्थ, मिल्टन फ्रीडमैन) ने कीन्सवादी नीतियों की कड़ी आलोचना शुरू कर दी, यह आरोप लगाते हुए कि राज्य का हस्तक्षेप बहुत अधिक है और कल्याणकारी नीतियों के समर्थन में वह भारी कराधान से विकास को धीमा करता है।

लैटिन अमेरिकी देशों में, **अधीन राष्ट्र सिद्धांत** राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्गों की उदारवादी भूमिका के विषय में संशयवादी थे और यह कहते थे कि तीसरी दुनिया में उद्योगीकरण प्रक्रियाएँ ही साम्राज्यवादी पैठ की माध्यम हैं और अन्तरराष्ट्रीय कम्पनियों पर निर्भरता को जन्म देती हैं। विशेष रूप से आँद्र गुंद्र फ़्रैंक ने मार्क्सवादी और उदारवादी सिद्धांतों पर आपत्ति प्रकट की, जो कि दोनों यह दावा करते थे कि पूँजीवाद सभी जगह विकास को बढ़ावा देने में सक्षम उत्पादन का एक तरीका है। फ़्रैंक ने उक्त धारणा को निरस्त किया और दृढ़तापूर्वक कहा कि सोलहवीं शताब्दी से लेकर अब तक लैटिन अमेरिकी देशों के निरन्तर अल्पविकास के लिए दोष पूँजीवाद पर ही है। फ़्रैंक पूँजीवाद को एक ऐसी विश्व व्यवस्था मानते हैं, जिसके भीतर महानगरीय केन्द्र अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार क्रियाविधि के माध्यम से आश्रित देशों से आर्थिक अधिशेषों के सम्पत्तिहरण का प्रबंध कर लेते हैं, जिससे कि पूर्ववर्ती में विकास और परवर्ती में अल्पविकास को बढ़ावा मिलता है। तीसरी दुनिया के देश इसीलिए अल्पविकासित हैं कि वे विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर पराश्रित हैं। इस प्रकार, विकास केवल तभी हो सकता है, जब किसी समाजवादी क्रांति का सहारा लेकर कोई देश इस व्यवस्था से बाहर निकले।

विकास सिद्धांत, जो 1970 के दशक में सामने आये, फ़्रैंक का प्रभाव दर्शाते हैं, खासकर समीर अमीन एवं ए. इमेन्युएल कृत *थिअरी ऑफ़ अनइक़्वल एक्सचेन्ज* तथा आई. वार्लस्टीन कृत *वर्ल्ड सिस्टम थिअरी*। वार्लस्टीन के अनुसार, विश्व व्यवस्था के भीतर सभी देश स्पष्टतः एक साथ विकसित नहीं हो सकते थे, कारण यह व्यवस्था असमान केन्द्रिक एवं परिधीय क्षेत्रों को साथ लेकर चलने के आधार पर ही काम करती है। एक रोचक लक्षण, जो कि वार्लस्टीन आगे बताते हैं, यह है कि एक परिधीय अथवा एक अर्ध-परिधीय देश होने की भूमिका तय नहीं है। केन्द्रिक देश तथा परिधीय देश अर्ध-परिधीय इत्यादि बन सकते हैं। तथापि जो निश्चित है, वो है विश्व व्यवस्था की असमान प्रकृति। (पूँजीवादी विकास एवं विकास सिद्धांतों की अवस्थाओं के विषय में विस्तार से पढ़ने के लिए देखें – जोर्ज लारेन, 'इण्ट्रोडक्शन', लारेन कृत *थिअरीज़ ऑफ़ डिवैलॅपमण्ट* में)

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) पूँजीवाद के उदय और विकास की अवधारणा के बीच संबंधों को प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

....

2) विकास विषयक जोर्ज लारेन के विचारों पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) ए.जी. फ्रैंक, समीर अमीन तथा आई. वार्लस्टीन ने पूँजीवादी विकास का किस प्रकार प्रत्ययीकरण किया है?

....

....

....

....

....

....

30.3 विकास : पुनः परिभाषित

ऐसे समय जब पश्चिमी देशों में विद्वत्जन पूँजीवाद में विकास (प्रगति) हेतु संभावना की पुष्टि करने का प्रयास कर रहे थे, अथवा मार्क्सवादी सिद्धान्तियों के मामले में, पूँजीवाद के भीतर गतिवाद और विरोध दोनों को देखते हुए, कुछ विचार-सूत्र विकास की अवधारणा को पुनर्परिभाषित करने लगे। हमने पिछले भाग में देखा कि अधीन-राष्ट्र सिद्धांती और विश्वव्य व्यवस्था विचारधाराएँ यह बताती हैं कि आधुनिक विश्व में 'विकास' का मतलब रहा है — राष्ट्रों व लोगों के बीच असमान संबंधों का विकास।

30.3.1 विकास की क्रांतिक समीक्षा

विकास संबंधी एक अधिक उग्र समालोचना 1970 के दशक में उभरनी शुरू हुई। यह समालोचना इस मूल धारणा से शुरू हुई कि अपने वर्तमान प्रयोग में विकास अति जटिल रूप से पूँजीवादी विकास एवं विस्तार से जुड़ा है। पूँजीवादी विकास ऐतिहासिक रूप से कुछ ही देशों में समृद्धि के संकेंद्रण एवं दूसरों के लिए दरिद्रता में परिणत हुआ है। इस समालोचना ने विकास की अवधारणा को संज्ञान लिया, जिसने इसे अनन्य रूप से पूँजीवादी विकास के साथ पहचाना, और इस सिद्धांत के साथ भी कि विकास का एक ही रास्ता है, जो सभी के द्वारा अपनाया जाए।

आर्तुरो एस्कोबार, वुल्फ़गैंग सैश एवं गस्टावो एस्तेवा बताते हैं कि (पूँजीवादी) विकास एवं आधुनिकीकरण के साथ प्रबल प्रामाणिकता में 'विकास' का जुड़ना द्वितीय विश्व-युद्ध पश्चात् नए-नए स्वतंत्र हुए देशों में राष्ट्र-निर्माण की एक प्रभावी विचारधारा बना रहा। पूरी युद्धोपरांत अवधि में विकास के अर्थों एवं उद्देश्यों को जिस प्रकार इन देशों में समझा गया, विकास की उस अवधारणा से मुक्त नहीं हो सके जो कि 16वीं शताब्दी में ही जन्म ले चुकी थी। वुल्फ़गैंग सैश इसको बड़े ही सुबोध तरीके से प्रस्तुत करते हैं जब, 1990 के दशक में लिखते हुए, वह कहते हैं कि पिछले चालीस वर्षों को 'विकास का युग' कहा जा सकता है। तट की ओर जहाजियों का मार्गदर्शन करते एक ऊँचे प्रकाश-स्तंभ की माफ़िक, विकास ही वो विचार था जिसने उदय होते राष्ट्रों को औपनिवेशिक अधीनता से मुक्त होने के बाद स्वंभू राष्ट्रों के रूप में उनकी यात्रा में अपनी स्थिति का ज्ञान कराया (वुल्फ़गैंग सैश *द डिवैलॅपमण्ट डिक्शनरी*, 1992, पृ.1)। नए राष्ट्रों द्वारा विकासार्थ इस खोज ने, बहरहाल, उन्हें विश्व व्यवस्था के पदानुक्रम से मुक्त करने के लिए कुछ नहीं किया, जो कि पूँजी की तर्कशक्ति द्वारा ही लायी और कायम की गई थी। स्वतंत्रता के बाद विकास की अवधारणा का तदनुसार मतलब वह विकास ही रहा, जो एक विश्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सही बैठे।

30.3.2 संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय और विकास का मुद्दा

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यह उक्त कारण से ही महत्त्वपूर्ण है कि स्वतंत्रता के शीघ्र पश्चात् ही इनमें से अधिकांश देश, जो विकास के रास्ते पर चले, 'अल्प विकसित' की श्रेणी में आ गए। द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होते-होते संयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व में एक दुर्जेय केन्द्रिकता हासिल कर ली। अपनी स्थिति स्पष्ट और बंधनकारी बनाने के लिए अमेरिका ने नए राष्ट्रों के साथ प्रभुत्व स्थापन एवं परोपकार संबंधी अपने व्यवहार को सटीक शब्दों में प्रस्तुत किया। तदनुसार, 20 जनवरी 1941 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिका के राष्ट्रपति का पद भार संभाला और अल्पविकसित क्षेत्रों के सुधार हेतु अपनी वैज्ञानिक उन्नतियों एवं औद्योगिक प्रगति के लाभों को उपलब्ध कराने के लिए एक ठोस नया कार्यक्रम बनाये जाने, की घोषणा की। गस्टावो एस्तेवा का कहना है कि ट्रूमैन की नीति संबंधी इस उद्घोषणा के साथ ही मानवजाति के एक विशाल समूह, जो कि पहले उपनिवेशित देश थे, को 'अल्पविकसित' का लेबल लगे आवरण के अंतर्गत रख दिया गया (गस्टावो एस्तेवा, 'डिवैलॅपमण्ट', वुल्फगैंग सैश संपादित *डिवैलॅपमण्ट डिक्शनरी* में, पृ. 8-9)। इस लेबल ने न सिर्फ एक नए अधीनीकरण हेतु नए-नए स्वतंत्र हुए देशों को दोषी ठहराया, बल्कि उसने पूँजीवादी विकास की इमारत पर खड़ी एक पदानुक्रमित विश्व व्यवस्था के जारी रहने की पुष्टि भी की।

30.3.3 तीसरी दुनिया का उदय और विकास की अवधारणा

सत्तर के दशक के साथ ही 'तीसरी दुनिया' का एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक गुट के रूप में उद्गमन हुआ, जिसने किसी भी विचारधारा-विशेष गुट के प्रति राजभक्ति से बचकर चलना पसंद किया और न तो पूँजीवादी, न ही समाजवादी विकास-पथ को स्वीकार किया। नए

सामाजिक आन्दोलनों ने, जो कि दुनिया भर में उठ खड़े हुए, विकास के एक ऐसे एकाधिक मार्ग पर चलने का प्रयास करते हुए विकास की विद्यमान नीतियों पर सवाल करने शुरू कर दिए, जहाँ स्थानीय भूभागों की आवश्यकताओं एवं अभिलाषाओं को ध्यान में रखा जा सकता था। नए सामाजिक आन्दोलनों, यथा पर्यावरण, कर्मचारी वर्ग, नारी आन्दोलन आदि, ने ध्यान इस तरीके से आकृष्ट करने का प्रयास किया कि जिससे विद्यमान विकास प्रतिमान जनता के विशाल वर्गों अमहत्त्वपूर्ण माने जाने में परिणत हुए, अथवा जनता के विभिन्न वर्गों को एक असमान तरीके से शामिल कर लिया। विकास की विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रतिस्पर्धा होने लगी। विकास प्रतिमानों का लोकतंत्रीकरण दो स्तरों पर करने का प्रयास किया गया : (i) देशों के भीतर ही और (ii) एक अधिक समतावादी आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को प्रोत्साहन देने के लिए देशों के बीच, जहाँ देशों के गत ऐतिहासिक आधिपत्य पर नियंत्रण रखा जा सके और प्रत्येक व्यक्ति का विकास राष्ट्र एवं प्रत्येक निष्पादित किया जा सके।

आगे के भागों में हम विकास सिद्धांत के भीतर कुछ सूत्रों पर नज़र डालेंगे, जिन्होंने विकास की अवधारणा को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ सूत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ में विकास की बदलती अवधारणा से उभरे हैं, जिनको कि 'विकास का अधिकार' संबंधी संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा द्वारा 1989 में चरमोत्कर्ष प्राप्त हुआ।

30.3.4 सीमित राष्ट्र और विकास

ऐड्रियन लैफ़्त्विच के अनुसार, नए राष्ट्रों के आगमन के साथ ही संगठन के राजनीतिक संतुलन में बदलाव लाते हुए संयुक्त राष्ट्र की विकास विषयक सोच में परिवर्तन साठ के दशक से ही स्पष्ट हुआ। ये राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ की नीतियों के भीतर ही विकास का ध्यान–केन्द्र आय और वृद्धि से 'सामाजिक विकास' की ओर मोड़ देने में सफल रहे।

सामाजिक विकास का अनिवार्यतः अर्थ है – शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा, आय वितरण, सामाजिक-आर्थिक व लिंगभेद समानता तथा ग्रामीण कल्याण जैसे क्षेत्रों में सुधार। सामाजिक विकास का अर्थ विकास की एक कहीं अधिक उग्र और आमूल उन्मूलनवादी संकल्पना हो गया, जिसमें प्रमुख परिसम्पत्तियों का राष्ट्रीयकरण, धन-सम्पत्ति का पुनर्वितरण (जैसे कि भूमि सुधारों में) तथा विकास के साधन व साध्य दोनों के रूप में राजनीतिक निर्णयन् में जन-भागीदारी (ऐड्रियन लैफ़्त्विच, *स्टेट्स ऑफ डिवैलॅपमण्ट*, 2000, पृ. 41)।

साठ के दशकांत तक एक चिंतन के प्रभावशाली सूत्र ने विकास की आवश्यकता को सामाजिक विकास और सामाजिक न्याय हेतु वृहत्तर विषय के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। यह लगातार महसूस किया जा रहा था कि विकासशील देशों में विकास असमानताओं को कम नहीं कर रहा था। बल्कि लगता था कि वह विद्यमान असमानताओं को कायम रखे थे और यहाँ तक कि उन्हें बढ़ा भी रहा था। तदनुसार, लाभों के एक न्यायसंगत वितरण वाले सामाजिक विकास में तत्कालीन संबद्ध शैक्षिक सिद्धान्तियों की कार्य-शक्तियाँ शामिल थीं। ब्रिटिश विकास अर्थशास्त्री डडली सीअर्स ने, उदाहरण के लिए, साठ के दशकोत्तर से लेखों की एक श्रृंखला में, विकास को सिर्फ़ वृद्धि के साथ जोड़े जाने पर सवाल उठाना शुरू कर दिया। उन्होंने ग़रीबी, बेरोज़गारी और असमानता पर विकास के प्रभाव को खोजते हुए उसके 'परिणामों' पर ध्यान केन्द्रित किया। सीअर्स इस प्रकार विकास के मायने और मापने को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास कर रहे थे, ताकि ग़रीबी और असमानता दोनों को घटना तथा रोज़गार बढ़ाना उसमें शामिल किया जा सके। इस प्रकार की बातों से यह धारणा पनपी कि विकास में वो शामिल हैं, जिन्हें 'बुनियादी ज़रूरतें' कहा जाता है, और इसको उस सीमा तक मापा जाता है, जहाँ तक कि वह 'समुदायों और व्यक्तियों की प्राथमिक आवश्यकताओं' की पूर्ति करता है।

MAADHYAM IAS

30.3.5 'मौलिक आवश्यकताएँ' दृष्टिकोण

विकास हेतु, मौलिक आवश्यकताएँ दृष्टिकोण, इस प्रकार व्यक्ति के सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास हेतु अवसर प्रदान करना ही है। मौलिक आवश्यकताओं में इसीलिए 'आत्म-निर्णयन्, आत्म-विश्वास, राजनीतिक स्वतंत्रता एवं सुरक्षा, निर्णयन् में भागीदारी, राष्ट्रीय व सांस्कृतिक पहचान, और जीवन व कार्य में उद्देश्य का एक भाग हेतु आवश्यकता' शामिल थे। मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की परिभाषा में पाँच मुख्य क्षेत्र आते थे : पारिवारिक उपभोग हेतु बुनियादी चीज़ें (खाद्य, वस्त्र, आवास समेत); मौलिक सेवाएँ (प्राथमिक एवं प्रौढ़ शिक्षा, जल, स्वास्थ्य रक्षा व यातायात); निर्णयन् में भागीदारी; मौलिक मानवाधिकारों की पूर्ति; तथा उत्पादकारी रोज़गार (परिवार की उपभोग आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु पर्याप्त आय उत्पन्न करना) (ऐड्रियन लैफ़्त्विच, पृ. 44-47)।

30.3.6 नव-उदारवादी प्राधार के भीतर विकास

अस्सी के दशक में विकास प्रक्रिया और लक्ष्य, दोनों के रूप, प्रचलित नव-उदारवादी विचारों के आधार पर निर्धारित किए जाने लगे। इन विचारों ने सुझाया कि आर्थिक स्वतंत्रता, मुक्त बाज़ार, निजी-क्षेत्र पहलकारियाँ तथा विनियमों में कटौती उद्यमशील कार्यशक्तियों को खोलने के लिए परिस्थितियाँ और प्रोत्साहन प्रदान करेंगी, जिसके द्वारा साठ व सत्तर के दशक की वे धारणाएँ अस्वीकार हो जायेंगी जो मौलिक मानवीय आवश्यकताओं के नियोजन, वितरण और प्रावधान में राज्य हेतु एक भूमिका तलाशती थीं। विकास विषयक इस सोच ने 'आर्थिक विकास की प्रमुखता' का फिर से दावा किया, बजाय सामाजिक समाज अथवा ग़रीबी उन्मूलन के, यह तर्क देते हुए कि आगे चलकर विकास ही ग़रीबी के लिए उत्तरदायी होगा। अस्सी का दशक समाप्त होते-होते, तथापि, यह स्पष्ट हो गया कि सामाजिक विकास और वितरणकारी भूमिका से राज्य के पीछे हटने से मूल खाद्य मूल्य में वृद्धियों के साथ-साथ चिकित्सीय एवं शैक्षणिक सेवाओं के संबंध में भी ग़रीबों पर भारी मार पड़ी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.3.7 विकास का अधिकार

इसी बीच, 4 दिसम्बर 1989 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा *विकास का अधिकार* अंगीकार कर लिया गया। इस अधिकार ने, उपेन्द्र बक्शी के अनुसार, न सिर्फ मानवाधिकारों के यथार्थ सार-तत्त्व को समाविष्ट किया, बल्कि उसने मानवाधिकारों की नयी तलाश हेतु एक उर्वर आरंभिक आधार भी प्रदान किया है, जो कि एक समतावादी विश्व व्यवस्था हेतु आधार बनाता है। विकास का अधिकार आत्मनिर्णयन् एवं सम्प्रभुता के अधिकार का परिसंपुटन करता है, और दावा करता है कि सभी अधिकार – नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक – समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और समान रूप से ही उन्हें प्रोत्साहन एवं संरक्षण दिया जाना चाहिए। इसमें यह अन्वितार्थ भी है कि अंतरराष्ट्रीय शांति व सुरक्षा विकास के अधिकार हेतु सहायक स्थितियों को पैदा करने के लिए अनिवार्य तत्त्व हैं। अवसर की समानता हेतु आवश्यकता की अधिकार-माँग करते हुए, घोषणा का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है – अधिकारों के स्रोत और विषय के रूप में मानवोचित व्यक्ति पर उसका ज़ोर दिया जाना ही है। व्यक्ति ही इस विकास प्रक्रिया का मुख्य विषय था, और विकास नीति ऐसी हो जो उसे ही मुख्य भागीदार एवं मुख्य हिताधिकारी बनाये।

निम्नलिखित अभ्यन्तर विचार, जिनमें विकास का अधिकार भी शामिल है, विकास की अवधारणा में कुछ आमूल परिवर्तनों का संकेत करते हैं : (a) उक्त घोषणा विकास के अधिकार को प्रभावतः सभी मानवोचित व्यक्तियों का, सभी जगह, और सम्पूर्ण मानव जाति

का अधिकार बनाती है, ताकि वे अपनी अन्तः शक्ति को प्रयोग कर सकें। (b) यह अधिकारों के स्रोत और विषय के रूप में मानवोचित व्यक्ति की निश्चितता की अधिकार-माँग करती है। (c) यह विकास-पथ के पुनर्मानचित्रण द्वारा एक न्यायसंगत मानव समाज के गठन को लक्ष्य बनाती है। (d) इस घोषणा में अन्तर्निहित सम्पूर्ण मानव जाति के कर्त्तव्य संबंधी अवधारणा भी है, ऐसी स्थितियाँ पैदा करने और कायम रखने हेतु संघर्ष जहाँ सच्चा मानवीय, सामाजिक एवं सभ्यतापूर्ण विकास संभव हो। (e) तब, साथ ही, यह राज्य का कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियों को जन्म दे, जिनमें मानवोचित व्यक्ति अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का प्रयोग/निर्वहन कर सके (देखें उपेन्द्र बक्शी, 'द डिवैलॅपमण्ट ऑफ़ द राइइट् टु डिवैलॅपमण्ट', ज़ान्यू सिमोनिदे (सं.) कृत *ह्यूमन राइट्स : न्यू डाइमैन्शन्ज़ एण्ड चैलेन्जेज़*, ऐशगेट, डार्टमाउथ, 1998)।

30.3.8 विश्व विकास रिपोर्ट, 1991

विकास संबंधी इस व्यापक दृष्टिकोण के पदचिह्न **विश्व विकास रिपोर्ट, 1991** में देखे जा सकते हैं। इस रिपोर्ट ने विकास को एक तो 'आर्थिक विकास' के रूप में जिसमें उन जीवन मानकों में एक सतत वृद्धि शामिल है, जिनमें भौतिक उपभोग, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण रक्षा शामिल हैं, और एक वृहत्तर अर्थ में अन्य महत्त्वपूर्ण एवं संबंद्ध सहजगुणों के साथ ही अवसर की समानता, राजनीतिक स्वतंत्रता एवं नागरिक अधिकारों को शामिल किए जाने के रूप में परिभाषित किया। विकास के समग्र उद्देश्य को इसी कारण लिंग भेद, नृजातीय समूहों, धर्मों, प्रजातियों, क्षेत्रों, व देशों से परे आर्थिक, राजनीतिक, एवं लोगों के नागरिक अधिकारों को बढ़ाने के रूप में देखा गया (*विश्व बैंक*, 1991,31)।

अब तक की चर्चा में हमने देखा कि विकास की परिभाषा अब आर्थिक विकास तक सीमित नहीं रही है। इसमें सामाजिक एवं मानवीय विकास शामिल करने के लिए इसको विस्तार प्रदान कर दिया गया है। इसने अपने कार्यक्षेत्र में विकास की एक और अवधारणा को शामिल कर लिया है, जो कि एक लोकतंत्र का परिणाम है और जन-भागीदारी के माध्यम से उसे स्थापित भी करने का प्रयास करती है। विकास की इस अवधारणा ने अपनी सर्वाधिक व्यापक सैद्धांतिक अभिव्यक्ति अमर्त्य सेन के 'स्वतंत्रता के रूप में विकास' के सूत्रीकरण में पाई है (अमर्त्य सेन, *डिवैलॅपमैण्ट ऐज़ फ़्रीडम*, ऑक्सफोर्ड, 1999)।

MAADHYAM IAS

30.3.9 विकास पर अमर्त्य सेन के विचार

सेन के अनुसार, स्वतंत्रता के विस्तार को विकास के *प्राथमिक उद्देश्य* के साथ-साथ *मुख्य लक्ष्य* के रूप में भी देखा जाता है। विकास, इसीलिए, अस्वतंत्रता के मुख्य स्रोतों को दूर किए जाने की अपेक्षा करता है, यथा ग़रीबी, तानाशाही, निकृष्ट आर्थिक अवसर, योजनाबद्ध सामाजिक, वंचित दशा, जन-सुविधाओं की उपेक्षा, असहिष्णुता अथवा दमनकारी राज्यों की अतिसक्रियता। अमर्त्य सेन भी इस विचार का विरोध करते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रताओं को तब तक स्थापित रखना चाहिए, जब तक कि सामाजिक-आर्थिक विकास अस्तित्व में न आ जाए। उनका तर्क है कि राजनीतिक स्वतंत्रताएँ तथा ऐसी ही अन्य स्वतंत्रताएँ, जैसे रोग और अज्ञानता से मुक्ति, विकास के अनिवार्य घटक हैं। सेन 'सहायक स्वतंत्रताओं' की पाँच श्रेणियों की पहचान करते हैं जो विकास को मिलकर बढ़ावा देती हैं। ये 'सहायक स्वतंत्रताएँ' हैं : (a) ***राजनीतिक स्वतंत्रताएँ*** : जो सरकार बनाने और उसकी नीतियों को प्रभावित करने भागीदारी हेतु लोगों को सक्षम करती हैं। (b) ***आर्थिक स्वतंत्रताएँ*** : जिनमें संसाधन प्रयोग हेतु लोगों के लिए अवसर होते हैं। (c) ***सामाजिक स्वतंत्रताएँ*** : जो स्वास्थ्य रक्षा एवं शिक्षा हेतु समाज के भीतर उन व्यवस्थाओं की ओर संकेत करती हैं, जो

राजनीतिक व आर्थिक जीवन में भागीदारी हेतु सहायता करती हैं। (d) ***पारदर्शिता संबंधी गारण्टियाँ*** : इन गारण्टियों का संकेत जन-आस्था की शर्तों की ओर हैं, जो सार्वजनिक मामलों में पारदर्शिता के माध्यम से प्राप्त की जाती हैं। (e) ***शरण्य सुरक्षा*** : यह सहायक स्वतंत्रता सामाजिक सुरक्षा एवं निर्भयता प्रदान करती है जो लोगों को ग़रीब और अभावग्रस्त होने से बचाती है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) विकास सिद्धांत के भीतर ऐसे कुछ आलोचनात्मक सूत्रों पर चर्चा करें, जिन्होंने विकास को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया है।

....

....

....

....

....

....

2) स्वतंत्रता के रूप में विकास की अवधारणा से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.4 सारांश

विकास की अवधारणा ने सामन्तवाद के अवसान और आधुनिक पूँजीवादी समाजों के उदय के संदर्भ में जन्म लिया। पूँजीवाद के उदय ने विज्ञान, प्रगति, आर्थिक विकास, उत्पादन, लाभ, व्यापार स्वतंत्रता आदि पर ज़ोर देते हुए, ऐसी भौतिक दशाएँ प्रदान कीं, जिनमें रहकर विकास की अवधारणा ने जन्म लिया। युग की बुद्धिवादी परम्परा, ज्ञानोदय परम्परा, ने तर्क-क्षमता रखने, और युक्तियुक्त निर्णय लेने की क्षमता रखने वाले के रूप में व्यक्ति की अवधारणा को पुनर्परिभाषित किया। भौतिक प्रगति और लाभार्जन पर ज़ोर दिए जाने से सामन्तिक संबंध समाप्त हो गए। साथ ही, बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति, जो आत्म-निर्णयन में सक्षम हो, संबंधी धारणा वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता हेतु एक सचेत राजनीतिक संघर्ष के जन्म लेने में सहायक बन गयी।

जोर्ज लारेन लिखते हैं कि विकास की अवधारणा न सिर्फ़ पूँजीवाद के क्रमविकास से गहरे जुड़ी है, पूँजीवाद के प्रत्येक चरण को विकास विषयक धारणाओं की एक विशेष शृंखला रखने वाले के रूप में देखा जा सकता है। वह पूँजीवाद को 1700 ईस्वी से तीन प्रमुख अवस्थाओं में विकसित हुआ मानते हैं और हर एक दौर के लिए विकास के सम्बद्ध सिद्धांतों

की पहचान करते हैं : प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद का युग जिसकी पहचान है – नव-औद्योगिक बुर्जुआ वर्गों के संघर्ष, भी वो वक्त था जब पूँजीवाद ब्रिटेन में जन्म लेकर दुनिया भर में बाज़ारों अथवा उपनिवेशों की तलाश में पैर पसार रहा था। ऐडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो जैसे सैद्धांतिक राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के विशुद्ध रूप बतौर पूँजीवाद में आस्था जतायी। मार्क्स एवं एंजिल ने, तथापि, पूँजीवाद को उत्पादक का प्राकृतिक और विशुद्ध रूप मानने से इंकार किया और पूँजीवाद में आंतरिक विरोधों के विकास में उत्पादन के एक अधिक उन्नत तरीके द्वारा उसकी समाप्ति और प्रतिस्थापन की संभावना देखी।

पूँजीवाद के दूसरे दौर, यथा साम्राज्यवाद के युग (1860 - 1945) में उत्पादन के एक प्रभावशाली तरीके के रूप में पूँजीवाद की मज़बूत मोर्चाबंदी देखी गई। विकास के नव-पारम्परिक सिद्धांतों ने, जो इस आश्वासन के साथ काम कर रहा था कि उत्पादन के पूँजीवादी तरीके की जड़ें मज़बूत हैं और उसके पास संतुलन कायम रखने हेतु अन्तर्जात क्षमता भी है, विकास को भगवान् भरोसे छोड़ दिया। रोज़ा लक्ज़मबर्ग, बुखारिन, हिल्फ़र्डिंग एवं लेनिन जैसे मार्क्सवादियों ने तथापि, लिखा कि जब तक औपनिवेशिक बंधन नहीं टूटा, उपनिवेशित देशों का विकास अवरुद्ध ही रहा।

उत्तर-पूँजीवाद के दौर की पहचान थी – आधुनिक उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन और 1966 तक इस काल की विशेषता रही – आर्थिक विस्तार एवं बढ़ते लाभ तथा एक अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया, जिसने अनेक 'नए राष्ट्रों' को जन्म दिया। ये 'नव राष्ट्र' एक विकास-पथ पर चल पड़े ताकि स्वयं को सशक्त राष्ट्र बना सकें।

रॉस्ट एवं ओस्लित जैसे आधुनिकतावादी सिद्धांतियों ने विकास की प्रक्रिया को एक परिवर्तन के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया, जो कि सर्वप्रथम विकसित समाजों में आता है, और अन्य इसी प्रकार के परिवर्तन प्रतिमानों को अपनाते हैं। इस दौर में मार्क्सवादी सिद्धांत औपनिवेशिक बंधनों के टूटने के बाद भी नए-नए आज़ाद हुए देशों में अल्पविकास हेतु कारणों को समझने और स्पष्ट करने हेतु जुड़े रहे।

MAADHYAM IAS

लैटिन अमेरिकी देशों में पराधीनता सिद्धांतों ने राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की मुक्तिदायक भूमिका के विषय में संशयवाद व्यक्त किया। उन्होंने सुझाया कि विकासशील देशों में आधुनिकीकरण और उद्योगीकरण ने एक नए प्रकार की पराधीनता को बढ़ावा दिया है। असमान विनिमय (Unequal Exchange) संबंधी समीर अमीन एवं ए. एम्मानुएल के सिद्धांत तथा आई. वार्लस्टीन के विश्व व्यवस्था (World System) सिद्धांत ने इस पराधीनता एवं पदानुक्रम के विशिष्ट प्राधारों की रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसने आधुनिक विश्व व्यवस्था का लक्षण-वर्णन किया।

साठ के दशक से, तथापि, विकास सिद्धांतियों के महत्त्वपूर्ण सूत्र विकास को आर्थिक प्रगति के साथ-साथ इस विचार के साथ जोड़े जाने पर भी सवाल उठाने लगे कि इस प्रगति का केवल एक ही रास्ता है, जो कि पश्चिमी देशों द्वारा पहले ही पार किया जा चुका है। साठ के दशक में आर्थिक प्रगति के रूप में विकास की एक संकीर्ण परिभाषा के साथ संशयवाद ने स्वयं को 'सामाजिक विकास' दृष्टिकोण के रूप में व्यक्त करवाया, जो कि स्वास्थ्य रक्षा, शिक्षा, धन-सम्पत्ति के पुनर्वितरण तथा राजनीतिक निर्णयन् में जन-भागीदारी के साथ जुड़ गया। 'मौलिक मानवीय आवश्यकताओं' ने इसी प्रकार विकास के अर्थ को पुनर्परिभाषित किए जाने पर ज़ोर दिया ताकि इसमें ग़रीबी, असमानता और बेरोज़गारी को घटाना शामिल किया जा सके।

4 दिसम्बर 1986 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अंगीकृत **विकास के अधिकार** ने एक समतावादी विश्व व्यवस्था हेतु दावों के लिए आधार प्रदान किया। विकास के अधिकार में

आत्म-निर्णयन् का अधिकार एवं संप्रभुता का अधिकार आते हैं और यह नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी अधिकारों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण बताता है और कहता है कि इनको समान रूप से ही प्रोत्साहन और संरक्षण दिया जाना चाहिए। यह इस अनुमान को भी सामने लाता है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा विकास के प्रति सहायक स्थितियों को लागू करने के लिए अनिवार्य तत्त्व हैं। अमर्त्य सेन के स्वतंत्रता के रूप में विकास संबंधी स्पष्टोच्चारण ने विकास में स्वतंत्रता की 'संघटक' के साथ-साथ 'सहायक' भूमिका पर भी ज़ोर दिया। राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक अवसर, सामाजिक सुरक्षा, आस्था तथा सार्वजनिक मामलों व सामाजिक अवसरों में स्वतंत्रताओं के रूप में लिया जाता है जो कि विकास को बढ़ावा देने वाली दशाएँ प्रदान करने में सहायक हैं। इस बात पर भी गौ़र किया जा सकता है कि इन स्वतंत्रताओं में भी विकास के यथेष्ठ लक्षण शामिल हैं।

30.5 कुछ उपयोगी संदर्भ

बक्शी, उपेन्द्र, 'डैवैलॅपमैण्ट ऑफ़ राइट टु डैवे़लपमैण्ट', जैन्यू सिमोनाइदे (सं.) कृत *ह्यूमन राइट्स : न्यू डायमैन्शन्ज़ एण्ड चैलेन्जेस* में, ऐशगेट, डार्टमाउथ, 1998

बूआन्दे, यूऐफ, *ह्यूमन राइट्स एण्ड कॅम्पैरिटिव पॉलिक्सि*, एल्डरशॉट, डार्टमाउथ, 1997, पृ. 3. 'वार्ड जेनेरेशन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स, पृ. 47-65

एस्तेवा, गुस्तावो, 'डैवैलॅपमैण्ट', वुल्फगांग सैश (सं.), कृत द *डैवे़लॅपमैण्ट डिक्शनरी* में, ज़ैड बुक्स, लण्दन, 1992

लारेन, जोर्ज, *थिअरीज़ ऑफ डैवैलॅपमैण्ट*, पॉलिटि, कैम्ब्रिज, 1989

लैफ़्टिवच, आद्रें, *स्टेट्स ऑफ़ डैवैलॅपमैण्ट,* पॉलिटि, कैम्ब्रिज, 2000

सैश, वुल्फ गांग, 'इण्ट्रोडक्शन', वुल्फ़गाग सैश (सं.) कृत द *डैवैलॅपमैण्ट डिक्शनरी* में, ज़ैड बुक्स, लण्दन, 1992

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

30.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 30.1

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप-भाग 30.2.1 एवं 30.2.2

2) देखें भाग 30.2

3) देखें उप-भाग 30.2.6

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 30.3

2) देखें उप-भाग 30.3.9

इकाई 31 वंचित और सकारात्मक कार्य

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 परिचय
31.2 सकारात्मक कार्य के औचित्य
31.2.1 निरंतर भेदभाव के प्रमाण
31.3 सैद्धांतिक मुद्दे
31.4 सकारात्मक कार्य : सांसारिक परिप्रेक्ष्य
31.4.1 भारत में सकारात्मक कार्य
31.4.2 मलेशिया में सकारात्मक कार्य
31.4.3 नामिबिया और दक्षिण अफ्रीका में सकारात्मक कार्य
31.4.4 संयुक्त राज्य अमेरिका में सकारात्मक कार्य
31.4.5 फ्रांस में सकारात्मक कार्य
31.5 अवधारणा की समीक्षा
31.5.1 गुण संबंधी तर्क
31.5.2 अधिकार संबंधी तर्क
31.5.3 कार्य क्षमता संबंधी तर्क
31.5.4 बलकनाईज़ेशन संबंधी तर्क
31.6 सारांश
31.7 कुछ उपयोगी संदर्भ
31.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.0 उद्देश्य

वंचित समूह प्रजाति, रंग, जाति, लिंग और जैविक असमर्थता के रूप में हमारे सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक निर्माण का एक अहम हिस्सा हैं। इन सीमांत समूहों को सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक जीवन की मुख्य-धारा में, विशेषतया बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लाने की कोशिश की जा रही है।

सकारात्मक कार्य के पक्ष और विपक्ष में तर्क दिये जाते हैं, साथ-साथ सकारात्मक कार्य हेतु कार्यक्रमों को लगातार लागू करने के लिए कानूनी और नैतिक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। 'गुण' शब्द का इस्तेमाल अक्सर सकारात्मक कार्य के संगत सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप को रद्द करने के लिए किया जाता है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद विद्यार्थी निम्नलिखित बातों को जान पायेंगे :

- वंचित समूह कौन-कौन से हैं?
- सकारात्मक कार्य की अवधारणा की व्याख्या कैसे की गई है?
- आधुनिक समय में सकारात्मक कार्य का क्या औचित्य है?
- इस अवधारणा के सैद्धांतिक पहलू क्या हैं?
- संसार के विभिन्न भागों में सकारात्मक कार्य की अवधारणा का सूत्रपात कैसे हुआ है?
- सकारात्मक कार्य के निर्णयात्मक पहलू क्या है?

सैद्धांतिक दृष्टि से सकारात्मक कार्य को सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, क्योंकि इसमें निहितार्थ है कि ऐसे कदम उठाये जाने चाहिए, जिससे कि सभी व्यक्ति समान बने और पारंपरिक और पारंपरिक और पूर्वाग्रहों से ग्रसित चलनो (practices) को रोका जा सके।

31.1 परिचय

आज की समसामयिक चर्चा का विषय, सकारात्मक कार्य, अन्य सभी गंभीर वाद-विवाद के मुद्दों जैसे बहु-संस्कृतिवाद, द्वि-भाषीय शिक्षा, आप्रवासन इत्यादि की तरह आधुनिक, राजनीतिक सिद्धांत का अभिन्न अंग बन गया हैं। दृढ़ ध्रुवीकरण, जो इन सैद्धांतिक वाद विवादों से उत्पन्न होता है, अक्सर यह देखने में असफल रहता है कि सच्चाई कहीं बीच में है। अतः विषय पर खुले और अपक्षपातपूर्ण रैवेये की अधिक ज़रूरत है। वंचित और सकारात्मक कार्य की अवधारणा 1960 के दशक में अमेरिका में 'नागरिक अधिकार आन्दोलन' (Civil Rights Movement) के प्रयासों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुयी, जो अमेरिका को उसके मौलिक संविदा (Contract) – कि 'सभी व्यक्ति समान बनाये गये हैं– को मनवाने के लिये था। इसके अतिरिक्त, राजभक्ति की शपथ (Pledge of Allegianee) में सभी के लिए स्वतन्त्रता और न्याय का वादा किया गया था। यह आदर्शवाद सभी व्यक्तियों के साथ बिना रंग, राष्ट्रीयता, जाति, धर्म और लिंग का भेदभाव किये समान अवसर का वादा था, जिन्हें इतिहास में उक्त वक्त तक सम्मान नहीं दिया गया था। इस अदेय अधिकार के लिये नागरिक अधिकार आन्दोलन के संस्थापक और अनुयायी आगे बढ़े और मरे, और अंततः 1964 के नागरिक अधिकार अधिनियम को प्राप्त किया। जॉनसन प्रशासन ने संयुक्त राज्य कार्यपालिका आदेश 11246 को जारी करते हुए 1965 में सकारात्मक कार्य को गले लगाया, बाद में कार्यपालिका आदेश 11375 के द्वारा इसमें संशोधन किया। आदेश के द्वारा संशोधन का उद्देश्य 'भूत और वर्तमान विभेद के प्रभाव को कम करना था'। यह संघीय संविदाकार या उप-संविदाकार को किसी भी कर्मचारी या आवेदक के साथ जाति, रंग, धर्म, लिंग या राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभाव करने से रोकता था।

MAADHYAM IAS

ऐसे अन्याय को खत्म करने के क्रम में, विशेषकर आवास, शिक्षा और रोज़गार के क्षेत्र में कदम यह सुनिश्चित करने के लिए उठाये गये थे कि, जिन समूहों को ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक मान-सम्मान से परे रखा गया था या जिन तक उनकी सीमित पहुँच थी, उन्हें शामिल करने के लिए मौके दिये जायें। इस प्रकार यह सामाजिक नीतियाँ सामाजिक रूप से वंचित समूहों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से संबंधित थीं, विशेषकर रोज़गार, शिक्षा और आवास के क्षेत्र में बिना जाति, रंग, धर्म, लिंग या राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभाव के। भेदभाव की ऐतिहासिक प्रवृत्ति के विपरीत, योग्य व्यक्ति के लिए समान अवसर प्रदान करना ही अवधारणा का लक्ष्य था।

महिलाओं के साथ उनके लिंग के नकारात्मक अर्थ के कारण भेदभाव किया जाता है। इस प्रकार समाधान एक से अधिक जाति या लिंग नहीं हैं, बल्कि सांस्कृतिक रूप से स्वीकृत उन नीतियों के विनाश से, जो जाति/लिंग की श्रेष्ठता और पद की गरिमा की रक्षा करती हैं, समाज का पुनर्गठन किया जा सकता है।

इस प्रकार की 'रंगपूर्ण' जाति प्रथा की प्रवृत्ति का 1858 के एक अमेरिकी निबंध के निम्न अंश में पता लगाया जा सकता है :

> ''... 'नीग्रो' बुद्धिजीवी की ऐसी कमी को उजागर करता है।... उनकी (नैतिक) स्थिति इतनी गिरी हुई है कि उनकी मानवीयता पर भी संदेह किया जाता है। ... कामुकता उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण इच्छा है, और इस प्रकार बलात्कार एक अति शीघ्र होने वाला आचरण है।

खास बिन्दू यह है कि यद्यपि यह 1858 के निबंध का अंश था, इसने शहर के अटॉर्नी के प्रशिक्षण और विरासत को प्रभावित किया। इस प्रकार का जातीय और सामाजिक भेदभाव कालों को गोरों से नीचा दिखाने के लिए किया जाता था। यह आज भी काले-गोरे के संबंधों की पूर्वचेतना या अचेतन चलन में विद्यमान है।

'स्वीकृत सर्वोच्चता की' सूक्ष्म-उग्रशील प्रवृत्ति जातीय अंतःक्रियाओं के संचालन और निर्णयों, प्रवेश संबंधी निर्णयों, सुनवाइयों और संयुक्त राज्य अमेरिका में मानव जीवन के प्रत्येक अन्य पहलुओं और संसार के विभिन्न भागों की विभिन्न उद्घोषणाओं और ढाँचों में झलकती है।

अनामारिया लोया, मालडेफ के अटॉर्नी अवधारणा की इस रूप में व्याख्या करते हैं कि "सकारात्मक कार्य किसी भी पैमाने, नीति या कानून विविधता को बढ़ाने या भेदभाव का समाधान करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जिससे कि योग्य व्यक्तियों को रोज़गार, शिक्षा, व्यापार और अवसरों के संविदा की समान पहुँच हो"। वहीं, अबदीन नोबोआ कहते हैं कि "सकारात्मक कार्य लोगों को गिनने से संबंधित नहीं है, बल्कि लोगों को गिनने लायक बनाने से हैं"।

31.2 सकारात्मक कार्य के औचित्य

ऑलिवर वैंडेल हौलम्स ने कहा था कि "असमानों के साथ समान व्यवहार से बढ़कर कोई असमानता नहीं है"। यहाँ ऐसे सकारात्मक भेदभाव को उत्पन्न करने की ज़रूरत है, जो मानवता को अधिक मानवीय और प्रगतिशील बना दे।

अरस्तु ने अपनी पुस्तक *निकोमचियन एथिक्स* (Nichomchean Ethics) में लिखा था कि न्याय ही समानता है, जैसा कि सभी व्यक्ति विश्वास करते हैं कि यह किसी भी विवाद से बिल्कुल अलग है। वास्तव में, ग्रीक भाषा में समानता शब्द का अर्थ न्याय होता है।

MAADHYAM IAS

अरस्तु के अनुसार समानता का अर्थ है कि जो चीज़ें समान हैं, उनके साथ समान और जो चीज़ें असमान हैं, उनके साथ असमान व्यवहार किया जाना चाहिए। अन्याय तब होता है जब समानों के साथ असमान और असमानों के साथ समान व्यवहार किया जाये।

सकारात्मक कार्य सामाजिक अन्याय को दूर करने के लिए आवश्यक बन जाता है। यह समाधान के सिद्धांत (Principle of Redress) पर आधारित है; यह कि असंगत असमानताओं को सुधारा जाये। चूँकि जन्म की असमानतायें असंगत हैं, इन असमानताओं की किसी तरह क्षति पूर्ति की जानी चाहिए। रॉल्स के अनुसार, सभी व्यक्तियों के साथ समानता का व्यवहार और अवसर की वास्तविक समानता प्रदान करने के क्रम में समाज को कम अनुकूल सामाजिक स्थितियों में पैदा होने या रखे जाने वालों के प्रति अधिक ध्यान देना चाहिए। सकारात्मक कार्य भेदभाव की लगातार समस्याओं के निदान के लिए समाज के प्रयासों के एक भाग के रूप में स्थापित किया गया था; अनुभवजन्य प्रमाण जो कि पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया, सूचित करता है कि इसने कुछ हद तक कार्य किया है, जिसका सकारात्मक प्रभाव भेदभाव के परिणामों पर दिखा है। वर्तमान में ऐसा भेदभाव है या नहीं, सकारात्मक कार्य के किसी भी विश्लेषण का केन्द्रीय तत्त्व है।

31.2.1 निरंतर भेदभाव के प्रमाण

अनेक क्षेत्रों में निश्चित रूप से प्रगति हुई है। फिर भी प्रमाण बहुत सारे हैं कि जो समस्यायें सकारात्मक कार्य हल करना चाहता है, वे चारों तरफ फैली हैं। अमेरिकी समाज का

उदाहरण लेते हैं, जहाँ सकारात्मक कार्य की अवधारणा की उत्पत्ति हुई, काले और गोरे की आर्थिक स्थिति में स्पष्ट अंतर, और पुरुषों और महिलाओं के बीच, स्पष्टतः सामाजिक और आर्थिक कारणों के चलते सामान्य भेदभाव को बढ़ावा देते हैं।

भेदभाव के चलन को इंगित करने की एक सम्मानित विधि आकस्मिक जाँच (Random Testing) का इस्तेमाल करना है, जिसमें व्यक्ति समान नौकरी, वर्ग या समान अन्य लक्ष्य के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। उदाहरणार्थ, फेयर इम्पलॉयमेंट काउंसिल आफ ग्रेटर वॉशिंगटन इंक (Inc.) ने 1990 और 1992 के बीच जाँचों की श्रृंखला का आयोजन किया। जाँच ने पाया कि कालों के साथ स्पष्टतया उस समय के समान रूप से योग्य गोरों की अपेक्षा बुरा व्यवहार किया गया था।

इसी प्रकार, नैशनल ब्यूरो ऑफ इक्नॉमिक रिसर्च के शोधकर्ताओं ने पुरुषों और महिलाओं के तुलनीय आवेदनों को फिलैडैल्फिया के रेस्टॉरेंटों को भेजा। ऊँचे दामों वाले रेस्टॉरेंटों में पुरुषों को साक्षात्कार पत्र मिलने की संभावना महिलाओं से दुगनी और नौकरी की पाँच गुना अधिक थी।

न्याय विभाग ने भी इस समान जाँच रिहायशी घरों में भेदभाव को उजागर करने के लिए की थी। इन जाँचों ने भी पर्दाफाश किया कि गोरों को कालों की अपेक्षा अधिक आवासीय इकाइयों में देखा गया, जबकि कालों के पास समान प्रमाण पत्र के बावजूद उन्हें कहा गया कि कोई आवास उपलब्ध नहीं है। जाँच के आरंभ से, न्याय विभाग ने 20 संघीय आरोपों का कुल 1.5 मिलियन डॉलर में समझौते के द्वारा निपटारा किया। राष्ट्रपति बुश के अधीन एक गठित संस्था ग्लास सिलिंग आयोग और विधायकीय संचालित सीनेटर डोल ने अपनी हाल की, एक रिपोर्ट इस प्रकार प्रस्तुत की :

- गोरे पुरुष फॉरच्युन 1000 औद्योगिक और फॉरच्युन (Fortune) 500 सेवा उद्योगों में वरिष्ठ व्यवस्थापक पदों पर 97% तक आसीन हैं। केवल 0.6% अफ्रीकन-अमेरिकन, 0.3% एशियाई और 0.4% हिसपैनिक (Hispanic) इन पदों पर हैं।
- अफ्रीकन-अमेरिकन प्राईवेट सैक्टर के ऊँचे पदों पर सिर्फ 2.5% ही हैं और पेशेवर डिग्री वाले अफ्रीकन-अमेरिकन गोरे व्यक्तियों द्वारा कमायी गई रकम की तुलना में सिर्फ 79% प्रतिशत रकम कमाते हैं। अफ्रीकन-अमेरिकन महिलायें गोरे पुरुषों द्वारा कमायी गई रकम की तुलना में सिर्फ 60% प्रतिशत रकम ही कमाती हैं।
- महिलायें वरिष्ठ व्यवस्थापक पदों पर सिर्फ 3 से 5% ही हैं, सिर्फ दो महिलायें सी.ई.ओ. (CEOs) पद पर फॉरच्युन 1000 कम्पनियों में हैं।
- निम्न स्तर के गोरे पुरुष कर्मचारियों के भय और पुर्वधारणा को महिलाओं और अल्पसंख्यकों की प्रगति के प्रमुख बाधक के रूप में स्वीकार किया गया। रिपोर्ट में यह भी पाया गया था कि बोर्ड के आर-पार पुरुषों की प्रगति महिलाओं की अपेक्षा अधिक होती है।
- अफ्रीकन-अमेरिकन की बेरोज़गारी दर 1994 में गोरों की बेरोज़गारी की दर से दुगुनी थी। पूर्ण-कालिक और पूरे वर्ष कार्यरत काले पुरुषों की औसत आय 1992 के वर्ष में गोरे पुरुषों की आय से 30% कम थी। हिस्पैनिक प्रत्येक वर्ग में मामूली रूप से ही बेहतर थे। 1993 में काले और हिस्पैनिक पुरुषों की गोरों की तुलना में व्यवस्थापक या पेशवर बनने की संभावना आधी ही थी।
- 1992 में 50% से भी अधिक 6 साल से कम अफ्रीकी-अमेरिकी बच्चे और 44% हिस्पैनिक बच्चे गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर करते थे, जबकि सिर्फ 14.4% गोरे

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बच्चे ही इस तरह की ज़िंदगी बसर करते थे। 33.3% अफ्रीकन-अमेरिकन 29.3% हिस्पैनिक और 11.6% गोरों की समग्र गरीबी दर थी।

- कालों की रोज़गार स्थिति सुदृढ़ नहीं है, आर्थिक उन्नति में उनकी बेरोज़गारी की ग्राफ रेखा नीचे की ओर जाती है। उदाहरणार्थ, 1981-82 में मंदी के वक्त, कालों के रोज़गार में 9.1% की गिरावट आई, जबकि गोरों के रोज़गार में 1.6% की कमी आई। हिस्पैनिक की बेरोज़गारी भी अमेरिकन गोरे के बेरोज़गार की अपेक्षा अधिक चक्रीय है।

- शिक्षा की असमान पहुँच आर्थिक असमानता की सृजन वृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। 1993 में 3 प्रतिशत से कम कॉलेज के स्नातक बेरोज़गार थे, लेकिन 22.6 प्रतिशत गोरों के पास कॉलेज की डिग्रियाँ थीं। लेकिन केवल 12.2 प्रतिशत अफ्रीकन-अमेरिकन और 9.0 प्रतिशत हिस्पैनिक के पास ऐसी डिग्री थी।

- 1990 की जनगणना से स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रीय कारोबार के 2.4 प्रतिशत पर कालों का स्वामित्व था। परंतु इन काले कारोबारियों के 85 प्रतिशत के पास कोई कर्मचारी नहीं था। यहाँ तक कि शैक्षिक श्रेणी के अंतर्गत भी अल्पसंख्यकों और महिलाओं की आर्थिक स्थिति में गिरावट है। स्नातकोत्तर डिग्री वाली औसत महिला अधीनस्थ डिग्री वाले पुरुष के समान पैसे कमाती है।

- ये खाइयाँ, तार्किक रूप से, आज विश्व के सबसे विकसित समाज में एक रचनात्मक कार्यक्रम की ज़रूरत को औचित्य प्रदान करती हैं, जिससे कि समाज में सर्वत्र व्याप्त असमानता और अन्याय का सामना, साहस और प्रतिबद्धता से किया जा सके।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) संयुक्त राज्य अमेरिका के विशेष संदर्भ में सकारात्मक कार्य की उत्पत्ति तथा प्रारंभिक इतिहास पर प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

2) संयुक्त राज्य अमेरिका में जातीय भेदभाव के परिदृश्य की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

31.3 सैद्धांतिक मुद्दे

समस्या की गंभीरता को देखते हुए, करीब-करीब सभी विचारकों ने, उदारवादियों से लेकर स्वतंत्रतावादियों और मार्क्सवादियों से लेकर सामाजिक प्रजातांत्रिकों ने अपने-अपने ढंग से इस मुद्दे को देखने का प्रयास किया है। इन सभी के बीच एक सामान्य सहमति है कि व्यक्तिगत परिस्थितियों की समानता असंभव है।

जॉन रॉल्स असमानता को कम करने के लिए ठोस केस प्रस्तुत करते हैं; जैसा कि वे स्वीकारते हैं कि यदि असमानतायें सामाजिक प्रतिभाओं और ऊर्जाओं से प्रत्येक को लाभ पहुँचाती हैं, तब वे सभी को स्वीकार्य होंगी।

दूसरी तरफ, स्वतंत्रतावादियों का मानना है कि व्यक्ति के संदर्भ में समानता न सिर्फ वांछनीय नहीं है, बल्कि यह प्रोत्साहन और विकास को कम करती है। वे अवसर की समानता तथा कानून के समक्ष समानता की बातें तो करते हैं, लेकिन समानता के सामान्य अर्थ में यह स्पष्टतः उनके लिए प्रोत्साहन का विरोधी है। हम जिस शीघ्र आर्थिक विकास की अपेक्षा करते हैं, बड़े पैमाने पर यह प्रतीत होता है कि यह असमान परिस्थितियों का परिणाम है। कार्ल मार्क्स का समानता संबंधी दृष्टिकोण व्यक्तिगत परिस्थिति की समानता के विचार, सामानों और आमदनियों के समान आवंटन के अर्थ में पूरी तरह से अलग है। वे वर्ग-विभेद को पूरी तरह से खत्म करना चाहते थे, जिससे दमन और शोषण खत्म हो जायें और उनसे उत्पन्न होने वाली सारी सामाजिक और राजनीतिक असमानता अपने आप विलीन हो जाये। साम्यवाद के प्रथम चरण में, उन्होंने श्रम के समान अधिकार को असमानता का कारण माना, लेकिन साम्यवाद के अंतिम चरण में उन्होंने विश्व में सामानों और आय के आवंटन के अर्थ में समानता के अर्थ को सीमित किया।

सामाजिक प्रजातंत्रवादियों और फेबियनों ने समानता के वास्तविक माप के पक्ष को माना है, लेकिन वे मुक्त बाज़ार पूँजीवाद के बुनियादी ढाँचे के साथ कुछ करना चाहते हैं, यह विश्वास करते हुए कि असमानता के कुछ रूप लम्बे समय के विकास के उद्देश्य से मात्र वांछनीय नहीं हैं, बल्कि चीज़ों के प्राकृतिक क्रम का एक भाग भी हैं; उन्होंने इसे भी स्वीकार किया है।

समानता की उनकी अवधारणा और मानव विकास के लिए इसकी प्रासंगिकता के अतिरिक्त न्याय प्राप्त करने संबंधी उनके विचार भी ज्ञानवर्धक हैं, जैसे कि प्रत्येक व्यक्ति को जानकारी है कि समानता की अवधारणा के समान ही न्याय की विभिन्न अवधारणायें हो सकती हैं।

रॉल्सियन योजना के अंतर्गत, न्याय की अवधारणा सुनिश्चित करती है कि सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की हो जो समाज के सबसे कम सुविधा भोगी सदस्यों की अवस्था को सुधारे। वास्तव में रॉल्सियन न्याय समाज के बहुत से दयनीय सदस्यों के सुधारने की दिशा में पूरी तरह से लगा हुआ है। रॉल्स अवसर की समानता सुनिश्चित करने की बात करते हैं, क्योंकि यह लोगों के भाग्य को सुनिश्चित करता है, जो उनके चुनाव के द्वारा निर्धारित होता है, न कि उनकी परिस्थितियों के द्वारा। ''मेरा उद्देश्य उन असमानताओं को व्यवस्थित करना है, जो लोगों के जीवन अवसरों को प्रभावित करती हैं और न कि उन असमानताओं को जो लोगों के व्यक्तिगत चुनावों से उत्पन्न होती हैं, जो व्यक्ति के स्वयं की जिम्मेवारी होती है''। रॉल्स एक ऐसी योजना को सुनिश्चित करने की चेष्टा करते हैं, जिसको प्रो. ड्र्योकिन ने 'असंवेदनशील प्रतिभा और संवेदनशील आकांक्षा' (Endowment Insensitive and Ambition Sensitive) की व्यवस्था के नाम से पुकारा है। कोई भी प्रणाली

न्यायसंगत हैं, यदि वह अयोग्य असमानताओं की सुनवाई का ख्याल करती हैं और चूँकि जन्म की असमानतायें अयोग्य होती हैं, इन असमानताओं की किसी तरह क्षतिपूर्ति की जानी चाहिये।

स्वतंत्रतावादी विचारकों जैसे हैक और फ्रीडमैन ने व्यक्तिगत परिस्थितियों की समानता को सुनिश्चित करने में कठिनाई को महसूस किया हैं, लेकिन साथ ही उन्होंने नैतिक और राजनीतिक असमानता को खत्म करने की बातें की हैं। उन्होंने अपना विचार-विमर्श 'अवसर की समानता तथा कानून के समक्ष समानता' को सुनिश्चित करने पर केन्द्रित किया है। यहां पूर्वानुमान है कि यह न्याय को सुनिश्चित करता है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ावा देता है। अवसर की समानता का सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति को, जो वह चाहता है और जिसे करने की उसके पास क्षमता है, समान अवसर प्रदान करता हैं। मार्क्स के अनुसार, न्यायोचित व्यवस्था के अंतर्गत सभी वर्गों की पहचान को खत्म कर दिया जाता है।

यह आवश्यक रूप से एक ऐसी व्यवस्था नहीं है, जहाँ समानता का वर्चस्व होता है, क्यों समानता मौलिक रूप से मध्यवर्गीय विचारधारा है जिसका श्रमिक वर्ग की मागों तथा उद्देश्यों के ब्यान में कोई जगह नहीं होती है। यद्यपि राज्य प्रभावी वर्ग द्वारा अपने अश्रित वर्ग का दामन एवं शोषण करने का साधन होता है, सर्वहारा वर्ग के हाथों में राज्य मध्यवर्ग, अन्य प्रतिक्रियावादी और मुकाबला करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुध संसाधनों का शीघ्रता से पुनः विभाजन को प्रभावित करने वाला माध्यम होगा।

सामाजिक प्रजातंत्रवादी एक ऐसी व्यवस्था सुनिश्चित करने के पक्ष में हैं, (एक न्यायोचित), जहां पूँजीवाद के बुनियादी ढाँचों को बिना कुछ किये समानता की काफी हद तक गारण्टी हो।

जिन्होंने विशेष रूप से इस प्रश्न पर ध्यान दिया है, वे महसूस भी करते हैं कि वंचित समूहों के कष्टों का निवारण करने के लिए सकारात्मक कदम, सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आर.एच. टॉनी ठोस पुनः वितरण के प्रबल पक्षधर हैं और विशेष रूप से शिक्षा के लिए सार्वजनिक प्रावधान सभी बच्चों के लिए ताकि वे स्वतंत्रता के योग्य और व्यक्तिगत भेदों को पूर्ण करने में अधिक सक्षम और व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को बढ़ाये।

ऐसे विचारकों की विचारधाराओं को सम्मिलित करते हुए अमर्त्य सेन 'बुनियादी सामर्थ्य समानता' (Basic Capability Equality) के अपने तर्क के इस पक्ष पर ज़ोर देते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तिगत दावों को संसाधनों या प्राथमिक सामानों, जो व्यक्ति के अधीन हैं, के संदर्भ में, वे जीवन के विभिन्न रास्तों में से एक को चुनने के हकदार हैं, जिससे कि वे सार्वजनिक कार्य पोषक स्थल में सुधार, जीवन संभाव्य और अस्वस्थ्यता और नवजात शिशु की मरणशीलता को कम करके व्यक्तिगत क्षमताओं के विकास के महत्त्व का कारण दे सकते हैं।

भविष्यवादी रुख अपनाते हुए मि. एडली उन संभावित रूपों को ढूँढ़ते हैं, जो सकारात्मक कार्य भविष्य में अपना सके। यह सिद्धांतवादी सकारात्मक कार्य के तीन ढाँचों को प्रस्तुत करते हैं; प्रथम, सकारात्मक कार्य का 'रंग अंध' (Colour Blind) दृष्टिकोण होता है। यह स्वरूप नस्लीय उपायों को केवल उनके लिए एक समाधान के तौर पर देखता है, जोकि साबित कर सके कि वे भेदभाव के पृथक कार्यों के शिकार हैं।

सकारात्मक कार्य की दूसरी व्याख्या को 'अवसर और भेदभाव विरोधी' व्याख्या कहा जा सकता है। यह व्याख्या अल्पसंख्यकों के लिए समान अवसर प्रदान करने की पक्षधर है,

लेकिन समान परिणामों की ज़रूरत महसूस नहीं करती। यह व्याख्या स्वीकार करती है कि नस्लवाद से क्षति 'जातियों के बीच आर्थिक और सामाजिक विषमता को उत्पन्न करती है'। सकारात्मक कार्य की यह व्याख्या इन क्षतियों को दूर करने की कोशिश करती है।

अंततः, तीसरी व्याख्या 'सुधार एवं सम्मिलित' (Remediation Plus in clusion शामिल की कही जा सकती है। यह व्याख्या विचार की 'प्रमुख' उपागम है और मुख्य रूप से सुझाव देती है कि विभिन्नता अपने आप 'राज्य ध्यानकर्षण का विषय' है।

ये नमूने नव-विश्व की व्यवस्था के लिए उकसाते हैं, जो बहुलता को शोषण के बदले प्रगति के साधन के रूप में अपनाते हैं। नव-सैद्धांतिक ढाँचे की आवश्यकता इस वास्तविकता से समझी जा सकती है कि भेदभावपूर्ण प्रवृत्ति अधिक सूक्ष्म, अवचेतन और परिष्कृत बन गयी है, इसलिए इसे उस स्तर पर निर्देश दिया जाना चाहिए। इसे मात्र असमानताओं के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता था, जो वंचित लोगों की एक अति साधारण छवि प्रस्तुत करती है।

तीन मुख्य तत्त्व हैं, जहाँ सकारात्मक कार्य कार्यक्रम संबंधी सकारात्मक समानता की परम्परागत समझ पर भारी पड़ते हैं :

प्रथम, सकारात्मक कार्य कार्यक्रम पूर्व-सक्रिय (Pro-active) होते हैं और एक विविध आवेदक समूह को सुनिश्चित करने के लिए नीतियों और प्रक्रियाओं को समाहित करते हैं। सकारात्मक कार्य का अर्थ दाखिले और प्रौन्नति के कोटा नहीं हैं, जो वास्तव में अवैधानिक होते हैं। न इसका आवश्यक रूप से अर्थ पसंदगी का दाखिला होता है। यहां लक्ष्य है, एक स्व-चेतन और और सक्रिय ढंग से एकत्रित करना, ताकि सूक्ष्म पूर्वाग्रहों को काटा जा सके, पूर्णतया योग्य उम्मीदवारों का दाखिले या प्रौन्नति का एक विविध समूह है।

द्वितीय, सकारात्मक कार्य कार्यक्रम की सबसे सामान्य विशेषता है, रिकॉर्ड रखना और वास्तविक उपलब्ध आँकड़ों को पहचानने पर ज़ोर देना, जिससे संगठन अपने विभिन्न लक्ष्यों के संदर्भ में प्रगति का अनुमान लगा सकते हैं। व्याप्त भेदभाव की सूक्ष्म प्रक्रिया का पता लगाया जा सकता है और प्रयोगशाला की संरचित शर्तों के अंतर्गत अलग-थलग किया जा सकता है। फिर भी संगठनिक निर्णय प्रक्रिया में, जहाँ कि प्रयोग की नियंत्रित शर्ते कठिनायी से ही संभव होती हैं, समकालीन पूर्वाग्रह वंचित समूहों के सदस्यों के साथ समान व्यवहार को चुनौती देते हैं। न केवल पूर्वाग्रह धारणा करने वाले अक्सर अपने उद्देश्यों से सजग नहीं होते हैं, अपितु खोज ने यह साबित किया है कि भेदभाव के शिकार भी पहचान नहीं सकते है कि उनके साथ व्यक्तिगत रूप से भेदभाव किया गया है। विषमताओं पर व्यवस्थित नजर (Monitoring) से सामान्य सहमति से स्वीकृत आयामों के, आधार पर समकालीन पूर्वाग्रहों के संचित प्रभावों को इंगित कर सकते हैं, जो कि किसी भी विषय में निर्धारित प्रभाव की अपेक्षा अधिक प्रमाणिक होते हैं।

तीसरे, सकारात्मक कार्य नीतियां निर्गत (outcome) आधारित होती है; अभिप्राय संबंधी मुद्दे केन्द्रिय नहीं होते हैं। इरादों की अभिव्यक्ति, जो विशिष्टतापूर्वक समान रोज़गार अवसर कार्यक्रम संबंधित प्रमुख मुद्दा है, समकालीन पूर्वाग्रहों के कारण समस्यामूलक होती है। ये पूर्वाग्रह सामान्यतया बिना इरादे के घटित होते हैं।

इसे और सरल ढंग से पेश करते हुए, पिछले 25 वर्षों में सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने इसे पहचाना है तथा भेदभाव के समकालीन पूर्वाग्रहों के सूक्ष्म प्रकृति को दस्तावेज से प्रमाणित किया है। प्रत्यक्ष और आसानी से समझने योग्य परम्परागत रूपों के विपरीत, समकालीन भेदभावों को अनचाहे ढंग से, अप्रत्यक्ष और बुद्धिमत्तापूर्ण तरीकों से दर्शाया जाता है। समकालीन भेदभाव की सूक्ष्म प्रकृति के कारण, निष्क्रिय समान अवसर रोज़गार नीतियाँ

परम्परागत वंचित समूहों के न्यायिक और अभेदभावपूर्ण समाधान को सुनिश्चित नहीं कर सकती हैं। वंचित व्यक्तियों और समूहों की सुरक्षा के लिए नीतियाँ विदित 'आउट-ग्रुप' क्रियाओं से जनित भेदभाव के संदर्भ में अप्रभावकारी हो सकती हैं, 'इन-ग्रुप' पक्षपात पर आधारित भेदभाव पूर्ण समाधान के संदर्भ में अप्रभावकारी हो सकती हैं। इसके विपरीत, सकारात्मक कार्य जिसका ध्यान एक वृहत स्तर पर असमानताओं को रिकार्ड करना और उनके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करना है और जिसका ज़ोर इरादों की बनिस्पत परिणामों पर है, सूक्ष्म भेदभावों के विशेषकर समस्यामूलक पहलूओं के कुछ भागों को संबोधित करता है, जो लोगों के अच्छे इरादों के बावज़ूद असमानताओं को अस्तित्व में होने की स्वीकृति देते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) समानता और न्याय की अवधारणाओं के सैद्धांतिक आधार पर विवेचन करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

31.4 सकारात्मक कार्य : सांसारिक परिप्रेक्ष्य

यद्यपि इस अवधारणा की उत्पत्ति अमेरिका में हुई, फिर भी इसका विशेष प्रभाव सीमाओं से परे था। अमेरिका में सकारात्मक कार्य, अभियोग कानून, वैधानिक कानून और कार्यपालिका के आदेशों के संदेहास्पद मिश्रणों का परिणाम है, भारत, मलेशिया, नाम्बिया और दक्षिणी अफ्रीका ने अपने संविधानों में सकारात्मक कार्य को जगह दी है।

मलेशिया और भारत में सकारात्मक कार्य को अल्पसंख्यकों के लिए अवसरों का समानीकरण करने के साधन के रूप में सरकार प्रबल समर्थन देती है, जो वर्गीय दमन की वर्षों शिकार रहे हैं।

31.4.1 भारत में सकारात्मक कार्य

भारत दुनिया की किसी भी दूसरी जगह की अपेक्षा सकारात्मक कार्य को इसके सार में लम्बे समय और अधिक तेज़ी से प्रयोग करता रहा है। यद्यपि अमेरिका में सकारात्मक कार्य के परम्परागत विरोधी इसे एक तरफ स्थित तथा कोटा सूचित (Set asides and quotas) करते हुए गलत आंकड़ा प्रस्तुत करते हैं, भारत में कोटा ही कानून है। बड़े पैमाने पर शैक्षणिक और रोज़गार के क्षेत्र में 1950 से जाति प्रथा के आधार पर वंचित लोगों, जैसे अछूतों के लिए उनके कोटे की व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ भारतीय संसद में 'जातिच्युत' और अन्य गरीब जनजातियों के लिए उनके भौगोलिक प्रतिनिधित्व के सांख्यिकी अनुपात में सीटो की संख्या की वचनबद्धता है।

बड़े उद्देश्य के साथ भारतीय समाज के असुविधाभोगी और शोषित वर्गों के कष्टों के निवारण के लिए और पुनः संरचना तथा असमानता पर ज़ोर देने वाले श्रेणीबद्ध समाज को व्यक्तिगत उपलब्धि और सभी को समान अवसर प्रदान करने के आधुनिक समतावादी समाज में रूपान्तरण, संरक्षात्मक भेदभाव कार्यक्रम को भारतीय संविधान में योजनाबद्ध किया गया है। तथापि, समतावाद का यह आदर्श एक या दो दिन में सामने नहीं आया, बल्कि मध्यकालीन जाति प्रभावित समाज के परंपरागत विधि में परिवर्तन, एक लम्बी प्रक्रिया का चरमबिंदु था। वास्तव में, ये परिवर्तन जाति प्रभावित समाज के परम्परागत तरीकों में लम्बे समय तक चलने वाली प्रक्रिया की पराकाष्ठा था। इस प्रक्रिया में आंतरिक (Indigenous) सुधार तथा पश्चिमी प्रभावों ने बहुत बड़ा योगदान दिया।

भारतीय संविधान निर्माता पिछड़े वर्गों की व्याप्त दयनीय और भयावह दशाओं से भलीभाँति परिचित थे। वे राष्ट्रीय और सामाजिक धाराओं से बहुत पीछे और अलग-थलग थे और सदियों से विभिन्न प्रकार की असमानताओं के कारण सामाजिक रूप से दमित और आर्थिक रूप से शोषित किये जा रहे थे। इस असहायपन में जाति संरचना और वर्ग दमन संवैधानिक सुविधाओं और संरक्षित भेदभाव से पैदा हुआ, बहुत से संदेहों, संघर्षों के चलते ज़ोरदार बहस, अदालती मुकदमें, गली-हिंसा और सामाजिक अस्थिरता को जन्म दिया।

भारत जोकि विश्व की सबसे बड़ी प्रजातांत्रिक व्यवस्था है। जिसकी एक अरब से भी अधिक जनसंख्या है, और 5000 हज़ार वर्षों से भी अधिक पुराना इतिहास और प्रवाहमयी संस्कृति और अनुभवी भूत, अद्वितीय प्रकार के सुक्षात्मक भेदभाव कार्यक्रम का प्रयोग करता आ रहा है। नौकरी, शिक्षण संस्थाओं, विधायकी और स्थानीय स्वशासन संस्थाओं, 'पंचायती राज संस्थाओं' में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है और अब महिलाओं के लिए भी यह किसी भी स्तर पर एक शानदार प्रयोग रहा है। यह भी ध्यान देने की बात है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ी जाति, हजारों जातियाँ के पूरे खण्ड में देश में फैले हुए हैं। फिर भी, हमने कुछ हद तक लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है, जिसे 57 वर्ष पूर्व तय किया था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.4.2 मलेशिया में सकारात्मक कार्य

यद्यपि भारत में सकारात्मक कार्य कार्यक्रम सबसे पुराना है, मलेशिया का प्रयोग सबसे सफल माना जाता है। मलेशिया ने बिना कोटे की ज़रूरत के सफलता प्राप्त की है, वहाँ शिक्षा में तथा सरकारी रोज़गार में बहुसंख्यक, मलय को अब आदर्श माना जाता है।

मलेशियन प्रणाली ने संपत्ति के वास्तविक पुनः वितरण को जन्म किया है; 1969 में जहाँ अनेक मलयों की मलेशियन अर्थ व्यवस्था में मात्र 1 प्रतिशत हिस्सेदारी थी, वहीं अब 20 प्रतिशत से ज़्यादा है। अमेरिकी तुलना में, यह न्यूयार्क स्टॉक एक्सचैंज के स्टॉक व्यापार के सभी हिस्सेदारी को अमेरिकी जनसंख्या में उनके प्रतिनिधित्व के अनुपात में, काले लोगों को बाँटना जैसे होगा।

31.4.3 नामिबिया और दक्षिण अफ्रीका में सकारात्मक कार्य

नामिबिया और दक्षिणी अफ्रीका ने हाल में अपने संविधानों का पुनर्गठन किया है और उनकी समान व्यवस्था है, हाँलाकि उन्होंने अमेरिकी कानूनों से सकारात्मक कार्य भाषा की नकल की है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी अफ्रीका के संविधान में बस यह भाषा है : 'सकारात्मक कार्य की अनुमति है'। इसमें यह भी गौर किया गया है, कि विदेशों में सकारात्मक कार्य कार्यक्रम पूरी तरह से कठिनाई से परे नहीं हैं। भारत में, अनेक 'ऊँचे जाति' के सदस्यों ने अमेरिकी

परम्परावादियों की तरह समान तर्क देना शुरू कर दिया है और मलेशिया की व्यवस्था भ्रष्टाचार रहित नहीं हैं।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि सकारात्मक कार्य की अवधारणा का प्रयोग अमेरिका की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

31.4.4 संयुक्त राज्य अमेरिका में सकारात्मक कार्य

14वें संशोधन के अंतर्गत समान सुरक्षा प्रावधान होने के बावज़ूद वर्गीय भेदभाव अमेरिका में 20वीं शताब्दी के मध्य तक बरकरार था। फिर भी, इसके आदर्श और काले लोगों के प्रति इसके व्यवहार के बीच अंतर को 1950 के लगभग और 1954 में मुख्य रूप से सही किया जाने लगा। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने स्कूलों में कालों को अलग करने के विरुद्ध जोरदार विरोध किया। पहला कदम न्यायालयों के निर्णयों में उजागर हुआ और कॉंग्रेस के नागरिक अधिकार कानूनों ने वर्गीय भेदभाव के सिर्फ वैधानिक और अर्द्ध-वैधानिक रूपों को हटा दिया। इन कार्यों ने हॉलाकि सच्ची समानता या अवसर को प्रदान नहीं किया, सामाजिक रूप से वास्तविक समानता की संभावना को उत्पन्न करते हुए सरकारी शक्ति की सकारात्मक प्रयोग का दूसरे कदम के रूप में आदेश दिया। ब्राउन के प्लैसी के निर्णय के विरोध (समान लेकिन पृथक सिद्धांत) पूर्व विचार में निहित था कि सभी को सार्वजनिक रूप से लागू किये जाने वाले, प्रयोजिक या जातिय समर्थित भेदभाव सीमा से परे थे, समान सुरक्षा उपहार नहीं, बल्कि, एक जन्मसिद्ध अधिकार था।

ब्राउन के एक दशक के बाद कॉंग्रेस ने 1964 में नागरिक अधिकार अधिनियम लागू करके अलगाव को खत्म करने के लिए आन्दोलन में भाग लिया। इसने साधारण अर्थ में किसी व्यक्ति के साथ जाति, रंग या जातिय उत्पत्ति से संबंधित भेदभाव के संदर्भ में किसी कार्यक्रम या गतिविधि जिसे कि संघीय कोष प्राप्त होता था, पर प्रतिबंध लगाया। इन प्रयासों को जातिय वर्गीकरण का प्रयोग करते हुए जनादेश की तरह देखा गया है। ऐलौन बक मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय और वाद-विवाद ने अमेरिकी सकारात्मक कार्यक्रम को संवैधानिकता पुनः शक्तिशाली बनाया है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

फिर भी न्यायिक उद्घोषणा और शैक्षणिक और दार्शनिक विषयों पर अमेरिका में गर्मजोशी से वाद-विवाद वास्तव में भारत के सुरक्षात्मक कार्यक्रम के अनेक जटिल और पेचीदा मुद्दों को समझने में सहायक है। जो भारत के वैविध और वर्ण संस्कृति को संभालना बहुत ही कठिन हैं। संदर्भ थॉमस निर्णय में न्यायाधीश कृष्णा अय्यर की उद्घोषणाओं को लिया जा सकता है, जो अमेरिका में कालों की अक्षमताओं की क्षतिपूर्ति को भारत में हरिजनों की अक्षमताओं की क्षतिपूर्ति की समस्याओं के समानांतर रूप में देखा जा सकता था। इसी प्रकार न्यायाधीश अय्यर ने समानता के आधार पर रोजगार समझने में ''श्लेसिंगर बनाम बलार्ड (Schlesinger V. Ballard Case) मुकद्में का ज़िक्र किया। वास्तव में, अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने इस मुकद्दमें में विवेकशील आधार जाँच का प्रयोग करते हुए वर्गीकरण को महिला नौसैनिक अधिकारी के पक्ष में बरकरार रखा, जो गोपालन और चंपकम दोराइराजन मुकद्में में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनाये गये तर्कशील आधार पर वर्गीकरण के अधिक समान था।

एक पूरक यहाँ जोड़ा जा सकता है, जिससे कि ऐसा न हो कि संदर्भ को भुलाया जाये, यद्यपि भारत में ऐतिहासिक अन्यायों के लिए अपनाये गये सुधारात्मक कदमों से तुलना की जा सकती है, लेकिन 'ऐतिहासिक अन्यायों' का भारत का संदर्भ अमेरिका से बिल्कुल भिन्न है और कालों की स्थिति भारत में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की स्थिति से अनेक मामलों में भिन्न हैं। सांस्कृतिक संदर्भ की गतिशीलता भारत में बिल्कुल भिन्न है।

31.4.5 फ्रांस में सकारात्मक कार्य

सुरक्षात्मक भेदभाव की फ्रांसीसी संवैधानिक योजना संबंधित एक शब्द यहाँ अप्रासंगिक नहीं है। अमेरिका या भारत में सकारात्मक कार्यक्रम फ्रांसीसी समतुल्य का भातृत्व की अवधारणा है, जिसका उद्देश्य समाज के गरीब और वंचित सदस्यों को फायदा पहुँचाना है। 1793 की धारा 21 की घोषणा में सार्वजनिक सहायता एक पवित्र कर्ज़ है। समाज का फर्ज होता है, जो कार्य करने में असमर्थ हैं, उनकी मदद करें। अधिकारों के गिरोन्डिन (Girondin) प्रस्ताव में यह कथन अंतर्निहित था कि समानता सभी के अंदर समान अधिकारों का प्रयोग करने में समाहित है। यद्यपि समानता की प्रणाली को पाँचवें गणतंत्र (Fifth Republic) में अपनाया गया है, और उसने फ्रांसीसी मानसिकता को सही दर्शाया है, यह विचित्र और विरोधात्मक है कि जितनी समानता को अमेरिकी और भारतीय प्रणाली में अपनाया गया है, उतनी फ्रांसीसी प्रणाली या तो सामाजिक-राजनीतिक वाद-विवादों या कॉनसेइल कान्सटिट्यूस्नेल (Conseil Constitutionnel) में प्राप्त होने की उम्मीद कम है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) भारत में सकारात्मक कार्य की नीति एवं प्रयोग का परीक्षण करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) फ्रांस में सकारात्मक कार्य के प्रयोग पर टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

....

31.5 अवधारणा की समीक्षा

अनेक लोग सकारात्मक कार्य के विरोधी हैं, क्योंकि वे विश्वास करते हैं कि यह निष्पक्षता के अभिप्राय का अतिक्रमण करता हैं। यह 'न्याययुक्त विश्व की विलक्षणता' का परिणाम है। स्टैनले कोरेन स्पष्ट रूप इस अवधारणा की निंदा करते हैं। उनके अनुसार, लोग महसूस करते हैं कि विश्व, कुछ इधर-उधर धमाकों के साथ सुन्दर एक स्थान है, जहाँ लोग सामान्यतया जितनी योग्यता रखते हैं, उतना पाते हैं और जितना पाते हैं, उतने की ही वे योग्यता रखते हैं। यह न्याययुक्त विश्व का सिद्धांत हमारे बाल्यकाल का ही प्रशिक्षण है

जहाँ अच्छे को पुरस्कृत किया जाता है और बुरे को दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार के तर्क से एक सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है, जिन्हें पुरस्कृत किया जाता है, उन्हें अच्छा अवश्य होना चाहिए और जो पीड़ित होते हैं (हमारे अपने भेदभाव और पूर्णधारणा के आधार पर) उन्हें अपने भाग्य का मिला है। इन तर्कों के आधार पर निम्न बातों को सकारात्मक कार्य और सकारात्मक भेदभाव के विरुद्ध उठाया जाता है।

31.5.1 गुण संबंधी तर्क

गुणवादी सिद्धांत यह आदेश देता है कि सामाजिक अच्छाइयाँ व्यक्ति के गुण या योग्यता के आधार पर प्रदान की जानी चाहिए, वह चाहे प्राकृतिक हो या प्राप्त की हुई हो। सामान्य जटिलताओं को नज़रअंदाज़ करते हुए यह सिद्धांत उच्च शिक्षा की संस्थाओं में दाखिला या राज्य सेवाओं में नियुक्ति में यह विचार करता है कि उम्मीदवारों का चयन उनके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर हो, जैसे उनकी योग्यता की वस्तुनिष्ठ जाँच में निश्चत ग्रेड या अंकों की प्राप्ति से संबंधित सामान्य बुद्धि और ज्ञान की जाँच इसी उद्देश्य से की जाती है। इस सिद्धांत के समर्थक दावा करते हैं कि यह सबसे अच्छा न्याय सुनिश्चित करता है, जहाँ तक कि यह पुरस्कारों या सामग्रियों का वितरण वस्तुनिष्ठ योग्यता के आधार पर करता है, जिसमें व्यक्ति की निजी विशेषताओं जैसे जन्म, वंश, रंग, लिंग, जाति का कोई स्थान नहीं होता है।

यह सिद्धांत सीमित सामानों या वितरण के लिए उपलब्ध अवसरों के लिए बड़ी संख्या में सबसे योग्य व्यक्तियों के चयन को निश्चित करता है। यह सशक्त समाज और उसके पूरी तरह से विकास को भी आश्वस्त करता है, जहाँ तक हो सके यह कठिन श्रम और उत्तम मानसिक और शारीरिक क्षमताओं के विकास के लिए प्रोत्साहन देता है।

प्रथम दृष्टि, यह लगता है कि ठोस तर्क दिया गया है, लेकिन सघन परीक्षण के बाद इसकी कमज़ोरी दिखती है। गुण का सिद्धांत अपने आप में आत्मनिष्ठ है। आखिर गुण क्या है? गुण का विचरणों से मुक्त कोई स्थिर या निश्चत अर्थ नहीं है। यह कुछ नहीं है, बल्कि कुछ पूर्व निर्धारित सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने या मूल्य या एक खास समझी हुयी सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने का एक मापदण्ड है। यह उद्देश्य मूल्य या आवश्यकता को नियंत्रित नहीं करता है, बल्कि उनके द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

प्रो. ड्वॉरकिन यह नहीं कहते हैं कि गुण अप्रमुख हैं, उनके तर्क पर जोर इस पर है कि गुण सामाजिक माँगों और आवश्यकताओं की दृष्टि से खास प्रकार के व्यक्तियों के लिए रास्ता बनाने से सिलसिले से निर्देशित होता है। यह वास्तव में विचारित सामाजिक उद्देश्यों, मूल्यों और आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य से निर्धारित किया जाता है और इनमें परिवर्तनों के साथ बदल जाता है।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कृष्ण अय्यर के शब्दों में ''हमारी चयन प्रक्रिया का रुझान विकृत है और एक मायने में, उम्मीदवार जैसे कि अनुसूचित जाति और जनजातियों से जिनको भारत की एक दुखदारी समझ है, उनमें अभिजात्य वर्ग की तुलना में अधिक क्षमताएं होती हैं। अभिजात्य वर्ग जिसकी संवेदना जनता के प्रति खत्म हो चुकी है, भारतीय लोगों के स्तरों से सरकार को चलाने में कम योग्य और राज्य-व्यापार को संभालने में कम मेधावी होती है, यदि हम राज्य सेवा पर दृष्टिपात करें तो जिनमें लाखों उपभोक्ता होते हैं....। संवेदनशील ह्रदय और स्पंदनशील मस्तिष्क लोगों के आँसूओं को पोछते हैं, स्वाभाविक समर्पण और बौद्धिक अखण्डता देश की विकास आवश्यकताओं को तेजी से अनुप्रासित करेगा....। ऑक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज, हार्वड या स्टैंफोर्ड या समकक्ष भारतीय संस्थाओं की डिग्री गुण या उपयुक्तता के प्रमुख अंश है''।

पूरे तर्क का ज़ोर यह है कि कार्य क्षमता की अवधारणा को हमारी विकास संबंधी आवश्यकताओं से संबंधित होना चाहिए और कार्य-क्षमता को निर्धारित करने वाली विद्यमान जाँच प्रणाली की असंदर्भता और अयोग्यता का पर्दाफाश किया जाना चाहिए।

31.5.2 अधिकार संबंधी तर्क

सकारात्मक कार्य के समन्वय की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि यह अधिकार के सिद्धांत की अवहेलना करता है। यह सामान्यतया तर्क दिया जाता है कि सकारात्मक कार्य का एक समूह का समर्थन दूसरे पक्ष के विरुद्ध भेदभाव है, उन्हें समान लाभ से वंचित रखा जाता है और यह अपने आप में समानता की अस्वीकृति है, जो प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्ति होने और न कि किसी समूह के सदस्य होने के नाते अधिकार है; अतः उसे मात्र विकसित या पिछड़ी समूह का सदस्य होने के नाते अधिकार है। अतः उसे मात्र विकसित या पिछड़ी समूह का सदस्य होने के नाते अधिकार से अलग नहीं रखा जा सकता है। प्रत्येक नागरिक को यह संवैधानिक अधिकार है कि उसे कम से कम किसी सार्वजनिक लाभ के लिए प्रतियोगिता में, केवल इसलिए कि वह किसी जाति या धर्म या सम्प्रदाय या अन्य प्राकृतिक या कृत्रिम समूह का सदस्य है, जो पूर्वधारणा या अपमान का अधिकार है, बलि का बकरा नहीं बनाया जाये।

प्रो. आन्द्रे बेते ने अपने पैने लेख 'वितरणकारी न्याय और संस्थागत खुशहाली' में 'समूह अधिकार' के तर्क की आलोचना को समन्वित किया है। वे तर्क देते हैं कि एक बड़े स्तर पर जाति प्रथा मौलिक रूप से बदल गयी है। जातियों का उनके व्यक्तिगत सदस्यों पर नैतिक दावा समाज के सभी स्तरों पर कमज़ोर हुआ है, विशेषकर शहरी मध्यम वर्ग में जहाँ कि उदारतापूर्ण भेदभाव पर लड़ाई लड़ी जा रही है। यह कहना उचित होगा कि आज की किसी भी जाति को वह नैतिक सत्ता प्राप्त नहीं है कि वह अपने मध्यम वर्ग के सदस्यों पर अपनी किसी परम्परागत स्वीकृति के लिए दबाव डाले।

MAADHYAM IAS

अपनी जाति की नैतिक सत्ता से अपने आप को मुक्त करते हुए, ऐसे व्यक्ति अब आर्थिक एवं राजनीतिक सुविधाओं के लिए यान्त्रिक रूप से इसे इस्तेमाल करने लगे हैं।

वे आगे तर्क देते हैं कि यह देखना कठिन है कि कैसे जाति और समुदाय के सार्वजनिक रोज़गार में आनुपातिक हिस्सेदारी के अधिकार के विचार को तथा आधुनिक समाज के आर्थिक विकास और उदारवादी प्रजातंत्र के प्रति प्रतिबद्धता के साथ कार्य करने के अनुकूल बनाया जा सकता है। यह सच है कि जाति सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में कार्यरत है, लेकिन, अब यह अधिकार के रूप में कार्य नहीं करती है। जाति के अस्तित्व का जारी रहना एक बात है परन्तु इसकी वैधता पूर्णतया दूसरी बात है। जाति प्रणाली की वैधता को साबित करने के लिये यह दावा कि इसकी निर्माणक इकाई को अधिकार और उपाधियां प्राप्त हैं, अंततः गलत सिद्ध होगा, लेकिन इसी बीच यह समाज और इसकी संस्थाओं को व्यापक क्षति पहुँचा सकता है। आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में सार्वजनिक वाद-विवाद में अधिकारों की भाषा का लगातार प्रयोग जाति की चेतना को बढ़ावा देता है और इस तरह से सकारात्मक कार्य के बुनियादि लक्ष्य को परास्त करता है, जोकि जाति की चेतना को कम करना और बढ़ने नहीं देना है। वाद-विवाद में सभी पार्टियाँ कहती हैं कि वे जाति की संरचना को खत्म करना चाहती हैं। परंतु, जाति एक भौतिक भवन नहीं है, जिसे शारीरिक रूप से ध्वस्त और नष्ट किया जा सकता है। सर्वप्रथम, यह लोगों की चेतना में है, एक तरफ विभाजन और पृथकता के अर्थ में और दूसरी तरफ पद और श्रेणी की असमानता के अर्थ में।

प्रो. एम.पी. सिंह व्याख्या का प्रयास करते हुए कहते हैं कि कुछ खास जातियों को युक्तिसंगत ढंग से हजारों वर्षों से सामग्रियों और अवसरों से बहिष्कृत किया गया है, जिनकी इच्छा वे निश्चित रूप से रखते होंगे क्योंकि वे उस जाति से संबंधित हैं। यह सच है कि जन्म के आधार पर किसी भी वर्गीकरण को साधारणतया समर्थन नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि आज खास जातियाँ और पिछड़ापन समान है। उदाहरणार्थ, अनुसूचित जाति और जनजाति पिछड़ापन के प्रतीक है। हजारों वर्षों से उन्हें अछूत माना जाता रहा है और समाज के अन्य सदस्यों के साथ मिलने के अधिकार से वंचित रखा गया है। वे व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि समूह या जाति के रूप में सभी प्रकार के असम्मान और अयोग्यताओं से गुजरे हैं। इस प्रकार उन्हें समूह के सदस्य के रूप में और बिना गैर-सदस्यों की समानता के अधिकार का हनन करते हुए विशेष उपचार प्रदान करना चाहिए। इस परिस्थिति में व्यक्ति के समानता के अधिकार को उचित सम्मान दिया जाता है, क्योंकि समूह के सदस्य उपलब्ध सीमित सामग्रियों के विभाजन के लिए अपने में प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं।

यह हमें विचित्र स्थिति में डालता है; यदि जाति नियम का प्रयोग सुरक्षात्मक भेदभाव करने के लिए किया जाता है, तो जाति विभाजन को बढ़ावा मिलता है तथा पहचान, वर्ग या जाति के आधार पर निर्धारित की जाती है। दूसरी तरफ, यदि जाति पहचान को सार्वजनिक रोजगार और ऊँचे शिक्षण संस्थानों में दाखिलों के लिए नज़रअंदाज़ किया जाता है, तो उन्हें हज़ारों वर्षों के शोषण और दमन के चलते उनकी अयोग्यताओं को दूर करने के अवसर से वंचित रखा जाता है। समाधान कहीं सुनहरे मध्य में प्रतीत होता है। लचीलापन, सार है असमानताओं को दूर करने के लिए नीतियों के निमार्ण और प्रयोग में, जो विभिन्न कारणों की वजह से पैदा हुयी हैं।

31.5.3 कार्य क्षमता संबंधी तर्क

MAADHYAM IAS

यह सकारात्मक भेदभाव के विचार में निहित है कि एक कम मेधावी व्यक्ति को एक अधिक मेधावी व्यक्ति की अपेक्षा चुना जाता है। इस तर्क के समर्थक कहते हैं कि यदि भूत की शिकायतों की सुनवाई पर हम ज़ोर देते हैं, तो हम सार्वजनिक संस्थाओं की कार्य-क्षमता की जड़ खोदते हैं तथा आनेवाली संतति को अपूरणीय क्षति पहुँचायेंगे। फिर भी इस तर्क के समर्थकों को भी समझना चाहिए कि सार्वजनिक स्थल से कुछ वर्गों को अलग करना अधिक क्षति पहुँचा सकता है, बनिस्पत ऐसी कार्य क्षमता जिसे वे सामाजिक खंण्डन की कीमत पर प्राप्त करना चाहते हैं।

31.5.4 बलकनाईज़ेशन संबंधी तर्क

ऊपर यह बताया गया है कि सकारात्मक भेदभाव वर्ग, जाति और वर्ण विभिन्नता को रेखांकित करता है तथा सामाजिक विभाजनों को बढ़ावा देता है, जो पहले से ही भारतीय सामाजिक-राजनीतिक प्रणाली और अमेरिका में तीव्र हैं। सकारात्मक कार्यक्रम जाति युक्त और नस्लीय समाजों को जोकि पहले से ही वंशानुगत और जाति समूहों में बंटे हुए है, और प्रत्येक समूह के रूप में संसाधनों आजीविका या अवसरों के कुछ अनुपातिक हिस्से के हकदार हैं, को और अधिक स्थित करते हैं।

भारत में विभाजन के इतिहास के चलते, जिसके परिणामस्वरूप लगभग एक लाख लोगों का जनसंहार हुआ तर्क कि सकारात्मक भेदभाव लोगों को बांटने में सहायक होता है, विभाजन के दुखद इतिहास को पुनर्जीवित करता है। सांप्रदायिक कीटाणु, जो रैमसे मैकडौनाल्ड पुरस्कार के साथ शुरू हुआ, और जिसका चरणबिंदु उपमहाद्वीप के विभाजन

के रूप में हुआ, ऐसे मुद्दे उठा गया जिनका अभी तक सामाधान नहीं हुआ है। यहाँ तक कि सकारात्मक भेदभाव का इतिहास भी साफ-सुथरा नहीं रहा है। आरक्षणों का विस्तार, सर्वप्रथम अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के लिए, और उसके बाद अन्य पिछड़ी जातियों (OBC) के लिए पहले से ही बहुत सारे आपसी कलहों का कारण बना है। अब उन्नत जातियों (Forwards) के आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग भी आरक्षण की माँग कर रहे हैं। ईसाइयों और मुस्लिमों के द्वारा आरक्षण की माँग, यद्वपि हल्की, उठायी जा रही है। यह सकारात्मक भेदभाव की पूरी अवधारणा को एक राजनीतिक उपकरण बना देता है, आरक्षण की नीति को कभी न खत्म होने वाली और लोगों को अपने बलबूते खड़े रहने के प्रोत्साहन देने की अपेक्षा उन्हें बांटता है। ये सभी देश की एकता के बारे में तीव्र चिन्ता उत्पन्न करते हैं।

सकारात्मक भेदभाव के समर्थकों ने इस प्रकार के तर्क को बेबुनियादी तर्क माना है, जो सकारात्मक कार्य कार्यक्रम को अविश्वसनीय बनाने की कोशिश कर रहा है। उनका तर्क लागू करने के मोर्चे पर असफलता है कि नीति को अपने आप में रद्द करने का तर्क नहीं होना चाहिए। प्रो. ड्वॅर्किन ने अमेरिकी संदर्भ में बल्कनाईज़ेशन के तर्क के संबंध में इस भय को खत्म करने की कोशिश की है कि सकारात्मक कार्य कार्यक्रम का गठन बल्कनाईज़्ड अमेरिका का निमार्ण करेगा, जो वंशानुगत और जातीय उप-देशों में बंटा हुआ है। वे कमजोर और सताये लोगों के उत्थान के लिए कठोर कार्यवाही करते हैं या वे असफल हो जायेंगे, लेकिन उनका अंतिम लक्ष्य अमेरिकी सामाजिक और पेशेवर ज़िन्दगी में नस्ल के महत्व को कम करना और बढ़ने से रोकना है।

प्रो. ड्वॅवर्किन लिखते हैं कि 'अमेरिकी समाज आज एक नस्लीय जागरूक समाज है, यह दासता, दमन और पूर्वधारणा के इतिहास का अनिवार्य तथा प्रत्यक्ष परिणाम है। काले पुरुष और महिलायें, लड़के और लड़कियाँ अपनी भूमिका को चुनने या दूसरे उन्हें किस सामाजिक समूह के सदस्य के रूप में स्वीकारते हैं, में स्वतंत्र नहीं है। वे काले हैं और उनके व्यक्तित्व, राजभक्ति या शौक की कोई दूसरी विशेषता इतनी प्रभावित नहीं करेगी कि उन्हें कैसे समझा जायेगा और दूसरों के द्वारा कैसा व्यवहार किया जायेगा, और जीवन की जो सीमायें और चरित्र उनके लिए खुला होगा। काले डॉक्टरों और दूसरे पेशेवालों की छोटी संख्या अमेरिकी जातिय चेतना के परिणाम और विद्यमान कारण हैं। .... तत्कालीन लक्ष्य इन पेशों में खास नस्लों के सदस्यों की संख्या को बढ़ाना है। लेकिन उनका दीर्घकालिक लक्ष्य उस मात्रा को कम करना है, जिससे की अमेरिकी समाज को पूरी तरह से जातिय जागरूक समाज माना जाता है''।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :

अ) सकारात्मक कार्य के विरुद्ध गुण संबंधी तर्क ।

....

....

....

....

....

2) सकारात्मक कार्य के विरुद्ध अधिकार संबंधी तर्क ।

....

....

....

....

....

....

31.6 सारांश

सकारात्मक रूप में इकाई के अंत में यह दर्शाना महत्वपूर्ण है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में परिवर्तन ज़रूरी है, जो व्यक्ति को निष्कासन की पुरानी प्रणाली से समावेशन की नयी प्रणाली की ओर ले जाता है, एक जो लोगों को दूसरों को 'संभावित परभक्षी' की तरह नहीं, बल्कि 'लाभकारी साथी' के रूप में देखने योग्य बनाता है; एक जो हमारे मूल्यों को अधिपत्य से सहयोग की ओर बढ़ता है और एक जो हमारे नैतिक नियम को स्वार्थ से जुड़े लोभ आधारित विचार से जोश आधारित सामाजिक आध्यात्मिक एकीकरण की ओर रूपान्तरित करता है। 21वीं शताब्दी हमारा ध्यान अंतः संबंधित न सिर्फ तकनीकी रूप से, बल्कि मानवीय, पर्यावरण और आध्यात्मिक ढंग से आकर्षित करेगा। एक नयी प्रणाली, एक सामाजिक-पारिस्थितिकीय विश्व दृष्टिकोण की इस प्रकार ज़रूरत होती है जो कि जो प्रतियोगिताएँ संसार और ज़िन्दगी के सभी रूपों को भागों के विघटित संग्रह की अपेक्षा एक संपूर्ण एकीकृत रूप में देखता है। सकारात्मक कार्य के लिए ज़ोर की जो चर्चा यहाँ की गयी है, इस दिशा में इसका झुकाव है।

MAADHYAM IAS

अब वक्त आ गया है कि हम सकारात्मक कार्य में परिवर्तन के लिए विचारार्थ प्रस्तुत करें, न कि इससे छुटकारा पायें। कृत्रिम असमानताओं और प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अवसर की सुरक्षा, भले ही उनके सामाजिक-आर्थिक, ऐतिहासिक, जैविक या सांस्कृतिक परिस्थितियाँ कुछ भी हो, चाहे आकस्मिक या उद्देश्यपूर्ण हों, उसे सुगम बनाने की आवश्यकता है। तब सकारात्मक कार्य को सामाजिक रूपान्तरण के वाहन के रूप में देखा जाएगा, जहाँ शोषण या अनुचित अधिपत्य नहीं होगा और लोग तीसरी सहस्त्राब्दी में सुरक्षित ढंग से सामाजिक यात्रा के लिए आदर और गौरव के साथ, जिनके प्रत्येक मानव हकदार हैं, प्रवेश करेंगे।

31.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

ऐडरसन, क्लॉद, *ब्लैक लेबर, व्हाईट वेल्थ* (ऐजवुड एम.डी. : डंकन एंड डंकन), 1994

बैरन, हैरॉल्ड एम, 'द वेव ऑफ रेसिज़्म', इन लुइस एल. नॉलस एंड कैनैथ प्रैविट, *इन्सटीटयुश्नल रेसिज़्म इन अमेरिका* (प्रेन्टिस - हॉल, इंक.), 1969

क्रिस्टॉफर एडले जूनियर, 'फॉर्म ओवर सबस्टैन्स, नॉट ऑल ब्लैक एंड व्हाईट : अफरमेटिव ऐक्शन, रैस एण्ड अमेरिकन वैल्यूज़, ILO, हावर्ड लॉ रिव्यु, 1645, में 1997

फ्रैन ऐन्सले 'अफरमेटिव ऐक्शन' डाईवर्सिटी ऑफ इम्पैक्ट ऑफ एलिमिनेटिंग अफरमेटिव ऐक्शन' 27, गोल्डन गेट यूनिवर्सिटी लॉ रिव्यु 313, स्प्रिंग 1997

जिम रौन सिम्पोज़िअम ऑन अफरमेटिव ऐक्शन : डाईवर्सिटी एंड किंग, कॉरेटा स्कॉट, 1967, इन 'प्रिफेस' ऑफ मार्टिन लुथरकिंग, जूनियर *वेयर डू वी गो फ़्रॉम हेयर : कैओस*

ऑर कम्यूनिटी? (बॉस्टन : बीकन प्रेस)

किवेल, पॉल, अपरूटींग रेसिज़्म : *हाउ व्हाईट पिपल कैन वर्क फॉर रेशिअल जस्टिस* (फिलैडिल्फिया : न्यू सोसाईटी पब्लिशर्स), 1996

लोयर, अनामारिया, 'अफरमेटिव ऐक्शन', लैटिनो नेटवर्क न्यूज़लेटर, वॉल्यूम 1:1, सितम्बर 15:1:1

रॉल्स, जॉन, *ए थ्योरी ऑफ जस्टिस* (कैम्ब्रिज, एम.ए. हार्वड यूनीवर्सिटी प्रेस), 1971

रोसौडो, कैलेब, 'अफरमेटिव ऐक्शन एंड द गॉस्पेल' मेसेज, जुलाई - अगस्त 1995, स्मैडले ऑड़े, *वे रेस इन नॉर्थ अमेरिकाः ऑरिजिन एंड इॅवाल्युशन ऑफ ए वर्ल्डव्यु*, बोल्डर, सीओ : नेस्टव्यु प्रेस, 1993

स्मिथ, एन्थोनी डी, *दी ऐथनिक ओरिजिन्स ऑफ नेशन्स* (न्यूयॉर्क : बासिल ब्लैकवेल), 1986

विली, चार्ल्स वी, 'यूनिवर्सल प्रोग्राम्स ऑर अनफेयर टू मॉयनॉरिटी ग्रुप्स', द क्रॅनिकल ऑफ हाईअर एजुकेशन, दिसम्बर 4, 12.3.1991

31.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 31.2 देखें।

2) उप-भाग 31.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 31.3 देखें

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 31.4.1 देखें।

2) उप-भाग 31.4.5 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 31.5.1 और 31.5.2 देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'